अनुक्रम

उपोद्घात

कवीर की भाषा की शक्ति और क्षमता का परिचय उनके शव्द-भाण्डार से मिलता है। उनका शव्द-ज्ञान असीम था। तत्कालीन प्रचलित व्रज, अवधी, खडी वोली, वुदेली, राजस्थानी, भोजपुरी आदि वोलियो के अतिरिक्त पजावी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओ तथा अरवी-फारसी आदि विदेशी भाषाओ के लोक-प्रचलित शव्द उनके काव्य मे अनायास और स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त दिखाई पड़ते है। उन्होने शव्दो का चयन जीवन के विस्तृत क्षेत्र से किया था। वस्तुत शव्द-निर्माण का सवसे वडा कारखाना भारतीय गाँव रहे है, जहाँ विभिन्न वर्गों, व्यवसायो तथा जातियो के अधिकाश लोग रहते हैं। कवीर ने शव्दो को इसी विशाल जन-जीवन से लिया था। उनके द्वारा प्रयुक्त ऐसे वहुसख्यक शव्द अव खड़ी वोली मे प्रचलित नही रह गए है। खडी वोली का एक वहुत वडा दोष यह है कि उसमे वनावटी और जीवन से विलग शव्द गढ़कर लिए जाते हैं। किन्तु वह लोक-जीवन से दूर होती जा रही है। कवीर ने लोहार, कुम्हार, वढई, जुलाहा, कलवार, कृपक आदि के जीवन और व्यवसाय से जिन शव्दो को लिया है, उनमे से अधिकाश अव अप्रचलित हो गए हैं। कुछ शव्द तो इतने व्यंजक और अर्थ-गाम्भीर्य-सम्पन्न हैं कि उनके पर्याय खडी वोली मे खोजना वहुत कठिन हैं।

कवीर मे एसे देशज शव्दो की भरमार है जिनकी न केवल व्युत्पत्ति खोजना दुष्कर है अपितु विद्वानो और टीकाकारो द्वारा प्राय उनके गलत अर्थ भी दिए गए हैं। ऐसे कुछ शव्द हैं—कछावौ (धारण कराओ), करकम (झगडा), कालर (नोनी मिट्टी), खाँखरि (खोपडी), खाँगि (पशुओ का रोग), गहेजुआ (छछुदर), कजौडी (समूह), चिगवा (नली), चुहाडा (भंगी), टीडार (वाल्टी), पटम (देखावा), भभूका (लपट), वेढई (एक प्रकार की रोटी या कचौडी जिसके भीतर पोस्ता का दाना अथवा पीठी और अन्य गरम मसाले भरे जाते हैं), लाहनि (वह पदार्थ जिसमे खमीर उठाकर मदिरा वनाई जाती है), लोकदे (वधू के साथ जाने वाली स्त्रियाँ), ढीकुली (कुएँ से पानी खीचने वाला यंत्र), पारी (हाथी का पैर वांधने वाला रस्सा), नरी (ढरकी के भीतर की नली जिस पर तार लपेटा रहता है), मरोरिया (दो तागो को आपस मे जोडने की क्रिया जिसमे गाँठ का प्रयोग नही होता, केवल दोनो सिरो को मिलाकर मरोड़ देते है) आदि।

कवीर के समय तक अरवी-फारसी भाषा का भी प्रयोग काफी वढ गया था। अरवी मुस्लिम शासको की धर्म-भाषा थी और फारसी राजभाषा। इसलिए मुस्लिम-

शासन मे इन दोनो भाषाओ का प्रचार खूब वढ गया था। हिन्दी के सभी भक्त-कवियो—सूर, तुलसी आदि-ने भी इन भाषाओ के शब्दो का काफी मात्रा मे प्रयोग किया है। कवीर मे भी ऐसे शब्द वहुत वडी सख्या मे पाए जाते है, जो उस समय तक जन-जीवन मे घुलमिल गए थे। कवीर मे एक विशेषता और पाई जाती है। उन्होंने जब 'अवधू' को सम्वोधित किया है तो प्राय नाथयोगियो की शब्दावली का प्रयोग किया है, जब हिन्दू विधि-विधानो का खण्डन किया है तव सस्कृत के तत्सम-तद्भव शब्दो का प्रयोग किया है और जब मुल्ला-मौलवी को फटकारा है तब फारसी-अरवी शब्दो का सहारा लिया है। इससे कथन मे स्वाभाविकता आ ही गयी है, साथ ही इससे कवीर के असीम शब्द-ज्ञान तथा सटीक शब्द प्रयोग का भी प्रमाण मिल जाता है। उनके द्वारा प्रयुक्त अरवी-फारसी के कतिपय शब्दो को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

फारसी—करद (कटार), करिगह (करघा), कदूरी (खाना खाने का कपडा), असरारा (हठपूर्वक), इफतरा (आरोप), कारकुन (प्रवन्धकर्त्ता), चेजारा (कारीगर), दरगह (दरवार), दरवेसा (फकीर, साधु), दरीचै (झरोखा), दस्तगीरि (मददगार), दीदार (दर्शन), पाकपाक (पवित्रो मे पवित्र)।

अरवी—कसद (शक्तिशाली), खता (अपराध), जुलुम (अत्याचार), तप्दा (तसला), तदवीर (उपाय), नजरि (दृष्टि), नफर (नौकर), नवी (दूत), निसाफ (न्याय), मजलिस (सभा), मिसकीन (दीन), सदके (न्यौछावर जाना)।

उनका एक पद ऐसा भी मिलता है जिसे देखकर लगता है कि यह अरवी-फारसी मे ही रचा गया है। पद इस प्रकार है—

वंदे खोज दिल हर रोज नाँ फिरु परेसानी माँहि।
यह जु दुनिया सिहरु मेला कोई दस्तगीरी नाहि॥
वेद कतेव इफतरा भाई दिल का फिकरु न जाइ।
टुक दम करारी जउ करहु हाजिर हजूर खुदाइ॥
दरोगु पढि पढि खुसी होइ वेखवरु वादु वकाहि।
हक साँच खालिक खलक म्याने स्याम मूरति नाहि॥
असमान म्याने लहग दरिया गुसल करद वूद।
करि फिकिर दाइम लाइ चसमैं जहाँ तहाँ मौजूद॥
अल्लाह पाकपाक है सक करउ जे दूसर कोइ।
कवीर करम करीम का यहु करै जानै सोइ॥

इस एक ही पद मे वदे, दस्तगीरी, दम, दरोगु, बादु, असमान, दरिया, करदः वूद, चसमैं, पाकंपाक आदि फारसी के शब्दो तथा सिहरु, कतेव, इफतरा, फिकरु, करारी, हजूर, हक, खालिक, खलक, दाइम, अल्लाह, सक, करम, करीम आदि अरबी शब्दों का प्रयोग कबीर के असाधारण शब्द-ज्ञान का परिचायक है।

अरबी-फारसी के शब्दो के साथ ही सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग कबीर की वहुज्ञता का प्रमाण प्रस्तुत करता है। ऐसे कुछ शब्द हैं—उतग (उत्तुग), उदक (जल), उपाधि (अवच्छेदक सीमाएँ), कपाट (द्वार), कलत्र (स्त्री), कीर (तोता), जलनिधि (सागर), तत्तुमसी (तत् त्वम् असि), नन्दन (पुत्र), नभ (आकाश), पारधी (शिकारी), पारन (व्रत के वाद का भोजन), पावक (अग्नि), पिपीलिका (चीटी), पुरन्दर (इन्द्र) आदि। यही नही, कबीर ने सस्कृत के कतिपय ऐसे विशिष्ट शब्दो का प्रयोग किया है जिनका अर्थ करने मे वडे-वडे विद्वानो एव टीकाकारो को भी भ्रान्तियाँ हुई है। ऐसा एक शब्द है—अनल (मन उनमन उस अड ज्यो, अनल अकासा जोइ)। इसका अर्थ प्राय सभी टीकाकारो ने 'अग्नि' किया है। किन्तु 'अग्नि' से यहाँ कोई सगति नही बैठती। यहा 'अनल' का तात्पर्य एक ऐसी चिडिया से है जो सदा आकाश मे उडा करती है और वही अडे देती है। इसका अंडा पृथ्वी पर गिरने से पहले पककर फूट जाता है और वच्चा अडे से निकलकर उडता हुआ अपने माँ-वाप से जा मिलता है। इसी प्रकार एक अन्य प्रयोग है—प्रगटे पवन पानी औ छाया। 'छाया' शब्द का प्राय. अर्थ किया गया है—प्रतिविम्व, अधकार आदि। वस्तुत. यह सस्कृत का शब्द है, जिसका यहाँ अर्थ है तेज—(दे० अमर कोष, पृ० ४२४—'छाया' का अर्थ—सूर्य प्रिया कान्ति प्रतिविम्व मनातप.)। इसके अतिरिक्त कबीर ने एक ही शब्द का संदर्भ-विशेष मे भिन्न-भिन्न अर्थों मे ही प्रयोग किया है, जैसे 'गुन' शब्द के अनेक अर्थ मिनते हैं यथा—रहस्य (पद २५३-१) रस्सी या डोरी (सा० सब (४०) १-१), परिणाम, पदार्थ (र० ४०-३), लाभ, प्रभाव, (र० ११-८), परमतत्व (सब ५०-८), कीर्तन-भजन, त्रिगुणात्मक बंधन (सा० सुमि० (२) २८-१, सब० ५०-६)। इसी प्रकार 'गुरु' शब्द का प्रयोग चार अर्थों मे किया गया है—भेद या रहस्य (पद ३४०-८), मस्तूल (कहरा (३) १-२६), सद्गुरु (पद ३११-५), महान् पुरुष (र० ४-१), 'पल्लौ' शब्द तीन अर्थों मे प्रयुक्त है—विस्तार (हिंडोला (८) १-१४), पत्ता (विरहुली (७) १), अँगुली (बसत (४) ८-१), 'वारा' के चार अर्थ मिलते हैं—जला दिया (सब० ८-७); वालक (विप्र० (२) २६), वारम्वार (सब० १५४-१), विलम्व (र० १३-१०), 'सबद' छ अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है—दुर्वचन (सा० कुसब० (३६) १-२), दीक्षा (र० ३७-६), आकाश का गुण (सब० १८४-४), उपदेश (सा० मन० (१३) १८-२), अनाहत नाद (सा०

सव० (४०) १-१), आप्तवचन (सा० ३१-१०)। कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं, जिन्हे कबीर ने सस्कृत से भी लिया है और अरबी-फारसी से भी, जैसे—करम (अ०) = दया (सब० १८१-१०) तथा सस्कृत कर्म० (सव० ४-१), कुल (अ०) = समस्त (र० ८-७), सस्कृत 'कुटुम्ब' परिवार (सा० चिता० (१२) ४५-१), 'खसम' फारसी = स्वामी या पति (र० ५२-२) तथा संस्कृत (ख + सम), अकाश के समान या निर्गुण ब्रह्म (र० ५-८)। कबीर के इस शब्द-ज्ञान को देखकर कौन कह सकता है कि वह अपढ थे ?

उनके काव्य को सर्वाधिक दुरूह बनाने वाले शब्द हैं—पारिभाषिक एव प्रतीकात्मक। कबीर ने अपने पूर्ववर्ती एव समकालीन अनेक साधना-सम्प्रदायो से शब्दो को ग्रहण किया है। ऐसे अनेक पारिभाषिक शब्द हैं, जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे नए-नए अर्थों मे प्रयुक्त हुए हैं। इस अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया मे कबीर और आगे बढ़ गए हैं और कही-कही पर प्राचीन शब्दो का सर्वथा नए अर्थों मे प्रयोग किया है। यही स्थिति प्रतीकात्मक शब्दो की है। एक ही शब्द अनेक प्रतीको के लिए आया है, जैसे 'अलख', माया (र० २६-७) के लिए भी है और ब्रह्म (सा० पर० (५) १५-२) के लिए भी। 'कँवल' छ प्रतीको के लिए प्रयुक्त है—प्राणशक्ति का चक्र (सा० पर० (५) ४०-१), हृदयस्थ आत्मा (सा० पर० (५) ५-२), प्रभु या ईश्वर (सब० १०६-१), सहस्रार चक्र (सा० लै० (१०) २-२), हृदय (पद ३२२-३), 'तरवर' छ प्रतीको के लिए आया है—शरीर (सब० ११६-३), ब्रह्म (सा० सजी० (४७) ७-१), सुषुम्ना नाडी (सब० १२-३), प्रकृति या माया (सब० ३७-३), सहजावस्था (सा० सजी० (४७) ६-१), ससार (सब० ८८-१), 'जल' छ का प्रतीक है—मानसरोवर (सा० पर० (५) ४६-१), ब्रह्म (सब० १०७-१), शुद्ध हृदय (सब० ३२-४); अमृत (सा० पर० (५) ३६-१), विषयासक्त मानस (सा० भ्रम० वि० (४) ६-२) आनंदसागर (सब० ३२-७), प्राण (पद ३२२-३)।

इस प्रकार कबीर के काव्य मे विभिन्न भाषाओ और बोलियो के शब्दो के भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयोग उनके पाठक के समक्ष अनेक प्रकार की समस्या पैदा कर देते हैं और प्राय उनका अर्थ करने मे भ्रान्तियाँ हुई हैं। इसी असुविधा को दूर करने के प्रयोजन से यह 'कबीर काव्य कोश' तैयार किया गया है। यत कबीर मे सामान्य शब्दो के साथ ही पारिभाषिक एव प्रतीकात्मक शब्दो का भी बाहुल्य है और ऐसे शब्द अर्थ की गम्भीर समस्या पैदा करते हैं, अत पारिभाषिक एव प्रतीकात्मक शब्दो को अलग से विस्तृत अर्थ के साथ दिया गया है। कबीर मे सख्यावाची शब्द भी बहुत हैं। इनके प्रयोग मे उन्होने प्राय सकेतात्मक पद्धति का सहारा लिया है। अत संख्यावाची शब्दो को भी अलग करके प्रस्तुत किया गया है। कबीर को भारतीय सास्कृतिक

परम्परा का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने पौराणिक-ऐतिहासिक सन्दर्भों का विपुल मात्रा मे प्रयोग किया है। कोश के अंत मे ऐसे संदर्भों का विस्तृत परिचय भी दे दिया गया है। इससे प्रस्तुत कोश की सार्थकता एवं महत्ता बढ़ गई है।

प्रस्तुत कोश मे संदर्भ 'कबीर वाड्मय'-खण्ड १. रमैनी, खण्ड २. सबद तथा खण्ड ३. साखी (डॉ० जयदेव सिंह—डॉ० वासुदेव सिंह) से दिये गए हैं। 'सबद' के लिए सबद व पद दोनो का प्रयोग किया गया है।

कोश के कार्ड तैयार करने मे मेरे प्रिय शिष्य डॉ० रामजीत यादव और श्री नरेन्द्र कुमार सिंह तथा मेरी सुपुत्री कु० श्रद्धा सिंह और सुपुत्र आयुष्मान् हिमाशुशेखर सिंह ने बडी लगन एवं तत्परता से कार्य किया है। उनके मंगलमय भविष्य तथा साहित्यिक अभिरुचि के विकास के लिए मेरी शुभ कामनाएँ। कोश को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने मे श्री प० शिवशकर मिश्र का अपूर्व सहयोग रहा है। मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। विश्वविद्यालय प्रकाशन के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ, जिन्होंने बडे मनोयोग से इसे सुरुचिपूर्ण रूप मे प्रकाशित करने की उदारता दिखाई है।

नवम्बर, १९८७

वासुदेव सिंह

संकेत-विवृति

अ०—अरबी

अनु०—अनुनासिक

अव्य०—अव्यय

कह०—कहरा

क्रि०—क्रिया

क्रि० वि०—क्रिया विशेषण

चांच०—चांचर

ज्ञान० चौं०—ज्ञान चौंतीसा

दे०—देखिए

[दे०]—देशज

[देश०]—देशज

पु०—पुल्लिग

प्र०—प्रतीकात्मक

प्रत्य०—प्रत्यय

प्रा०—प्राकृत

फा०—फारसी

बी०—बीजक

भाव०—भाववाचक संज्ञा

यौ०—यौगिक

र०—रमैनी

वसं०—वसंत

वि०—विशेषण

विप्र०—विप्रमतीसी

सं०—संस्कृत

सव०—सवद

सर्व०—सर्वनाम

सा० अपा०—साखी अपारिष को अंग

सा० अवि०—साखी अविहड को अंग

सा० असा०—साखी असाधु को अंग

सा० उपज०—साखी उपजणि को अंग

सा० उपदे०—साखी उपदेश को अग
सा० कथ० वि० कर०—साखी कथनी विना करनी को अंग
सा० कर० वि० कथ०—साखी करनी विना कथनी को अग
सा० कस्तू०—साखी कस्तूरिया को अग
सा० कामी० न०—साखी कामी नर को अंग
सा० काल०—साखी काल को अग
सा० कुसं०—साखी कुसगति को अग
सा० कुस०—सा.ी कुसवद को अग
सा० गु०—साखी गुरुदेव को अग
सा० गु० सि० हे०—साखी गुरु सिष हेरा को अग
सा० ग्या० वि०—साखी ग्यान विरह को अग
सा० चाँण०—साखी चाँणक को अग
सा० चि० क०—साखी चित कपटी को अंग
सा० चि०—साखी चितावणी को अग
सा० जर०—साखी जरणाँ को अंग
सा० जी० मृ०—साखी जीवत मृतक को अग
सा० दया नि०—साखी दया निरवैंरता को अग
सा० निगु०—साखी निगुर्णां को अग
स० निन्द्या०—साखी निन्द्या को अग
सा० निह० पति०—साखी निहकर्मी पतिव्रता को अग
सा० पर०—साखी परचा को अंग
सा० पारि०—साखी ।रिष को अंग
सा० पी० पि०—स'खी पीव पिछाँणन को अग
सा० वि०—साखी विरह को अग
सा० विर्क०—साखी विर्कताई को अग
सा० वी—साखी वीनती को अग
सा० वेली०—साखी वेली को अंग
सा० वेसा०—साखी वेसास को अग
सा० भेष०—स.खी भेष को अग
सा० भ्रम वि०—साखी भ्रम विधौंसण को अग
सा० भेप०—साखी भेष को अग
सा० मधि०—साखी मधि को अग
सा० मन०—साखी मन को अग

सा० माया०—साखी माया को अंग
सा० रस०—साखी रस को अग
सा० लाँवि०—साखी लाँवि को अंग
सा० लै०—साखी लै को अंग
सा० विचा०—साखी विचार को अग
सा० संग०—साखी सगति को अग
सा० सजी०—साखी सजीवनि को अग
सा० सव०—साखी सवद को अग
सा० सम्र०—साखी सम्रथाई को अग
सा० सह०—साखी सहज को अंग
सा० साँच०—साखी साँच को अंग
सा० साधु०—साखी साधु को अग
सा० साधु० म०—साखी साधु महिमा को अग
सा० साधु० मा०—साखी साधु साषीभूत को अग
सा० सार०—साखी सारग्राही को अग
सा० साषी०—साखी साषीभूत को अग
सा० सुद०—साखी सुन्दरि को अग
सा० सुमि०—साखी सुमिरन को अंग
सा० सू०—साखी सूरातन को अंग
सा० सू० ज०—साखी सूषिम जनम को अग
सा० सू० मा०—साखी सूषिम मारग को अंग
सा० हे० प्री०—साखी हेतु प्रीति को अंग
सा० हैरा०—साखी हैरान को अग
स्त्री०—स्त्रीलिंग
हिंडो०—हिंडोला
हि०—हिन्दी

कबीर काव्य कोश

कबीर काव्य कोश

अंकमाल—संज्ञापु० [सं०] आलिंगन, अकवार। ~अंकमाल दै भेटिए, मांनौ मिले गोपाल। →सा० साधु० म० (३०) ६-२।

अंकुस—संज्ञा पु० [सं० अंकुश] वधन, रोक। ~अव न कोइ तेरे अंकुस लावै। →पद २७७-२।

अंग—संज्ञा पु० [सं०] लक्षण। ~विषया सो न्यारा रहै, संतनि का अंग एह। →सा० साध० सा० (२६) १-२।

अंगिया—क्रि० [सं० अंगी (कार)] स्वीकार किया। ~दोजख तौ हम अंगिया यहु डर नाही मुज्झ। →सा० निह० पति० (११) ७-१।

अंगीठ—पु० [सं० अग्नि = आग + स्थ = ठहरना] आग रखने का वर्तन, अँगीठी। ~जे सिर राखौं आपनां तौ पर सिरिज अँगीठ। →सा० मन० (१३) ६-२।

अँचवन—संज्ञा पु० [सं० आचमन] जल। ~छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन, छूतिहि जग उपजाया। →सव० १६६-७।

अँचवै—क्रि० [सं० आचमन] आचमन करता है, पीता है। ~वाझ पियालै अम्रित अँचवै, नदी नीर भरि राखै। →सव० ३२-१३।

अँचवै—क्रि० [सं० आचमन] आचमन करते हैं, पीते हैं। ~तजि अमृत विख काहे को अँचवै, गाँठी वाँधिन खोटा। →सव० १८८-५।

अँजुरी—संज्ञा स्त्री० [सं० अञ्जलि] दोनो हथेलियो को मिलाकर वनाया गया गड्ढा। ~तन धन जीवन अँजुरी कौ पानी, जात न लागै वार। →पद २०३-५।

अंड—संज्ञा पु० [सं०] ब्रह्माण्ड, विश्व। ~एकै अंड सकल चौरासी, भर्म भुला संसारा। →पद २६१-३।

अंड—संज्ञा पु० [सं०] बीज। ~एक अंड ओंकार ते, सब जग भयो पसार। →र० २७-८।

अण्ड—संज्ञा पु० [सं०] अण्डज। ~प्रगटे अण्ड पिण्ड ब्रह्माण्डा, प्रिथिमी प्रगट कीन्ह नौ खण्डा। →र० ३-४।

अंतर—पु० [सं०] अंतस्, भीतर, हृदय। ~जीव रूप यक अन्तर-वासा, अंतर ज्योति कीन्ह परगासा। →र० १-१।

अंतर—पु० [सं०] मध्य। ~तन मन सौंपा पीव कौ, (तव) अंतर रही न रेख। →सा० सू० (४५) ३७-२।

अंतर—पु० [सं०] हृदय। ~जे राचे वेहद्द मौं, तिन सौ अंतर खोलि। →सा० चि० (१२) ५०-२।

अंतर—पु० [सं०] हृदय के भीतर। ~जदि विषै पियारी प्रीति सो, तब अन्तर हरि नाहिं। जब अन्तर हरि जी वसै, तव विषया सो चित नाहिं। →सा० साध० सा० (२६) १३-१-२।

अंतर—क्रि० वि० [सं०]भीतर।~कबीर अन्तर प्रगट्यो, बिरह अगिन को पुंज। →सा० बि० (३) १-२।

अंतर-ज्योति—सज्ञा स्त्री० [स०] भीतरी प्रकाश, चैतन्य। ~अन्तर-ज्योति शब्द यक नारी, हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी। →र० २-१।

अंतरा—संज्ञा पु० [स० अन्तर] अन्तर, भेद। ~हरि बिचि घालै अन्तरा, माया बडी बिसास। →सा० (१६) ५-२।

अंतरि—क्रि० वि० [स० अन्तर] भीतर। ~रतन प्रवालै परम जोति, ता अतरि-अंतरि लागे मोति। →पद २३४-४।

अंतरि—सज्ञा पु० [स० अत] हृदय में, भीतर, प्राचीन हिन्दी का अधिकरण कारक का प्रयोग।~पिंजर प्रेम प्रकासिया, अतरि भया उजास। →सा० पर० (५) ४-१।

अंतरि—सज्ञा पु० [स० अतः] हृदय मे। ~अन्तरि कंवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहँ होई। →सा० पर० (५) ७-१।

अंतरिछ—सज्ञा पु० [स० अन्तरिक्ष] आकाश। ~जाकी पुरी अंतरिछ छाई, सो हरिचन्द देखल नहि जाई। →र० ५५-५।

अँदेसा—सज्ञा पु० [फा०] सशय, सन्देह। ~जाने जिव कँह परा अँदेसा, झूठहि आय के कहैं सँदेसा। →र० ४३-४, सा० विन० (५६) ४-२; सा० सू० मा० (१४) ४-११।

अँदेसौ—सज्ञा स्त्री० [फा०] आशका, चिन्ता। ~अँदेसौ नहि भाजिसि, सदेसौ कहियाँ। →सा० वि० (३) ६-१।

अंदेह—सज्ञा पु० [फा० अन्देशः] चिन्ता, शंका। ~सब कोई कहै तुम्हारी नारी मोकौं यह अन्देह रे। →सब० १८६-३।

अँदोह—संज्ञा पु० [फा०] अवसाद, दुःख। ~जिहि घरि जिता बधावना, तिहि घरि तिता अँदोह। →सा० मा० (१६) २८-२।

अंध कूप—वि० [स०] अंधा कुआँ, जिसमे कुछ दिखाई न पडे।~भूलि परे जीव अधिक डेराई, रजनी अंध कूप होय आई। →र० १६-४।

अँधला—वि० [सं० अंध] अंधा, नेत्र-हीन। ~जाका गुरु भी अँधला, चेला खरा निरध। →सा०गु० (१) १५-१।

अन—सज्ञा पु० [सं० अन्न] अनाज, दाने। ~अंन पान जहाँ जरै, तहाँ तै अनल न चखियौ। →सा० वेसा० (३५) १-४।

अंबर—संज्ञा पु० [स०] आकाश। ~अंबर मद्धे दीसै तारा, कौन चतुर। ऐसा चितरनहारा।→सब० ७४-३।

अंबराउँ—सज्ञा पु० [सं० आम्रराजि] आम का बगीचा। ~चन्दन की कुटकी भली, नां वंबूर अबराउँ। →सा० साधु म० (३०) १-१।

अँबली—सज्ञा स्त्री० [स० आम्रवेलि] आम्रवेलि। ~आव चढी अंबली रे अँबली ववूर चढ़ी नगवेली रे। →पद २५५-३।

अँमी—संज्ञा पु० [स० अमृत] अमृत। ~राँम नाँम सीचा अँमी, फल लागा विस्वास। →सा० वेसा० (३५) १६-२।

अइलीं—क्रि०[भोज०]आये।~हम चलि अइलीं तुहरे सरना, कतहुँ न देखीं हरि के चरना। →सव० १६-५।

अउंध—वि० [स० अधः] उलटा। ~जव दस मास अउध मुख होते सो दिन काहे भूले। →सव० १७६-२।

अऊत—वि० [सं० अ + हि० पूत] पुत्र-रहित, निस्सतान। ~राँम सुमिरि निरभै हुआ, सव जग गया अऊत। →सा० साधु म० (३०) ७-२।

अकथ—वि० [सं०] अनिर्वचनीय, अकथनीय। ~कहै कवीर यह अकथ कथा है, कहताँ कही न जाई। →सव० १७-५, पद २५१-७, सव० १-१।

अकथ—वि० [स०] विचित्र। ~नर को ढाढ़स देखहु आई, कछु अकथ कथा है भाई। →सव० १५५-१।

अकथा—वि० [स० अ + कथ्] अकथनीय, अनिर्वचनीय।~मोर के माथे दुलहा दीन्हा, अकथा जोरि कहाता। →सव० ३६-२।

अकन—संज्ञा पु० [सं० अकन] चिह्न। ~कारे मूड को एक न छाड्यो, अजहूं अकन कुवारी। →सव० २६-४।

अकरम—सज्ञा पु० [स० अकर्म] निषिद्ध कर्म। ~धरम कथै जहँ जीव वधै तहँ, अकरम करे मोरे भाई। → सव० १६५-५।

अकरम—संज्ञा पु० [स० अ + कर्म] निष्काम। ~अकरम करे करम को धावै, पढि गुनि वेद जगत समुझावै। →र० ५६-३।

अकल—वि० [सं०] अखण्ड, पूर्ण। ~ अविगत अकल अनूपम देखा, कहताँ कहा न जाई। →सव० १३-७, पद २१२-३, पद ३२१-२।

अकल—वि० [सं०] १ कला अथवा अंश से रहित, निरवयव। २. सर्जन शक्ति की पूर्व अवस्था, निर्गुण। ~अवरन एक अकल अविनासी, घटि घटि आप रहै। →पद २८०-२।

अकल—वि० [स०] असीम, निराकार, अखण्ड। ~अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सो मिलि करै अनदा। →सव० १४३-८।

अकलप—वि० [अ + सं० कल्प] निर्विकल्प, विकलपरहित। ~मैमंता अविगत रता, अकलप आसा जीति।→ सा० रस० (६) ६-२।

अकहुआ—वि० [हि० अ + कहना + उआ (प्रत्य०)] कहने मे न आने वाला, अनिर्वाच्य। ~जाकर नाम अकहुआ रे भाई, ताकर काह रमैनी गाई। →र० ५१-१।

अकाज—संज्ञा पु० [सं० अकार्य] अहित, हानि। ~साँचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज। →सा० साँच० (२२) ५-२।

अकाज—सज्ञा पु० [स० अ + हि० काज] हानि, कुगति। ~ताकर जो कछु होय अकाज, ताहि दोस नहि माहेव लाज। →वसत (४) १०-७।

अकाज—पु० [सं० अकार्य] कार्य न होना,

नुकसान या अहित।~कबीर सूता क्या करै, सूतां होइ अकाज।→सा० सुमि० (२) १५-१।

अकारथ—क्रि० वि० [स० अकार्यार्थ] निष्फल, निष्प्रयोजन।~छूंछा परे अकारथ जाई, कहंहि कवीर चित चेतहु भाई। →र० ५६-४, सव० ७०-१०।

अकासै—संज्ञा पु० [सं० आकाश] चिदाकाश।~विनु पखै उडि जाइ अकासै, जीवहि मरन न सूझै। →पद १६६-१०।

अकिल—सज्ञा स्त्री० [अ० अक्ल] बुद्धि, समझ।~जैसे मदपी गाटि अरथ दै, घरहु कै अकिल गंवाई हो।→ कह० (३) ६-३।

अकिलि—सज्ञा स्त्री० [अ० अक्ल] बुद्धि। ~गुर परसादि अकिलि भई अवरै, नातरु था वेगाना। →पद २१६-२।

अखिर—सज्ञा पु० [स० अक्षर] अक्षर। ~वावन अखिर सोधि करि, ररै मर्म चित लाइ। →सा० कथ० वि० क० (१६) २-२, सव० ११३-५।

अक्षय—वि० [सं०] अविनाशी।~इन्द्री विनु भोग स्वाद जिभ्या विनु, अक्षय पिंड विहूना। →पद २७०-४।

अखडधार—वि० [सं० अखण्ड+हि० धार] लगातार, निरन्तर।~वरसै अगिन अखडधार, वन हरियर भौ अठारह भार। →वसत (४) १-२।

अखडित—वि० [सं० अखण्ड से] पूर्ण। ~पहिले भूले ब्रह्म अखडित, झांई आपुहि मानी। →पद २६४-२।

अखै—वि० [सं० अक्षय] अविनाशी, अमर।~खसमहिं छोडि छिमा होय रहई, होय न खीन अखै पद लहई। →ज्ञान० चौं० (१) ६।

अगनि—संज्ञा स्त्री० [स० अग्नि] आग। ~इला पिंगला भाठी कीन्ही, ब्रह्म अगनि परजारी। →पद २०१-३।

अगम—वि० [अ०+√गम्] जहाँ किसी की पहुँच न हो।~एक नाम है अगम गंभीरा, तहवां स्थिर दास कबीरा। →र० ३४-५।

अगम—वि० [स०] बुद्धि से परे।~ अगम द्रुगम गढि रचिओ वास, जामहि जोति करै परगास। →सव० ४३-३।

अगम—वि० [स० अगम्य] अजेय, असाध्य (कर्म)।~अगम दुर्गम गढ देउं छुडाई; औरो बात सुनहु कछु आई। →र० ५८-२।

अगम—वि० [सं०] जहाँ जाया न जा सके, पहुँच के वाहर।~अगम अगोचर गमि नही, जहां जगमगै जोति। →सा० परचा० (५) ४-१।

अगम—वि० [स०] १. अगम्य, २. निर्गुण। ~अगम कटि गम कियहु हो रमैया राम। →वेलि० (६) १-१७।

अगम—वि० [स० अगम्य] दुगम, कठिन। ~अगम निगम गढ रचि ले अवास, तहवां जोति करै परकास। →सव० १४०-३।

अगम—वि० [सं० अगम्य] पहुँच के वाहर। ~कहै कबीर अगम किया गम राम रंग रंगी। →पद ३२८-१०।

अगमन—क्रि० वि० [स० अग्रम्] पहले से ही। ~कल्हि गडै जो काटवा, अगमन कस न खुराइ। →सा० उपज० (५०) १-२।

अगमन—क्रि० वि० [स० अग्रवान्] पहले ही, आगे ही। ~छेव परे केहु अत न पावा, कहँहि कवीर अगमन गोह-रावा। →ज्ञान चौ० (१) ७०।

अगमपुर—यौ० [हि०] जहाँ सभी लोग नही पहुँच सकते, सिद्धावस्था। ~मन मारि अगमपुर लीया, चित्र-गुप्त परे डेरा किया। →पद २०५-७।

अगर—सज्ञा पु० [स० अगुरु] एक प्रकार की लकडी, जो सुगन्धित होती है, धूप। ~चोवा चदन अगर पान, घर घर सुम्रिति होय पुरान। →वसं (४) ११-२।

अगह—वि० [स० अग्राह्य] जो पकडा न जा सके। ~पेड़ विकट है महा सिलहला अगह गहा नहिं जावै। → पद १७८-३।

अगाध—वि० [स०]अथाह, अपार, असीम, अनत। ~जो अगाध ए का कहै, भारी अचरज होइ। →सा० हैरा० (६) १-२।

अगारी—संज्ञा पु०[सं० आगार से] हृदय। ~मूंदे मदन काटि कर्म कस्मल, सतत चुवत अगारी। →पद ३०३-४।

अगाह—वि० [स० अगाव] अथाह। ~अद्‌भुत अगम अगाह रचो है, ई सभ सोभा तेरे। →सव० ६४-१८।

अगिन—सज्ञा स्त्री० [सं० अग्नि] ज्ञाना-गिन। ~वरसै अगिन अखडधार; वन हरियरभौ अठारह भार। →वसंत (४) १-२।

अगुवन—संज्ञा पु० [स० अग्र से] आगे, सामने। ~पढिकै सास्त्र जीव वध करई, मूड काटि अगुवन के धरई। →र० ३१-४।

अगोचर—वि० [स०] इंद्रियो की पहुँच से परे, इन्द्रियातीत। ~अगम अगोचर गमि नही, जहाँ जगमगै जोति। → परचा० (५) ४-१, सव० ४३-८।

अगोचर—वि० [स०] १. जो प्रत्यक्ष नही है। २. परमतत्व, जो इन्द्रिय, मन, वुद्धि से परे है। ~अँधियारे दीपक चहिऐ, तव वस्तु अगोचर लहिऐ। →पद ३३६-५।

अग्या—संज्ञा स्त्री० [सं० आज्ञा] आदेश। ~चाँद सूरज दोउ झूलहि उनहु न अग्या भेव। →हिंडो० (८) ३-४।

अघ—संज्ञा पु० [स०] पाप। ~जुगन-जुगन की त्रिखा वुझानी करम भरम अघ व्याधि टरै। →पद २४६-७।

अघटि—सज्ञा पु० [स० अवघट] विकट मार्ग। ~अघटि चले सो नगरि पहूँते, वाट चले ते लूटे। →पद २५-३।

अघाइ—क्रि० वि० [प्रा० अग्घाण] जी-भरकर, संतुष्ट होकर। ~राँम नाँम करि वोहडा, वोही वाज अघाइ। →सा० वेसा० (३५) ४-१।

अघाई—क्रि० [प्रा० अग्घाण] तृप्त होती है। ~एतिक गइया खाय वढ़ायो, गइया तहुँ न अघाई। →पद २०६-८, पद २०१-२।

अघट्ट—वि० [अ + हिं० घटना (कम होना)] न घटने वाली, कम न होने वाली, छोटी न होने वाली ।~ दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।→सा० गु० (१) १२-१ ।

अचभा—सज्ञा पु० [स० अत्यद्भुत, प्रा० अच्चब्भुव] आश्चर्य ।~एक अचभा ऐसा भया । →सब० ४७-१, सा० हैरा० (६) २-२, सा० जी० मृ० (४१) ४-२, सब० ४८-१ ।

अचंभौ—वि० दे० 'अचभा' ।

अचरज—सज्ञा पु० [सं० आश्चर्य] आश्चर्य । ~ओ अगाध ए का कहैं, भारी अचरज होइ ।→सा० हैरा० (६) १-२, पद २५०-३, सा० उपज० (५०) ३-२ ।

अचारज—वि० [सं० आचार्य] आचार्य । ~सुकदेव अचारज दुःख के कारनि, गरभ सो माया त्यागी हो ।→सब० १३८-४ ।

अचारा—सज्ञा पु० [सं० आचार] अचार । ~हरि हर ब्रह्मा नहिं सिव सक्ती, तीर्थउ नाहिं अचारा । →सब० १६६-७ ।

अचित—वि० [स० अ + चिन्त] निश्चिन्त, चिन्तारहित ।~चिंता छाडि अचित रहु, साँई है समरत्थ ।→सा० बेसा० (३५) ६-१ ।

अचिता—वि० [स० अ + चिन्ता] निश्चिन्त, बेखबर । ~काल अचिता झडपसी, ज्यों तीतर कों बाज । →सा० का० (४६) ६-२ ।

अचेत—वि० [स०] बेसुध ।~ग्यांन अचेत फिरै नर लोई, ताथैं जनम जनम डहकाए । →पद ३३१-२ ।

अचेत—वि० [स०] बेहोश, अज्ञानी ।~ माला फेरै मनमुखी, बहुतक फिरै अचेत ।→सा० भेष० (२४) ४-१ ।

अचेत—संज्ञा पु० [सं०] अज्ञान । ~कहँ लगि कहौं अचेतहि गैऊ चेत अचेत झगर एक भैऊ । →र० ४७-६ ।

अचेतहि—क्रि० वि० [स० अ + चेत] अज्ञानवश ।~कहँ लगि कहौं अचेतहि गैऊ, चेत अचेत झगर एक भैऊ । →र० ४७-६ ।

अछत—क्रि० वि० [स० √अस् (हिं० क्रि० अछना)] रहते हुए । ~जीव अछत जामैं मरै, सूषिम लखै न कोइ ।→सा० सू० ज० (१५) २-२; पद ३०५-६, कह० (३) १-२०, पद २५१-४ ।

अछता—१. पु० [सं० अक्षत] जो क्षत न हो, अखण्ड आत्मा । २. क्रि० वि० [स० √अस् (हिं० क्रि० अछना)] विद्यमान, रहते हुए ।~लोभ बडाई कारनै, अछता मूल न खोइ । → चिता० (१२) ४१-२ ।

अछता—क्रि०-दे० 'अछत' ।

अछते—क्रि० वि०-दे० 'अछत' ।~बिन नैनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा । →पद २५-७ ।

अछलो—क्रि० [सं० √अस्] था ।~तब मैं अछलो मन बैरागी, तजलो कुटुम राम रट लागी । →सब० १६-२, सब० १६६-५ ।

अछित—वि० [सं० अक्षत] विद्यमान (शाश्वत) । ~जीव अछित जोबन गया, किछु किया न नीका । → सब० ६६-७ ।

अजंच—वि० [सं० अयाची] जिसे याचना की आवश्यकता न हो, सम्पन्न।~कबीर जाचन जाइ था, आगे मिला **अजंच**। →सा० उपज० (५०) १२-१।

अजगूता—भाव० [स० अयुक्त] आश्चर्य। ~आई करगी भो अजगूता, जन्म जन्म जम पहिरे वूता। →र० १०-२।

अजब—वि० [अ०] अद्भुत; विलक्षण। ~तेहि ऊपर कछु अजब तमासा, मारो है जम किल्ली। →सब० ६४-१६, पद ३२७-१।

अजर—वि० [स०] नित्य नवीन।~रस गगन गुफा मैं अजर झरै। →पद २४६-१।

अजर—वि० [स०] जो वृद्ध न हो।~अजर अमर एक बिरिछ निरजन डारा। →पद ३१६-३।

अजरामर—वि० [सं०] अजर और अमर।~मरनैं पहिले जो मरै, तौं कलि अजरामर होइ। →सा० जी० मृ० (४१) ८-२।

अजहुँ—अव्य० [सं० अद्य+हुँ] आज भी।~पढै वेद औ करै बडाई, ससै गाठि अजहुँ नहिं आई। →र० ३१-३।

अजराइल—वि० [स० अजर] जीर्ण न होने वाला, टिकाऊ। ~ऐसं जो अजराइल मारै; मस्तकि आवै भाग रे। →सब० ११८-४।

अजान—सज्ञा पु० [स० अज्ञान] अज्ञान, न जानना।~जो यह एक न जानियाँ, तौ सबही जान अजान। →सा० निह० पति० (११) ८-२।

अटपट—वि० [प्रा० अट्टपट्ट] विचित्र, जटिल, गूढ़। ~अटपट कुभरा करै कुंमरैया, चमरा गाँव न बाँचै हो। →कह० (३) २-२।

अटल—वि० [स०] स्थिर।~रही लटापटि जुटि जेहि माही, होहि अटल ते कतहू न जाही। →ज्ञान० चौ० (१) २६।

अठसठि—वि० [सं० अष्टषष्टि, प्रा०अट्ठसट्ठि] अडसठ, बहुसंख्यक। ~तूंबी अठसठि तीरथ न्हाई, कडुवापन तऊ न जाई। →सब० ७६-४।

अठारह भार—[मुहा०] सम्पूर्ण वनस्पति। ~बरसै अगिन अखंडधार, बन हरियर भो अठारह भार। → वसंत (४) १-२।

अड़बद—सज्ञा पु० [हि०√अड+सबद] कौपीन। ~द्वापर मैं हम अड़बद पहिरा, कलउ फिर्यो नो खडा। →सब० ६३-६।

अढ़ाई—वि० [स० अर्द्धद्वितीय, प्रा० अड्ढाइय] दो और आधा। ~गजे न मनिए तौलि न तलिऐ पहजन सेर अढ़ाई। →पद २७१-५।

अढ़ाई—सज्ञा पु० [हि०] ढाई गुना।~जाके देव वेद पछराखा, ताक होत अढ़ाई हो। →कहरा (३) ४-४।

अतीत—वि० [स०] न्यारा, अलग, परे। ~कला अतीत आदि निधि निरमल ताको सदा विचारत रहिए। →पद ३०५-२।

अतीत—संज्ञा पु० [सं०] विषयातीत, इन्द्रियातीत, साधु। ~कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध। →सा० असा० (२७) १-१।

अतीत—संज्ञा पु० [सं०] त्रिगुणातीत, वासनातीत, विरक्त। ~करहि लराई मति के मदा, ई अतीत की तरकस वदा। →र० ६६-६।

अतीत—क्रि० वि० [सं०] कालातीत। ~सबद अतीत अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णा षाडी रे।→पद ३०-२।

अतीत—वि० [सं०] पृथक्, परे, अलग। ~गुन अतीत जस निरगुन आप, भरम जेवरा जग कियो साप। →सब० ५०-८।

अतीति—वि० [सं० अति + ईति] आगे चला गया हुआ, द्वन्द्वातीत, द्वन्द्व से परे। ~राम अमलि माता रहै, जीवन मुकुति अतीति। →सा० रस० (६) ६-२।

अथई—क्रि० [सं० अस्त] अस्त हो गया, नष्ट हो गया। ~चोछी मति चंदा गो अथई, त्रिकुटी सगम स्वामी वसई। →र० १३-६।

अथिर—वि० [सं० अस्थिर] अस्थिर, चंचल। ~काची काया मन अथिर, थिर थिर करम करंत। →सा० काल० (४६) ३०-१।

अदग—वि० [सं० अ + फा० दाग] विना दाग के, निष्कलक। ~काजर वाकी रेख है, अदग गया नहिं कोय। →चांच० (५) १-२३।

अदबुद—वि० [सं० अद्भुत] विलक्षण, अलौकिक। ~सोभा अदबुद रूप की, महिमा वरनि न जाय। →चांच० (५) १-३।

अदबुध—वि० [अद् + सं० बुध] अज्ञानी, मूर्ख। ~दिना सात लों वाकी सही, बुध अदबुध अचरज का कही।→र० ७२-३।

अदया—संज्ञा स्त्री० [सं० अ + दया] दया के विना, अकृपा। ~अदया अल्लह राम की, कुरलै कोनी कूप।→सा० चिता० (१२) ४७-१।

अदल—संज्ञा पु० [अ०] न्याय, शासन। ~सासु ननद मिलि अदल चलाई, मादरिया ग्रिह वैठी आई। →सब० १५१-२।

अदिष्ट—संज्ञा पु० [सं० अदृष्ट] कर्मों का वह फल जो देखा नहीं जा सकता, भाग्य। ~कहै कबीरा दूरि कर, आतम अदिष्ट काल। →सा० सू० ज० (१५) १-२।

अदिष्टि—वि० [सं० अदृष्ट] जिसे देखा न जा सके, अदृष्ट, ब्रह्म। ~देखत जो नहिं देखिया, अदिष्टि कहावै सोय। →र० ८-८।

अद्बुद—वि० [सं० अद्भुत] आश्चर्यजनक विचित्र। ~ अद्बुद पथ वरनि नहिं जाई, भूले राम भूलि दुनियाई। →र० १८-१, र० ४-३।

अधकूचा—वि० [सं० अर्द्ध + हि० कच्चा] अधकचरा, अपरिपक्व, अधूरा। ~ताकर हाल होय अधकूचा, छव दरसन मेंह जैनि विगूचा। →र० ३०-७।

अधधर—क्रि० वि० [सं० अधोध·] बीच मे ही। ~भौजलि अधधर थाकि रहे है, बूडे वहुत अपार।→ सब० ७३-६।

अधधर—क्रि० वि० [सं० अधोधः] एकदम नीचे। ~भेरै चढे सो अधधर डूवे, निराधार भए पार। →सव० २५-२।

अघर—सज्ञा पु० [हि०] बीच मे।~ रपटि पांव गिरि परे अघर तैं आइ परे भुइं माही। →सव० १७८-६।

अधर—सज्ञा पु० [सं० अ+√धृ] बिना आधार के, शून्य स्थान। ~विनु जिभ्या गावै गुन रसाल, बिनु चरनन चालै अघर चाल। →पद २२५-३।

अधारा—संज्ञा पु० [सं० आधार] सहारा, आलम्बन। ~बरिसै तपै अखडित धारा, रैनि भयावन किछू न अधारा। →र० १६-६।

अधिकार—भाव० [सं०] अधिकता से। ~ऊँचा कुल कै कारनैं, वस बढ़ा अधिकार। →सा० निगु० (५५) ११-१।

अधीरा—वि० [सं० अधीर] व्याकुल। ~विरहिनी फिरै है नाथ अधीरा। →सव० १६४-१।

अनंगु—संज्ञा पु० [सं० अनङ्ग] कामदेव ~वपु वारी अनगु मिरगा रुचि रुचि सर मेलै। →सव० १००-२।

अनत—सज्ञा पु० [सं०] ब्रह्म। ~तरवर एक अनंत मूरति, सुरतां लेहु पिछानी। →सव० १२-३।

अनंत—वि० [सं० अनत] अपार, असीम, जिसका कोई आदि-अंत नही है अर्थात् काल से परे। ~सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार। →सा० गुरु० (१) ३-१।

अनँवासी—सज्ञा पु० [सं० अनुवासन] नया, अप्रयुक्त वर्तन। ~तानैं वानैं पडी अनँवासी, सूत कहै वुनि गाढी। →सव० ३०-६।

अन—संज्ञा पु० [सं० अन्न] अनाज, खाद्य पदार्थ। ~अन को त्यागै मन नहिं हटकै, पारन करै सगोती। →पद ३०४-४।

अनआया—भाव० [अन+हि० आना] न आने के बराबर। ~आया अनआया भया, जे बहु राता ससार। →सा० चिता (१२) २६-१।

अनकीया—क्रि० [सं० अन+हि० करना] बिना किए हुए। ~कबीर किया कछु होत नहिं अनकीया सब होइ। →सा० सम्र० (३८) २-१।

अनख—सज्ञा पु० [हि०] दुःख, झझट। ~को अब अनख सहै प्रतिदिन को, नाहिन रहनि हमारो। →सव० १८८-२।

अनगायां—वि० [सं० अन+गान] भगवान् का गुणगान न करने वाला। ~गाया तिन पाया नही, अनगायां तैं दूरि। →सा० बेसा० (३५) २१-१।

अनचिन्ता—वि० [अन+सं० चिन्ता] जो नही सोचा गया है।~अनचिन्ता हरि जी करै, जो तोहि चिंति न होइ। →सा० वेसा (३५) ६-१।

अनचिन्ह—वि० [हि०] अपरिचित, विना पहचान का। ~अनचिन्ह रहेउ न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचानै हो। →कह० (३) १-१५।

अनजाने—वि० [हि०] अज्ञानी।~जान पुरुषवा मार अहार, अनजाने पर करौ सिंगार।→वस० (४) ४-४।

अनत—क्रि० वि० [स० अन्यत्र] अन्यत्र, दूसरी जगह। ~मुकताहल मुकता चुगैं, अव उडि अनत न जाहिं। →सा० पर० (५) ३६२, सव० १६-३, पद ३४१-१, पद ३१७ १०, र० १५-२, र० ६४-५।

अनते—क्रि० वि०-दे० 'अनत'।

अनतैं—क्रि० वि०-दे० 'अनत'।

अनवनि—वि० [हि० अनवन] भिन्न-भिन्न। ~काया विगुरचनि अनवनि वाटी, कोई जारै कोइ गाडै माटी। →पद २२१-२।

अनवोला—वि० [स०अन+हि०वोलना] मौन। ~गावनहारा कवहुं न गावै, अनवोला नित गावै। →पद ३२-६।

अनवोले—वि० [स० अन्+वोलना] विना वोले हुए। ~अनवोले ते कैसक वनिहै, सव्दहिं कोई न विचारै। →पद ३००-२।

अनवोवैं—वि० [अन+स० वपन] विना वोया हुआ।~अनवोवैं लुनता नही, वोवै लुनता होइ। →सा० उप० (३४) २-२।

अनव्यावर—वि० [हि०] विना विआई हुई। ~आँगन वेलि अकासे फल, अनव्यावर का दूध। →सा० वेली० (५८) ४-१।

अनभेद्—वि० [हि०] रहस्य न जानने वाला। ~वहुतक लोग चढे अनभेद्ू देखा देखी गहि वाही। →सव० १७८-५।

अनभै—वि० [सं० अन्+भय] भय-रहित।~पाषंड भरम कपाट खोलि कै, अनभै कथा सुनाई। →पद २६५-४; पद ३०५-१, पद २१२-५, सव० १५३-६, सव० ६१-६।

अनभै—सज्ञा पु० [स० अनुभव] अनुभव। ~झूठी अनभै बिस्तरी, सव थोथी वाई। →सव० १-६।

अनभौ—सज्ञा पु० [सं० अनुभव] आत्मा-नुभव।~अनभौ भाव न दरसै, जियत न आप लखाय। →र० ३१-६।

अनरते—वि० [सं०] जिसमे प्रेम नही है। ~अनरते सुख सोवना, रातै नीद न आई।→सा० साध० (२६) ५-१।

अनल—पु० [सं०] अग्नि, जठराग्नि।~ अंन पान जहाँ जरै, तहाँ तै अनल न चाखियौ।→सा०वेसा० (३५) १-४।

अनल—संज्ञा पु० [स०] अग्नि।~तहिया होत पिंड नहि वासू, ना धर धरनि न अनल अकासू। →र० ७-४, कह० (३) ११-८।

अनल—संज्ञा पु० [स० अनलपक्ष] वह चिडिया जो सदा आकाश मे उडा करती है और वही अडे देती है। इसका अंडा पृथ्वी पर गिरने से पहले पककर फूट जाता है और वच्चा अडे से निकलकर उड़ता हुआ अपनें माँ-बाप से जा मिलता है। ~मन उनमन उस अंड ज्यो, अनल अकासाँ जोई।→

सा० मन० (१३) ६-२, सा० मधि० (३१) ३-१, सा० मन० (१३) ६-२।

अनवां—क्रि० [स० √नी] लाने पर।~ पठऍं न जाउँ अनवां नहिं जाऊं सहजि रहूँ दुनियाई हो। →पद २३७-५।

अनहद—वि० [सं० अनाहत] बिना चोट की (ध्वनि)। कबीर वाणी मे 'अनहद' शब्द दो अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है—(क) अनाहत नाद के अर्थ मे और (ख) अनहद अर्थात् जिसका कोई हद नही या असीम के अर्थ मे। यहाँ 'अनहद' शब्द का प्रयोग अनाहत नाद के अर्थ मे हुआ है। जब आन्तरिक शक्ति का जागरण होता है, तब साधक के भीतर नाना प्रकार की ध्वनियां बिना किसी आघात के सुनाई देने लगती हैं। यही अनाहत नाद है। ~अनहद अनुभव की करि आसा, देखहु यह विपरीत तमासा। →र० १६-१, र० ५-३, सब० १६१-७।

अनिक—वि० [स० अनेक] अनेक, अत्यधिक। ~अनिक जतन करि राखिऐ, फिरि फिरि लपटाई। →सब० ६६-६, सब० १५६-१२।

अनिन—वि० [सं० अनन्य] अनन्य, अद्वितीय। ~अनिन कथा तनि आचरी हिरदै त्रिभुवन राइ। →सा० पर० (५) २६-२।

अनियाले—वि० [स० अणि + हि० आरा (प्रत्य०)] नुकीला, तीक्ष्ण। ~राम भगति अनियाले तीर। →पद २६२-१।

अनी—स्त्री० [सं० अणि] नोक, अग्रभाग। ~अनी सुहेली सेल की, पडता लेइ उसास। →सा० कुस० (३६) १-१।

अनी—संज्ञा स्त्री० [स० अणि] भाले की नोक। ~भाई रे अनी लडै सोई सूरा। →पद २०५-१।

अनी—संज्ञा स्त्री० [सं० अणि] किनारा, सीमा। ~बेलडिया द्वै अनी पहूँती गगन पहूँती सैली। →पद २५३-३।

अनुभौ—संज्ञा पु० [स० अनुभव] अनुभव, स्वानुभूति ~कबीर जुलाहा भया पारखी, अनुभौ उतरया पार। →सा० पर० (५) ४७-२।

अनूप—वि० [स० अनुपम] अतुलनीय, बेजोड, अद्वितीय। भाई रे अद्भुत रूप अनूप कथा हैं। कहीं तो को पतियाई। →पद २०४-१, सब० ११-३, सब० १६७-२।

अनूपा—वि० दे० 'अनूप'।

अनूपु—वि०-दे० 'अनूप'।

अपनपौ—संज्ञा पु० [हि० अपना + पौ (प्रत्य०)] आत्मस्वरूप। ~पडित भूले पढ़ि गुनि बेदा, आपु अपनपौ जान न भेदा। →र० ३५-१।

अपनै—सज्ञा पु० [सं० आत्मन्] आत्मस्वरूप। ~अपनै विचारि असवारी कीजै। →सब० ३-१।

अपरचै—संज्ञा पु० [सं० अपरिचय] लक्ष्य का पूर्ण परिचय न होना। ~देखा देखी पाकडै, जाइ अपरचै छूटि। →सा० सग० (२६) १-१।

अपरबल—वि० [अ + स० प्रबल] प्रबल, शक्तिशाली, तेज। ~पानी माही

परजली, भई अपरबल आगि।
→सा० ज्ञान वि० (४) ६-१ ।

अपवादहिं—संज्ञा पु० [सं० अपवाद] निन्दा मे । ~पर निंदा पर धन पर दारा, पर अपवादहिं सूरा । →सब० ६८-५ ।

अपसर—वि० [अप + फा० सर] नीच, बुरा । ~सर अपसर समझै नही, पेट भरन सौं काज ।→सा० साषी० (२६) ७-२ ।

अपाना—सज्ञा पु० [स० आत्म] आत्म-स्वरूप ।~तेरे घट मे ही ठग पूर हैं, मति खोवहु अपाना।→सब० १३५-२

अपार—वि० [स०] असख्य ।~मौजलि अधघर थाकि रहे हैं, बूडे बहुत अपार । →सब० ७३-६ ।

अपारा—वि० [स० अपार] अनन्त । ~थोरी भगति बहुत अहकारा, ऐसे भगता मिलैं अपारा । →सब० १४७-३ ।

अपारिष—वि० [सं० अ + परीक्षण] भगवद्भक्ति रूपी रत्न को सामने पाकर भी उसके परख की क्षमता न रखने वाला । →[(४८) सा० अपारिष०] ।

अपिण्डी—सज्ञा पु० [स० अ + पिण्ड + ई (प्रत्य०)] अशरीरी, आत्मा । ~बसै अपिण्डी पिण्ड मैं, ता गति लखै न कोइ । →सा० हैरा० (६) २-१।

अपुनपौ—सज्ञा पु० [स० आत्म + पौ (प्रत्य०)] आत्मस्वरूप । ~अपुनपौ आपुहि विसरयो । →सब० ५-१।

अपूठा—क्रि० वि० [सं० आ + पृष्ठि] पीछे की ओर । ~ताकू केरे सूत ज्यो, उलटि अपूठा आनि । →सा० मन० (१३) १-२ ।

अबध—संज्ञा पु० [सं० अवधि] १. अवकाश या बीच मे। २. वि० [स० अवध्य] अविनाश्य । ~धरती अरु असमान विचि, दोइ तूंबड़ा अबध । →सा० मधि० (३१) ११-१ ।

अबरन—वि० [स० अ + वर्ण्य] अवर्ण-नीय ।

अबरन—वि० [सं० अ + वर्ण] जिसका कोई रग-रूप नही है ।~अबरन कौं क्या बरनिये, मोपै बरनि न जाइ । अबरन बरने बाहिरा, करि करि थका उपाइ । →सा० सम्र० (३८) ६-१, २, सब० १४०-६ ।

अबरन—वि० [स० अवर्ण] विना रग का । ~अबरन बरन स्यांम नहिं पीत, हाहू जाइ न गावै गीत । →सब० ४३-५, पद २८०-२, विप्रम० (२) २८ ।

अबरन—वि० [स० अवर्ण] असुन्दर ।~अबरन बरन कछू नहिं वाके, खाद्य अखाद्यै खाई । →पद २०६-१० ।

अबिरथा—क्रि० वि० [स० वृथा] निर-र्थक । ~माया कारनि विद्या बेचहु जनमु अबिरथा जाई । →सब० १६४-८ ।

अबिहड़—वि० [स० अ + विघट] अखण्ड, अनश्वर, अवियुक्त । ~आदि मध्य अरु अंत लौं, अबिहड़ सदा अभंग । →सा० अवि० (५६) ३-१ ।

अबुझा—वि० [स० अबुद्ध] अविवेकी ।

~अबुझा लोग कहाँ लौं बूझै, बूझनहार विचारो। →पद २५२-२।

अबूझ—वि० [स० अबोध] ज्ञानहीन, मूर्ख, अज्ञानी। ~कोनै परा न छूटिहै, सुनु रे जीव अबूझ। →सा० सूरा० (४५) २-१, वसंत (४) १२-३।

अबूझी—वि० [स० अ+बोध्य]अज्ञेय, अबोध्य, [पु०] ब्रह्म। मै रे अबूझी बूझिया, पूरी पडी बलाइ। →सा० साध० सा० (२६) ६-२।

अबेध—वि० [स० अवेध्य] जो वेधा या छेदा न जा सके। ~लोके रतन अबेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई। →पद २६५-२।

अबोलै—क्रि० [सं० अ+हि० बोलना] विना वातचीत के। ~नारी पुरुष बसै इक सगा, दिन दिन जाइ अबोलै। →पद २५१-५।

अभग—वि० [स०] अटूट, लगातार। ~आदि मध्य अरु अत लौं, अविहड सदा अभंग। →सा० अवि० (५६) ३-१।

अभाग—सज्ञा पु०[स० अभाग्य] अभाग्य, दुर्भाग्य। ~अपने गुन को औगुन कहहू, यहि अभाग जे तुम न विचारहु। →र० ६५-१, सा० कामी० (२०) २१-२।

अभिअतर—क्रि० वि० [सं० अभ्यन्तर] भीतर। ~लुभुकी लुभुकि चरै अभिअंतर खात करेजा काढी। →पद ३१३-४, सव० ४३-८, सव० १४०-६, पद २२४-७, पद ३३५-३।

अभिअंतर—क्रि० वि० [सं० अभ्यन्तर] आन्तरिक विवेक। ~देखहु कुमति केर परगासा, भए अभिअंतर किरतिम दासा। →विप्र० (३) १५।

अभिअंतरा—क्रि० वि० दे० 'अभिअतर'।

अभिअंतरि—क्रि० वि०-दे० 'अभिअंतर'।

अभिमाना—भाव० [सं०अभिमान] सर्वतः मान बैठना, यह समझना कि मैं जीव हूं, शरीर हूं, प्राण हूँ। ~कुल अभिमाना खोइ कै, जियत मुवा नहिं होय। →र० ८-७।

अभै—वि० [स० अभय] निर्भय, भयरहित। ~कहै कबीर सुनौ हो अवधू, मैं अभै निरतरि पाया। →सब० ६३-८।

अमड़ैगे—क्रि० [हि० अमर से] अमर हो जाएँगे, प्रतिष्ठित हो जाएँगे। ~पहुंचैगे तब कहैंगे अमड़ैगे उस ठाँइ। →सा० जरणाँ (८) ५-१।

अमर—सज्ञा पु० [सं०] देव लोक। ~जेहि जल जीव सीव की बासा, जो चल धरती अमर परगासा। →सब० १०७-३।

अमरापुर—सज्ञा पु० [स० अमरपुर] अमृतत्व। ~हरि चरनौ चित राखिए, तौ अमरापुर होइ। →सा० भेष० (२४) ६-२।

अमल—सज्ञा पु० [अ०] रूढकर्म, लोकाचार। ~नबी हबीबी के जो कामा, जहँ लै अमल सो सबै हरामा। → र० ४८-५।

अमल—सज्ञा पु० [अ०] शासन। ~जोति सरूपी हाकिमा जिन अमल पसारा। →पद ३१६-६।

अमलि—सज्ञा पु० [अ०] नशे मे। ~ राम अमलि माता रहै, जीवन मुकुति अतीति। →सा० रस० (६) ६-२, सा० विकं० (३७) ८-२।

अमलिन—वि० [स०] स्वच्छ। ~अमलिन मलिन घाम नहिं छांहीं, दिवस न रति नही है ताहीं। →सब० १४०-१३।

अमली—वि० [अ०] व्यसनी। ~अमली लोग खुमारी तृष्ना, कहुं सतोष न पावै। →पद २०७-३।

अमहल—वि० [हि० अ + महल] वह महल जिसका कोई आश्रय नही है, सर्वाधिष्ठान। ~कहूं लौं गनौं अनत कोटि लौं, अमहल महल दिवाना। →पद ३०३-८।

अमहल—सज्ञा पु० [स० अ (प्रत्य०)+ महल (अ०)] जो वास्तविक घर नही है। ~गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल महल दिवाना।→सब० ६४-२।

अमावस—संज्ञा स्त्री० [सं० अमावस्या] कृष्ण पक्ष की अन्तिम तिथि। इस रात्रि को सूर्य और चन्द्र एक साथ रहते हैं। ~नित्त अमावस नित सक्रात, नित नित नवग्रह वैठे पांत। →सव० १६५-४, सव० १४४-४।

अमित—वि० [स०] अपरिमित, अनंत, अनगिनत। ~स्वाद अमित कछु वरनि न जाई, कै चरित्र सो ताहि समाई। →र० ८२-३, र० २५-३।

अर्मो—सज्ञा पु० [सं० अमृत] अमृत। ~कामी अर्मो न भावई विख ही कौं ले सोधि। →सा० कामी० (२०) १६-१, सा० विचा० (३३) ७-२, सब० ३८-२।

अमीता—संज्ञा पु० [स० अमित्र] अनुराग न रखने वाला, शत्रु। ~आंन देव को पूजा कीन्ही हरि से रहा अमीता रे। →पद २६३-५।

अमीरस—सज्ञा पु० [स० अमृतरस] अमृतरस। ~नीझर झरै अमीरस निकसै इहि मद रावल छाका। →पद ३४४-७।

अमृत—वि० [सं०] १. जो मृत नहीं है अर्थात् अमर। २. जो दूसरो को अमर कर देता है। ~कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ। →सा० सुमि० (२) ३१-१।

अमोल—वि० [स० अमूल्य] बहुमूल्य, कीमती। ~बस नाही गोपाल सों, बिनसै रतन अमोल। →सा० दया-नि० (५१) १-२, बेलि० (६) १-२०, पद २६५-२।

अमोलिक—वि०-दे० 'अमोल'।

अम्बर—संज्ञा पु० [स०] आकाश। ~ अम्बर कुजां कुरलियां, गरजि भरे सब ताल। →सा० विर० (३) २-१।

अम्रित वेली—यौ० [स० अमृतवेलि] सहस्रार से टपकने वाला अमर रस। ~अम्रित वेली छिन छिन पीवै कहैं कबीर सो जुग जुग जीवै। →सब० १२५-५।

अयान—सज्ञा पु० [स० अज्ञान] अज्ञान। ~विमलख करै नैन नहिं सूझा, भया अयान तब कछुवो न बूझा। →र० ६३-४।

अयांनां—संज्ञा पु० [सं० अज्ञान से] अज्ञानी। ~पाखड करि करि जगत भुलांनां, नांहिन रांम अयांनां। →पद ३०८-६।

अयांनां—वि० पु०-दे० 'अयाना'।

अयाना—वि० पु० [स० अज्ञान] अज्ञानी, अनभिज्ञ, मूर्ख। ~घर का सुत जो होय अयाना, ताके संग न जाहिं सयाना।→र० २६-५, सव० ८५-६, सव० १६-४, र० २२-२, सव० १०२-६, पद २०८-३, सव० १७७-४, सव० २-३।

अर—वि० [दे०] तेजयुक्त। ~अर इन्द्रादिक वर ब्रह्मादिक ते वाघिनि घरि खाया। →पद ३१३-७।

अरघा—संज्ञा पु० [स० अर्घ्य] दूब, दधि, अक्षत, जल के द्वारा पूजा।~अरघा दे लै चली सुआसिनि, चौके रांड भई सग सांई। →पद ३१२-६।

अरचा—सज्ञा स्त्री० [स० अर्चा] अर्चना, पूजा।~जप तप संजम पूजा अरचा जोतिग जग बौराना। →पद २०८-५।

अरथ—संज्ञा पु० [सं० अर्थ] प्रयोजन, अभिप्राय, मनोरथ। ~पाडर पिंजर मन भंवर, अरथ अनूपम वास। →सा० वेसा० (३५) १६-१।

अरथ—संज्ञा पु० [सं० अर्थ] धन।~जैसे मदपी गाठि अरथ दै, घरहु कै अकिल गँवाई हो। →कह० (३) ६-३।

अरघ—वि० [सं० (अध) अधर का विपर्यय] नीचे, मूलाधार चक्र।~अरघ उरघ बिच लाइले अकास, सुन्नि मंडल महिं करि परगासु।→ सव० ४३-११;सा० गुरु (१) ३१-१, सव० १४०-७, पद ३०३-३।

अरघ उरघ—यौ [स० अध.उर्ध्व] नीचे-ऊपर। ~अरघ उरघ दसहूँ दिसि जित तित, पूरि रहा राम राई। →पद ३२६-८।

अरघ मुखि—वि० [स० अधोमुख] नीचे मुख किए हुए। ~ते विघना वागुल रचे, रहे अरघ मुखि झूलि। →सा० चिता० (१२) २८-२।

अरघ सरीरी—सज्ञा स्त्री० [स० अर्द्ध शरीरी] अर्द्धाङ्गिनी। ~अरघ सरीरी नारि न छूटै, ताते हिन्दू रहिए। →सव० ७६-६।

अरस परस—यौ० [हि०] अनुभूति। ~ बिनु देखें बितु अरस परस विनु नाम लिए का होई। →सव० १६८-७।

अरहट—संज्ञा पु० [स० अरघट्ट] रहट, जलपात्रो की वह माला जिससे कुएँ से पानी निकाला जाता है। ~माला पहरयां हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देख। →सा० भेष० (२४) ६-२, सव० १८६-६, सव० १४७-४।

अरुझाई—क्रि० [हि० उलझना] उलझना। ~र रा रारि रहा अरुझाई, राम कहे दु ख दालिद जाई। →ज्ञान चौं० (१) ५७।

अरुझाना—क्रि० [हि० उलझना] बंधन। ~कहैं कबीर इहै मन माना, कोधौं छूट कवन अरुझाना। →सव० १३१-५।

अरुझि सरुझि—यौ०[हि०उलझना, सुल-

झना] उलझता सुलझता रहता है। ~झ झा अरुझि सरुझि कत जान, हींडत ढूढ़त जाहिं परान। →ज्ञान चौं० (१) १६।

अरूप—पु० [स०] निराकार (ब्रह्म)। ~रूप अरूप जाय नहिं बोली, हलुका गरुआ जाय न तोली। →र० ७७-३।

अर्थ—संज्ञा पु० [स०] तत्व, भेद, रहस्य। ~ गुनी अनगुनी अर्थ नहिं आया, वहुतक जने चीन्हि नहिं पाया। →र० ४-४।

अर्थ विहूना—वि० [सं० अर्थविहीन] द्रव्य-धन आदि से रहित, दरिद्र। ~अर्थ विहूना सँवरै नारी, परजा सँवरै पुहुमी झारी। →र० ६-५।

अर्थावै—क्रि० [हि०] अर्थ लगाना, भाव समझना। ~कहँ कबीर सुनो हो संतो, जो यह पद अर्थावै। → सब० १५५-८।

अर्ध—अव्य० [स० अधः] नीचे, प्राण-वायु। ~ब्रह्म अगिनि कियो प्रगास, अर्ध उर्ध तहँ बहै बतास। →वसंत (४) २-३।

अर्ब—संज्ञा पु० [स० अर्बुद] अरब, सौ करोड़। ~चिमिकि चिमिकि चिमकै दृग दुहु दिस, अर्ब रहा छिरिआई। →पद २६५-३।

अर्‍यो—क्रि० [सं० √अल्] अड़ गया। ~वैसे ही गज फटिक सिला पर दसनन आनि अर्‍यो। →सब० ५-४

अलंकृत—वि० [स०] सुन्दर। ~फल अलकृत बीज नहिं बोकला, सुख पछी रस खायो। →सब० ८८-२।

अलख—वि० [स० अलक्ष्य] जो दिखाई न दे (ब्रह्म)। ~अलख निरंजन लखै न कोई, जेहि बँधे बधा सब कोई। →र० २२-१, पद २४६-५; सा० चांण० (१७) १-१।

अलप—वि० [स० अल्प] थोडा, क्षणिक। ~अलप सुख दुख आदि औ अंता, मन भुलान मैगर मैमंता। →र० २३-१, सा० बीन० (५६) ४-१, पद २६७-५।

अलपै—वि० [सं० अल्प] थोडा, क्षणिक, सासारिक (सुख)। दे० 'अलप'। ~माया मोह वंधे सब लोई, अलपै लाभ मूल गो खोई। →र० ८४-२, ३०-६।

अलह—सज्ञा पु० [अ० अल्लाह] ईश्वर, प्रभु। ~साँचा एक अलह को नाम, जाको नै नै करहु सलाम। →सब० ४०-५।

अलूझिया—क्रि० [स० अवरुन्धन] उलझ गया। ~नौ मन सूत अलूझिया, कबीर घर घर बारि। →सा० विचा० (३३) ५-१।

अलेख—सज्ञा पु० [स० अलक्ष्य] वह जिसे देखा न जा सके, अप्रत्यक्ष, निराकार। ~लेख समाना अलेख मैं, यौ आपा माँहि आप। →सा० पर० (५) २३-२।

अलेष—संज्ञा पु० [स० अलक्ष्य] ब्रह्म, परमात्मा। ~भरम करम सब दूरि करि, सबही माँहि अलेष। →सा० भेष० (२४) १८-२।

अलोप—वि० [हि० अ + लोप] अव्यक्त।

~गन गधर्व मुनि अंत न पाया, हरि अलोप जग घधे लाया।→र० १६-२।

अल्लह—सज्ञा पु० [अ० अल्लाह] ईश्वर। दे० 'अल्लाह'।~**अल्लह** राम जिऊँ तेरै नाईं।→सव० २३-१, पद २८१-३।

अल्लाह—सज्ञा पु० [अ०] ईश्वर।~**अल्लाह** पाकपाक है सक करउ जे दूसर होइ।→सव० १८१-६।

अवगुन—सज्ञा पु० [स० अवगुण] दोष, अपराध, विकार, पाप।~खून करै मिसकीन कहावै, **अवगुन** रहै छिपाएँ। →सव० २३-४, पद ३३३-२।

अवधू—सज्ञा पु० [स० अवधूत] गोरखपथी योगी (जिसने अपने कल्मप को झकझोर कर फेंक दिया है)।~**अवधू** ग्यान लहरि धुनि माडी रे। →सव० ३०-१।

अवधू—सज्ञा पु० [स०-अव + √भू + क्त] अवधूत, नाथयोगी, साधु।~जिन **अवधू** गुरु ग्यान लखाया, ताकर मन तँहई लै धाया। →र० ८३-२, पद २५३-१।

अवर—वि० [स० अपर] और, दूसरा, अन्य, भिन्न।~आतमराँम **अवर** नहि दूजा।→सव० ६०-२, र० ५५-७, सव० ७-६।

अवलि—वि० [अ० अव्वल] सर्वप्रथम। ~अल्लह **अवलि** दीन को साहिव जोर नही फरमाया। → पद २२६-३।

अवलिया—सज्ञा पु० [अ० औलिया] साधक, सत।~सुर नर मुनि जति पीर **अवलिया**, मीरा पैदा कीन्हा रे। →सव० ८४-३।

अवास—सज्ञा पु० [स० आवास] आवास, महल, निवास।~कवीर कहा गरवियौ, ऊँचे देखि **अवास**। → सा० चिता० (१२) १०-१, सव० १४०-३।

अविगत—सज्ञा पु० [स०] वह, जिसके विपय मे कुछ जाना नही जा सकता, अनत, अनिर्वचनीय, व्रह्म।~**अविगत** की गति काहु न जानी, एक जीभि कत कहउँ वखानी।→र० २-११।

अविगत—सज्ञा पु० [स० अ + वि + गत] अज्ञेय, चैतन्य।~पच तत **अविगत** तैं उतपना एकैं किया निवासा। →सव० ६१-३।

अविगत—सज्ञा पु० [सं०] अगम्य, जहाँ तक किसी की पहुँच न हो, जो जाना नही जाता, परम प्रभु।~मैंमता **अविगत** रता, अकलप आसा जीति। →सा० रस० (६) ६-१।

अविगत—सज्ञा पु० [स०] जो जाना न जाय, अज्ञात, व्रह्म।~**अविगत** की गति का कहौ, जाके गाँव न ठाँव। →र० ७-६, सा० सू० मा० (१४) ५-२, सा० पर० (५) ४४-२।

अविगत—वि० [सं०] समझ के वाहर। ~सावज एक सकल ससारा, **अविगत** वाकी वाता।→पद ३१८-२।

अविचल—वि० [सं०] शाश्वत, अचल, अविनाशी।~कहहिं कवीर सव नारि के, **अविचल** पुरुष भतार। →र० २७-६।

अविनासी—वि० पु० [सं० अ + विनाशिन्]

अमर, देवता, शाश्वत। ~मरि गये ब्रह्मा नभ के वासी, सीव सहित मुए अविनासी।→र० ५४-१।

अव्वलि—वि० [अ० अव्वल] श्रेष्ठ, सर्वप्रथम। ~अव्वलि अल्लह नूर उपाया कुदरति के सभ वंदे। →पद २८१-३।

अषडित—वि० [सं० अखण्डित] पूर्ण। ~आतमलीन अषडित रांमां, कहै कवीर हरि मांहि समांनां। →पद २१२-६।

अषिर—पु० [सं० अक्षर] अक्षर। ~दोइ आषिर गुरु वाहिरा, वांधा जमपुरि जाइ।→सा० चांण० (१७) ११-२।

अष्ट कवंल—सज्ञा पु० [सं० अष्ट कमल] सुरति कमल। ~ मेरु दंड पर डक दीन्ह, अष्ट कवंल परजारि दीन्ह। →वसत (४) २-२।

अष्यिरां—सज्ञा पु० [सं० अक्षर] अक्षरो अर्थात् उपदेशो से। ~ जे वेधे गुरु अष्यिरां तिनि संसा चुनिचुनि खद्ध। →सा० गु० (१) २२-२।

असखि—वि० [स० असख्य] असख्य। ~असखि कोटि जाकै जमावली, रावन सैना जिहि तै छली।→सव० १२८-१५।

अस—सज्ञा पु० [स० अश्व] घोडा। ~अस विनु पाखर गज विनु गुडिया, विनु पडै सग्रामहि जुटिया। →सव० ११६-४।

असतुति—सज्ञा स्त्री० [सं० स्तुति] प्रशसा। ~ असतुति निंदा दोउ विवरजित, तजहि मानु अभिमाना। →सव० १४६-३।

असथिर—वि० [स० स्थिर] एकाग्र। ~भागा भर्म भया मन असथिर, निद्रा नेह नसांना। →पद० ३०५-१५।

असथिरु—वि० [स० स्थिर] स्थिर, समाहित। ~जोति माहि मन असथिरु करै, कहै कवीर सो प्रानी तरै। →सव० ४३-१८।

असनांन—सज्ञा पु० [स० स्नान] स्नान। ~ब्रह्मडे से पिंडे जांन, मांनसरोवर करि असनांन। →सव० १४०-१५, पद २४५-४।

असमान—स० पु० [फा० आसमान] आकाश, गगन, अतरिक्ष। ~धरती अरु असमान विचि, दोइ तूंवडा अवध। →सा० मधि (३१) ११-१, सव० ४०-३, सव० ५८-३।

असमाना—सज्ञा पु० [फा० आसमान] सातवां आसमान, स्वर्ग। ~कहहिं कवीर खोजै असमाना, सो न मिला जिहि जाय गुमाना। →र० ३२-३।

असरारा—क्रि० वि० [फा० इसरार] हठ; हठपूर्वक। ~मनमथ विंद करै असरारा, अलपै विंद खसै नहिं द्वारा। →र० ३०-६, सा० सुमि० (२) १६-१।

असराल—क्रि० वि० [अ० अस्रार] लगातार, वेरोक। ~सीस चरन कर कपन लागे नैंन नीरु असराल वहै। →पद २३३-७।

असवारा—सज्ञा पु० [फा० सवार] सवार, सवारी करने वाला। ~कहत कवीर

भले असवारा, वेद कतेव तैं रहहि नियारा।→सव० ३-५।

असवारी—सज्ञा स्त्री० [फा०] सवारी। ~अपनैं विचारि असवारी कीजै। →सव० ३-१।

असाधा—वि० [स० असाध्य] दुष्कर, कठिन, असाध्य। ~करत विचार जनम गौ खीसैं, ई तन रहल असाधा। →सव० १५७-८।

असार—वि० [स०] तत्वरहित, निस्सार। ~ ई ससार असार को धधा, अतकाल कोइ नाही हो।→कहरा (३) ५-५।

असि—वि० [हि०] अतिशय, अत्यधिक। ~माया माता माया पिता, असि माया अस्तरी सुता।→पद २२६-७।

असी—वि० [स० अशीति] अस्सी (८०)।~असी सहस पैगम्वर नाही, सहस अठासी मूनी।→सव० ३१-५।

असुर—सज्ञा पु० [स०] राक्षस।~सुर नर मुनिजन असुर सव, पडे काल की पासि।→सा० का० (४६) २८-२।

असोस—वि० [स० अशोष्य] जो सूखे नही। ~कवीर मन का वाहुला, ऊँडा वहै असोस। → सा० सापी० (५७) ३-१।

असौच—वि० [स० अशौच] अपवित्र। ~करम असौच उचिष्टा खाही, मति भरिष्ट जम लोकहिं जाही।→विप्र० (२) ८।

अस्ट गगन—यौ० [स० अष्ट गगन] सुरति कमल, सातवें चक्र के ऊपर। ~जत्री जत्र अनूपम वाजै, वाके अस्ट गगन मुख गाजै। → सव० १०६-१।

अस्तरी—सज्ञा स्त्री० [स० स्त्री] स्त्री। ~माया माता माया पिता, असि माया अस्तरी सुता।→पद २२६-७।

अस्ति—वि० [स०] सत्य। ~कहै कवीर जो सपने जागैं, निरअस्ति अस्ति न होय। →र० ८४-११।

अस्थूल—वि० [स०] सूक्ष्म शरीर।~ थूल अस्थूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न धीरा। →सव० १६६-२।

अस्थूल—वि० [अ+स० स्थूल] सूक्ष्म, अचिन्त्य, अव्यक्त। ~जेहि राखेहु अनुमान कैं, सो थूल नही अस्थूल। →र० ७५-११, सा० सजी० (४७) २-२।

अहमेउ—सज्ञा पु० [स० अह+एव] अहकार, अहता। ~ करम करत वधे अहंमेउ, मिलि पाथर की करही सेउ। → सव० १०१-५, पद ३१०-४।

अह—सज्ञा पु० [स०] दिन। ~अह निसि हरि ध्यावैं नही, क्यो पावैं द्रुलभ जोग।→सा० सुमि० (२) २८-२।

अहई—स० क्रि० [स०√अस्] है।~ क्रितिया सूत्र लोक एक अहई, लाख पचास कै आयू कहई।→र० ५७ १।

अहटि—क्रि० [स० आहत] दुखित होकर। ~जे दिढ ग्यान न ऊपजै, तौ अहटि मरै जनि कोइ रे। → सव० ६७-१०।

अहनिसि—क्रि० वि० [स० अहर्निशि]

दिन रात (रात दिन)। ~अहनिसि केवल राम नाम कहिए। → सव० २४-२, पद २६७-७, पद ३४६-३।

अहमक—वि० [अ०] अज्ञानी, मूर्ख, वेवकूफ। ~झूठहि झूठा मिलि रहा, **अहमक** खेहा खाय। →र० १४-१४, पद २१०-१।

अहरखि—सज्ञा स्त्री० १ [अरवी हिर्स का विकृत रूप-अहरसि] लोभ, लिप्सा। २ [स० अहर्ष] दुख, चिंता। ~मन रे **अहरखि** वाद न कीजै। → पद २१६-१।

अहरन—सज्ञा स्त्री० [स० आ+धरण] निहाई। ~घन **अहरन** विच लोह ज्यौं, घनी सहै सिरि चोट। →सा० चिता० (१२) ५१-२।

अहला—सज्ञा पु० [स० आहरण] अहरा, जलती हुई कडो की आग। ~ए सवही **अहला** गया, जवहिं कहा कछु देह। →सा० वेसा० (३५) १४-२।

अहला गया—मुहा० भाड मे गया, भस्म हो गया। ~ए सवही **अहला गया**, जवहिं कहा कछु देह। →सा० वेसा० (३५) १४-२।

अहलाद—सज्ञा पु० [स० आह्लाद] प्रसन्नता। ~काँमी लज्जा ना करै, मन माँही **अहलाद**। → सा० कामी० (२०) २३-१।

अहार—सज्ञा पु० [स० आहार] भोजन, शिकार। ~जान पुरुपवा मोर **अहार**, अनजाने पर करौं सिंगार। → वस० (४) ४।

अहुठा—वि० [स० अध्युष्ट, प्रा० अध्युट्ठ] तीन और आधा, साढे तीन हाथ। ~ताना तनै को **अहुठा** लीन्हा, चरखी चारो वेदा। → सव० १२७-२।

अहेड़ी—सज्ञा पु० [स० आखेट> अहेर+ई० (प्रत्य०)] शिकारी। ~मिरतक उठा धनुक कर लीये, काल **अहेड़ी** भागा। → सव० १३-५।

अहेर—सज्ञा पु० [स० आखेट] शिकार। ~मच्छ रूप माया भई, जवरहिं खेले **अहेर**। →र० ४६-५।

अहेरा—सज्ञा पु० [स० आखेट] शिकार। ~सायर जरै सकल वन दाझै, मछ **अहेरा** खेलै। → सव० ४४-६, पद ६५-१, पद ३२३-२, पद १९९-८, पद २४४-१।

अहेरी—सज्ञा पु० [हि० अहेर+ई] शिकारी, आखेटक। ~आवत जात न लागै वारा, काल **अहेरी** साँझ सकारा। →र० ४३-२, वस० (४) ७-६।

अहेरै—सज्ञा पु० दे० 'अहेरा'।

अहो—सज्ञा पु० [स० अहन्] दिन। ~रच्यो हिंडोला **अहो** निसि चारि जुग चौमास। →हिंडो० (८) २-४।

आ

आँगन—पु० [स० अङ्गण] आँगन। ~**आँगन** वेलि अकास फल, अनव्यावर का दूध। →सा० वेली० (५८) ४-१।

आंटी—सज्ञा स्त्री० [हि० अटी] गाँठ, गिरह, ऐंठन। ~आपा कौ **आंटी** नहिं निकसी करज वहुत सिरि लीन्हा। → पद ३१५-१२।

आँता—सज्ञा स्त्री० [स० अन्त्र] अतडी। ~पेट फारि जो देखिए रे भाई, आहि करेज न **आँता**। →पद ३१८-३।

आँथवै—क्रि० [स० अस्त] अस्त होता है।~जो ऊगै सो **आँथवै**, फूलै सो कुम्हिलाय। →सा० का० (४६) ११-१।

आँधी—वि० [स० अध से] अधी।~भाँडा भजन करै सर्वाहि का, कछू न सूझै, **आँधी** रे। →सव० २७-२।

आँधी—सज्ञा स्त्री० [स० अन्ध = अधकार] अन्धड, तेज हवा।~सतौ भाई भाई ग्यान की **आँधी** रे।→पद ३०२-१।

आन—वि० [स० अन्य] दूसरा। दे० 'आन'। ~ मान सरोवर तट के वासी, राम चरन चित **आन** उदासी। →पद ३३४-३, सव० १२८-२, १८६-५, सव० १४-२, सा० सुद० (५२) ३-१।

आँनि—क्रि० [स० √नी से] लाकर। ~**आनि** कीटक करत भ्रिग सो आपतै रगी। →पद ३२८-२।

आँनिया—क्रि० [आ + √नी] ले आया।~दीपक पावक **आँनिया**, तेल भि आना सग। →सा० ग्यान वि० (४) १-१।

आनी—सज्ञा स्त्री० [स० अनी] नोक।~ साधु सती अरु सूर का, **आनी** ऊपर खेल। →सा०सूरा० (४५) ३२-२।

आँनी—क्रि० [स० आ+√नी] लाई गई।~जालन **आँनी** लाकडी, ऊठी कंपल मेलि। →सा० वेली० (५८) १-१।

आँनै—क्रि० [स० आ०+√नी] लाना।~आसा जीवन मरन की, मन मैं **आँनै** नाँहि। →सा० सूरा० (४५) १०-२।

आँवन जाँनी—स्त्री० [स० आ√गम्+√गम्] आवागमन, जन्म-मरण। ~**आँवन जाँनी** मिटि गई, मन मनहि समाई। →सव० १-८।

आउ—सज्ञा स्त्री० [स० आयु] उम्र। ~राम कहत लज्जा क्यूँ कीजै, पल पल **आउ** घटै तन छीजै। →सव० ११७-५।

आक—सज्ञा पु० [स० अर्क] मदार। ~ जिनि कुल दास न ऊपजै, सो कुल **आक** पलास। →सा० साधुम० (३०) ८-२, सा० विर्क०(३७) २-२, सा० साधु० (२८) ७-१।

आकार—सज्ञा पु० [स०] उपाधि,शरीर। ~गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु **आकार**। →सा० गुरु०(१)२६-१।

आकासाँ—सज्ञा पु०[स०आकाश] अतरिक्ष मे, आकाश मे।~अनल **आकासाँ** घर किया, मधि निरन्तर वास। → सा० मधि० (३१) ३-१।

आकुल—वि० [स०] व्यग्र। ~ छह दरसन पापड छ्यानवे **आकुल** किनहुँ न जाना। →पद २०८-४।

आखर—सज्ञा पु० [स० अक्षर] अक्षर, शब्द। ~एकै **आखर** पीव का, पढै सो पडित होइ। →सा० कथ० वि० कर० (१६) ४-२।

आखै—क्रि० [स० आख्यान] वोलै। ~माया मिलै महोवती, कूडे **आखै**

वैन । →सा० गु० सि० हेरा० (४३) १०-१ ।

आगम—सज्ञा पु० [स०] शास्त्र ।~अवरो **आगम** करै विचारा, ते नहिं सूझै वार न पारा । →र० २२-६ ।

आगम—सज्ञा पु० [स०] तन्त्रशास्त्र ।~**आगम** निगम एक करि जानौं, ते मनवाँ मन माँहि समाना । →सब० ७-४ ।

आगम—सज्ञा पु० [स०] आप्तवचनाश्रित, परम्परागत ज्ञान, वेदशास्त्र । ~जौ तुम्ह पडित **आगम** जानौ विद्या व्याकरना ।→सव० १४२-३ ।

आगरी—वि० [स० आकर] श्रेष्ठ, उत्तम ।~दोऊ कुल हम **आगरी**, जो हम झूलै हिंडोल । →पद ३४२-८ ।

आगिला—वि० [स० अग्र से] आगे का, पूर्व जन्म का ।~सिर फोरै सूझै नही, कोइ **आगिला** अभाग । →सा० कामी० न० (२०) २१-२ ।

आचरी—क्रि० [स० आ+√चर्] सचरित हुई, क्रियाशील हुई ।~अनिन कथा तनि **आचरी**, हिरदै त्रिभुवन राइ । →सा० परचा० (५) २६-२ ।

आजुहि—क्रि० वि० [स० अद्य+हि] आज ही ।~**आजुहि** काल्हि करत रे, औसर जासी चालि । →सा० काल० (४६) ५-२ ।

आटा—सज्ञा पु० [प्रा० अट्ट] गेहूँ, जौ आदि का चूर्ण, पिसान । ~हवैसी **आटा** लोन ज्यौं, सोन सवा सरीर । →सा० चिता० (१२) ४८-२ ।

आटै—सज्ञा पु० [प्रा० अट्ट] गेहूँ, जौ आदि अन्नो का पिसा हुआ रूप, पिसान । दे० 'आटा' । ~कवीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया **आटै** लून । →सा० गुरु० (१) १४-१ ।

आड़ अटक—यौ० [हि०] विघ्न, वाधा । ~**आड़ अटक** मानै नही पौंडै जल-धारा । →पद ३४५-६ ।

आतम—सज्ञा पु० [स० आत्मा] आत्मा, जीव । ~**आतम** मारि पखानहि पूजै, उनमे कछु नहिं ज्ञाना । →पद २६७-४ ।

आतम राँम—सज्ञा पु० [स० आत्मा+राम] शुद्ध चैतन्य ।~हिंडोलना तहाँ झूलै **आतम राँम** । →पद ३४२-१ ।

आतम राम—सज्ञा पु० [हि० आतमाराम] जीव ।~**आतम राम** पलक मे विनसे, रुधिर कि नदी वहाई ।→पद २६६-४ ।

आतस—सज्ञा स्त्री० [फा० आतश] अग्नि । ~आदि अन्त मन मध्य न होते, **आतस** पवन न पानी । →सव० ३१-६ ।

आतुर—क्रि० वि० [स०] शीघ्रता से, वेग से, जल्दी-जल्दी । ~अति **आतुर** ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मद । →सा० गुरु० (१) १८-२ ।

आतुर—सज्ञा स्त्री० [स०] व्यग्र, अधीर । ~अह निस **आतुर** दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि । →पद ३४६-२ ।

आथि—क्रि० [स० अस्त] अस्त हो जाना, समाप्त हो जाना । ~कवीर पढिबा दूरि करि, **आथि** पडा ससार । →सा० कथ० वि० क० (१६) ३-१ ।

आदति—सज्ञा स्त्री० [अ० आदत]

स्वभाव, प्रकृति । ~ना हरि भजसि न आदति छूटी ।→सव० १६१-१ ।

आदम—संज्ञा पु० [अ०] मूल पुरुप । ~आदम ब्रह्मा कछु नहिं होते, नही धूप नहिं छाँही ।→सव० ३१-४ ।

आदम—संज्ञा पु० [अ०] सामी धर्मों के अनुसार मूल पुरुष । ~कहँ तव आदम कहँ तव हव्वा, कहँ तव पीर पैगम्बर हुवा । →सव० ४०-२, र० ४०-१, सव० १४१-६ ।

आदि—संज्ञा पु०[स०] मूल तत्व।~ताका जल कोई हसा पीवै, विरला आदि विचारि।→सा० पर० (५) ४५-२ ।

आदि—संज्ञा पु० [स०] आत्मतत्व । ~आदि कौ उदेस जानें तासु वेस वाना । →पद ३४३-६ ।

आदी—संज्ञा पु० [स० आदि] आदि । ~धरती अकास पवन नहि पानी नहिं तव आदी माया हो । →पद २८७-३ ।

आन—वि० [स० अन्य] अन्य या दूसरे का ।~राम पियारा छाडि करि, करै आन का जाप । →सा० सुमि०(२) २२-१, सा० सार० (३२) १-१ ।

आना—क्रि० [स० आ+√नी] लाया । ~ दीपक पावक आँनिया, तेलि भि आना सग । → सा० ग्या० विर० (४) १-१ ।

आना—वि० [स० अन्य] और, अन्य । ~मुख कछु और हिरदय कछु आना, सपनेहु काहु मोहि नहिं जाना ।→ र० ६७-३, पद २८४-२ ।

आनि—क्रि० [स० आ+√नी] ले आकर ।~वैसे ही गज फटिक सिला पर, दसनन आनि अरचो । →सव० ५-४ ।

आनि—क्रि० [स० आगमन] आकर । ~करम पटरिया वैठिकै को को न झूलै आनि । →हिंडो० (८) १-५, पद २१०-२ ।

आनी—क्रि० [स०√नी] लाए । ~ सतो भक्ती सतगुर आनी । →पद ३०१-१ ।

आप—संज्ञा पु० [स० आत्मन्]आत्मा।~ निस वासुरि सुखनिधि लहा, (जब) अतरि प्रगटा आप । →सा० पर० (५) ३०-२ ।

आप—भाव० [स० आत्मन्] अह, खुदी । ~लेख समाना अलेख मैं, यौं आपा माँहै आप । → सा० पर० (५) २३-२ ।

आपन—भाव० [सं० आत्मन्] अपनापन, सच्ची स्थिति, आत्मस्वरूप ।~ लोभ मिठाई हाथ दे, आपन गया भुलाइ ।→सा० विर०(३) ३१-१ ।

आपनपौ—सर्व० [स० आत्मन्] अपने को । ~आपनपौ न सराहिए, और न कहिए रक ।→सा० निन्या०(५४) ७-१ ।

आपा—पु० [स० आत्मन्] आत्मतत्व । ~आपा पर जब चीन्हिया, (तव) उलटि समाना माहिं ।→सा० विचा० (३३) ३-२ ।

आपा—भाव० [हि० आप] अह भाव । ~यहु मन पटकि पछाडि लै, सव आपा मिटि जाइ । →सा० सजी०

(४७) ४-१, पद ३१५-२।

आपा—पु० [सं० आत्मा] १ वास्तविक आपा, आत्म स्वरूप। २ कृत्रिम अहं।~आपै मैं तब **आपा** निरखा, अपन मैं **आपा** सूझा। → सब० १३-१५।

आपा—भाव० [स० आप्त] अहंता, खुदी। ~**आपा** मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार। →सा० गुरु० (१) २६-२।

आपा—पु० [स० आत्मन्] आत्मा। ~लेख समाना अलेख मैं, यौं **आपा** माँहै आप। → सा० पर० (५) २३-२।

आपा—भाव० [स० आत्मन्] अपना स्वरूप। ~कै बिरहिन कौ मीच दे, कै **आपा** दिखलाइ।→सा०बिर० (३) ३५-१।

आपि—सर्व० [स० आत्मन्] स्वय। ~**आपि** न वौरा राम कियौ बउरा, सतिगुरु जारि गयौ भ्रम मोरा।→ पद ३०६-४।

आपु—पु० [सं० आत्मन्] अहंभाव, आपा, जीवभाव। ~कबीरै सो धनु पाया, हरि भेटत **आपु** गँवाया। →सब० ८-१०।

आपुहि—सर्व० [स० आत्मन्] स्वय। ~**आपुहि** करता भया कुलाला, बहु विधि वासन गढै कुभारा।→र० २६-१, सब० ५-१।

आपुहि—अव्य० [स० आत्मन्] स्वय, यहाँ तात्पर्य है—जीव ~आदि अंत उतपति प्रलै, **आपुहि** कै कै लीन्ह। →र० ४-७।

आपै—सर्व० [स० आत्मन्] स्वय, खुद। ~ग्याँनी मूल गँवाइया, **आपै** भये करता।→सा० का० न० (२०) २७-१, सा० जी०मृ० (४१) १-२।

आव—सज्ञा पु०[फा०] पानी (ला० अ०) प्रतिष्ठा। ~**आब** वे **आव** मुझे हरि को नाम, और सकल तजु कौने काम। →सब० ४०-१।

आव—सज्ञा पु०[फा०] जल, नीर, मर्यादा। ~अँधा नर आसामुखी, यौ ही खोवै **आव**।→सा० भ्रमवि०(२३) ३-२।

आभ—सज्ञा पु०[स० आप] पानी। ~ओसो प्यास न भाजई, जब लगि धसै न **आभ**।→सा० सुमि० (२) २१-२।

आय—सज्ञा स्त्री०[स०आयु] उम्र, जीवन काल। ~बाँध्यो वारि खटीक कै, ता पसु केतिक **आय**। →सा० का० (४६) २७-२।

आय—क्रि० [स०√अस्] है। ~बहुत ध्यान कै जोहिया, नहिं तेहि संख्या **आय**।→र० ७७-६।

आरतिवंत—वि० [स० आर्त्त + वन्त (प्रत्यय)] दुखी, पीडित।~देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, **आरतिवत** कवीर।→पद ३४६-८।

आरती—सज्ञा स्त्री० [स० आरात्रिक] किसी मूर्ति के चतुर्दिक् दीपक घुमाना। ~ऐसी **आरती** त्रिभुवन तारै। → सब० ५६-१।

आरसी—सज्ञा स्त्री० [स० आदर्श] दर्पण, आइना, शीशा। ~हिरदा भीतरि **आरसी**, मुख देखा नहिं जाइ। → सा० मन० (१३) ८-१।

आरा—सज्ञा पु० [स० अल्पा] लकडी चीरने की लोहे की एक दाँतिदार पट्टी। ~सिर ऊपरि **आरा** सहै, तऊ न दूजा होइ। →सा० सग० (२६) ४-२।

आराधैं—क्रि० [स० आराधन] उपासना करते है। ~इक **आराधैं** सकति सीव, इक परदा दे दे वधैं जीव। →पद ३३२-५।

आलजाल—वि० [दे०] उलूल जलूल, व्यर्थ की वातें। ~मोकउ कहा पढवसि **आलजाल**, मेरी पटिया लिखि देहु स्री गोपाल। →सव० १५६-४।

आलम—सज्ञा पु० [अ०] जगत्, यहाँ तात्पर्य है जगत् मे रहने वाले प्राणी। ~**आलम** दुनी सवै फिरि खोजी हरि विन सकल अयाना। →पद २०८-३।

आलि—सज्ञा पु० [स० आल] शृगार, आल एक पौधा होता है, जिससे रग वनता है। इसी से लाक्षणिक अर्थ 'शृगार' आया है। ~कवीर मन्दिर आपनैं, नित उठि करती **आलि**। →सा० काल० (४६) १६-१।

आवटना—पु० [स० आवर्त्त >प्रा० आवट्ट] उथल-पुथल, ऊहापोह। ~जा घट जान विजान है, तिहि घटि **आवटना** घना। →सा० साध० सा० (२६) ८-१।

आवन जानां—सज्ञा पु० [स० आवागमन] पुनर्जन्म। ~कहै कवीर जे आप विचारै, मिटि गया **आवन जानां**। →सव० १३-१८।

आशामुखी—वि० [स० आशोन्मुख] आशोन्मुख। ~अँधा नर **आसामुखी**, यौ ही खोवै आव। →सा० भ्रमवि० (२३) ३-२।

आषर—सज्ञा पु० [स० अक्षर] अक्षर। ~दूजा वनिज नही कछु वापर, राँम नाम दोऊ तत **आषर**। →सव० १४-५।

आषौं—क्रि० [प०] आख्यान करूँ, कहूँ। ~अव कै जे साँई मिलै, (तौ) सव दुख **आषौं** रोइ। →सा० निन्द्या० (५४) ६-१।

आस—सज्ञा स्त्री० [स० आशा] आशा, तादात्म्य। ~कवीर राँम सुवारथी, (जिनि) छाडी तन की **आस**। →सा० सूरा० (४५) ४०-१।

आस—सज्ञा स्त्री० [स० आशा] आशा, कामना। ~अविनासी मोहि ले चला, पुरई मेरी **आस**। →सा० उप० (५०) २-२।

आस—सज्ञा स्त्री० [स० आशा] आशा, तृष्णा। ~तीनि लोक यो आय के, छूटि न काहु कि **आस**। →र० ५३-६, पद ३२३-६, र० ७४-३, र० १७-८, सा० चाँण० (१७) ४-२, सा० माया० (१६) ५-१।

आस—सज्ञा स्त्री० [स० आशा] आशा, सभावना। ~अजहुँ वीज अकूर है, फिर ऊगन की **आस**। →सा० वेली (५८) ६-२।

आस—सज्ञा स्त्री० [स० आशा] आशा, भरोसा। ~अव मेरे दूजा कोइ नही, एक तुम्हारी **आस**। →सा० वेसा० (३५) १७-२।

आसन—संज्ञा पु० [सं०] योग की मुद्रा।
~**आसन** उडये कौन वडाई, जैसे काग चील्ह मँडराई। →र० ७१-३, मा० माया० (१६) २७-१।

आसहि पासा—क्रि० वि० [हिं० आस + सं० पार्श्व] आस-पास, अगल-वगल, इधर-उधर, चारो ओर। ~चातिक जलहल **आसहि पासा**, मेघ न वरसै चलै उदासा। →र० ६५-४।

आसा—संज्ञा स्त्री० [सं० आशा] तृष्णा।
~कहै कवीर छूटी सव **आसा**, मिल्यौ राम उपज्यौ विसवासा। →सव० २१-६।

आसिक—संज्ञा पु० [अ० आशिक] आसक्त। ~जस विनु ज्योति रूप विनु **आसिक**, रत्न विहूना रोवै। →पद २०४-४।

आसी—क्रि० [प०] आ जाएगा।
~वालापन गयौ जोवन जासी, जरा मरन भौ सकट **आसी**। →सव० ११७-३।

आसु—संज्ञा स्त्री० [सं० आशा] तृष्णा, अभिलाप। ~होना है सो होइहै मनहि न कीजै **आसु**। → पद २४५-३।

आहि—क्रि० [सं०√अस्] है। ~**आहि** कसाई छूरी हाथा, कैसहु आवै काटे माथा। →र० १७-५, र० ६-१, ज्ञान चौ० (१) १५।

आहुति—संज्ञा स्त्री० [सं०] होम, हवन।
~प्रेत-कनक मुख अतर वासा। **आहुति** सहित होम की आसा। → विप्र० (२) ५।

इ

इछा—संज्ञा स्त्री० [सं० इच्छा] इच्छा।
~तिहि धेनु तै **इंछा** पूगी, पाकरि खूँटै वाँधी रे। →सव० २७-५।

इक—वि० [सं० एक] एक। ~तिल **इक** घट मैं सचरै, सव तन कचन होइ। → सा० रस० (६) ८-२।

इकठी—क्रि० वि० [सं० एकत्र] एकत्र।
~माया जोरि जोरि करै **इकठी**, हम खैहैं लरिका व्यौसाई। →सव० १२०-३।

इकताई—संज्ञा स्त्री० [फा०] अद्वितीयता।
~ओढन हमरै एक पछेवरा लोक वोलै **इकताई** हो। →पद २३७-६।

इकतार—वि० [सं० एक + तार] एक रस, अनवरत। ~कवीर हरि के नाव सौं, प्रीति रहै **इकतार**। →सा० उपदे० (३४) ८-१।

इच्छा—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रभु की प्रथम शक्ति, महामाया। ~**इच्छा** रूप नारि अवतरी, तासु नाम गायत्री धरी। → र० १-२।

इत—सर्व० [सं० इत] यह। ~**इत** पर घर उत घर, वनिजन आए हाट। →सा० चिता० (१२) ५७-१।

इत—क्रि० वि० [सं० इत] इधर।
~**इत** के भये न उत के, चाले मूल गवाइ। → सा० चिता० (१२) २५-२।

इतवारा—संज्ञा पु० [अ० एतवार] विश्वास। ~सार सवद गहि वाँचिहौ मानौ **इतवारा**। →पद ३१६-१।

इफतरा—सज्ञा पु० [अ० इफ्तिरा] आरोप, लाछन । ~वेद कतेब **इफतरा** भाई दिल का फिकरु न जाइ । →सव० १८१-३ ।

इब—क्रि० वि० [हि० अब] अब, इस समय ।~मीराँ मुझसूँ भिहर करि, **इब** मिलौं न काहू साथि । →सा० पर० (५) १६-२, सा० अपा० (४८) ३-२ ।

इवैं—सर्व० [स० इद] इसी मे ।~माया दीपक नर पतग, भ्रमि भ्रमि **इवै** पडत । →सा० गुरु० (१) २०-१ ।

इसो—वि० [स० ईदृश] ऐसा । →यहु ससार **इसो** रे प्राणी, जैसी धूँवरि मेह । →पद २०३-४ ।

इहई—क्रि० वि० [हि० यहाँ ही] यही । ~दिल माँहि खोजि, दिलै दिलि खोजहु, **इहई** रहीमा रामा । →पद २३-१२ ।

ई

ईमान—संज्ञा पु० [अ०] चित्त की सद्वृत्ति। ~सो हिन्दू सो मूसलमान, जिसका दुरुस रहै **ईमान** । →सव० ४१-४ ।

ई—सर्व० [हि० यह] ।~ज जा **ई** तन जियतहि जारो, जोवन जारि जुक्ति तन पारो ।→ज्ञान चौं० (१) १७ ।

ईद—सज्ञा स्त्री० [अ०] रमजान महीने के अत मे मुसलमानो द्वारा मनाया जाने वाला त्योहार ।~जिन दुनिया मे रची मसीद, झूठा रोजा झूठी **ईद** । →सव० ४०-४ ।

ईश्वर—सज्ञा पु० [स०] शिव ।~**ईश्वर** गौरी पीवन लागे, राम तनी मतवारी रे ।→सव० ८७-४ ।

ईस—पु० [स० ईश] भगवान्, शकर । ~पारवती को वाझ न कहिए, **ईस** न कहिए भिखारी ।→सव० ४-६ ।

ईसरी—सज्ञा पु० [स० ईश्वर + ई (प्रत्यय)] ईश्वर की ।~दस अवतार **ईसरी** माया, कर्त्ता कै जिन पूजा । →पद २६२-२१ ।

उ

उत्ती—क्रि० [स०] कहलाकर, मानकर । ~प्रगटे ब्रह्मा विष्नु सिव सत्ती, प्रथमहि भक्ति कीन्ह जिउ **उत्ती** । →र० ३-२ ।

उखारिया—क्रि० [हि० उखाडना] उखाड देती है, पृथक् कर देती है, अलग कर देती है ।~चीटी परवत **उखारिया**, लै राख्यौ चौडे । →सव० ५१-५ ।

उखेला—क्रि० [स० उल्लेख] उरेहा, वनाया ।~जिन्ह यह चित्र विचित्र **उखेला**, चित्र छोडि तै चेतु चितेला । →ज्ञान चौं० (१) १४ ।

उघड़त—क्रि० [स० उद्घाटन] खुलते । ~ताला कूँची कुलफ के लागे, **उघड़त** वार न होई । →पद २१८-४ ।

उघार—क्रि० [स० उद्घाटित] खोल

रखा है।~चन्द्रवदनि मृगलोचनि माया, वुदका दियो **उघार**। → चाँचर (५) १-४।

उघारि—क्रि० [स० उद्‌घाटित] खुली हुई।~सील साँच सरधा नही, इन्द्री अजहुँ **उघारि**। →सा० मन० (१३) १५-२।

उघारि—वि० [स० उद्‌घाटित] नगी। ~कपडा न पहिरैं रहै **उघारि**, निरजिव मो घनि अति पियारि। → वसत (४) ८-२।

उघारिया—क्रि० [स० उद्‌घाटित] खोल दिया।~लोचन अनँत **उघारिया**, अनँत दिखावनहार। →सा० गु० (१) ३-२।

उघारी—क्रि० [स० उद्‌घाटित] खोल दिया।~ममता मेरा क्या करैं, प्रेम **उघारी** पौलि। →सा० पर० (५) ४८-१।

उघारैं—क्रि० [स० उद्‌घाटन] खुलना, उघडना।~अगि **उघारैं** लागिया, गई दवा सूँ फूंटि। →सा० गुरु० (१) ८-२।

उचरी—क्रि० [स० उच्चारण] उच्चरित हुई। ~ निराधार अधार लै जानी, राम नाम लै **उचरी** वानी। → र० ७४-४।

उचरै—क्रि० [स० उच्चारण] निकलती है, उच्चरित होती है। ~ जेहि मुख वेद गायत्री **उचरै**, जाके वचन ससार तरै। → पद २७६-२।

उचाए—क्रि० [हि० उठाना] वनाए हो, निर्मित किए हो।~गोवर कोट **उचाए** हो रमैया राम। → वेलि (६) २-७।

उचार—क्रि० [स० उच्चारण] उच्चरित किया। ~ जव वसत गहि राग लीन्ह, सतगुर सवद **उचार** दीन्ह। →सव० ११०-६।

उचारा—क्रि० [स० उच्चारण] पाठ करेंगे।~सरीर सरोवर वेदी करिहौं व्रह्मा वेद **उचारा**।→सव०१४६-५।

उचिष्टा—वि० [स० उच्छिष्ट] जूठा। ~ कर्म असौच **उचिष्टा** खाही, मति भरिष्ट जम लोकहिं जाही। →विप्र० (२) ८।

उछकि—क्रि० [हि० उचकना] ऊवना, विलग होना। ~ दास कवीर इहि रसि माता, कवहूँ **उछकि** न जाई। →पद २०१-१०।

उजर—वि० [स० उज्ज्वल] निर्मल। ~ऊपर **उजर** देखो वक अनुमान। → सव० ८५-३।

उजागर—वि० [स० उज्जाग्रत] प्रसिद्ध, प्रकाशित। ~ सोई सुमेर उदात **उजागर**, जामै धातु निवासा। → सव० ६६-७।

उजार—वि० [हि० उजडना] उजाड, नष्ट।~दिया खताना किया पयाना, मन्दिर भया **उजार**।→र० ६६-५।

उजारा—पु० [स० उज्ज्वल] उजाला, प्रकाश। ~चेत सुचेत चित्त होइ रहु, तौ लै परगासु **उजारा**।→सव० ११-६।

उजास—पु० [हि० उजाला+स] प्रकाश, उजाला, चमक। ~कौतुक दीठा

देह बिन, रवि ससि बिना **उजास**।
→मा० पर० (५) २-१।

उजियारी—क्रि० [स० उज्ज्वल] प्रकाशित किया। ~माई मैं दूनौ कुल **उजियारी**। → पद २२२-१।

उजियारी—सज्ञा पु० [स० उज्ज्वल] प्रकाश। ~जौं कछु जुक्ति जानि परिजरै, घटही जोति **उजियारी** करै। → ज्ञान चौं० (१) १८, पद २४६-४।

उजियारो—सज्ञा पु० [स० उज्ज्वल] प्रकाश, ज्योति। ~षट चक्र वेधि कमल वेधि, जाय **उजियारो** कीन्हा।
→सव० ६५-५।

उठाई—क्रि० [हिं० उठाना] वनवाई। ~सर्व सोन की लंक **उठाई**, चलत वार कछु सग न लाई। →र० ५५-४।

उत—सर्व० [दे०] वह। ~इत पर घर **उत** घर, वनिजन आरा हाट।
→सा० चिता० (१२) ५७-१।

उत—क्रि० वि० [स० तत] उधर। ~इत के भये न **उत** के, चाले मूल गँवाइ। → सा० चिता० (१२) २५-२।

उतग—वि० [स० उत्तुग] ऊँचा। ~हरि **उतंग** तुम जाति पतगा, जमघर कियहु जीव को सगा।
→ र० ६५-६।

उतग—सज्ञा पु० [स० उत्तुग] उत्तुग, दीपशिखा। ~वै **उतंग** तुम जाति पतगा, जम घर कियहु जीव को सगा। → र० ११-५।

उतपति—सज्ञा स्त्री० [स० उत्पत्ति] उत्पत्ति, जन्म, सृष्टि। ~**उतपति** परलै देउँ देखाई, करहु राज मुख विलमहु जाई। →र० ५८-३, र० ३६-२, सव० ६०-७, पद ३०५-७, र० १३-१०।

उतपनां—क्रि० [स० उत्पन्न] पैदा हुआ, उत्पन्न हुआ। ~माटी का पिंड सहज **उतपनां**, नाद अरु विंद समाना। → सव० ५५-५, सव० ६१-३।

उतपाती—क्रि० [स० उत्पत्ति] उत्पन्न किया। ~ तव नहिं होते कुल औ जाती, दोजख भिस्त कवन **उतपाती**।
→ र० ४०-४।

उतपाती—सज्ञा स्त्री० [स० उत्पत्ति] उत्पत्ति। ~कहँ तव दिवस कहाँ तव राती, कहँ तव किरतम की **उतपाती**। → सव ४०-८।

उतपानी—क्रि० [स० उत्पन्न] उत्पन्न किया। ~तहिया होत पवन नहिं पानी, तहिया सिष्टि कौन **उतपानी**। → र० ७-१।

उतरानी—क्रि० [हिं० उतराना] पानी के ऊपर आना। ~खेवै सभै मर्म नहिं जानी, तहियो कहै रहै **उतरानी**।
→ र० ४५-६।

उतानै—क्रि० वि० [स० उत्तान] पीठ के वल लेटा हुआ। ~ **उतानै** खटिया गडिले मटिया, सगि न कछु लै जाइ। → सव० १०५-२।

उतावला—वि० [स० उद्+त्वर] त्वरित गति वाला। ~पवनाँ वेगि **उतावला**, सो दोस्त कवीरै कीन।

→ सा० मन० (१३) १२-२ ।

उथले—वि० [स० उत्+स्थल] छिछला, कम गहरा। ~**उथले** रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु की खोवहु हो। →कहरा (३) १-२१ ।

उदक—सज्ञा पु० [स०] जल। ~जिहिं दंसदर जग जलै, सो मेरे **उदक** समान। → सा० कुसब० (३६) ४-२, सब० ८३-५, सब० १७६-४, सब० १३-१३ ।

उदकि—सज्ञा पु० [सं० उदक] जल मे। ~ज्यौ विवहि प्रतिबिंब समाना **उदकि** कुम्भ विगराना। → सब० १५३-६ ।

उदर—सज्ञा पु० [स०] पेट। ~हिर-नाकुस नख **उदर** बिदारा, तिनहुँ को काल न राखा। → सब० ६४-१०, पद २७६-४, कहरा(३) ६-४, पद ३४१-३, कहरा (३) ६-६ ।

उदरि—सज्ञा पु० [सं० उदर] पेट मे। ~दस मास माता **उदरि** राखा, बहुरि लागी माया ' → सब० १७५-४ ।

उदात—वि० [स० उदात्त] विशद, वडा। ~सोई सुमेर **उदात** उजागर, जामैं धातु निवासा। → सब० ६६-७ ।

उदास—वि० [सं०] चिंतित। ~ कहै कबीर हौं भया **उदास**, तीरथ वडा कि हरि का दास। → सब० १३३-५ ।

उदिक—संज्ञा पु० दे० 'उदक' ।

उदिक—पु० [सं० उदक] जल, रज-वीर्य। ~जिनि नर हरि जठराहँ, **उदिक** थैं पिंड प्रकट कीयौ। →सा० वेसा० (३५) १-१ ।

उदिक थैं—सज्ञा पु० [स० उदक] रज-वीर्य के द्वारा। ~जिनि नर हरि जठराहँ, **उदिक थै** पिंड प्रकट कीयौ। →सा० वेसा० (३५) १-१ ।

उदेस—स० पु० [स० आदेश] उपदेश। ~आदि को **उदेस** जाँनै तासु वेस वाना। →पद ३४३-६ ।

उदै—स० पु० [स० उदय] प्रकट, विक-सित। ~पच सुवटा आइ वैठे, **उदै** भई बनराइ। →सब० ४५-८ ।

उद्र—पु० [स० उदर] पेट। ~इहि भाँति भयानक **उद्र** मे **उद्र** न कवहूँ छछरै। →सा० वेसा०(३५)१-५ ।

उधारन—वि० [स० उद्धार] उद्धार करने वाली। ~रहहु ररा ममा की भाँति हो, सब सत **उधारन** चूनरी। →पद २४८-१ ।

उनई—क्रि० [सं० उन्नय] ऊपर आ गई, घिर गई, छा गई। ~**उनई** बदरिया परिगौ सझा, अगुआ भूले बनखड मझा। →र० १५-१ ।

उनमान—सज्ञा पु० [स० अनुमान] अन्दाज, अनुमान। ~पारब्रह्म के तेज का, कैसा है **उनमान**। →सा० पर० (५) ३-१, सा० जर० (८) ४-१ ।

उनमांनां—वि० [हि० उन्मान] उन्मनी अवस्था मे। ~कहै कबीर यहु गगन न विनसै जौ धागा **उनमांनां**। →पद २६८-६ ।

उनयाँ—क्रि० [स० उन्नमित] छा गया, घिर आया। ~बानी सलिल राम

घन **उनयाँ**, वरिषै अमृत धारा। →सव० ६७-३।

उपगार—सज्ञा पु० [स० उपकार] उपकार। ~सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया **उपगार**। →सा० गु० (१) ३-१।

उपगारी—वि० [स० उपकारिन] भलाई करने वाला, उपकार करने वाला। ~है कोई ऐसा पर **उपगारी** हरि सौं कहै सुनाइ रे। →प्रव० १८६-७, सा० सजी० (४७) ७-१।

उपचारा—सज्ञा पु० [स०] विधान। ~पूरन ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, किरतम किन **उपचारा**। →सव० ३१-१२।

उपजणि—सज्ञा स्त्री०[स० उद् + √पद्] भगवद्भक्ति की उत्पत्ति।→(५०) सा०, उपजणि०।

उपजत—क्रि० [हि० उपजना] उपजना, जन्म होना।~जौ पै रसना रामु न कहिवौ, तौ **उपजत** विनसत भरमत रहिवौ। →सव० १३२-१।

उपजल—क्रि० [हि० उपजना] पैदा हुए। ~जेहि जल **उपजल** सकल सरीरा, सो जल भेद न जानु कवीरा। → सव० १०७-४।

उपजाया—क्रि० [हि० उपजाना] पैदा हुआ, वना।~छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन, छूतिहि जग **उपजाया**। → सव० १६६-७।

उपजि—क्रि० [हि० उपजना] उत्पन्न होना।~**उपजि** विनाँ कछु समुझि न परई, वाँझ न जानै पीरा। → सव० १६४-२।

उपनौ—क्रि० [स० उत् + √पद] उत्पन्न होना।~ग्वाडा माहै आनद **उपनौं**, खूँटै दोऊ वाँधी रे। →पव० २७-६।

उपाइ—क्रि० [स० उत्पन्न] उत्पन्न करके।~डारी खाँड पटकि करि, अतरि रोस **उपाइ**। →मा० विर० (३) ३२-१।

उपाई—क्रि० [स० उत्पन्न] पैदा किया। ~कहै कवीर करम किस लागै झूठी सक **उपाई**। →पव० ६१-८।

उपाधि—सज्ञा स्त्री० [स०] अवच्छेदक सीमाएँ।~महज लछिन ले तजो **उपाधि**, आसन दिढ मुद्रा पुनि साधि। →सव० ५४-७।

उपाधि—स्त्री० [स०] कष्ट, व्यथा, वाधा।~तन महि होती कोटि **उपाधि**, उलटि भई सुख-सहज समाधि। →सव० २०-३।

उपानें—क्रि० [स० उत्पाद] उत्पन्न किया।~जेते औरति मरद **उपानें**। सो सभ रूप तुम्हारा। →सव० २३-१३।

उपाने—क्रि० [स० उत्पन्न] उत्पन्न हुआ।~रज वीरज सो मास **उपाने**, मास नपाक जो तुम खाई। →पद २१०-५।

उपानेउ—क्रि० [स० उत्पन्न] उत्पन्न हुए।~जेहि जल नाद विंदु को भेदा, पट कर्म सहित **उपानेउ** वेदा। → सव० १०७-२।

उपाय—वि० [स० उत्पन्न] उत्पन्न। ~एक कनक अरु कामिनी, विष फल किया **उपाय**। →सा० कामी० (२०) ११-१।

उपाया—क्रि० [स० उत्पन्न] उत्पन्न किया, पैदा किया।~सुख क बिर्छ एक जगत **उपाया**, समुझि न परै विषै कछु माया। →र० ८२-१, सब० १३३-३, पद २६७-६, पद २८१-३।

उपाया—सज्ञा पु० [स० उपाय] प्रयत्न। ~जग परबोधि होत नर खाली, करते उदर **उपाया**।→पद ३४१-३।

उपारिन—क्रि० [हि०] उखाडा।~सिसुपाल की भुजा **उपारिन**, आपु भए हरि ठूंठा। →सव० ४-८।

उपारूँ—क्रि० [हिं० उपारना] उखाड लूं।~दाँत **उपारूँ** पापिनी, जे सतो नियरे जाइ। →सा०माया० (१६) २१-२।

उबरत—क्रि० [स० उद्वारण] उवरता है, वचता है।~कहै कवीर गुर ग्यान तै, एक आध **उबरत**। →सा० गुरु० (१) २०-२।

उबरुहुगे—क्रि० [हि० उद्धार] उद्धार होगा।~सबै जीव साई के प्यारे **उबरुहुगे** किस बोलै। →पद २३०-८।

उबरे—क्रि० [स० उद्धार] उबर गए। ~कहै कवीर हम राँम लगि **उबरे**, वेदु भरोसे पाडे डूबि मरहि। → सव० ८२-८।

उबरे—क्रि० [स० उद्धार] बचे।~ कहहिं कवीर तेई जन **उबरे**, जेहि गुरु लिया जगाई। →पद २६१-६।

उबरै—क्रि० [स० उद्धारण] उद्धार होता है।~कहत कवीर सुनहु रे सुवटा, **उबरै** हरि सरनाई।→पद ३२०-५।

उबहै—क्रि० [सं० उद्वहन] उलीचता है।~सगति छोडि करै असरारा, **उबहै** मोट नर्क कर धारा। →र० ४३-५।

उबाना—क्रि० [हि०] कपडा बुनने मे राछ के बाहर सूत का रह जाना। यहाँ तात्पर्य है अलग रहना।~वै भरा तिहु लोकहि बाँधे, कोइ न रहत **उबाना**। →सव० १२७-६।

उभै— वि० [स० उभय] दोनो।~आदि अनत **उभै** पख निरमल, द्रिप्टि न देखा जाई। →पद ३०५-११।

उमँगे— क्रि० [स० उमग] उद्धार होना, निकलना।~दिन दिन जरै जलन के पाऊँ, डाढे जाय न **उमँगे** काऊ। → र० ५६-१।

उमेख—स्त्री० [स० उन्मेप] लालसा, उमग।~सती जरन कौं नीकसी, चितधरि एक **उमेख**। →सा० सूरा० (४५) ३७-१।

उमेषै—वि० [दे०] आश्चर्य चकित रह जाना।~ऐसा अद्भुत मेरे गुरु कथा, मैं रहा **उमेषै**। →सव० ५१-१।

उरग—सज्ञा पु० [स०] सर्प।~जेहि जिव जानि परा जस लेखा, रजु को कहे **उरग** सम पेखा। →पद २८४-३।

उरझाई—क्रि० [हि० उलझाना] उलझा कर।~चरनन लागि करौं सेवकाई, प्रेम प्रीति राखौ **उरझाई**। →सव० ६-४।

उरझि—क्रि० [हि० उलझना] उलझ कर।~कहत सुनत सब दिन गए, **उरझि** न सुरझा मन। →सा० निगु० (५५) ६-१।

उरझेरा—क्रि० [हि० उलझना] उलझता रहा। ~नौ मन सूत अरुझि नहि सुरझै, जनमि जनमि **उरझेरा**। → सव० १३४-७।

उरझै—क्रि० [हि० उलझना] उलझ जाता है, फँसता है। ~जोति देखि पतग **उरझै** पसु न पेखै आगि। → सव० १८७-५।

उरध—वि० [स० ऊर्ध्व] ऊपर। ~अरध **उरध** ले भट्ठी रोपिनि, ब्रह्म अगिनि परजारी। →पद ३०३-३, सव० १४०-७, सा० वेसा० (३५) १-३।

उरध—वि० [स० ऊर्ध्व] ऊपर, ब्रह्मरध्र। ~अरध **उरध** विच लाइले अकास, सुन्नि मडल महि करि परगासु। → सव० ४३-११।

उरध—वि० [स० ऊर्ध्व] ऊपर, त्रिकुटी के ऊपर के चक्र। ~चौपडि माँडी चौहटे, अरध **उरध** वाजार। →सा० गु० (१) ३१-१।

उरलै—वि० [हि०] निराला। ~विस्नु माया परगट किया **उरलै** व्यौहारा। → पद ३१६-६।

उर्ध—वि० [स० ऊर्ध्व] ऊपर। ~ब्रह्म अगिनि कियो प्रगास, अर्ध **उर्ध** तहँ वहै वतास। →वसत (४) २-३।

उलघा—क्रि० [स० उल्लघन] लाँघ कर, उपेक्षा कर। ~जोति विना जगदीस की, जगत **उलघा** जाइ। →सा० अपा० (४८) ४-२।

उलघै—क्रि० [स० उल्लघन] लाँघ जाता है, पार कर जाता है। ~पगुला मेर सुमेर **उलघै**, त्रिभुवन मुकुता डोलै। →सव० २८-७।

उलटीले—क्रि० [दे०] उलट कर। ~ **उलटीले** सकति सहार, पैसीले गगन मझार। →सव० १७१-५।

उसास—सज्ञा स्त्री० [स० उच्छ्वास] व्यथा की श्वास। ~अनी सुहेली सेल की, पडता लेइ **उसास**। →सा० कुसव० (३६) १-१।

उहवाँ—क्रि० वि० [हि० वहाँ] वहाँ पर। ~धर्म कर्म कछु नाही **उहवाँ**, ना वहँ मत्र न पूजा। →सव० १६६-४।

ऊ

ऊँ—सर्व० [हि० वह] वह। ~काया हाडी काठ की, ना **ऊँ** चढै वहोरि। → सा० चिता० (१२) ३१-२, सव० १५४-२। दे० 'ऊ'।

ऊँकार—सज्ञा पु० [स० ओकार] परब्रह्म का सूचक ['ओ + (कार)] शब्द। ~ओ **ऊँकार** आदि जो जानै, लिखिकै मेटै ताहि सो मानै। →ज्ञान चौ० १-१।

ऊँड़ा—वि० [राज०] गहरा। ~कवीर मन का वाहुला, **ऊँड़ा** वहै असीम। →सा० सापीभू० (५७) २-१, सा० असा० (२७) ३-२।

ऊँधंमुखि—यौ० [स० अध मुख] नीचे मुख कर के गर्भ मे आना। ~जीवत तिम घरि जाइऐ, **ऊँधंमुखि** नहि आवै। →सव० ५२-८।

ऊ—सर्व० [हि० वह] वह। ~थ था अति अथाह थाहो नहि जाई, ई थिरि **ऊ** थिरि नाहि रहाई। →ज्ञान चौ० (१) ३७-१।

ऊगा—क्रि० [सं० उद् + √गम्] उदित हुआ। ~कबीर कँवल प्रकासिया, ऊगा निर्मल सूर। →सा० पर० (५) ४३-१।

ऊगे—क्रि० [सं० उद्गमन] उदय होने पर।~देवलि देवलि धाहडी, देसी ऊगे सूरि। →सा० विर० (३) ४४-२।

ऊगै—क्रि० [सं० उद्गमन] उदय होता है।~जो ऊगै सो आँथवै, फूलै सो कुम्हिलाय। →सा० काल० (४६) ११-१।

ऊघड़ि—क्रि० [सं० उद्घाटित] उघड गए, खुल गए।~कबीर सुपनै रैनि कै, ऊघड़ि आए नैन। →सा० चिता० (१२) २२-१।

ऊचरै—क्रि० [सं० उच्चार] उच्चारण होना, कहना।~जिहि मुखि राम न ऊचरै, तिहि मुख फेरि कहाइ। सा० सुमि० (२) २३-२।

ऊचरै—क्रि० [सं० उच्चारण] उच्चरित होना।~जा मुखि राँम न ऊचरै, ताही तन की हाँनि। →सा० सार० (३२) २-२।

ऊचरै—क्रि० [सं० उच्चारण] उच्चारण करता है।~जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राँम नाम ऊचरै। → पद ३४६-६।

ऊचरै—क्रि० [सं० उच्चारण] बोलना, कहना।~दुरगा कोटि जाकै मरदनु करै, ब्रह्मा कोटि वेद ऊचरै। → सब० १२८-४।

ऊजेंड़—वि० [सं० उज्झ] उजडा हुआ, वीरान। ~राँम सनेही बाहिरा, ऊजेंड मेरे भाव। →सा० साधुम० (३०) २-२।

ऊजर—वि० [सं० उज्ज्वल] स्वच्छ, उज्ज्वल, सफेद। ~ऊजर भए न छूटिए, सुख नीदरी न सोइ। →सा० चिता० (१२) ५३-२, कहरा (३) ३-३, सा० मधि० (३१) ९-१।

ऊजल—वि० दे० 'ऊजर'।

ऊजला—वि० [सं० उज्ज्वल] शुभ्र, महान्।~धन मैली पिव ऊजला, लागि न सक्की पाइ। →सा० पर० (५) ३६-२।

ऊजू—क्रि० [अ० वजू] नमाज से पहले हाथ, पैर, मुँह धोना।~क्या ऊजू जप मजन कीए, क्या मसीति सिरु-नाएँ। →सब० २३-५।

ऊजे—सर्व० [हि० वह + जो] वह जो। ~ऊजे सुनी जौनपुर धामा, झूंसी सुनि पीरन को नामा। →र० ४८-२।

ऊड़ि—क्रि० [ब्रज०] कूदकर, उछलकर। ~ऊचाँ चढ़ि असमान कूँ, मेर ऊलंघे ऊड़ि। →सा० उपज० (५०) ४-१।

ऊड़ि—क्रि० [सं० उड्डयन] उडना। ~ऊड़ि पडै जब आँखि मैं, खरा दुहेला होइ। →सा० निन्द्या० (५४) ६-२।

ऊड़ै—क्रि० [दे०] उड जाना, मिट जाना।~जाके पूजे पाप न ऊड़ै, नाम सुमिरिनी भव मँह बूडै। → विप्र० (२) १६।

ऊतिम—वि० [सं० उत्तम] श्रेष्ठ।~

वावुल मेरा व्याह करि वर ऊतिम लै आइ। →पद २३५-५।

ऊदै—वि० [स० उदय से] उदित।~ अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मद। →सा० गुरु० (१) १८-२।

ऊध्यौ—वि० [स० अध] नीचे की ओर, औंधा।~ ऊध्यौ कूप घाट भयौ भारी, चली निरास पच पनिहारी। →सव० १५०-३।

ऊनी—वि० [स० ऊन + हि० ई (प्रत्यय)] कम, न्यून।~कहहि कवीर सुनहु हो सतो, सकल सयानप ऊनी हो। → कहरा (३) ३-८।

ऊपजै—क्रि० [हि०√उपज] उत्पन्न होता है।~मन परतीति न ऊपजै, जीव वेसास न होइ। →सा० चिता० (१२) ५५-२।

ऊवरा—क्रि० [स० उद्धरण] उद्धार हो गया।~तिनका वपुरा ऊवरा, गलि पूरे कै लागि। →सा० ग्या० वि० (४) ७-२।

ऊवरे—क्रि० [हि० उवरना] उद्धार होना।~कहँ कवीर ते ऊवरे, निसि-दिन नामहि लेंय। →र० ९-७।

ऊवरे—क्रि० [हि० उवरना] वचे, उद्धार हुआ।~विधि हरि हर नहिं ऊवरे, सुर नर मुनि केहि केर। → र० ४६-६।

ऊवरे—क्रि० [स० उद्वारण] वच गए। ~ रांम सनेही ऊवरे, विषयी खाये झारि। →सा० कामी० नर० (२०) १-२।

ऊवरै—क्रि० [स० उद्धरण] वच जाता है।~आधा परधा ऊवरै, चेति सकै तौ चेति। →सा० चिता० (१२) १५-२।

ऊवै—क्रि० [हि०] ऊवना, व्याकुल होना। ~खन ऊवै खन डूवै खन औगाह। →सव० १९७-३।

ऊभर—वि० [हि० उभरना] उभरा हुआ, खाली।~ऊभर था सो सूभर भरिया, त्रिसना गागरि फूटी।→ सव० १५-३।

ऊभा—क्रि० [स० ऊर्ध्व > प्रा० उब्भ] खडा है। ~ पथी ऊभा पथ सिरि, वगुचा वांधा पूठि। → सा० काल (४६) २२-१।

ऊभा—क्रि० [स० ऊर्ध्व, प्रा० उब्भ] उठा हुआ, खडा हुआ। ~ सवही ऊभा मेल्हि गया, राव रक सुलतान। →सा० चिता० (१२) ५-२।

ऊभी—क्रि० [स० ऊर्ध्व] खडी है। ~वछरा था सो मरि गया, ऊभी चांम चटाइ। →सा० अपा० (४८) ५-२।

ऊभी—वि० [स० ऊर्ध्वित, प्रा० उब्भिय] खडी हुई। ~ विरहिनि ऊभी पथ सिरि, पथी वूझै धाइ। →सा० विर० (३) ५-१, सा० मा० (१६) १०-१।

ऊलघे—क्रि० [स० उल्लघन] लाँघ गया। ~ऊँचा चढि असमान कूं, मेर ऊलंघे ऊडि। →सा० उपज० (५०) ४-१।

ए

ए—सर्व० [हि० ये] ये लोग (उपदेशक)। ~ओ अगाध ए का कहैं, भारी अचरज होइ। →सा० हैरा० (६) १-२।

एउ—सर्व० [हि० यह] यह। ~भूली मालिनी है एउ। →पद २११-१।

एक—वि० [स०] अद्वितीय। ~अवरन एक अकल अविनासी, घटि घटि आप रहै। →पद २८०-२।

एक आध—वि० [स० एक+अर्द्ध] एक आध, कोई-कोई, विरला। ~कहै कवीर गुर ग्यान तै, एक आध उवरत। →सा० गु० (१) २०-२।

एकताई—सज्ञा स्त्री० [हि०] समानता, वरावरी। ~ ओढन मेरा एक पिछौरा, लोग वौलैं एकताई हो। →कहरा (३) १०-२।

एकमेक—वि० [स०] एकरस, अद्वैत। ~एकमेक ह्वै मिलि रहा, दास कवीरा राम। →सा० सह० (२१) ३-२।

एकसर—वि० [स० एक+सर (प्रत्य०)] अकेला। ~ दुखित सुखित होइ कुटुम्ब जेंवावै, मरण वेर एकसर दुख पावै। →पद २५८-४।

एक सारा—वि० [स० एक+प्रा० सरि =सदृश] एक समान। ~लपसी लौग गनै एक सारा, पहिरि खाँड मुख फाँकै छारा। →र० ७१-६।

एकै—सज्ञा पु० [स० एक] एक, परम तत्व। ~जो यह एकै जानिया, तौ जाना सव जान। →सा० निह० पति० (११) ८-१।

एतिक—वि० स्त्री० [स० इयत्] इतनी। ~ एतिक लै गम कीहिम गइया, गइया अति हरहाई। → पद २०६-६।

एरड—सज्ञा पु० [स० एरण्ड] रेंड। ~ एरंड रूख करै मलयागिरि, चहुँ दिसि फूटै वासा। →मव० २८-५।

एहि—सर्व० [स० इह] इस। ~ओहु मारग पावै नही, भूलि परै एहि माँहि। →सा०सू०मा० (१४)१-२।

ऍड़ौ—वि० [हिं० ऍठा] टेढे चलना। ~ मन दस नाज टका दस गाठी, ऍड़ौ टेढौ जात। →सव० ७०-२।

ऐकत—सज्ञा पु० [स० एकान्त] एकान्त-वास। ~ऐकत छाँडि जाँहि घर घरनी, तिन भी वहुत उपाया। → पद २६७-६।

ओ

ओ—सर्व० [हि० वह] वह। ~ओ अगाध ए का कहै, भारी अचरज होइ। →सा० हैरा० (६) १-२।

ओइ—सर्व० [हिं० वे] वे। ~जैसे मेडुक तैसे ओइ नर फिरि फिरि जोनी आवै। →सव० १७७-६।

ओछी—वि० [स० अवच] तुच्छ, क्षुद्र। ~पुन्नै पाए द्यौहडे, ओछी ठौर न खोइ। → सा० चिता० (१२) ५६-२। सव० १८६-४, र० ८०-३।

ओछे—वि० [स० तुच्छ>प्रा० उच्छ> हि० ओछा] खोटे, दुष्ट। ~पूरव

जनम हम वाह्मन होते ओछे करम तप हीना । →पद० २३१-५ ।

ओट—सज्ञा स्त्री० [स० उट्] शरण, सहारा । अवलम्ब, आश्रय; आड । ~ कवीर केवल राम की, तू जिनि छाडै **ओट** । →सा० चिता० (१२) ५१-१, सा० सुमि० (२) १६-२, सा० साधु० (२८) १२-२, सा० सूरा० (४५) १६-१ ।

ओटा— सज्ञा स्त्री० [स० उट्] आट, ओट, भेद, पर्दा । ~घर घर साउज खेलै अहेरा, पारथ **ओटा** लेई । →पद ३२३-२, सव० १८८-६ ।

ओटे—सज्ञा स्त्री० [हिं०] व्यवधान, पर्दा, आवरण । ~ तिन कै **ओटे** राम हैं, परवत मेरे भाइ । → सा० कस्तू० (५३) ७-१ ।

ओढन—संज्ञा पु० [उपवेष्टन] ओढने का वस्त्र, यहाँ तात्पर्य है—आश्रय । ~**ओढ़न** मेरा राम नाम, मैं रामहि का वनिजारा हो । →कहरा (३) ४-१ ।

ओढन—सज्ञा पु० [स० उपवेष्टन, प्रा० ओड्ढण] ओढने का वस्त्र । ~ **ओढ़न** हमरै एक पछेवरा लोक वोलै इकताई हो । →पद २३७-६, कहरा (३) १०-२ ।

ओपै—सज्ञा स्त्री० [प्रा० ओप्पा] दीप्ति, झलकता है । ~और सकल ए कूकरि सूकरि, सुदरि नाउँ न **ओपै** । → सव० ६६-१० ।

ओपै—वि० [हिं०] उपयुक्त । ~ ए उपमाँ हरि किती एक **ओपै**, अनेक मेरु नख ऊपरि रोपै ।→पद २८३-४ ।

ओरि—सज्ञा पु० [स० अवार] अत (तक) । ~ कवीर तासौ प्रीति करि, जो निरवाहै **ओरि** ।→सा० सग० (२६) ६-१, सा० उपदे० (३४) ७-१ ।

ओलै—सज्ञा स्त्री० [देश०] नाते, आश्रय, सहारे । ~ कहै कवीर मेरौ मन मान्यौ राम प्रीति कै **ओलै** । → पद २५४-६ ।

ओषद—सज्ञा पु० दे० 'ओपध' ।

ओषदि—सज्ञा स्त्री० दे० 'ओपध' ।

ओषध—सज्ञा स्त्री० [स० ओपधि] दवा । ~ इक तत मंत **ओषध** वाँन, इक सकल सिध राखै अपान । → सव० ६१-६, पद २६२-३, सा० चिता० (१२) ४०-२, सव० १४२-४ ।

ओसो—सज्ञा स्त्री० [स० अवश्याय] ओस से । ~ **ओसो** प्यास न भाजई, जव लगि धसै न आभ । → सा० सुमि० (२) २१-२ ।

ओहु—सर्व० [हिं० वह] वह । ~**ओहु** मारग पावै नही, भूलि परे एहि माँहि । → सा० सू मा० (१४) १-२ ।

औंधा— वि० [स० अव + मूर्द्धा] उलटा, जिसका मुँह नीचे की ओर हो । ~ आकासे मुखि **औंधा** कुआँ पाताले पनिहारि । → सा० पर० (५) ४५-१ ।

औखधि—सज्ञा स्त्री० दे० 'ओपध' ।

औगह—वि० [स० अगाध] अथाह । ~तहाँ कुसुभ रग जो पावै, **औगह**

गहि कै गँगन रहावै । →ज्ञान चौ० (१) ४ ।

औंगाह—क्रि० [स० अवगाहन] थाह लगाना । ~खन ऊबै खन डूबै खन **औंगाह** ।→सब० १६७-३ ।

औगुन—सज्ञा पु० [स० अवगुण] अवगुण, दोष । ~परनारी कै राचनै, **औगुन** है गुन नाँहि ।→सा० कामी० (२०) ५-१, र० ६५-१, सा० मन० (१३) ७-१, सा० सार० (३२) ३-१, मा० वी० (५६) ३-१ ।

औघट—वि० [स० अव+घट या घट्ट] दुर्गम, विकट मार्ग । ~**औघट** घाटी गुर कही, तिहि चढि रहा कबीर । →सा० मधि० (३१) ५-१, सा० पर० (५) २८-१, सा० पर० (५) ६-१, सब० १४४-६ ।

औंचिताह—वि० [स० अव+चिता] निश्चित, बेखबर । ~काल सचाना नर चिडा, औझड **औंचिताह** । → सा० काल (४६) २-२ ।

औझड़—क्रि० वि० [स० अव+हि० झडना] लगातार, निरतर । ~काल सचाना नर चिडा, **औझड़** औंचिताह । → सा० का० (४६) २-२ ।

औतरिया—क्रि० [स० अवतरण] अवतरित होना, जन्म लेना । ~कर्म तो सो जो भव **औतरिया**, कर्म तो सो निमाज को धरिया । → र० ३६-३ ।

और—वि० [स० अपर] (इसके) अतिरिक्त कोई अन्य ।~कहै कबीरा सत हो, अविगत की गति **और** ।→ सा० सू० मा० (१४) ५-२ ।

औरति—सज्ञा स्त्री० [फा०] स्त्री ।~जेते औरति मरद उपानें, सो सभ रूप तुम्हारा ।→सब० २३-१३ ।

औरनि—वि० [स० अपर] अन्य सब कुछ ।~मैं सबहिन्ह महि **औरनि** मैं हूँ सब । →पद २३७-१ ।

औरा—वि० [स० अपर] अन्य (लोगो) को । ~ **औरा** कौं परमोधता, गया मुहरकाँ माँहि । → सा० चाण० (१७) १३-२ ।

औलिया—सज्ञा पु० [अ०] सत, सिद्ध । ~सुर नर मुनि जति पीर **औलिया**, मीरा पैदा कीन्हा हो ।→कहरा (३) ८-३, पद २६७-५ ।

औलौती—सज्ञा स्त्री० [हि० ओलती] छप्पर का वह किनारा, जहाँ से वर्षा का पानी नीचे गिरता है ।~**औलौती** का चढा बरेडै जिनि पीया तिनि जाना । →पद २१६-६ ।

औसर—सज्ञा पु० [स० अवसर] उपयुक्त अवसर पर ।~मरते मरते जग मुवा, **औसर** मुवा न कोइ । →सा० जीवत मृ० (४१) ५-१ ।

औसर—सज्ञा पु० [स० अवसर] अवसर, समय । ~ **औसर** चले बजाइ करि, है कोइ लावै फेरि । →सा० चिता० (१२) ३-२, पद २२४-६ ।

औसर लेवा—मुहा० बदला लेंगे । ~ अगिले जनम उन **औसर लेवा** । → पद २४२-६ ।

औसेरि—सज्ञा स्त्री० [स० अवसर]

चिन्ता, बेचैनी, उचाट । ~ बहुतक दिन बिछुरें भए, तेरी औसेरि आवै मोंहि रे ।→सब० ६७-२ ।

कं

कंक—सज्ञा पु० [स०] सफेद चील अथवा क्रौंच पक्षी । ~ जासो हिरदा की कहूँ, सो फिरि माँडै कंक । → सा० गु० सि० हे० (४३) ६-२ ।

कंगुरे—सज्ञा पु० [फा० कंगुर] शिखर, चोटी । ~ धड़ सूली सिर कंगुरे, तऊ न बिसारौ तुज्झ ।→सा० सूरा० (४५) २६-२ ।

कंचन—सज्ञा पु० [स०] स्वर्ण, सोना ।~ वड छली रावन सो गौ बीती, लंका रहल कंचन की भीती ।→र० ४७-२, र० ६४-१, सब० १४६-४, सब० १८४-५ ।

कंत—सज्ञा पु०[स० कान्त] पति, स्वामी, परमात्मा, ईश्वर । ~सकति सुहाग कहो क्यूं पावै, अछता कंत बिरोधै । →पद २५१-४, पद ३१२-८, सा० विर० (३) २६-१ ।

कंथा—सज्ञा स्त्री० [स०] चिथड़ा, फटा वस्त्र, गुदड़ी । ~परगट कंथा माहै जोगी, दिल मैं दरपन जावै ।→सब० ३४-५ ।

कँदला —सज्ञा स्त्री० [स० कदरा] गुफा । ~कबिरा तेरो घर कँदला मे, यह जगत भुलाना । →सब० ६४-१ ।

कंदा—सज्ञा पु० [स० कंद] कंद, मूल । ~ग्रिह तजि बनखंडि जाइऐ, खनि खाइऐ कंदा । →सब० ६६-३ ।

कंदूरी—सज्ञा पु० [फा०] खाना खाने का कपड़ा, दस्तरखान । ~बिसमिल तामसु भरम कंदूरी, भखि लै पचै होइ सबूरी । → सब० ७२-४ ।

कंद्रप—सज्ञा पु० [स० कदर्प] कामदेव। ~कंद्रप कोटि जाके लावन करै, घट घट भीतरि मनसा हरै ।→सब० १२८-१७ ।

कंध—सज्ञा पु० [स० स्कंध] कंधा, सहारा ।~कंध न देइ मसखरी करई, कहु धौ कौनि भाँति निस्तरई । → र० ५६-२ ।

कंधि—सज्ञा पु० [स० स्कंध] कंधे पर। ~कंधि काल सुखि कोइ न सोवै, राजा रंकु दोऊ मिलि रोवै ।→सब० १३२-२ ।

कंवला—सज्ञा स्त्री० [स० कमला] लक्ष्मी । ~केसव कै कंवला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी। →पद २२७-३, सब० १६२-४ ।

कँवला—सज्ञा पु० [स० कमल] कमल। ~ है साधू ससार मैं कँवला जल माही । → पद ३४५-१ ।

कंवलाकंत— सज्ञा पु० [कमलाकांत] विष्णु, ब्रह्म । ~द्वादस दल अभि-अंतर मंत, जहाँ पउढे श्री कंवलाकंत । → सब० ४३-१० ।

कंसा—सज्ञा पु० [स० कास्य] काँसा, झाँझ । ~ कंसा नाद बजाइले, धुनि निमसिले कंसा । → सब० ५२-५ ।

कउवा—सज्ञा पु० [स० काक] काग, कौआ । ~ कउवा कुबुधि निकट

नहिं आवै, सो हसा निज दरसन पावै।→पद० ३३४-५, पद २६६-४।

कच्छ—सज्ञा पु० [स० कच्छप] कछुआ। ~ मच्छ **कच्छ** घरियार वियाने, रुधिर नीर जल भरिया। → सव० १७४-६।

कच्छ—सज्ञा पु० [स० कच्छप] कच्छपावतार, कछुआ। ~ सूर्य चन्द्र तारागन नाही, मच्छ **कच्छ** नहिं दूनी। → सव० ३१-६, र० ७५-८, पद २६२-३।

कछ—सज्ञा पु० दे० 'कच्छ'।

कछावौ—क्रि० [देश०] धारण कराओ। ~ जे मसि लागी सवै छुडावौ, अव मोहिं जनि वहु रूप **कछावौ**। →पद २८८-४।

कजरा—सज्ञा पु० [स० कज्जल] अजन, काजल। ~ नैन गैल मोर **कजरा** देत, बैस गैल पर पुरुष लेत। →वसन्त (४) ४-३।

कजौड़ा—सज्ञा पु०[देश०] समूह।~फूस **कजौडा** दूरि करि, ज्यूँ वहुरि न लागै लाइ। सा० सूरा० (४५) ३६-२।

कटक—सज्ञा पु० [स०] सेना, समूह। राम नाम जाना नही, पाल्यो **कटक** कुटुम्व। → सा० चिता० (१२) ३३-१।

कटोरी—सज्ञा स्त्री०[हि०] छोटा कटोरा, धातु का प्याला। ~ वैठे सभा सभु सनकादिक, तहँ फिरे अधर **कटोरी**। पद ३०३-६।

कठठाइ—क्रि० [हि०] कडा हो जाता है। ~साकत सन का जेवडा, भीगा सूँ **कठठाइ**। →सा० चाँण० (१७) ११-१।

कड़ियाली—सज्ञा स्त्री० [स० कलिकारी] लगाम। ~ मुखि **कड़ियाली** कुमति की, कहन न देई राम। → सा० माया० (१६) ४-२।

कडुई—वि० [स० कटु] कडवाहट से युक्त, तिक्त स्वाद वाली। ~ कवीर **कडुई** वेलडी, कडुवा ही फल होइ। →सा० वेली० (५८) ५-१।

कत—अव्य० [स० कुत] कैसे, कहाँ, कहाँ से, किस प्रकार, किसको, क्यो, किसलिये, किसका। ~ वूँद समानी समुद मैं, सो **कत** हेरी जाइ। → सा० लाँवि० (७) ३-२, सा० मन० (१३) २२-१, सव० १६४-५, पद ३४६-१, पद २४३-३, सा० विर्क० (३७) ५-२।

कतरनी—सज्ञा स्त्री० [हि० कतरना] कैंची।~हाथ सुमिरनी पेट **कतरनी** पढै भागवत गीता रे। → पद २६३-३।

कतेब—सज्ञा पु० [अ० किताव] कुरान। ~ वेद **कतेब** दीन अरु दुनिया, कौंन पुरिख कौंन नारी। →सव० ५५-२, सव० ३-५।

कतेब—सज्ञा पु० [अ० किताव] ग्रथ, कुरान शरीफ। ~ काजी तै कवन **कतेब** वखानी। → सव० ७६-१।

कथनी—सज्ञा स्त्री० [स० कथन + हि० ई (प्रत्य०)] मुख से ज्ञान की वडी-वडी वातें करना, उपदेश।~**कथनी** कथी तो क्या भया, जौ करनी नाँ

ठहराइ । →सा० कर० वि० कय० (१८) १-१ ।

कथसि—क्रि० [हि० कहना] कहता है । ~तौ पंडित का **कथसि** गियान । →सव० १३१-२ ।

कथि गया—क्रि० [सं० √कथ् + √गम्] कह गया । ~कबीर कहै मैं **कथि गया**, कथि गये ब्रह्म महेस । → सा० सुमि० (२) २-१ ।

कथीर—संज्ञा पु० [सं० कस्तीर>कत्थीर >कथीर] राँगा । ~ पहिले काच **कथीर** था, फिरता ठाँवैं ठाँउ । → सा० उप० (५०) ८-२ ।

कथौ—क्रि० [हि० कहना] गुणगान करो । ~निरगुन ब्रह्म **कथौ** रे भाई, जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई । →पद २४७-३ ।

कदली—संज्ञा पु० [सं०] केला ।~**कदली** सीप भुवंग मुख, एक बूँद तिहुँ भाइ । सा० कुसं० (२५) २-२ ।

कदे—अव्य० [सं० कदा] कब, कभी का, बहुत दिनो से । कभी, कभी भी । ~तेरे सिर पर जम खडा, खरच **कदे** का खाइ । सा० सुमि० (२) १४-२, सा० विर्क० (३७) ४-१, सा० निह० पति० (११) १७-१, सा० कामी० (२०) २२-१, सा० कुसं० (२५) ३-२ ।

कनक—संज्ञा पु० [सं०] स्वर्ण, सम्पत्ति । ~ **कनक** कामिनी घोर पटोरा, संपति बहुत रहै दिन थोरा । →र० २१-४, पद २२८-५ ।

कनफूंका—संज्ञा पु० [हि०] कान फूंक कर दीक्षा देने वाला योगी, गुरु । ~ सींगी रिखि और गुर **कनफूंका** बांधिनि सभै मरोरी । → पद ३१३-६ ।

कनयर—संज्ञा पु० [सं० कणेर] कनेर, कँदैल का वृक्ष । ~जनम जनम जम अंतर बिरहुली, फल एक **कनयर** डार बिरहुली । → बिरहुली (७) १२ ।

कनराई—वि० [सं० काण] किनारे, वास्तविक मार्ग से हटकर । ~ हिन्दू तुरक दोऊ रह तूटी फूटी अरु **कनराई** । → पद ३२६-७ ।

कनिहार—संज्ञा पु० [सं० कर्णधार] नाविक, पतवार पकडने वाला । ~ नाद बिंद की नाव री, राँम नाँम **कनिहार** । →पद ३४२-११ ।

कनीर—संज्ञा पु० [सं० कणेर] कनेर, एक पुष्प जिसका रंग लाल, पीला, सफेद होता है ।~जालूं कली **कनीर** की, तन राता मन सेत ।→सा० चित्तक० (४२) १-१ ।

कपाट—संज्ञा पु० [सं०] किवाड, दरवाजा, द्वार ।~काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म **कपाट** । →सा० भ्रमवि० (२३) २-१, ज्ञान चौ० (१) २५, पद २०२-१० ।

कपि—संज्ञा पु० [सं०] बंदर, हनुमान ।~ नारद मुनि को बदन छिपायो, कीन्हो **कपि** को रूपा । →सव० ४-७, पद ३०३-५ ।

कफ—संज्ञा पु० [सं०] विकार ।~औरै रस ह्वै है **कफ** गाता, हरि रस

अधिक अधिक सुखदाता। →सव० १४-४।

कवर—क्रि० वि० [क + वर (वार)] किस दिन, कव।~एक सवद कहि पीव का, **कवर** मिलैंगे आइ। → सा० विर० (३) ५-२।

कवहुँक—क्रि० वि० [स० कदा से] सभवत कभी, न जाने कव।~ राति दिवस कै कूकनैं, **कवहुँक** लगैं पुकार।→सा० सुमि० (२) १६-२।

कवाइ—सज्ञा पु० [अ० कवा] चोगा, एक लम्वा ढीला पहनावा।~एक दोस्त जो हम किया, जिस गलि लाल **कवाइ**। → सा० मन० (१३) ११-१।

कवीनैं—क्रि० [हि० करना] रचते-रचते। ~कवि **कवीनैं** कविता मूए, कापडी केदारैं जाई। →पद २६०-५।

कवीर—वि० [फा०] श्रेष्ठ, महान्। ~ जो कछु किया सो हरि किया, (तार्थं) भया कवीर **कवीर**। → सा० सम्र० (३८) १-२, पद २३७-१०।

कवुलावैं—क्रि० [अ०] स्वीकार करवाना, अनुयायी वनाना।~कहहिं कवीर एक सैयद कहावैं, आपु सरीखे जग **कवुलावैं**। →र० ४६-७।

कमंडल—सज्ञा पु० [स० कमण्डलु] सन्यासियो का जलपात्र जो धातु, मिट्टी, तुमडी आदि का होता है। ~कया **कमडल** भरि लिया, उज्ज्वल निर्मल नीर।→सा० लाँवि० (७) १-१।

कमान—सज्ञा स्त्री० दे० 'कमान'।

कमाई—क्रि० [हि० कमाना] सवारना, तैयार करना।~कुम्भरा एक **कमाई** माटी वहु विधि वानी लाई। →पद २१६-३।

कमान—सज्ञा स्त्री० [फा०] धनुप। ~ सतगुरु शव्द **कमान** ले, वाहन लागे तीर। → सा० गुरु० (१) ६-१, सा० विर० (३) १५-१, सव० ६३-५, पद ३०७-४।

कमाना—सज्ञा स्त्री० [फा० कमान] धनुप। ~ प्रेम वान एक सतगुरु दीन्हा, गाढो तीर **कमाना** हो। → कहरा (३) २-१४।

कमाय—क्रि० [हि० काम] कमाया, अर्जित किया। ~ वरिया वीती वल गया, औरो वुरा **कमाय**। → सा० काल० (४६) २६-१।

कमोदनी—सज्ञा स्त्री० [स० कुमुदिनी] कुमुदिनी। ~ **कमोदनी** जलहरि वसैं, चदा वसै अकाम। →सा० हेत प्री० (४४) १-१।

कया—सज्ञा स्त्री० [स० काय] शरीर। ~**कया** कमडल भरि लिया, उज्ज्वल निर्मल नीर। → सा० लाँवि० (७) १-१।

करक—सज्ञा पु० [स०] खोपडी, सिर की हड्डी, अस्थि, हड्डी। ~ लेखनि करौं **करक** की, लिखि लिखि राम पठाउँ। → सा० विर० (३) १२-२, सा० निन्द्या० (५४) ७-२।

करत—क्रि० [हि० करना] करता है। ~काची काया मन अथिर, थिर थिर करम **करंत**। → सा० काल० (४६) ३०-१।

कर—सज्ञा पु० [स०] हाथ । ~वेद की पुत्री सुम्रिति भाई, सो जेंवरि **कर** लेतहि आई । →र० ३३-१, वसत० (४) ८-१ ।

करक—सज्ञा स्त्री० [हि०] पीडा, कसक । ~लागी चोट सरीर मैं, **करक** कलेजे माँहि । → सा० सव० (४०) ५-२ ।

करकच—सज्ञा पु० [देश०] झगडा । ~ अढाई मैं जे पाव घटै तौ **करकच** करै घरहाई । → पद २७१-६ ।

करछी—सज्ञा स्त्री० [प्रा० करच्छु हि० कलछी] वडा चम्मच ।~जूठी **करछी** अन्न परोसा, जूठै जूठा खाया । → सव० ७१-६ ।

करज—सज्ञा पु० [अ० कर्ज] ऋण, उधार । ~ आपा कौ आटी नहि निकसी **करज** वहुत सिरि लीन्हा । पद० ३१५-१२ ।

करतव—सज्ञा पु० [स० कर्त्तव्य] करतूत, करनी । ~ अपनै अपनै रस के लोभी, **करतव** न्यारे न्यारे । सव० ११३-३ ।

करता—सज्ञा पु० [स० कर्त्ता] स्रष्टा, सृष्टिकर्ता, परमात्मा, करनेवाला । ~**करता** किरतम वाजी लाई, हिन्दू तुरुक की राह चलाई ।→सव० ४०-७, सा० कामी० (२०) २७-१, सा० जरणा० (८) ४-१, सा० मन० (१३) १०-२, सा० वीन० (५६) ३-१, र० ६३-२, र० २६-१, पद ३२६-१० ।

करतार—सज्ञा पु० [स० कर्त्ता] कर्त्ता, ईश्वर, स्रष्टा । ~आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै **करतार** । → सा० गुरु० (१) २६-२, सा० अवि० (५६) ३-२ ।

करतारा—सज्ञा पु० [स० कर्त्ता] ब्रह्मा । ~मुए कृस्न मुए **करतारा**, एक न मुवा जो सिरजनहारा । → सव० ८६-५ ।

करतूति—सज्ञा स्त्री० [स० कर्तृत्व] कार्य, कृति । ~कवीर भेप अतीत का, **करतूति** करै अपराध । → सा० असा० (२७) १-१ ।

करतूती—सज्ञा स्त्री० [स०कर्तृत्व] कर्म । ~कर्म ते कर्म करै **करतूती**, वेद कितेव भयी सव रीती । → र० ३६-२ ।

करद—सज्ञा स्त्री० [फा० कारद] वडी छुरी या कटार । ~दिल तै दीन विसारिया, **करद** लई जव हाथि । →सा० माँच० (२२) ७-२ ।

करदः वूद—क्रि० [फा०] किया (फारसी मे 'करदन' धातु का सामान्य भूत-काल) । ~ असमान म्यानै लहग दरिया गुसल **करदः वूद** । सव० १८१-७ ।

करन—सज्ञा पु० [स० कर्ण] कुती का पुत्र, प्रसिद्ध दानी—कर्ण । ~कहै कवीर हरि के गुन गाया, कुन्ती **करन** कुँवारहिं जाया । → र० ८१-४ ।

करनीं—सज्ञा स्त्री० [स०√कृ०] जीवन मे, व्यवहार मे, क्रिया-कलाप मे ज्ञान को चरितार्थ करना । ~कथनी कथी तो क्या भया, जौ **करनीं** नाँ

ठहराइ। →सा० करनी बि० कथ० (१८) १-१।

करनी—सञ्ज्ञा स्त्री०[हिं०] कर्म, साधना। ~ **करनी** किया करम का नास, पावक माँहि पुहुप परकास।→सब० ४७-३।

करम—सञ्ज्ञा पु० [सं० कर्म] कर्म, पुण्य कर्म। सकाम कर्म, कर्मों का लेखा, कार्य।~देखौ **करम** कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख। → सा० पर० (५) १२-२, सा० चिता० (१२) ४४-१, र० ५६-३, सब० ४-१, सा० बेसा० (३५) ७-१, सा० काल० (४६) ३०-१, हिंडोला (८) १-५, पद २७५-५।

करम—सञ्ज्ञा पु० [अ०] दया। ~कबीर **करम** करीम का यहु करै जानै सोइ। →सब० १८१-१०।

करम—सञ्ज्ञा पु० [सं० कर्म] प्रारब्ध कर्मों का। ~अपनो **करम** न मेटो जाई। →सब० ४-१।

करमियाँ—सञ्ज्ञा पु०[सं०कर्मकाण्डी] कर्म-काण्डी। ~ कबीर मूढक **करमियाँ**, नख सिख पाखर आहि। → सा० निगुणाँ० (५५) ५-१।

करमै—सञ्ज्ञा पु० [सं० कर्म] कर्मकाण्ड-यज्ञादि।~**करमै** कै कै जग बौराया, सक्ति भक्ति लै बाँधिनि माया।→र० ४-२।

करवट—सञ्ज्ञा स्त्री० [सं० कर्वट] बगल। ~ करवत भला न **करवट** तोरी, लागु गलै सुनु बिनती मोरी। →पद ३५०-३।

करवत—सञ्ज्ञा पु० [सं० करपत्र] वह आरा या चक्र जिसके नीचे लोग शुभ फल की आशा मे प्राण देते थे। ~ **करवत** दै मोहि काहे कौं मारे। → पद ३५०-२, ३।

करवा—सञ्ज्ञा पु० [सं करक] टोटीदार लोटा। ~कहै कबीर यह कलि है खोटी, जो रहै **करवा** सो निकसै टोटी। → पद २५८-५।

करवै—सञ्ज्ञा पु० [सं० करक] मिट्टी का टोटीदार लोटा। ~ काचै **करवै** रहै न पानी, हस उडा काया कुम्हिलानी। →पद २७८-४।

करहा—सञ्ज्ञा पु० [सं० करभ] ऊँट।~ न्यौति जियाऊं अपनौ **करहा** छार मुनिस की दाढी रे।→पद २५५-८।

करा—सञ्ज्ञा पु० [सं० कर] हाथ। ~ पग बिनु निरति **करा** बिनु बाजा, जिभ्या हीना गावै।→सब० ३७-५।

कराउँ—क्रि० [हिं० करना] करूँ। ~ जिहि जिहि भेपा हरि मिलै, सोइ सोइ भेप **कराउँ**। → सा० बिर० (३) ४१-२।

करामाती—वि० [अ०-करामत + (ई)प्र०] आश्चर्यजनक क्रियाएँ दिखाने वाला। ~ काहू के वचनहि फुरे, काहू के **करामाती**।→ सब० १३५-७।

करारै—सञ्ज्ञा पु० [सं० कराल] कगार, तट या किनारा।~ठाढी माइ **करारै** टेरै, है कोई लावै गहि रे। →सब० ६७-२।

कराल—वि० [सं०] भयङ्कर।~काल **कराल** निकटि नहिं आवै काम क्रोध

मद लोभ जरै। →पद २४६-६।

करिगह—सज्ञा पु० [फा० कारगाह] करघा, काम करने का स्थान। ~ तीनि लोक एक **करिगह** कीन्हो, दिग-मग कीन्हो ताना।→सव०१२७-१०।

करीम—सज्ञा पु० [अ०] दयालु। ~ कवीर करम **करीम** का यहु करै जानै सोड। → स० १८१-१०।

करीमाँ—सज्ञा पु० 'दे० करीमा'।

करीमा—सज्ञा पु० [अ० करीम] कृपालु, ईश्वर। ~हमारे राँम रहीम **करीमा** केसो, अलह राँम सति सोई। →पद ३२६-१, सा० वेमा० (३५) ७-१।

करीला—सज्ञा पु० [अ० करीना] क्रम। ~पचूँ भइया भए सनमुखा, तव यहु पान **करीला**। →सव० १५४-६।

करेज—स० पु० [सं० कालेय] कलेजा, दिल। ~ पेट फारि जो देखिए रे भाई, आहि **करेज** न आंता। →पद ३१८-३।

करोरा—सज्ञा पु० [स० कोटि से] करोड-पति, धनी। ~ घोरा घोरी कीन्ह वटोरा, गाँव पाय जस चले **करोरा**। →र० ६६-८।

करोरि—वि० [स० कोटि] करोडो। ~नागे हाथौं ते गए, जिनके लाख **करोरि**। → सा० चिना० (१२) ३७-२।

करोरि—वि० [स० कोटि] सौ लाख। ~ लच्छ **करोरि** जोरि धन गाडिनि, चलत डोलावल वाही हो। →कहरा (३) ५-२।

कर्मना—सज्ञा पु० [स० कर्मणा] कर्म से, कर्म द्वारा।~ मनसा वाचा **कर्मना**, कवीर सुमिरन सार।→सा० सुमि० (२) ४-२।

कर्मा—सज्ञा पु० [स० कर्म] करतूत, करनी। ~कहै कवीर सुनो हो पाडे, ई सव तुम्हरे **कर्मा**। → सव० १७४-११।

कलंक—सज्ञा पु० [स०] लाञ्छन, दोष। ~नित उठि **कलक** लगावै सहना। →सव० ५७-२।

कलकी—सज्ञा पु० [स० कल्कि] कल्कि अवतार। ~ वै करता नहिं भये **कलकी**, नही कलिहिं गहि मारा। →पद २६२-१६।

कल—सज्ञा स्त्री० [स० कल्य] शान्ति, चैन, आराम। ~ हिन्दू तुरुक जैन औ जोगी, ये **कल** काहु न जाना। →सव० १६७-७।

कलउ—सज्ञा पु० [स० कलि] कलियुग। ~ द्वापर मैं हम अडवद पहिरा, **कलउ** फिरयौ नौ खडा। →सव० ६३-६।

कलतर—सज्ञा पु० [फा० कलदार] मशीन से वना हुआ सिक्का। ~वटै वौहरै साँठो दीन्हौ, **कलतर** काढयो खोटै। →पद २१७-३।

कलत्र—सज्ञा पु० [स०] पत्नी। ~पुत्र **कलत्र** रहै लौ लाए, जम्बुक नित्य रहैं मुंह वाए।→र० ७८-४।

कलप—सज्ञा पु० [स० कल्प] ब्रह्मा का एक दिन, १४ मन्वन्तर अर्थात् मानव के चार अरव वत्तीस करोड वर्ष, काल का एक विभाग। ~ काल न

खाइ **कलप** नहिं व्यापै, देही जुरा नहिं छीजै। →सव० ३२-२, सव० १३-२, हिंडोला (८) १-१६।

कलपै—क्रि० [स० कल्पन] कलपना, तडपना, विलखना। ~ जाके हिरदै हरि वसै, सो नर **कलपै** काँइ। → सा० वेसा० (३५) १८-१।

कलमां—सज्ञा पु० [अ०] दे० 'कलमा'।

कलमा—सज्ञा पु० [अ० कलमह] वह वाक्य जो मुसलमानो के धर्म-विश्वास का मूल मन्त्र है—'ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह'। इसका तात्पर्य है—इसके सिवा दूसरा कोई पूजनीय नही है, मुहम्मद उनके भेजे हुए पैगम्बर हैं। मुस्लिम धर्म का मूल मत्र। ~ जिन **कलमा** कलि माँह पढाया, कुदरत खोजि तिनहु नहिं पाया। →र० ३६-१, सव० २४-३, २६-६, सव० १६८-३, पद २२६-५।

कलवारिनि—संज्ञा स्त्री० [स० कल्यपाल] कलवार जाति की स्त्री, जो शराव वनाती और वेचती है।~यह माया जैसे **कलवारिनि**, मद पियाइ र खै वौराई। →सव० १२०-५।

कलस—सज्ञा पु० [स० कलश] कलश, चोटी, सिर, पात्र, घडा, मदिरो के शिखर पर का कँगूरा।~देवल वूडा **कलस** सो, पंखि तिसाई जाइ। → सा० रस (६) ७-२, सव० ११२-५, सा० रम० (६) १-१।

कला—संज्ञा स्त्री० [स०] १ सोलह आध्यात्मिक कलाएँ। २ काल का एक अश—१६ मिनट। ~कला अतीत आदि निधि निरमल, ताको सदा विचारत रहिए। → पद ३०५-२।

कलानिधि—सज्ञा पु० [स०] गुणज्ञ।~ राम मोहि सतगुर मिले अनेक **कलानिधि** परमतत्त सुखदाई। →पद २६५-१।

कलापी—सज्ञा पु० [स० कलापिन्] मयूर पिच्छ धारण करने वाले जैन साधु। ~इक होहि दीन एक देहिं दान, इक करै **कलापी** सुरा पान। → सव० ६१-५।

कलार—सज्ञा पु० [स० कल्यपाल] कलवार, शराव वनाने और वेचने वाला।~व्रह्म **कलार** चढाइन भट्ठी, लै इन्द्री रस चाखै। →पद २०७-५।

कलाली—सज्ञा स्त्री० [सं० कल्यपाली] कलवारिन, मदिरा वनाने और पिलाने वाली।~एक वूंद भरि देइ राम रस ज्यूं मदु देइ **कलाली**। → पद ३४४-२।

कलित—सज्ञा स्त्री० [स० कलत्र] स्त्री। ~कासि कुडुवा सुत **कलित**, दाझनि वारवार। →सा० चाँण० (१७) २२-२।

कलिमा – सज्ञा पु०[अ०कलम] वह वाक्य जो मुसलमानो के धर्म-विश्वास का मूल मंत्र है—ला इलाह इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह। दे० 'कलमा'। ~वग निमाज **कलिमा** नहिं होते, रामहु नाहिं खोदाई। →सव० ३१-८।

कलीकाल—सज्ञा पु० [सं० कलि+काल]

कलियुग। ~कलीकाल ततकाल है, बुरा करौ जिनि कोइ।→सा० उप० (३४) १-२।

कलेवा—सज्ञा पु० [स० कल्यवर्त] जलपान, भोजन।~पार परोसिनि करौं **कलेवा**, सगहि बुधि महतारी। → पद २२२-५।

कलोर—सज्ञा पु० [स० कल्लोल] आनन्द, क्रीडा।~सूखे सरवर उठै हिलोर, विनु जल चकवा करत **कलोर**। → सव० १५२-४।

कल्हि—क्रि० वि० [स० कल्य] आने वाला दिन, कल।~**कल्हि** गडै जो काटवा, अगमन कस न खुराइ। → सा० उपज० (५०) १-२।

कवॅल—सज्ञा पु० [स० कमल] कमल। ~**कवॅल** जु फूला फूल विनु, को निरखै निज दास। →सा० पर० (५) ५-२, सव० १३-३।

कवलाकत—सज्ञा पु० [स० कमलाकात] लक्ष्मी के पति, विष्णु। ~चमकै विजुरी तार अनत, जहाँ प्रभू वैठे **कवलाकत**। →सव० १४०-४।

कविलास—सज्ञा पु० [स० कैलास] कैलास।~जाकै सूरिज कोटि करहिं परकास, कोटि महादेव गिरि **कविलास**। →सव० १२८-३।

कस—सज्ञा पु० [स० कष] मदिरा मे तीखापन लाने के लिए डाला गया पदार्थ।~त्रिसना काम क्रोध मद मतसर काटि काटि **कस** दीन्हा। →पद ३४४-४।

कसतै—क्रि० [हि० कसना] कसते, परखते, जाँचते।~मदा धर्म जाकै हिय वसई, राम कसौटी **कसतै** रहई। →र० ६४-४।

कसदम—वि० [अ०] शक्तिशाली।~खोटौ महतौ विकट वलाही, सिर **कसदम** का पारै। →सव० १०-७।

कसनि—सज्ञा स्त्री० [हि० कसना] जिससे कोई वस्तु वाँधी जाती है, वन्धन। ~नउ वहियाँ दस गोनि आहि, **कसनि** वहत्तरि लागि ताहि। → पद २३९-४, वसत (४) ३-३।

कसनी—सज्ञा स्त्री० [स० कर्षण, हि० कसना] कसौटी, परीक्षा।~**कसनी** दे कचन किया, ताइ लिया ततसार। →सा० गुरु० (१) २८-२।

कसवी—सज्ञा पु० [अ० कस्व] व्यवसायी। ~कोई फेरै माला कोई फेरे तसवी, देखौ रे लोगा दोनो **कसवी**। →पद ३८-३।

कसमलिन—सज्ञा पु० [स० कश्मल] अपवित्रता, गदगी। ~पनिया अदर धरे न कोय, पौन गहै **कसमलिन** धोय। → वसत (४) १-३।

कसाइयाँ—क्रि० [स० कषाय] रक्त वर्ण की हो गई हैं। ~अँखियाँ प्रेम **कसाइयाँ**, लोग जानै दुखडियाँ। → सा० विर० (३) २५-२।

कसाई—सज्ञा पु० [अ० कस्साव] वधिक। ~सतो पाडे निपुन **कसाई**। पद २६९-१, सव० १६४-६।

कसाव—वि० [स० कषाय] कसैलापन। ~वहुत मोलि महँगे गुड पावा, लै **कसाव** रस राँम चुवावा। →सव० १०८-३।

कसौटी—सज्ञा स्त्री० [स० कर्षपट्टिका] एक प्रकार का काला पत्थर जिस पर रगड कर सोने की परख की जाती है। ~सदा धर्म जाकै हिय वसई, राम कसौटी कसतै रहई। → र० ६४-४, सा० जी० मृ० (४१) ६-१।

कस्तूरिया—वि० [स० कस्तूरी] जिसमे कस्तूरी हो। →सा० कस्तू० (५३)।

कस्मल—सज्ञा पु० [स० कश्मल] पाप, दोष। ~ मूंदे मदन काटि कर्म कस्मल, सतत चुवत अगारी। →पद ३०३-४।

कहगिल—सज्ञा स्त्री० [फा० काह = घास + गिल = मिट्टी] ईंट जोडने का गारा। ~ विनु कहगिल की ईंट समुझ मन वौरा हो। → चाँचर (५) २-६।

कहणां—क्रि० [स० कथन] कहना। ~चरणूं ऊपरि सीस धरि, कहूँ ज कहणां होइ। → सा० निन्द्या० (५४) ६-२।

कहल—क्रि० [हि० कहना] उपदेश। ~ब्राह्मन छत्री वानी, तिनहू कहल नहि मानी। → पद ३४८-३।

कहांनी—सज्ञा स्त्री० [स० कथानक] मर्म, कृति, रहस्य। ~ जानी जानी रे राजा राम की कहानीं। → सव० ११६-१, सव० १२-१।

कांइ—अव्य० [हि० क्यो] क्यो। → कांइ गंवावै देह, कारज कोई ना सरै। → सा० कामी० (२०) ८-२, सा० जर० (८) ५-२, सा० भेष० (२४) १३-१।

काँच—सज्ञा पु० [स०] शीशा। ~जानि वूझि कचन तजै, काठा पकडै काँच। → सा० साँच० (२२) १५-२, सव० ५-२।

कांच—वि० [स० कच्चर] कच्चा। ~नाइकु एकु वनिजारै पाच वरध पचीस क सगु कांच। →पद २३६-३।

काँचली—सज्ञा स्त्री० [स० कचुक] सर्प के शरीर पर का झिल्लीदार आवरण (चमडा) जो हर साल गिर जाता है। ~ वीछडियाँ मिलिवो नही, ज्यो काँचली भुवग। → सा० चिता० (१२) ६-२।

कांची—वि० [हि० कच्ची] कच्ची। ~अमर जानि सची यह काया सो मिथ्या काची गगरी। → पद २४६-३।

काँची कारी—मुहा० = टालमटोल करना। ~ काँची कारी जिनि करै, दिन दिन वधै वियाधि। →सा० चिता० (१२) ४०-१।

काचै—वि० [हि० कच्चा] कच्चा। ~ काचै करवै रहै न पानी, हस उडा काया कुम्हिलानी। → पद २७८-४।

कांटवा—सज्ञा पु० [स० कण्टक + वा] काँटा। ~ काल्हि गडै जो कांटवा, अगमन कस न खुराइ। → सा० उपज० (५०) १-२।

काँठै – सज्ञा पु० [दे०] किनारे। किनारा, निकट। ~ राम नाँम काँठै रहा, करै मिखा की आस। → सा० चांण० (१७) ४-२, सा० कुस०

(२५) ४-१, सा० चांण० (१७) १६-१ ।

कानि—सज्ञा स्त्री० दे० 'कानि' ।

कांनीं—वि० [हि० कानी] एकाक्ष, एक आंख वाली । ~ काहू कै जोगिनि होइ वैठी, काहू कै कौडी **कांनीं** ।→ पद २२७-६ ।

कांसि—सज्ञा स्त्री० [स० कास] एक प्रकार की जगली घास । ~ **कांसि** कुडुवा सुत कलित, दाझिनी वार-वार । → सा० चांण० (१७) २२-२ ।

काकी—सर्व० [हि० किसकी] किसकी । ~ कौन पुरिख को **काकी** नारी, अभिअतरि तुम्ह लेहु विचारी । → पद ३३५-३ ।

काग—सज्ञा पु० [सं० काक] कौआ ।~ **काग** गीध दोउ मरन विचारैं, सूकर स्वान दोउ पथ निहारैं । →र० ७८-५ ।

कागद—सज्ञा पु० [अ० कागज़] कर्मों का लेखा-जोखा, कागज । ~अवकी वेर न **कागद** कीन्यौ, तौ धर्मराय तो तूटै । →पद २१७-५ ।

काच—१ सज्ञा पु० [स०] शीशा । **काच**–२ वि०[स०]कच्चा।~पहिले **काच** कथीर था, फिरता ठांवैं ठाँउ । →सा० उपज० (५०) ८-२ ।

काचा—वि० [स० कच्चर] जो पका न हो, अपक्व । ~यह तन **काचा** कुभ है, चोट चहूँ दिसि खाइ । →सा० चिता० (१२) ३८-१ ।

काची—वि० [स० कच्चर] कच्ची, नाशवान । ~ **काची** काया मन अथिर, थिर थिर करम करंत । → सा० काल० (४६) ३०-१ ।

काचे—वि० [हि० कच्चा] अपरिपक्व, जो सिद्ध न हो, कच्चा । ~ हाट वजारैं लावै तारी, **काचे** सिद्धहिं माया प्यारी । →र० ६६-३, पद ३४६-६ ।

काचै—वि० दे० 'काचे' ।

काछे—क्रि० [स० कर्षण] हटाएगा । ~वाप पूत की एकै नारी, ई अचरज को **काछे** । → पद ३००-४, सव० ३५-८ ।

काछै—क्रि० दे० 'काछे' ।

काजा—सज्ञा पु० [स० कार्य] कार्य । ~ तुम्ह कहियतु त्रिभुवनपति राजा, मन वछित सव पुरवन **काजा** । →सव० २-४ ।

काजी—वि० [अ०] न्यायकर्त्ता ।~**काजी** काज करहु तुम कैसा, घर घर जवह करावहु भैसा । → र० ४६-४, पद ३०५-३, वसत (४) १०-४, पद ३२६-३, पद ३४६-५, सा० सांच० (२२) ७-१, सव० २३-७, सव० ५२-२ ।

काठ—सज्ञा पु० [स० काष्ठ] काष्ठ, लकडी ।~जाहि फिरायाँ हरि मिलैं, सो भी **काठ** कठोर । →सा० भेप० (२४) २-२, कहरा(३) १-२७, पद २७६-५, सा० निगु० (५५) १-२ ।

काठा—सज्ञा पु० [स० कण्ठ] किनारा, सहारा, आश्रय ।~जानि वूझि कचन तजै, **काठा** पकड़ै कांच । →सा० सांच० (२२) १५-२ ।

काठौं—सज्ञा पु० दे० 'काठ' ।

काढा जाइ—क्रि० [स० कर्षण] निकाला जा सकता है।~लागी मन्दिर द्वार तै, अव क्या **काढा जाइ**। → सा० काल० (४६) २४-२।

कातरै—क्रि० [हि० कतरना] काटता है, कतरता है। ~ सिघ ज वैठा पान **कातरै** घूस गिलौरा लावे। → पद ३३१-५।

कातल—क्रि० [हि० कातना] काता। ~छौ मास तागा बरिस दिन कुकुरी, लोग वोलै भल **कातल** बपुरी। → पद २१५-४।

काति—क्रि० [हि० कातना] कातो। ~हरि कौ नाउँ लै **काति** बहुरिया। →पद २१५-२।

काती—सज्ञा स्त्री० [सं० कर्त्तरी] कैंची। ~माला पहर्‍याँ कछु नही, **काती** मन कै साथि। →सा० भेप० (२४) ८-१।

काती—सज्ञा स्त्री० [हि० √कात + ई (प्रत्य०)] कताई, कातने की क्रिया। ~ नान्हाँ **काती** चित्त दे, मँहगे मोलि बिकाइ।→सा० चिता० (१२) ५८-१।

कातौं—क्रि० [हि० कातना] कातती हूँ। ~मैं **कातौं** हजारी क सूत।→ पद २३५-१।

कात्याँ—सज्ञा स्त्री० [स० कर्त्तरी] काती, कैंची।~दुहु **कात्याँ** विचि जीव है, द्वौ हनै सती सीख। →सा० उप० (३४) ५-२। दे० 'काती'।

कानि—सज्ञा स्त्री० [-दे०] मर्यादा। ~कोइ एक जन ऊवरै, जिनि तोडी कुल **कानि**। →सा० माया० (१६) ८-२, सा० चिता० (१२) ४६-१।

कानि—सज्ञा पु० [दे०] पासग। ~ **कानि** तराजू सेर तिन पौवा, डहकै ढोल वजाई हो।→कहरा (३)४-५, सा० चिता० (१२) ४६-१।

कान्ह—सज्ञा पु० [स० कृष्ण, प्रा० कण्ह] श्रीकृष्ण।~केतेहि **कान्ह** भए मुरलीधर, तिन्ह भी अत न पाया। →पद २५२-४।

कापडा—सज्ञा पु० [स० कर्पट] वस्त्र, कपडा।~भगति हजारी **कापड़ा**, तामैं गल न समाइ।→ सा० साधु० (२८) १३-१।

कापडी—सज्ञा पु० [स० कार्पटिक] तीर्थ स्थानो से जल लाकर, उससे जीविका चलाने वाले, एक जाति विशेष।~ कवि कवीनैं कविता मूए, **कापडी** केदारै जाई। →पद २६०-५।

कावा—सज्ञा पु० [अ०] अरब मे मक्का शहर का एक स्थान जहाँ मुसलमान हज करने जाते हैं।~**कावा** फिर कासी भया, राँमहि भया रहीम। →सा० मधि० (३१) १०-१, सब० २३-६, सा० वी० (५६) ६-१, पद २२६-६, सा०साँच० (२२) ११-१।

कावे—सज्ञ पु० दे० 'कावैं'।

कावै—सज्ञा पु० दे 'कावा'।

काम—सज्ञा पु० [स०] प्रेमाभक्ति।~ **काम** मिलावै राम कौं, जो कोई जानै राखि। → सा० साधसा० (२९) ११-१।

कामलिया—सज्ञा स्त्री० [स० कवल]

कम्वल, योगियो का वस्त्र ।~फारि पटोरा धज करूँ, **कामलिया** पहिराउँ । →मा० विर० (३) ४१-१ ।

कामिनि—सज्ञा स्त्री० दे० 'कामिनी' ।

कामिनी—सज्ञा स्त्री० [स०] सुन्दर स्त्री, आसक्त नारी । ~कनक **कामिनी** घोर पटोरा, सपति वहुत रहै दिन थोरा । →र० २१-४, र० ७८-३ ।

कामो—सज्ञा पु० [हि० कामना] कामना, तृष्णा, राग ।~कहहि कवीर **कामो** नही, जीवहि मरन न होय । → र० १०-८ ।

कायथ—संज्ञा पु० [स० कायस्थ] चित्रगुप्त, लिपिक ।~**कायथ** कागद काढिया, दरगह लेखा पूरि । → सा० साँच० (२२) ३-२ ।

काया—सज्ञा स्त्री० [स०] शरीर, देह । ~**काया** कचन जतन कराया, वहुत भाँति कै मन लपटाया । →र० ६४-१, सा० काल० (४६) ३०-१, पद ३४४-३, पद २४६-३, पद २४१-५, सा० चिता० (१२) ५३-१, सव० ८१-७, सव० ६१-७, पद २६७-७ ।

कारकुन—सज्ञा पु० [फा०] प्रवन्धकर्त्ता । ~काग -दुकाग **कारकुन** आगे, वैल करै पटवारी । →पद ३००-७ ।

कारणि—सज्ञा पु० [स० कारण] कारण, के लिए, प्रयोजन के लिए, निमित्त, लक्ष्य ।~जा **कारणि** मैं ढूंढता, सनमुख मिलिया आइ । →सा० परचा० (५) ३६-१, सा० परचा० (५) ३७-१ ।

कारणै—क्रि० [स० कारण] करने के लिए ।~निस अँधियारी **कारणै**, चौरासी लख चद । →मा० गुरु० (१) १८-१ ।

कारन—सज्ञा पु० [स० कारण] जन्म मरण का कारण अर्थात् अज्ञान ।~ करनी थैं **कारन** मिटि गया । → सव० ४७-२ ।

कारन—सज्ञा पु० [स० कारण] हेतु, साधन । ~तेहि **कारन** मैं कहत हौं, जाते होय उवार । → र० ६०-५ ।

कारन—सज्ञा पु० [स० कारण] कारण । ~जेहि **कारन** सिव अजहुँ वियोगी, अग विभूति लाय भौ जोगी । → र० ५२-१ ।

कारनि—वि० वि० [स० कारण] कारण, लिए ।~विरहिन ऊठै भी पडै, दरसन **कारनि** राम । →सा० विर० (३) ७-१ ।

कारा—सज्ञा स्त्री [स०] रेखा या वंधन । ~गोवरु जूठा चउका जूठा, जूठै दीनी **कारा** । →सव० ७१-७ ।

कारिवाँ—सज्ञा पु० [फा० कारवाँ] काफिला, यात्रियो का दल ।~कवीर पट्टन **कारिवाँ** पच चोर दस द्वार । →सा० चिता० (१२) ७-१ ।

कारी—वि० [स० काल] काली, काले रग की ।~**कारी** पियरी दुहहु गाई, ताकर दूध देहु विलगाई । →र० ६२-५ ।

कारे—वि० [स० कृष्ण] काला, अधकारपूर्ण ।~**कारे** मूड की एक न छाड्यौ, अजहूँ अर्कन कुवारी । →र० २६-४ ।

कारो—वि० [हि० काला] कलुषित।~ ऊपर ऊजर कहा भौ वौरे, भीतर अजहूँ **कारो** हो। → कहरा (३) ३-३।

काल—सज्ञा पु० [स०] सहारक शक्ति। ~कहै कवीरा दूरि कर, आतम अदिष्ट **काल**। →सा० सू० ज० (१५) १-२।

कालबूत—सज्ञा पु० [फा० कालबुद] वनावटी, नाशवान्।~**कालबूत** की हस्तिनी मन वौरा हो। →चाँचर (५) २-७।

कालवूत—सज्ञा पु० [फा० कालवुद] वह कच्चा भराव, जिस पर मेहराव वनाई जाती है, ढाँचा। ~ **कालवूत** के कोट ज्यौ, देखत ही ढहि जाय। →सा० कर० विन० क० (१८) १-२, सव० १६३-४।

कालर—सज्ञा पु० [दे०] नोनी मिट्टी, रेत, ऊसर।~ते नर कदे न नीपजै, ज्यौं **कालर** का खेत।→सा० कुसग० (२५) ३-२।

कालि—क्रि० वि० [स० कल्य] आगामी दूसरा दिन, आने वाला दिन, कल। ~कूर वडाई वूडसी, भारी पडसी **कालि**। →सा० चिता० (१२) ५२-२।

काल्हि—क्रि० वि० [स० कल्य] कल। ~जिहि सरि मारी **काल्हि**, सो सर मेरे मन वस्या। →सा० विर० (३) १७-२।

काव—सर्व० [स० कोऽपि, हि० कोई] कोई।~पृथु गए पृथिमी के राव, तिरविक्रम गए रहे न **काव**। → वसंत (४) ६-३।

काष्ट—सज्ञा पु० [सं० काष्ठ] लकडी। ~जैसे वाढी **काष्ट** ही काटै अगिनि न काटै कोई। →पद ३२५-५।

कासनि—सर्व० [स० कस्य, प्रा० कस्स हि० किससे] किससे। ~राम राइ **कासनि** करौ पुकारा। →पद २६७-१, सव० १७३-३।

कासो—सर्व० [स० कस्य, प्रा० कस्स] किससे।~कहैं कवीर **कासों** कहौ, सकलो जग अधा। → सव० १३५-११, सा० काल० (४६) ३१-२।

किंगरी—सज्ञा स्त्री० [स० किन्नरी] वीणा।~जगत गुर अनहद **किंगरी** वाजै। →सव० ११२-१; पद २५०-१।

किंचित—वि० [स०] तुच्छ, निस्सार। ~**किंचित** है यह जगत भुलाना, धन सुत देखि भया अभिमाना। → र० ६६-४।

किंवा—अव्य० [स० किंवा] अथवा, या, वा।~साधन तैं सिधि पाइए, **किंवा** होइम होइ। → सव० ६७-६।

किंवार—सज्ञा पु० [स० कपाट] किवाड, दरवाजा, पट।~कामु **किंवार** दुख सुख दरवानी पाप पुन्नि दरवाजा। →सव० ६३-३, सव० १४८-३।

किती—वि० [स० कियत्] कहाँ तक, कितना।~ए उपमाँ हरि **किती** एक ओपै, अनेक मेरु नख ऊपरि रोपै। →पद २८३-४।

कितेब—सज्ञा स्त्री० [अ० किताव] ग्रथ, पुस्तक, कुरान। ~वेद **कितेब**

सुम्रिति नहिं सजम, जीव नही पर-छाई। →सव० ३१-७, र० ३६-२, २६७-५, र० ५-५।

किवला—सज्ञा पु० [अ० किव्ल] मक्के मे वह स्थान जहाँ काला पत्थर स्थापित है और जिसकी ओर मुँह करके मुसलमान नमाज पढते है, पूजनीय। ~मनु करि मका **किवला** करि देही, वोलनहारु परम गुर एही। → सव० ७२-३।

कियहु—क्रि० [स०√कृ०] किया, किये। ~जासो **कियहु** मिताई, सो धन भया न हित्त। →र० ५६-५।

कियारी—संज्ञा स्त्री० [स० केदार] क्यारी।~विष की **कियारी** बोयहु विरहुली, लोढत का पछिताहु विर-हुली। →विरहु० (७) ११।

किरतम—वि० [स० कृत्रिम] माया के प्रपच से युक्त (ससार), अप्राकृतिक। ~पूरन ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, **किरतम** किन उपचारा। →सव० ३१-१२, सव० ४०-७, सा०पर० (५)२८-१।

किरतिम—वि० [स० कृत्रिम] वनावटी, नकली।~देखहु कुमति केर पर-गासा, भए अभिअतर **किरतिम** दासा। →विप्र० (२) १५, र० ५७-१, विप्र० (२) ११।

किरपा—सज्ञा स्त्री० [स० कृपा] कृपा, दया। ~सतगुर की **किरपा** भई, नही तौ करती भाड।→सा० माया० (१६) ७-२, सा० गु० सि० हे० (४३) २-२, सा० भ्रम० वि० (२३) ४-२।

किरपाल—वि० [स० कृपालु] दयालु। ~गुरु **किरपाल** कृपा जव कीन्ही, हिरदै कँवल बिगासा। →सव० १३-३।

किरषी—सज्ञा स्त्री० [स० कृषि] खेती, किसानी।~वुधि मेरी **किरषी** गुर मेरो विझुका, अक्खिर दोइ रखवारे। →सव० ११३-५।

किरानाँ—सज्ञा पु० [स०क्रयाणक] सौदा। ~करम **किरानाँ** वेंचि करि, उठि करि चाले वाट। →सा० चिता० (१२) ५७-२।

किरिम—सज्ञा पु० [स० कृमि] कीडा, क्षुद्र कीट। ~भसम **किरिम** जाके साज समुझ मन वौरा हो। →सव० १७६-३, सव० १६३-३, चाँचर(५) २-४।

किल्ली—सज्ञा स्त्री० [स० कील] लोहे का काँटा। ~तेहि ऊपर कछु अजव तमासा, मारो है जम **किल्ली**। →सव० ६४-१६।

किस बोलै—(मुहा०) क्या वोलकर, किस मुँह से।~सबै जीव साई के प्यारे उवरुहुगे **किस बोलै**।→पद २३०-८।

किसा—सर्व० [स० कस्य० प्रा० कस्स] किसने, कैसा, किसका।~देखत ही दह मैं पडै, दई **किसा** कौं दोम। → सा० सापीभू० (५७) ३-२, सा० वेसा० (३५) ६-२, पद ३१७-७, सा० सग० (२६) ५-२।

कींगरी—सज्ञा स्त्री० दे० 'किंगरी'।

की—अव्य० [स० किंवा या फा० कि] अथवा। ~करहिं लराई मति के मदा, ई अतीत **की** तरकस वदा।→ र० ६६-६।

कीआ—क्रि० [हि० क्रिया] बनाया ।~ एक नूर तैं सब जग **कीआ** कौन भले कौन मदे । →पद २८१-४ ।

कीएं—क्रि० [हि० करना] करने से । ~ जौ **कीए** हीं होत है, तौ करता औरैं कोइ ।→सा० सम्र० (३८) २-२ ।

कीच—सज्ञा पु० [स० कच्छ] कीचड, कर्दम ।~ग्यान गली मैं होरी खेलैं मची प्रेम की **कीच** । →पद ३०६-५ ।

कीट—सज्ञा पु० [स०] कीडा । ~राम-नाम लौ लाय सो लीन्हा, भृगी **कीट** समुझि मन दीन्हा । →र० २०-३, पद २४०-५ ।

कीटक—सज्ञा पु० [स० कीट] कीडा । आँनि **कीटक** करत भ्रिग सो आपतैं रगी । → पद ३२८-२ ।

कीया राई लौंन—(मुहा०) राई लौन करना, न्यौछावर किया । ~कबीर वार्‌या नाँव पर, **कीया राई लौंन** । →सा० सम्र० (३८) ६-१ ।

कीर—सज्ञा पु० [स०] शुक, तोता । ~ **कीर** भए सब जीयरा लिए बिख कर चारा । → पद ३१६-७ ।

कीला—सज्ञा स्त्री० [स० कील] खूँटी । ~लोभ मरुवा विषै भँवरा काम **कीला** ठानि । → हिडोला (८) १-३ ।

कीलि—क्रि० [स० कीलन] वश मे करके या अधीन करके । ~लिंग रूप तब सकर कीन्हा, धरती **कीलि** रसातल दीन्हा । →र० २७-३ ।

कीयौ—क्रि० [हि० करना] किया ।~ जिनि नर हरि जठराहैं, उदिक थै पिंड प्रकट **कीयौ** । → सा० बेसा० (३५) १-१ ।

कुज—सज्ञा पु० [स० क्रौंच] क्रौंच पक्षी । ~राती रूनी विरहिनी, ज्यौं बच्चो को **कुज** । →सा० विर० (३) १-१, सा० विर० (३) २-१ ।

कुजर—सज्ञा पु० [स०] हाथी । ~क्या अपराध सत है कीन्हा, बाँधि पोटि **कुजर** कौ दीन्हा । →सब० ४२-७, पद ३४७-३, पद २५३-५ ।

कुजाँ—सज्ञा पु० दे० 'कुज' ।

कुडलि—सज्ञा पु० [स० कुण्डल] नाभि मे ।~कस्तूरी **कुण्डलि** बसै, म्रिग ढूढै बन माँहि । →सा० कस्तू० (५३) १-१ ।

कुभक—सज्ञा पु० [स०] प्राणायाम का एक अग, श्वास-प्रश्वास की निरुद्धावस्था । ~जब **कुभक** भरि पुरि लीना, तब बाजै अनहद बीना ।→ सब० १७१-८ ।

कुंभारा—स० पु० [स० कुम्भकार] कुम्भकार ।~आपुहि करता भया कुलाला, बहु बिधि बासन गढै **कुभारा** । → र० २६-१ ।

कुंवरी—सं० स्त्री० दे 'कुँआरी' ।

कुंवारी—सज्ञा स्त्री० [स० कुमारी] अविवाहिता ।~पिता के सगहि भई बावरी, कन्या रहलि **कुँवारी** । → पद २६०-२, सब० २६-१, सा० चित्त० क० (४२) २-१ ।

कुईं—सज्ञा पु० [स० कूप] छोटा कुआँ । ~ककर **कुईं** पताल पानियाँ सोनै बूँद बिकाई रे । →पद २५५-५ ।

कुकड़ी—सञ्ज्ञा स्त्री० [सं० कुक्कुटी] मुर्गी। ~ **कुकड़ी** मारै वकरी मारै हक्क हक्क करि वोलै। → पद २३०-७।

कुकरि—सञ्ज्ञा स्त्री० [स० कुक्कटी] वन मुर्गी।~कहै कवीर ई हरि के वूता, राम रमे ते **कुकरि** के पूता। →सव० १५१-४।

कुकुरी—सञ्ज्ञा पु० [दे०] कच्चे सूत का लपेटा हुआ लच्छा, जो कातकर तकले पर से उतारा जाता है, अण्टी। ~छौ मास तागा वरिस दिन **कुकुरी** लोग वोलै भल कातल वपुरी। → पद २१५-४।

कुकुही—सञ्ज्ञा स्त्री० [स० कुक्कुटी] जल मुर्गी। ~जल केरी ज्यौं **कुकुही** जल माहि रहाई। →पद ३४५-३।

कुचिल—वि० [स० कुचैल] मैला, गन्दा। ~कहै कवीर नर सुन्दर रूप, राम भगति विनु **कुचिल** कुरूप। →सव० १२४-५।

कुटकी—सञ्ज्ञा स्त्री० [स० कुट्टक] छोटा टुकडा। ~चन्दन की **कुटकी** भली, नाँ वँवूर अवराँउँ। →मा० साधुम० (३०) १-१।

कुटवार—सञ्ज्ञा पु० [स० कोटपाल] कोतवाल। ~वावन कोटि जाकै **कुटवार**, नगरी नगरी खिअत अपार। →सव० १२८-११।

कुटवारी—सञ्ज्ञा पु० [स० कोटपाल] रक्षा, रखवाली। ~कैसै नगर करौ **कुटवारी**। →सव० ८६-१।

कुटि कुटि—क्रि० वि० [हि०] सम्पन्न करके। ~माई मोर मनुसा अति सुजान, धधा **कुटि कुटि** करै विहान। →वसत (४) ६-१।

कुटिल—वि० [स०] वक्र, टेढा, वुरा, दुष्ट, खोटा। ~**कुटिल** वचन साधू सहै, दूजै सहा न जाइ। →सा० कुस० (३६) २-२, पद २५४-३, पद २१४-६।

कुटिल—वि०[स०] कपट, छल। ~कैसो तरो नाथ कैसो तरो अव वहु **कुटिल** भरो। →सव० ८५-१।

कुटुम—सञ्ज्ञा पु० [स० कुटुम्व] कुटुम्व, परिवार। ~छत्री सो जो **कुटुम** से जूझै, पाँचो मेटि एक कै वूझै। →र० ८३-३, कहरा (३) १-१३।

कुडुवा—सञ्ज्ञा पु० [स० कुटुम्व] परिवार। ~कासि **कुडुवा** सुत कलित, दाझनि वारवार। → सा० चाँण० (१७) २२-२। दे० 'कुटुम'।

कुदरत—सञ्ज्ञा स्त्री० [अ०] ईश्वरीय शक्ति, प्रकृति, ईश्वर, निसर्ग शक्ति, ईश्वरीय माया। ~जिन कलमा कलि माँहि पढाया, **कुदरत** खोजि तिनहु नहिं पाया। →र० ३६-१, सव० २८-१, पद २८१-३।

कुदरति—सञ्ज्ञा स्त्री० दे० 'कुदरत'।

कुमारग—सञ्ज्ञा पु० [स० कुमार्ग] भ्रष्ट या वुरा मार्ग। ~सोई हित वधु मोहि मन भावै, जात **कुमारग** मारग लावै। → र० ६६-१।

कुम्हिलाइ—क्रि० [स० कु+म्लान] सूख जाना, मुरझाना। ~जावासा के रूप ज्यूं, घन मेहाँ **कुम्हिलाइ**। →सा० माया (१६) १५-२।

कुम्हिलानीं—क्रि० [स० कु+म्लान] मुरझा गई। ~काचै करवै रहै न पानी, हस उडा काया **कुम्हिलानीं**। →पद २७८-४ ।

कुम्हिलाय—क्रि० [स० कु+म्लान] मुरझा जाता है, मुरझा गए। ~जो ऊगै सो आँथवै, फूलै सो **कुम्हिलाय**। →सा० काल० (४६) ११-१, पद ३२२-३ ।

कुरंग—सज्ञा पु० [स०] भद्दा, फीका, वदरग। ~राम नाँम रग लागौ, **कुरंग** न होई। →पद २५६-१ ।

कुरलियाँ—क्रि० [स० कुर्] करुणापूर्ण चीत्कार, चीखना। ~अम्बर कुजाँ **कुरलियाँ**, गरजि भरे सव ताल।→ सा० विर० (३) २-१ ।

कुरलै—क्रि० [सं० कुरव] चिल्लाना। ~ अदया अल्लह राम की, **कुरलै** कौनी कूप। →सा० चिता० (१२) ४७-२ ।

कुल—१ सज्ञा पु० [स०] वश, जाति ।

कुल—२ वि० [अ०] समस्त, सव। ~ **कु न** अभिमाना खोइ कै, जियत मुवा नहिं होय।→र० ८-७, र० ३५-७ ।

कुल—सज्ञा पु० [स०] कुटुम्ब, परिवार। वि० [अ०] समग्र, पूण, ब्रह्म भूमा। ~**कुल** खोये **कुल** ऊवरै, **कुल** राखे **कुल** जाइ। राम निकुल **कुल** भेंटिलै, सव **कुल** रहा समाइ। → सा० चिता० (१२) ४५-१,२ ।

कुलफ—सज्ञा पु० दे० 'कुलफु' ।

कुलफु—सज्ञा पु० [अ० कुफ्ल] ताला। ~कुजी **कुलफु** प्रान करि राखे, उघरत वार न लाई। →सव० ११-४, पद २१८-४ ।

कुलाल—सज्ञा पु० [स०] कुम्भकार। ~ब्रह्म **कुलाल** मेदिनी भइया, उपजि विनसि कित गइया जी। → सव० ११५-३, र० २६-१ ।

कुलाला—सज्ञा पु० दे० 'कुलाल' ।

कुली—सज्ञा पु० [स० कुल] प्रकार। ~अष्ट **कुली** परवत जाके पग की रैंनाँ, सातौं सायर अजन नैना। → पद २८३-३ ।

कुलीन—वि० [स०] उत्तस कुल मे उत्पन्न। ~होय मिसकीन **कुलीन** कहावै, तूं जोगी सन्यासी। → पद २७२-२ ।

कुसवद—सज्ञा पु० [सं० कु+शब्द] दुर्वचन। →सा० कुसव० (३६) ।

कुसलात—सज्ञा स्त्री० [सं० कुशल से] कुशल, क्षेम।~कवीर साँई मिलहिंगे, पूछहिंगे **कुसलात**। →सा० वीन० (५६) १-१ ।

कुसुंभ—सज्ञा पु० [स०] केसर, केसरिया। ~तहाँ **कुसुंभ** रग जो पावै, औगह गहि कै गँगन रहावै। → ज्ञान चौं० (१) ४, सव० १६३-६ ।

कुसेवग—सज्ञा पु० [स० कु+सेवक] अयोग्य या वुरा सेवक।~हमहिं **कुसेवग** कि तुमहिं अयाना, दुह मैं दोस काहि भगवाना। →सव०२-३।

कुहाड़ा—सज्ञा पु० [स०कुठार] कुल्हाडी। ~पाइ **कुहाड़ा** मारिया, गाफिल अपनैं हाथि।→सा० चिता० (१२) ४३-२, सा० चिता० (१२) ४४-१ ।

कुहारि—संज्ञा स्त्री० दे० 'कुहाडा'।

कुहिया—क्रि० [स० कु + हनन] घातक। ~हसा ससय छूरी **कुहिया**, गइया पिये वछरुवै दुहिया। → पद ३२३-१।

कुहेरा—सज्ञा पु०[स०कुहेडिका] कुहासा। ~राम विनाँ ससार अध **कुहेरा**। →पद २६०-१।

कूंची—सज्ञा स्त्री० [स० कुञ्चिका] चाभी, ताली। ~ ताला **कूंची** कुलफ के लागे, उघडत वार न होई। → पद २१८-४।

कूंपल—सज्ञा स्त्री० [हि० कोपल] अकुर।~जालन आँनी लाकडी, ऊठी **कूंपल** मेलि। →सा० वेली० (५८) १-२।

कूकर—सज्ञा पु० [स० कुक्कुर] कुत्ता। ~ सूकर **कूकर** जोनि भ्रमे तऊ ना लाज आई। → पद २७५-७।

कूकरि—सज्ञा स्त्री० [स० कुक्कुरी] कुतिया। ~ और सकल ए **कूकरि** सूकरि, सुदरि नाउं न ओपै। →सव० ६६-१०।

कूकिए—क्रि० [स० कूजन] पुकारिए, गाइए। ~ केसी कहि कहि **कूकिए**, नाँ सोइय असरार। →सा० सुमि० (२) १६-१।

कूच—सज्ञा पु० [तु०] यात्रा, प्रस्थान, रवानगी! ~ कहाँ **कूच** कहँ करै मुकामा, कवन सुरति के करहु सलामा। →र० ४६-२।

कूच—सज्ञा स्त्री० [हि०] कूंची, झाडू। ~उरझ्यो सूत पाँन नहिं लागै, **कूच** फिरै सव लाई। →सव० १५४-३।

कूटि—सज्ञा पु० [स० कूट] उपहास, व्यग्य।~छीजै साह चोर प्रतिपालै, सत जना की **कूटि** करै। → पद २७६-८।

कूड़ा—सज्ञा पु० [स० √कूड्] ढेर, कतवार, व्यर्थ या वेकार वस्तु। ~ नाँ जाँनौं किस विरिख तलि, **कूड़ा** होइ करक।→सा० निन्द्या० (५४) ७-२, सा० गु० सि० हे० (४३) १०-१, सा० काल० (४६) २७-१।

कूड़े—सज्ञा पु० दे० 'कूडा'।

कूडै—सज्ञा पु० दे० 'कूडा'।

कूप—सज्ञा पु० [स०] कुआँ। ~ग्रहन अमावस ढुकि ढुकि माँगै, कर दीपक लिए **कूप** परै। → पद २७६-५।

कूपल—सज्ञा स्त्री० [स० कुड्मल, प्रा० कुपल] अकुर, नई मुलायम पत्ती। ~ सहज वेलि जव फूलन लागी, डाली **कूपल** मेल्ही। →पद २५३-४। दे० 'कूंपल'।

कूर—वि० [स० क्रूर] कुटिल। ~**कूर** कपट की पासग डारै फूला फूला डोलै। → पद २१४-४।

कूर—वि० [स० क्रूर] व्यर्थ, वेकार। ~**कूर** वडाई वूडसी, भारी पड़सी कालि। → सा० चिता० (१२) ५२-२।

कूरी—सज्ञा स्त्री० [स० कूट] ढेरी, पुज, राशि।~हाड जरै जस लकडी झूरी, केस जरै जस तृन की **कूरी**। →सव० ६-४, सव० १३६-५।

कूरे—वि० [स० क्रूर] क्रूर, निकृष्ट। ~जीवन मरन विचारि करि, **कूरे**

कांम निवारि। → सा० चिता० (१२) १४-१।

कूवा—सज्ञा पु० [स० कूप] कुआँ। ~राम न रमसि मोह कहा माते परहु काल वस **कूवा**। → सव० १७६-६।

कूर्म—सज्ञा पु० [स०] कछुवा। ~**कूर्म** कला है खेलही तस साहेव दासा। →पद ३४५-८।

कूष—सज्ञा पु० [स० कोप] कोश, खजाना। ~अदया अल्लह राम की, कुरलै कौनी **कूष**। →सा० चिता० (१२) ४७-२।

कृतम—वि० [स० कृत्रिम] कृत्रिम, बनावटी। ~जन्मत सूद्र मुए पुनि सूद्रा, **कृतम** जनेउ डारि जग मुद्रा। → र० ६२-२।

कृसन—संज्ञा पु० [स० कृष्ण] कृष्ण, प्रभु, ईश्वर। ~**कृसन** कृपाल कवीर कहि, इम प्रतिपाल न क्यों करै।→ सा० वेसा० (३५) १-६।

कॅचुली—सज्ञा स्त्री० [स० कचुक] सर्प आदि के शरीर पर की झिल्लीदार चमडी जो हर साल गिर जाती है। ~काम करम की **कॅचुली**, पहिरि हुआ नर नाग। →सा० कामीन० (२०) २१-१।

केकर—सर्व० [स० कस्य, प्रा० कस्स] किसकी। ~चढत चढावत भँडहर फोरी, मन नहि जानै **केकर** चोरी। →र० ५६-१।

केतकी—सज्ञा स्त्री० [स०] एक छोटा पौधा जिसमे सुगधित पुष्प होता है। ~कवीर भया है **केतकी**, भँवर भए सव दास। →सा० साधुम० (३०) ११-१।

केतिक—वि० [हि० कितना] कितनी वार। ~**केतिक** कही कहाँ लगि कही, औरौ कही परै जो सही। → र० ७६-२।

केतिक—वि० [स० कियत] कितना, कितनी। ~काटि काटि जिव **केतिक** देही।→पद २४२-४, पद २६७-१६, चाँचर (५) १-१५।

केदारै—सज्ञा पु० [सं० केदार] गढवाल क्षेत्र का प्रसिद्ध तीर्थ केदारनाथ। ~कवि कवीनै कविता मूए, कापडी **केदारै** जाई। →पद २६०-५।

केलि—सज्ञा स्त्री० [स०] आनद, क्रीडा, विहार।~मानसरोवर सुभर जल, हसा **केलि** कराहि। → सा० परचा० (५) ३६-१, सा० सजी० (४७) ६-२, पद ३२२-२।

केवल—वि० [स०] एक, अकेला, अद्वितीय। ~अव मैं जानिवा रे, **केवल** राइ की कहानी। → सव० १२-१।

केस—संज्ञा पु० [स० केश] वाल। ~वरिया वीती वल गया, **केस** पलटि भए और। →सा० काल० (४६) २५-१, सव० ६-४, वसत (४) ४-२।

केसन—सज्ञा पु० [स० केश] वाल, वालो ने। ~**केसन** कहा विगारिया, जे मूडे सौ वार। → सा० भेप० (२४) १२-१।

केसू—सज्ञा पु० [स० किंशुक] टेसू, पलास का फूल। ~**केसू** फूले दिवस

दोइ, खखर भये पलास। → सा० चिता० (१२) ८-२।

केसो—सज्ञा पु० दे० 'केसौ'।

केसौ—सज्ञा पु० [स० केशव] केशव, ईश्वर, भगवान्, विष्णु। → **केसौ** कहि कहि कूकिए, नाँ सोइय असरार। → सा० सुमि० (२)१६-१, मा० कामी० (२०) २२-१, पद ३२६-१, सा० उपज०(५०)११-१।

केहरि—सज्ञा पु० [स० केशरी] सिंह। ~ज्यो **केहरि** वपु निरखि कूपजल, प्रतिमा देखि पर्‌यो। →सव० ५-३, पद ३४७-४।

कँडा—सज्ञा पु० [स० काण्ड] नापने का पैमाना। ~ चारि वेद **कँडा** कियो, निराकार कियो राछ। → पद २४८-८।

कै—अव्य० [स० किम्] या, अथवा। ~**कै** विरहिन कौं मीच दे, **कै** आपा दिखलाइ। → सा० विरह (३) ३५-१, सव० १६४-४।

कै—१ क्रि० [स०√कृ] कर ले।

कै—२. अव्य० [दे०] अन्यथा। ~ निरमल हरि का नाव सो, **कै** निरमल सुध भाइ। **कै** लै दूनी कालिमाँ, भावै सौ मन सावन लाइ। →सा० चित्त० (४२) ३-१,२।

कैलिन—क्रि० [हि० करना] किया। ~ भगति न जानै भगत कहावै, तजि अमृत विप **कैलिन** सारा। → पद ३२४-४।

कैसना—सर्व० [स० कस्य, प्रा० कस्स] किससे। ~सोवत छाँडि चली पिय अपना, ई दुख अव दहुँ कहव **कैसना**। →र० ७३-६।

कोहरा—सज्ञा पु० [स० कुम्भकार] कुम्हार। ~एकै खाक गढे सव भाडै एकै **कोहरा** साना। → पद ३२५-४।

को—सर्व० [स० क] कोई। ~लाधा है कछु लाधा है, ताकी पारिप **को** न लहै। →पद २८०-१।

कोख—सज्ञा स्त्री० [स० कुक्षि] कोख। ~ वाँझ के **कोख** पुत्र अवतरिया, विनु पग तरवर चढिया। → पद २७०-७।

कोखिया—सज्ञा स्त्री० [स० कुक्षि] कोख, पेट। ~जान पाँच **कोखिया** मिलि रखलो, और दुई औ चारी। → पद २२२-४।

कोट—सज्ञा पु० [स० कोटि] समूह, ढेर। ~कालवूत के **कोट** ज्यौं, देखत ही ढहि जाय। → सा० कर० वि० कथ० (१८) १-२।

कोट—सज्ञा पु० [स०] प्राचीर, किले की रक्षा के लिए वनाई गई चहारदिवारी। ~दोवर **कोट** अरु तेवर खाई। →सव० ६३-२।

कोट—सज्ञा पु० [स० कोट] गढ, किला, दुर्ग, राशि। ~लका सा **कोट** समुद सी खाई, तिहि रावन की खवरि न पाई। →सव० ६२-४, पद ३०७-५, मा० माधु० (२८) ८-१, मा० चाँणक० (१७) १७-१।

कोटि—वि० [स०] करोड। ~ तर ऊपर धै चाँपिहि, जस कोल्हु **कोटि** पचास। → र० १७-६, सव० १३-२।

कोठड़ी—सज्ञा स्त्री० [हि० कोठा + डी (प्रत्य०)] छोटा कमरा। ~ षट चक्र की कनक **कोठड़ी** वस्त्र भाव है सोई। →पद २१८-३।

कोड—सज्ञा स्त्री० [स० क्रीडा] क्रीडा, केलि करना। ~ ऊपर नचनियाँ करैं **कोड़**, करिगह मे दुइ चलैं गोड। →वसत (४) ३-५।

कोड़ैं—क्रि० [हि० गोडना] गोडाई करना। ~ नित **कोड़ैं** नित सीचैं विरहुली, नित नव पल्ली पेड विरहुली। →विरहुली (७)-५।

कोपीन—सज्ञा पु० [स० कौपीन] लँगोटी। ~सतगठी **कोपीन** दै, साधु न मानै सक। →सा० विर्क० (३७) ८-१।

कोली—सज्ञा पु० [स० कोल] हिन्दुओ की एक जाति जो कपडा बुनने का कार्य करती है। कोरी।~थान बुनै **कोली** मैं वैठी, मैं खूंटा मैं गाडी। → सव० ३०-५।

कौड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० कपर्दिका] कौडी के बराबर अर्थात् मूल्य मे बहुत कम, तुच्छ मूल्य, कौडो। ~परखनहारा बाहिरा, **कौड़ी** बदले जाइ। →सा० अपा० (४८) २-२, पद २२७-६।

कौतुक—सज्ञा पु० [स०] रहस्य, वैचित्र्य। ~ **कौतुक** दीठा देह विन, रवि ससि विना उजास। → सा० परचा० (५) २-१।

कौतिकहार—वि० [स० कौतुक + हि० हार] दिखावा करने वाला, पाषडी। ~सोई राँम सती कहै, साईं **कौतिकहार**। →सा० विचार०(३३)१-१।

कौतिगहार—वि० दे० 'कौतुकहार'।

कौतुकहार—वि० [स० कौतुक + हि० हार] तमाशा देखने वाले, तमाशबीन। ~कविरा चाला राँम पैं, **कौतुकहार** अपार। →मा० उपज० (५०) ३-२, मा० सूरा० (४५) २६-२।

कौली—सज्ञा पु० [स० क्रोड] गोद, कोरा। ~ **कौली** घाल्या वीडरि चालै, ज्यूं घेरौं त्यूं दरवैं। →सव० २७-४।

क्रम—सज्ञा पु० [स० कर्म] कर्म। ~ कोटि **क्रम** पेलै पलक मैं, जे रचक आवैं नाउँ। → सा० सुमि० (२) २०-१।

क्रितिम—वि० दे० 'किरतिम'।

क्रितिया—वि० दे० 'किरतिम'।

क्रिपा—सज्ञा स्त्री० [स० कृपा] दया। ~जिन पर **क्रिपा** करत है गोविंद, ते सतसगि मिलात।→सव० ७०-८।

क्रिमि-कीट—सज्ञा पु० [स०कृमि-कीट] छोटे-छोटे कीडे, क्षुद्र कीट। ~ जे जारै तौ होइ भसम तन गाडे **क्रिमि कीट** खाई। →सव० १०२-३।

क्रिस्न—सज्ञा पु० [स० कृष्ण] कृष्ण। ~ कोटि **क्रिस्न** जहँ जोरै हाथ, कोटि विष्नु जहँ नावैं माथ। → सव० ११०-५।

क्रोपहि—क्रि० [दे०] किटकिटाना।~ कागा कापड धोवन लागे, वगुला **क्रोपहि** दाँता। →सव १५५-४।

क्वारी—वि० दे० 'कुवारी'।

ख

खंखर—वि० [देश०] उजडा हुआ, पत्र-पुष्प विहीन। ~केसू फूले दिवस दोइ, **खंखर** भये पलास। →सा० चिता० (१२) ८-२।

खंदा—वि० [हि०] खा जानेवाली। ~ डाइनि डिंभ सकल जग **खंदा**। →सव० ८५-६।

खँदाया—क्रि० [हि० खोदना] खोदा। ~ महि अकास दुइ गाड **खँदाया**, चांद सुरुज दुइ नरी वनाया। →र० २८-२।

खंभ—सज्ञा पु० दे० 'खभा'।

खंभवा—सज्ञा पु० दे० 'खभा'।

खंभा—सज्ञा पु० [स० स्तम्भ] खम्भा। ~ **खंभा** तै प्रगट्यौ गिलारि, हिरनाकस मार्‌यौ नख विदारि। → सव० १५६-१०, २६२-७, पद ३४२-३, ज्ञान चौ० (१) ३८।

खंभै—सज्ञा पु० दे० 'खभा'।

खटाइ—सज्ञा स्त्री० [हि० खट्टा+इ (प्रत्य०)] खटाई। ~कलि का स्वाँमी लोभिया, पीतल धरी **खटाइ**। →सा० चाँण० (१७) ६-१।

खटिया—सज्ञा स्त्री० [हि० खाट] छोटी चारपाई। ~उतानै **खटिया** गडिले मटिया, सगि न कछु लै जाइ। → सव० १०५-२।

खटीक—सज्ञा पु० [म० खट्टिक] कसाई, वधिक। ~वाँध्यो वारि **खटीक** कै, ता पसु केतिक आय। → सा० काल० (४६) २७-२।

खट्—वि० [सं० पट्] छ। ~उलटै पवन चक्र **खट्** भेदे सुरति सुन्नि अनुरागी। → पद २१६-३।

खडग—सज्ञा पु० [स० खड्ग] तलवार। ~तव काढि खड़ग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारो मोहि वताइ। → सव० १५६-६।

खतनां—सज्ञा पु० [अ० खतना] सुन्नत, मुसलमानी। ~जे तूं तुरुक तुरुकिनी जाया, तौ भीतरि **खतनां** क्यूं न कराया। →सव० १२६-४।

खतमा—संज्ञा स्त्री० [फा० खुत्व] प्रार्थना विशेप। ~इकइस पीर लिखे तेहि ठामा, **खतमा** पढै पैगम्वर नामा। → र० ४८-३।

खता—सज्ञा स्त्री० [अ०] दोप, अपराध, चूक। ~मीराँ मुझ मैं क्या **खता**, मुखाँ न वोलै पीर। →सा० वीन० (५६) ६-२, पद ३२०-२।

खताना—क्रि० [हि० खुटाना] समाप्त हो गया, वुझ गया। ~दिया **खताना** किया पयाना, मन्दिर भया उजार। र० ६६-५।

खदेरा—क्रि० [हि० खेदना] भगा दिया। ~वस्ती माँहि तैं दियो **खदेरा**, जगल किएहु वसेरा। → सव० १३४-४।

खद्ध—क्रि० [हि० खाना] खाया, खा सका। ~ससय खाया सकल जग, ससा किनहुँ न **खद्ध**। जे वेधे गुरु अष्पिरा, तिनि ससा चुनिचुनि **खद्ध**॥ →सा० गुरु० (१) २२-१, २।

खन—सज्ञा पु० [स० क्षण] कभी-कभी, क्षण भर। ~**खन** ऊवै **खन** ड्वै **खन** औगाह। →सव० १६७३।

खना— सज्ञा पु० [स० क्षण] क्षण ।~ मैं तोहि पूछौ पडित जना, हृदया ग्रहन लागु केहि **खना** । → सव० १६५-५ ।

खनि—क्रि० [हि० खनना] खोद कर । ~ग्रिह तजि वनखडि जाइऐ, **खनि** खाइऐ कदा । → सव० ६६-३, पद २२०-५, सा० मजी० (४७) २-१ ।

खपर—सज्ञा पु० [स० खर्पर] खोपडी । ~जरि गौ कथा धजा गयौ टूटी, भजि गौ डड **खपर** गयौ फूटी । → सव० १२६-४ ।

खपर—सज्ञा पु० [स० खर्पर] भिक्षा पात्र ।~सत करि **खपर** खिमा करि झोरी, ग्यान विभूनि चढाई । → सव० ३३-७ ।

खपसी—क्रि० [स० क्षेपण] नष्ट हो जाते हैं ।~ निज तत नाउँ निहचै नहिं जाँना सव माया मैं **खपसी** ।→ पद ३१५-८ ।

खपै—क्रि० [स० क्षेपण] नष्ट होता है । ~उपजै **खपै** जोनि फिरि आवै, सुख का लेस सपने नहिं पावै । → र० ८४-३, पद २६२-२२ ।

खर—सज्ञा पु० [स०] तिनका, घास । ~न ना वो चौथे मँह जाई, राम कै गदह होय **खर** खाई । → ज्ञान चौं० (१) ४३ ।

खर—वि० दे० 'खरा' ।

खर—सज्ञा पु० [स०] गधा । ~जम **खर** चदन लादे भारा, परिमल वास न जान गँवारा । →र० ३२-२, सव० १६४-३ ।

खर—वि० [स० तीक्ष्ण] अच्छा, वढिया, तेज । ~वढवत वढी घटावत छोटी, परखत **खर** परखावत खोटी । → र० ७६-१, सा० विर० (३) ३०-१ ।

खरच—सज्ञा पु० [फा० खर्च] व्यय । ~तेरे सिर पर जम खडा, **खरच** कदे का खाइ । →सा० सुमि० (२) १४-२ ।

खरसान—सज्ञा पु० [हि० खर+सान (स शाण)] तीक्ष्ण (तेज) शाण, अस्त्रो मे तेज धार करने वाला यत्र, मसकला । ~ कवीर मन तीखा किया, लाइ विरह **खरसान** । → सा० सजी० (४०) ५-१ ।

खरा—वि० [स० खर=तीक्ष्ण] श्रेष्ठ, परमात्मा । ~ खोटो खाटैं **खरा** न लीया, कछू जाँनी साटि । → पद २०३-७, ज्ञान चौं० (१) ६५ ।

खरा—वि० [स० खर=तीक्ष्ण] सच्चा । ~ पवनपति उनमनि रहनु **खरा** । →सव० १७१-१ ।

खरा—वि० [स० खर=तीक्ष्ण] अत्यत । ~ऊडि पडै जव आँखि मैं, **खरा** दुहेला होइ । → सा० निन्द्या० (५४) ६-२ ।

खरा—वि० [स० खर=तीक्ष्ण] सत्य । ~**खरा** खोट जिन नहिं परखाया, चहत लाभ तिन्ह मूल गमाया ।→ र० ८०-२ ।

खरिहाना—सज्ञा पु० [स० खल+स्थान] वह स्थान जहाँ फसल काट कर रखी जाती है और दाने को पृथक् किया जाता है । ~ गग तीर मोरी खेती वारी, जमुन तीर **खरिहानां** । → सव० १७-३ ।

खरी—वि० [स० खर=तीक्षण] विशुद्ध, वढिया। ~ **खरी** कसौटी राँम की, खोटा टिकै न कोइ। → सा० जी० मृ० (४१) ६-१।

खरी—वि० [स० खर=तीक्ष्ण] वडी, अधिक। ~कवीर कठिनाई **खरी**, सुमिरताँ हरि नाम। →सा० सुमि० (२) २६-१।

खरे—वि० [स० खर=तीक्ष्ण] अत्यधिक। ~तेरे नेवगी **खरे** सयाने हो राम।→ सव० १०-२।

खलक—सज्ञा [अ०] ससार, सासारिक प्राणी। ~ **खलक** चवैना काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद। → सा० काल० (४६) १-२।

खलक—सज्ञा पु० [अ०] सृष्टि। ~ हक साच खालिक **खलक** स्यानैं स्याम मूरति नाहि। → सव० १८१-६।

खलक—सज्ञा पु० [अ०] ससार। ~ कहैं कवीर हमही पैं वौरे, ये सव **खलक** सयाना। → सव० १६७-६, पद २८१-२।

खलक—सज्ञा पु० [अ०] लोक समूह, जीव समष्टि। ~ विवेक विचार न करै कोय, सव **खलक** तमासा देखै लोय। → वसन्त० (४) ७-६।

खवासी—सज्ञा स्त्री० [अ० खवास+ई (प्रत्य०)] नौकरी, चाकरी। ~ दुदुर राजा टीका वैठे, विखहर करै **खवासी**। → पद ३००-५।

खसम—सज्ञा पु० [फा०] पति, स्वामी। ~भोलै भूली **खसम** कै वहुत किया विभिचार। → सा० पिव० पि० (३६) ३-१, सव० ४६-३।

खसम—सज्ञा पु० [फा०] ईश्वर, स्वामी, मालिक। ~ सर्वभूत ससार निवासी, आपुहि **खसम** आपु सुख रासी। → र० १४-११, सव० ६४-१।

खसम[1]—वि० [स० ख+सम] आकाश के समान अर्थात् निर्गुण ब्रह्म।

खसम[2]—सज्ञा पु० [फा०] स्वामी, पति। ~ सेस सहस मुख पार न पावा, सो अव **खसम** सही समुझावा। → र० ५२-२, र० ५-८, सव० १६३-३।

खसमहिं—सज्ञा पु० [फा०] पति को। ~**खसमहिं** छोडि छिमा होय रहई, होय न खीन अखै पद लहई। → ज्ञान चौं (१) ६।

खसै—क्रि० [हि० खिसकना] खिसकना, सरकना। ~मनमथ विंद करै असरारा, अलपै विंद **खसै** नहिं द्वारा। → र० ३०-६।

खाँई—सज्ञा स्त्री० [स० खनि] गड्ढा. महल आदि की रक्षा के लिए उसके चारो ओर खोदकर वनाई गई नहर। ~ कवीर **खाँई** कोट की, पानी पिए न कोइ। → सा० साधु० (२८) ८-१।

खाँखरि—सज्ञा स्त्री० [दे०] खोपडी, यहाँ तात्पर्य है शरीर। ~ **खाँखरि** डारिनि फोरि हो रमैया राम। → वेलि० (६) १-२४।

खाँगि—सज्ञा पु० [दे०] खुरहा नामक रोग जिससे पशु चलने मे असमर्थ हो जाता है। ~पाँच लदनुवा **खाँगि**

परे हो रमैया राम । →वेलि० (६) २३ ।

खांच—सज्ञा पु० [हि०] टोकरी । ~ वडे भोर उठि आंगनु वाढु, वडे खांच लै गोवर काढु । → वसत (४) ६-२ ।

खांड—सज्ञा स्त्री० [स० खण्ड] कच्ची शक्कर, स्वादिष्ट, मीठी, मिठाई ।~ लपसी लौंग गनै एक सारा, परिहरि खांड़ मुख फांकै छारा ।→र० ७१-६, सत्र० १६८-२, सव० १३६-३, सव० ६-२, सा० माया० (१६) ७-१, सा० विर० (३) ३२-१, सा० सांच० (२२) १२-१ ।

खांड—सज्ञा स्त्री० [स० खण्ड] शहद । ~कामिनि मीनी खांड की, जे छेडौ तौ खाइ । → सा० कामी० (२०) २-१ ।

खांडे—सज्ञा पु० [स० खड्ग] तलवार । ~विन खांडे सग्राम है, नित उठि मन सौं जूझना । → सा० साधसा० (२६) ८-२, सा० सूरा० (४५) २५-१ ।

खाई—सज्ञा स्त्री० [स० खनि] खदक । ~ दोवर कोट अरु तेवर खाई । → सव० ६३-२ ।

खाक—सज्ञा स्त्री० [फा० खाक] मिट्टी, धूल । ~विनु ही मारे मृतक होइ, विनु जारे होइ खाक सोइ । →पद २२५-५, पद ३२५-४, पद ३४०-४ ।

खाटै—क्रि० [दे०] सग्रह करता है । ~खोटी खाटै खरा न लीया, कछू न जांनी साटि । →पद २०३-७ ।

खातां—क्रि० [हि० खाना से] खाते हुए । ~खाता जान न कोई । → पद ३१३-२ ।

खातां—क्रि० वि० [हि० खाना] खाने मे । ~खातां मीठी खाड सी, अन्त-कालि विष होइ । → सा० कामी० (२०) ४-२ ।

खानि—क्रि० [हि० खाना] भोजन करना । ~ परनारी कौं राचनौं, जस लहसुन की खानि । → सा० कामी० (२०) ६-१ ।

खावे—क्रि० [स० खादन] खाना, भोजन करना । ~रचनहार कौं चीन्हि लै, खावे कौ क्या रोइ । →सा० वेसा० (३५) ३-१ ।

खार—सज्ञा पु० [स० क्षार] क्षार युक्त, खारी । ~खार समुद्र मैं माछली, केती वहि वहि जांहि । →सा० कामी० (२०) ५-२ ।

खारा—वि० [स० क्षार] खारा, दुख । ~कवीर यहु जग कुछ नही, खिन खारा खिन मीठ । →स० काल० (४६) १५-१ ।

खारे—वि० [स० क्षार] कडुवे । ~ हरि के खारे वरे पकाए, जिनि जाने तिन खाए । →पद ३३१-१ ।

खाला—सज्ञा स्त्री० [अ०] माता की वहन, मौसी । ~ कवीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि । → सा० सूरा० (४५) १६-१ ।

खालिक—सज्ञा पु० [अ०] सृष्टिकर्त्ता, ईश्वर, विधाता, स्वामी । ~ कवीर खालिक जागिया, और न जागै

कोइ। →सा० साव० सा० (२६) २०-१, सा० साँच० (२२) ६-२, सा० कस्तू० (५३) ६-१, पद २८१-२, सव० १८१-६।

खिअत—सज्ञा पु० [स० क्षेत्रपाल] प्रसिद्ध ४६ भैरव जो पश्चिम के द्वारपाल माने जाते है। ~वावन कोटि जाकै कुटवार, नगरी नगरी **खिअत** अपार। →सव० १२८-११।

खिझुवा—वि० [हि०] खीझ कर वोलने वाला, चिढने वाला, निन्दक। ~ मनुवहि कहहु रहहू मन मारे, **खिझुवा** खीझि न वोलै हो। →कहरा (३) १-६।

खिन—सज्ञा पु० [स० क्षण] क्षण, कुछ समय। ~रावनहूँ तैं अधिक छत्र-पति, **खिन** महि गए विलात। → सव० ७०-६, र० २६-१, स० काल० (४६) १५-१, पद २१६-८।

खिमा—सज्ञा स्त्री० [स० क्षमा] क्षमा। ~सत करि खपर **खिमा** करि झोरी, ग्यान विभूति चढाई। →सव० ३३-७, पद ३०६-३।

खिलखाँना—सज्ञा पु० [अ० खिल (मित्र) + खाना (घर)] मित्रो के घर, यहाँ तात्पर्य है मित्र। ~कोटि तेतीसूं अरु **खिलखाँना**, चौरासी लख फिरै दिवाना। →सव० १४१-५।

खिसै—क्रि० [हि० खिसकना] खिसकना, गिरना। ~वस्त न वासन सूं **खिसै**, चोर न सकई लागि। →सा० उप० (३४) १०-२।

खींचातानी—सज्ञा स्त्री० [हि०] कष्ट। ~कहै कवीर भजि सारगपानी, नाही तर ह्वैहै **खींचातानी**। →सव० १६१-५।

खींनां—क्रि० [स० क्षीण] नष्ट होना, क्षीण होना। ~कुसलहि कुसल करत जग **खींना**, पडै काल भौ पासी रे। →सव० ८४-७।

खींनु—वि० दे० 'खीन'।

खीन—वि० [स० क्षीण] दुर्वल। ~इक जोग जुगुति तन होहि **खीन** ऐसै राम नाम सँगि रहै न लीन। सव० ६१-४, पद ३३२-४, ज्ञान चौं० (१) ६।

खीना—वि० [स० क्षीण] क्षीण, कृश। ~ तन **खीनां** मन उनमनां, जग रूठडा फिरत। → सा० साधसा० (२६) ३-२।

खीर—सज्ञा पु० [स० क्षीर] दूध। ~ **खीर** खाड घृत पिंड सवारा, प्रान गए लै वाहरि जारा। → सव० १३६-३, पद ३३४-६, सव० ६-२, सा० सार० (३२) १-१।

खीसै—वि० [स० किण्क्] नष्ट। ~ करत विचार जनम गौ **खीसै** ई तन रहल असाधा। →सव० १५७-८।

खुटानौं—क्रि० [स० खुड्] समाप्त हो गया। ~वनिज **खुटानौं** पूंजी टूटि, दह दिसि टाडौ गयौ फूटि। →पद २३६-७।

खुटुकार—सज्ञा स्त्री० [दे०] चिंता, ध्यान। ~जो **खुटुकार** वेगि नहि लागै, हिरदय निवारहु कोहू हो। → कहरा (३) १-४।

खुदाइ—सज्ञा पु० [अ० खुदा] ईश्वर;

प्रभु ।~जौ रे खुदाइ मसीति वसतु है, और मुलुक किस केरा । →सब० २३-६, सा० साधु सा० (२६) २१-१ ।

खुदाई—सज्ञा पु० [फा०] ईश्वर के, ईश्वरीय । ~हम मसकीन खुदाई वदे तुम्हरा जस मनि भावै । → पद २२६-२, पद २३०-१ ।

खुदी—संज्ञा स्त्री० [फा०] स्वार्थ ।~ वहुत खुदी दिल राखते, वूडे विनु पानी । →सब० १३५-१० ।

खुमार—सज्ञा पु० [अ०] नशा, मद । ~हरि रस पीया जानिये, जे कवहुँ न जाइ खुमार । → सा० रस० (६) ४-१ ।

खुमारी—सज्ञा स्त्री० [अ०] मद, नशा ।~कहै कवीर फावी मतिवारी, पियत रांम रस लगी खुमारी । → सव० १०८-५, पद ३०३-१०, पद २०१-७ ।

खुर खुर—सज्ञा स्त्री० [स०] घर-घर का शब्द, ध्वनि, आवाज । ~खुर खुर खुर खुर चलै नारि, वैठि जोलाहिन पलथि मारि । →वसन्त (४) ३-४ ।

खुराइ—क्रि० [दे०] दूर रहना, अलग रहना ।~कल्हि गडै जो कांटवा, अगमन कस न खुराइ ।→सा० उप० (५०) १-२ ।

खुसरै—क्रि० [अ० खुसिय = अडकोश, खुस्र = हानि पहुँचाना] = वधिया करना । ~ विंदु राखि जौ तरिऐ भाई, तौ खुसरै क्यूं न परम गति पाई । →सव० ७७-५ ।

खुसी—सज्ञा स्त्री० [फा० खुशी] आनन्द, प्रसन्नता ।~ज्यो कपि डोरि वाधि वाजीगर, अपनी खुसी परारी । → सव० १५६-६ ।

खूंटा—सज्ञा पु० [स० क्षोड] जमीन मे गाडी जाने वाली छोटी लकडी या वाँस का नुकीले मुंह वाला टुकडा । ~थान वुनै कोली मैं वैठी, मैं खूंटा मैं गाडी । → सव० ३०-५, पद २०६-४ ।

खूंदि—क्रि० [स० स्कुद] कूद-कूद कर ।~स्वाँग पहिरि सोहरा भया, खाया पीया खूंदि । → सा० भेष० (२४) १५-१ ।

खूटा—क्रि० [स०√क्षुद्] नष्ट हो गया । ~ससा खूटा सुख भया, मिला पियारा कत । →सा० पर० (५) १३-२ ।

खूटी—सज्ञा स्त्री० [स० क्षोड] एक पतली लकडी जिसके सिरे पर कांच का चुल्ला फोड कर वांध देते हैं । इसी चुल्ले में रेशम के महीन तागे डालकर ताना वुनते हैं ।~सर खूटी एक राम नरायन, पूरन प्रगटे भेदा । →सव० १२७-३ ।

खूटै—क्रि० [स० खुड] नष्ट हो गए ।~ और सवै रग इहि रग थै छूटै, हरि रग लागा कदे न खूटै । → पद २५६-३ ।

खूनी—वि० [फा०] हत्यारा ।~खालिक दरि खूनी खडा, मार मुंहैमुंह खाइ । →सा० सांच० (२२) ६-२ ।

खेडा—सज्ञा पु० [स० खेट] छोटा गांव ।

~चेतत रावल पावन खेड़ा सहजै मूलहि बाँधै । →सव० ६५-३ ।

खेतू—क्रि० [स० क्षेत्र] युद्ध करता है । ~मूस विलाई कैसन हेतू, जवुक करै केहरि सो खेतू ।→सव० ६२-२ ।

खेदा—सज्ञा पु० [स० खेदन ?] हाँका करने वाले । ~ चित्त तरउवा पवन खेदा सहज मूल वाधा । → सव० १००-३ ।

खेदि—क्रि० [स० खिद्] खेद कर, दौडा कर ।~प्रथमै पदुमिनि रूप आहि, है सापिनि जग खेदि खाहि । → वसत (४) ५-३ ।

खेदै—क्रि० [हि० खेदना] दौडाता है ।~ अचिरज एक देखहु ससारा, सुनहाँ खेदै कुंजर असवारा ।→पद ३४७-३ ।

खेम—सज्ञा पु० [स० क्षेम] कुशल ।~ कुसल. खेम अरु सही सलामति, ए दोइ काकौं दीन्हा रे । →सव० ८४-१ ।

खेलखासी—सज्ञा पु० [खेल (विनोद) +खासी (अ० खवास, खास का वहुवचन)] वे विशेप विश्वसनीय अन्तरग महल मे कार्य करने वाले सेवक जिन्हे राजाओ के मनोविनोद के समय उपस्थित होकर कार्य करने का अधिकार रहता है ।~सेख जु कहिअहि कोटि अठासी, छप्पन कोटि जाकै खेलखासी ।→सव० १४१-४ ।

खेलै—क्रि० [स० खेल] अभिनय करता है ।~उहै जु खेलै सव घट माही, दूसर के लेखा कछु नाही । →र० ६८-४ ।

खेवइया—सज्ञा पु० दे० 'खेवट' ।

खेवट—सज्ञा पु० [स० केवर्त] मल्लाह, नाव चलाने वाला ।~मूसा खेवट नाव विलइया, सोवै दादुर सर्प पहरिया । →सव० ८६-४, पद २६५-६, सा० विर्क० (३७) ६-२ ।

खेवटिया—सज्ञा पु० दे० 'खेवट' ।

खेह—सज्ञा स्त्री० [स० क्षार] मिट्टी, धूल ।~वारि जु वाँधा प्रेम कै, डारि रहा सिरि खेह ।→सा० रस० (६) ५-२, सा० चिता० (१२) २०-२, सा० चिता० (१२) ३०-२, सव० १०४-४ ।

खेहा—सज्ञा स्त्री० [स० क्षार] धूल ।~ झूठहि झूठा मिलि रहा, अहमक खेहा खाय । →र० १४-१४ ।

खोटि—वि० [स० खोट्+इ] दोपपूर्ण । ~रामनाम निज जानि के, छाडहु वस्तुहि खोटि ।→र० ३६-६ ।

खोज—सज्ञा स्त्री० [हि०] मार्ग ।~ पखी का खोज मीन का मारग, कहै कवीर विचारी । →सव० ३७-७ ।

खोजा—सज्ञा स्त्री० [हि० खोजना] गवेपणा पूर्वक । ~दिल महि खोजि देखि खोजा दे, भिस्ति कहाँ तैं आई । सव० ७६-१० ।

खोट—सज्ञा स्त्री० [स० खोट्] असत्य, मिथ्या ।~खरा खोट जिन नहि परखाया, चहत लाभ तिन्ह मूल गमाया । →र० ८०-२ ।

खोटी—वि० [स० खोट्] हेय, निकृष्ट । ~वढवत वढी घटावत छोटी, परखत खर परखावत खोटी ।→र० ७६-१ ।

खोटी—वि० [स० √खोट्] दूपित ।~ कहै कवीर यह कलि है **खोटी**, जो रहै करवा सो निकसै टोटी । → पद २५८-५ ।

खोटी—वि० [स० √खोट्] तुच्छ वस्तु । ~ **खोटी** खाटै खरा न लीया, कछू न जांनी साटि । →पद २०३-७ ।

खोटी—वि० [स० खोट्] दोप, वुराई । ~कवीर कलि **खोटी** भई, मुनियर मिलै न कोइ । →सा० चाँण० (१७) ८-१ ।

खोटे—वि० [स० √खोट्] नीच ।~ कहहि कवीर सुनहु हो सतो, कलि मे व्राह्मन **खोटे** । →पद २६६-१० ।

खोटौ—वि० [स० खोट्] खोटा, वुरा । ~**खोटौ** महतौ विकट वलाही, सिर कसदम का पारै । → सव० १०-७ ।

खोद खाद—क्रि० [हि० खोदना] खोदने का कार्य । ~ **खोद खाद** धरती महै, काट कूट वनराइ । →सा० कुस० (३६) २-१ ।

खोदाई—सज्ञा पु० दे० 'खोदाय' ।

खोदाय—सज्ञा० पु० [फा० खुदा] ईश्वर, स्वयभू ।~यह तो खून वह वदगी, क्यो कर खुमी **खोदाय** । →र० ४६-६, सव० १६७-५ ।

खोर—सज्ञा पु० दे० 'खोरी' ।

खोरि—सज्ञा स्त्री० दे० 'खोरी' ।

खोरि—सज्ञा स्त्री० [स० क्षौरि] चन्दन का टीका ।~नहाय **खोरि** उत्तिम होय आवै, विष्नु भगत देखे दुख पावै । → विप्र० (२) ६ ।

खोरी—सज्ञा स्त्री० [स० खोट] वुराई, दोप, ऐव ।~व्राह्मन ही सव कीन्हो चोरी, व्राह्मन ही को लागल **खोरी** । → र० १४-३, र० ८०-३, सा० चिता० (१२) ३१-१, सा० माया० (१६) १४-२, ज्ञान चौं० (१) ५, सा० सग० (२६) ६-२ ।

ख्वार—वि० [फा०] अपमानित, तिरस्कृत, दुर्दशाग्रस्त ।~कवीर पूंजी साहु की, तूं जनि खावै **ख्वार** । → सा० साँच० (२२) १-१ ।

ग

गंगोदिक—सज्ञा पु० [स० गगोदक] गगा-जल, गगा का पानी ।~आइ मिलै जव गंग मैं, तव सव **गंगोदिक** होइ । →सा० साधु० (२८) ८-२, सव० ६६-५ ।

गंजन—सज्ञा पु० [स०] दुख ।~नहि तर त्रेगि उठाड, नित का **गंजन** को सहै । →सा०साधु० (२८) १०-२ ।

गंजन—सज्ञा पु० [स०] अवज्ञा । ~भ्रम विनु **गजन** मनि विनु निरखन, रूप विना वहु रूपा । →पद २०४-५ ।

गदा—वि० [फा०] मलिन । ~हरि विन भरमि विगूचे **गंदा** ।→पद ३३७-१ ।

गंध्रप—सज्ञा पु० दे 'गध्रव' ।

गध्रव—सज्ञा पु० [स० गधर्व] गन्धर्व । ~कोटि जग्गि जाकै, दरवार, **गंध्रव** कोटि करहि जैंकार । →हिंडोला (८) १-६, सव १२८-१३ ।

गँवारा—वि० [हि० गँवार] मूर्ख, अज्ञानी । ~जस खर चदन लादे

भारा, परिमल वास न जान गँवारा। →र० ३२-२, पद ३३६-१, र० ७८-८।

गइया—क्रि० [सं० गम् धातु] गया। ~ब्रह्म कुलाल मेदिनी भइया, उपजि विनसि कित गइया जी। → सव० ११५-३।

गऊ—सज्ञा स्त्री० [स० गो] गाय, धेनु। ~हरि आदर आगै लिया, ज्यौं गऊ वच्छ की लार। →सा० जी० मृ० (४१) ३-२।

गगन—सज्ञा पु० [स०] सहस्रार, शून्य-स्थान।~वसै गगन मैं दुनी न देखै, चेतनि चौकी वैठा।→सव० ३४-३।

गगनु—सज्ञा पु० [स० गगन] व्याप्त आकाश (Space)। ~आकासि गगनु पातालि गगनु है दह दिसि गगनु रहाईले। →पद २४१-३।

गज—सज्ञा पु० [स०] हाथी।~अस विनु पाखर गज विनु गुडिया, विन षडै सग्रामहि जुडिया। →सव० ११६-४, चाँचर (५) १-५, सव० १६३-५।

गजमुकुता—सज्ञा पु० [स० गजमुक्ता] गजमणि, गजमुक्ता।~चदन चूर चतुर सभ लेपहिं, गरे गजमुकुता हारा हो। →कहरा (३) ६-५।

गडत—क्रि० [हि० गाडना या स० गर्त] कब्र मे गाड दिए गए।~कवीर भग की प्रीतडी केते गए गडंत। →सा० कामी० (२०) १३-१।

गड़िले—क्रि० [हि० गाडना] गाडना; छिपाना।~धन सचते राजा मूए, गड़िले कचन भारी।→पद २६०-७।

गड़िले—क्रि० [हि० गाडना] गाड दिया। ~उतानैं खटिया गड़िले मटिया सगि न कछु लै जाइ। →सव० १०५-२।

गढ—सज्ञा पु० [स०] किला, दुर्ग।~दास कवीर चढ्यौ गढ़ ऊपरि राज लियौ अविनासी।→सव० ६३-१२, सव० १४०-३।

गढन—क्रि० [हि० गढना] रचना, निर्माण करना। ~ भानन गढन सवारन सम्रथ ज्यौं राखै त्यौं रहिए। →पद २०८-२।

गढनहारै—वि० [हि०] गढने वाला, शिल्पी, कारीगर।~जे तू मूरति साचि है तौ गढनहारै खाउ।→पद २११-६।

गढै—क्रि० [हि० गढना] वनाता है।~आपुहि करता भया कुलाला, वहु विधि वासन गढ़ै कुभारा। →र० २६-१।

गण—सज्ञा पु० [स०] रुद्रानुचर, शिव जी के गण।~सुर नर गण गध्रव जिनि मोहे त्रिभुवन मेखुली लाई। →पद २५०-४।

गत—क्रि० [स० √गम्] चला गया। ~निज निरखत गत व्यौहारा। → सव० ८-२।

गति—सज्ञा स्त्री० [स०] लीला, विधान, मर्म, रहस्य।~पढत पढत केते दिन वीते, गति एकौ नहिं जानी। → सव० ७६-२, पद २५१-१, सा० सू० मा० (१४) ५-२, पद २६८-१।

गति—स० स्त्री [स०] १. मोक्ष, २ साधन, ३ प्रवेश, ४. अवस्था।~

पूरब दिसा हस **गति** होई, है समीप सँधि बूझै कोई।→ र० ५-६, पद ३०८-३।

गदह—सज्ञा पु० [स० गर्दभ] गदहा, पशु, मूर्ख।~न ना वो चौथे मँह जाई, राम कै **गदह** होय खर खाई। → ज्ञान चौ० (१) ४३।

गन—सज्ञा पु० [स० गण] १ समूह, २ शिव के पार्षद।~**गन** गधर्व मुनि अत न पाया, हरि अलोप जग धधे लाया।→र० १६-२, हिंडोला (८) १-६।

गनिका—सज्ञा स्त्री० [स० गणिका] वेश्या। **गनिका** कै घरि बेटा जाया, पिता नाँव किस कहिए। →सब० १८६-८।

गनै—क्रि० [स० गणना] गिनते है, समझते है, मानते हैं।~जैसी भित्ति तैंसि है नारी, राजपाट सब **गनै** उजारी। → र० ७१-४।

गफिलाई—सज्ञा स्त्री० [अ० गाफिल+ आई (प्रत्य०)] असावधानी, भ्रम। ~ऐसा जोग न देखा भाई, भूला फिरै लिए **गफिलाई**।→र० ६६-१।

गम—वि० [स०] १ गम्य, प्रवेश। २ सगुण।~अगम काटि **गम** कियहु हो रमैया राम। →बेलि (६) १-१७।

गम—सज्ञा स्त्री० [स० √गम्] पहुँच, पहुँच के भीतर।~आवागमन की **गम** नही, तहँ सकलो जग जाय। →र० ३४-७, पद ३२८-१०।

गम—स० पु० [सज्ञा √गम्] ज्ञान। ~ एतिक लै **गम** कीहिस गइया, गइया अति हरहाई।→पद २०६-६।

गमि—सज्ञा स्त्री० [स० √गम्] पहुँच, गति, पता, ज्ञान। ~अगम अगोचर **गमि** नही, जहाँ जगमगै जोति। → सा० पर० (५) ४-१, सा० सु० मा० (१४) ८-२, सा०मधि०(३१) ४-१, मव० १२-२, सा० जर० (८) ३-२।

गयद—सज्ञा पु० [स० गजेन्द्र] हाथी।~ खभा एक **गयद** दोइ, क्यो करि वधसि वारि।→सा० चिता० (१२) ४२-१, सा० सूरा० (४५) ८-२।

गयल—क्रि० [स०√गम्] चले गए। ब्रह्मा गए मर्म नहिं जाना, वड सव **गयल** जो हल सयाना। →र० ४५-२।

गर—सज्ञा पु० [स० गल] गला, कण्ठ। ~आपुहि वरी आपु **गर** बधा, झूठा मोह काल को फदा।→र० ३३-२।

गरक ह्वै—क्रि० [अ० गर्क] डूब कर, लीन होकर।~चित चेतनि मैं **गरक ह्वै**, चेति न देखै मत। →सा० बिर्क० (३७) ५-१।

गरजि—क्रि० [स० गर्जन] गुजायमान करते हुए।~अम्वर कुजाँ कुरलियाँ, **गरजि** भरे सब ताल।→सा० बिर० (३) २-१।

गरत्थ—क्रि० [स०√ग्रथ्] ग्रथित किया है, बाँध दिया है। ~पसु पखेरू जतु जिव, तिनकी गाँठी **गरत्थ**। → सा० बेसा० (३५) ६-२।

गरब—सज्ञा पु० [स० गर्व] अहकार,

घमण्ड। ~ गरव गहेली गरव से, उलटि चली मुमुकाय। →पद ३१५-१३, पद २७४-४, चाँचर (५) १-७।

गरवसि—क्रि० [सं० गर्व] गर्व करता है।~कहा नर **गरवसि** थोरी वात। →सव० ७०-१, सव० १६३-३।

गरवानां—क्रि० [स० गर्व से] अहकार किया।~माया देखि कै जगत लुभाना काहे रे नर **गरवानां**। → पद ३२५-७।

गरबावं—क्रि० दे० 'गरवियो'।

गरबियो—क्रि० [स० गर्व] गर्व करना, घमड करना।~कवीर कहा **गरवियो** इस जोवन की आस।→सा० चिंता० (१२) ८-१, सा० काल० (४६) १६-१, सव० १३६-१, पद २०३-६।

गरब्यो—क्रि० दे० 'गरवियो'।

गरभ—सज्ञा पु० [स० गर्व] अभिमान, घमण्ड। दे० 'गरव'।~लीन्ह वोलाय वात नहि पूछै, केवट **गरभ** ते न वोलै हो। → कहरा (३) १-१६।

गरभ—सज्ञा पु० [स० गर्भ] गर्भ।~ सुकदेव अचारज दुख कै कारनि, **गरभ** सौं माया त्यागी। →सव० १३८-४।

गरवा—वि० [स० गुरु] गम्भीर, महान् गुरुत्वपूर्ण, महत्वपूर्ण। ~ साहिव **गरवा** चाहिए, नफर विगाडै नित्त। →सा० वीन० (५६) २-२, सा० गु० (१) १४-१।

गरवातन—सज्ञा पु० [स० गुरुता] गुरुत्व, गौरव।~मांनि महातम प्रेम रस, **गरवातन** गुण नेह। →सा० वेसा० (३५) १४-१।

गरासं—क्रि० [हि० ग्रसना] ग्रसना।~ चूकीले मोह पियास, तहाँ ससिहर सूर **गरासं**। →सव० १७१-७।

गरासन—संज्ञा पु० [स० ग्रसन] ग्रास कर लेना। ~कामिनी कहै मोर पिय आही, वाघिनी रूप **गरासन** चाही। → र० ७८-३।

गरासै—क्रि० [स० ग्रसन] ग्रस लेती है। ~उलटी गग समुद्रहि सोखै, ससि-हर सूर **गरासै**। →सव० ३२-३।

गरि—क्रि० [हि० गलना] गल जाएगा। ~धन जोवन का गरव न कीजै कागद ज्यौं **गरि** जाइगा। →पद २७४-४।

गरी—सज्ञा पु० [स० गल] गले मे, कण्ठ में।~काहू **गरी** गूदरी नाही काहू सेज पयारा। →पद २१६-६।

गरीवी—सज्ञा स्त्री० [अ०] आकिंचन्य। ~दीन **गरीवी** वदिगी, करता होइ सु होइ। →सा० जीव मृ० (४१) ११-२।

गरुआ—वि० [स० गुरु] भारी, कठिन, महान्। ~ भव अस **गरुआ** दुख अति भारी, करु जिन जतन जे देसु विचारी। →र० २०-४, र० ७७-३, सव० ६६-११।

गरुड़—सज्ञा पु० [स०] गरुड।~फुनिगा कतहूँ **गरुड़** भखत है।→पद ३४७-२।

गरुवा—वि० दे० 'गरुआ'।

गर्वसी—क्रि० [सं० गर्व + हि० सी] दे० 'गरवसि'।

गर्वसी—क्रि० [हि०] गर्व करते हो।~ तन धन सो का **गर्वसी** मन वौरा हो।→चाँचर (५) २-३।

गल—सज्ञा पु० [स०] गला, गर्दन।~ मेरी पग का पैखडा, मेरी **गल** की पास। →सा० चिता० (१२) ६१-२, पद २४४-६।

गल—क्रि० [हि०] चले गए।~काको रोऊँ **गल** वहुतेरा, वहुतक मुअल फिरल नहिं फेरा। →मव० ७५-१।

गलका—स० पु० [स० गल] गले तक। ~**गलका** खाय। वरजतां, अव क्यौ आवै हाथि। → सा० मन० (१३) १६-२।

गलवल—वि० [दे०] गडवड। ~कत कत की सल पाडिए, **गलवल** सहर अनत।→सा० विर्क० (३७) ५-२।

गलि—संज्ञा पु० [स० गल] कठ मे, गले में।~कोई जावै मक्का कोई जावै क.सी, दोऊ कै **गलि** परि गई पासी। →सव० ३८-४, सा० मन० (१३) ११-१, सा० भेष० (२४) ६-२, सा० ज्ञान० वि० (४) ७-२, सा० चाँण० (१७) २२-१।

गलीगल—क्रि० [हि०] निचुडकर, गल-कर।~हाड झरी झरि गूद **गलीगल**, दूध कहाँ ते आया।→सव० १७४-८।

गवन—क्रि० [स० गमन] जाते है, छोडते हुए।~कोटि सरसती धारै राग, कोटि इन्द्र जह **गवन** लाग। →सव० ११०-७, पद २४३-२।

गवाँइसी—क्रि० [स० गमन] गँवा देगी, निकाल फेंकेगी। ~ दुरमति दूरि **गवाँइसी**, देखी सुमति वताइ। → सा० साधु० (२८) २-२।

गवाँयउ—क्रि० [स० गमन] नष्ट कर दिया।~कवहुँ न भयउ सग अरु साथा, ऐसो जनम **गवाँयउ** हाथा। → र० ४४-१।

गहभरा—वि० [स० गह्वर>गहवर < गहभर] व्याकुल, उद्विग्न। ~घायल घूंमै **गहभरा**, राखा रहै न ओट।→ सा० सूरा० (४५) १६-१।

गहनि—क्रि० [स० ग्रहण] ग्रहण करना। ~ हैं कछु रहनि **गहनि** की वाता, वैसा रहे चला पुनि जाता। → र० ५१-३।

गहनी—क्रि० [स० ग्रहण] पकड लिया। ~ **गहनी** वधन वानि नहिं सूझा, थाकि परे तव किछवो न वूझा। → र० १६-३।

गहि—क्रि० [स० ग्रहण] पकड कर। ~ कान **गहि** काजी नाक **गहि** मुल्ला पडित कै आँखी फोरी। → पद ३१३-५।

गहिर—वि० [स० गम्भीर] गहरी। ~ गग गुसाइनि **गहिर** गभीर, जजीर वाँधि करि खरे कवीर। → पद २१३-३।

गहिला—वि० [हि० गहेला] पागल, वावल। ~ यहु रस पीवै गूगाँ **गहिला**, ताकी कोई न वूझै सार रे। → सव० ८७-७।

गहेजुआ—सज्ञा पु० [दे०] छछूंदर। ~ सर्पन मुख **गहेजुआ**, जात सभन की जान। → र० ४५-८।

गहेलड़ी—वि० [हि० गहेली] हठीली, पागल, गँवारिन। दे० 'गहिला'। ~ रहु रहु मुगध **गहेलड़ी**, अब क्यो मीजै हाथ। → सा० विर० (३) ३६-२।

गहेली—वि० [हि०] हठी। ~ ननद सुहेली गरव **गहेली**, देवर कै विरहि जरउँ रे। → पद २३२-४।

गहेली—वि० [हि०] गर्वीली। ~गरव **गहेली** गरव से, उलटि चली मुसकाय। → चाँचर (५) १-७।

गहौं—क्रि० [स० ग्रहण] पकडता हूँ। ~ जे छाँडौं तौं बूडिहौ, **गहौं** त डसिहै वाँहि। → सा० विर० (३) ४३-२।

गह्या—क्रि० [सं० ग्रहण] पकड रखा। ~ जिनि पाया तिनि सुगह **गह्या**, रसनाँ लागी स्वादि। सा० पर० (५) ३३-१।

गांगी—वि० [स० गगा] गगा सम्वन्धी, गगा के। ~ **गाँगी** रोलै वहि गया, हरि सौं किया न हेत। सा० भेष० (२४) ४-२।

गाँठरी—सज्ञा स्त्री० [हि० गठरी] वोझ। ~ खोटा वाँधा **गाँठरी**, इब कछु लिया न जाइ। → सा० अपा० (४८) ३-२।

गाठि—सज्ञा स्त्री० [स० ग्रन्थि] गाँठ, गाँठ मे। ~ तजि कपूर **गाँठि** विख वाधै, ग्यान गँवाय के मुगुध फिरै। → पद २७६-७, वसत (४) ३-३, सा० वेसा० (३५) ६-२।

गाठि—सज्ञा स्त्री० [स० ग्रन्थि] जड-चित् की ग्रन्थि, गाँठ। ~ नाना रगै भावरि फेरी **गाठि** जोरि वावै पतियाई। → पद २३८-५, पद ३१२-५, र० ८०-३, सव ४६-२।

गाँठि दीन्हीं—[मुहा०] निश्चयपूर्वक। ~साचु कहि हम **गाठि दीन्हीं** छोडि परम निधान। → मव० १८७-४।

गाँठी—सज्ञा स्त्री० दे० 'गाठि'।

गाथल—क्रि० [स० ग्रन्थन] गूँथती है, सँवारती है। ~ फुल भल फुलल मलिनि भल **गाथल**, फुलवा विनसि गो भवँर निरासल। → पद २३६-४।

गाइ—क्रि० [स० गान] गाकर। ~ मीराँ मुझ सौं यौं कहा, किनि फुरमाई **गाइ**। → सा० साध० सा० (२६) २१-२।

गाइ—सज्ञा स्त्री० दे० 'गाय'।

गाइत्री—सज्ञा स्त्री० दे० 'गायत्री'।

गाऊँ—सज्ञा पु० [स० ग्राम] गाँव। ~ कहँ वस पुरुप कहाँ सो **गाऊँ**, पंडित मोहि सुनावहु नाऊँ। → र० ३४-२, पद २५५-११।

गागरि—सज्ञा स्त्री० [स० गर्गर] घट, कलश। ~ऊभर था सो सूभर भरिया, त्रिसना **गागरि** फूटि। → सव० १५-३।

गाज—सज्ञा स्त्री० [स० गर्ज] गर्जन। ~ब्रह्मा का आसन डिगा, सुनत सकल की **गाज**। → सा० सुमि० (२) १५-२।

गाजा—क्रि० [स० गर्जन] अनाहत ध्वनि करता है। ~ब्रह्महि पकरि अगिनि मँह होमै, मच्छ गगन चढि **गाजा**। → सव० १४४-३।

गाजै—क्रि० [स० गर्जन] शब्द करता है, गरजता है।~जन्त्री जन्त्र अनूपम बाजै, वाके अस्ट गगन मुख **गाजै**। →सव० १०६-१, सव० ८१-३।

गाठरी—सज्ञा स्त्री० [हि० गट्ठर] गठरी, आवश्यकता की पूर्ति करने वाली चीजो का सग्रह।~सत न बाँधै **गाठरी**, पेट समाता होइ। → सा० वेसा० (३५) १०-१।

गाड़—सज्ञा स्त्री० [स० गर्त] गड्ढा। ~महि अकास दुइ **गाड़** खँदाया, चाँद सुरुज दुइ नरी वनाया। → र० २८-२, चाँचर (५) १-१८।

गाड़—क्रि० [हि० गाडना] भूमि मे गड्ढा बनाकर उसमे ढँक देना। ~महि अकास दुइ **गाड़** खँदाया, चाँद सुरुज दुइ नरी वनाया। →र० २८-२।

गाड़र—सज्ञा स्त्री० [स० गड्डुरिका] भेड।~**गाड़र** आनी ऊन को, वाँधी चरै कपास। →सा० चाँण० (१७) ३-२।

गाड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० गर्त] गड्ढा। ~थान वुनै कोली मैं वैठी, मैं खूँटा मैं **गाड़ी**। →सव० ३०-५।

गाढ़ी—वि० [स० गाढ] सघन। ~तानै वानै पडी अनँवासी, सूत कहै वुनि **गाढ़ी**। →सव० ३०-६।

गाढी—क्रि० वि० [हि०] भलीभाँति। ~काजल टीकि चसम मटकावै कसि कसि वाँधै **गाढी**। →पद ३१३-३।

गाता—सज्ञा पु० [स० गात्र] शरीर। ~कहा मुगध रे पाहन पूजे, क्या जल डारे **गाता**। →सव० १२२-४, सव० १४-४।

गानौ—क्रि० [हि० गाना] गाऊँ, गिनाऊँ। ~विनसे अगिनि पौन औ पानी, विनसे सिस्टि कहाँ लौ **गानौ**। → र० ४६-३।

गाफिल—वि० [अ०] असावधान, वेसुध, वेखवर। ~पाइ कुहाडा मारिया **गाफिल** अपनैं हाथि। →सा० चिता० (१२) ४३-२, सा० मन० (१३) १७-१, सव० ११-२; पद २१८-२, सा० चिता० (१२) २६-२।

गाफिलाँ—वि० दे० 'गाफिल'।

गाभिन—वि० [स० गर्भिणी] गर्भिणी। ~जौ व्यावै तौ दूध न देई, **गाभिन** अमृत सरवै। →सव० २७-३।

गाय—क्रि० [हि० गाना] गाता है, वतलाता है, विवेचन करता है।~की चित जानै आपना, की मेरो जन **गाय**। →र० ७३-८, सा० अपा० (४८) ५-१।

गायत्री—सज्ञा स्त्री० [स०] एक वैदिक मन्त्र जो हिन्दू धर्म में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।~जेहि मुख वेद **गायत्री** उचरै, जाके वचन ससार तरै। →पद २७६-२, र० ३५-३, सव० ८२-३।

गायन—सज्ञा पु० [स०] गाने वाला। उँच निच परवत ढेला न ईंट, विनु **गायन** तहँवा उठे गीत। → सव० १६५-२।

गारड़ू—सज्ञा पु० दे० 'गारुडि'।

गारि—सज्ञा स्त्री० दे० 'गारी'।

गारी—सज्ञा स्त्री० [स० गालि] कलक, गाली, अभद्र कथन। ~सासु ननद

पटिया मिलि वँधलौ, भसुरहिं परलौ **गारी**। →पद २२२-२, सव० १५६-८।

गारुड़ि—सज्ञा पु० [स० गारुडि] मत्र से सर्प का विप उतारने वाला (इस मंत्र का देवता गरुड है, इसीलिए इस मत्र को गरुड मत्र कहते हैं और मत्र जानने वाले को गारुडि कहते हैं), सर्प का मत्र जानने या उतारने वाला, सद्‌गुरु।~विष के खाए विष नहिं जावैं, **गारुड़ि** सो जो मरत जियावै। → र० २६-६, विरहुली (७) १०, पद ३४५-१४, सव० १४५-१, पद २२३-६।

गारुड़ू—सज्ञा पु० दे० 'गारुडि'।

गालिव—वि० [अ०] शक्तिशाली। ~**गालिव** नारी गाउँ वसाया, हाम काम हकारी। →सव० १०४-५।

गावहु—क्रि० [सं० गान] गाते हो, रस लेते हो।~चीन्ह चीन्ह का **गावहु** वौरे, वानी परी न चीन्ह। →र० ४-६।

गाहक—सज्ञा पु० [स० ग्राहक] वह जो ग्रहण करता है, ग्रहण करने और परखने वाला। ~एक निस्प्रेही निरधार का, **गाहक** गोपीनाथ। →सा० भेप० (२४) २२-२, सव० १-१।

गिआन—सज्ञा पु० दे० 'गियान'।

गियानी—वि० [स० ज्ञानिन्] ज्ञानी। ~पिया मोरा मिलिया मत्त **गियानी**। → सव० १७६-१, पद २२०-६।

गियान—सज्ञा पु० [स० ज्ञान] ज्ञान। ~अनहद वाजैं नीझर झरैं, उपजै ब्रह्म **गियान**। →सा० पर० (५) ४४-१, सव० १३-१, सा० कुस० (३६) ४-१, पद २५०-६।

गिरद—अव्य० [फा० गिर्द] चारो ओर। ~सूरा जूझैं **गिरद** सौं, इक दिसि सूर न होइ। →सा० सूरा० (४५) ४-१।

गिरदान—सज्ञा पु० [हि०] गिरगिट।~मछरी मुख जस केंचुवा, मुसवन मुख **गिरदान**। → र० ४५-७।

गिरही—सज्ञा पु० [स० गृहिन्] गृहस्थ। ~वाटे वाटै सव जग दुखिया, क्या **गिरही** वैरागी हो। →सव० १३८-३ सा० उप० (३४) ५-१, सा० कामी० (२०) २५-२।

गिरि—सज्ञा पु० [स०] पर्वत। ~**गिरि** गोवर्धन नख पर राख्यौ ते वाघिनि मुख आया। → पद ३१३-८।

गिला—क्रि० [स० गलन] गल गया। ~पग तौ पाला मैं **गिला**, भाजन लागी सूल। →सा० भेप० (२४) १-२।

गिलारि—सज्ञा पु० [स० गिल+अरि] निगलने वाले ग्राह के शत्रु अर्थात् विष्णु। ~खभा तै प्रगट्यौ **गिलारि**, हिरनाकस मार्‌यौ नख विदारि। → सव० १५६-१०।

गिली—क्रि० [स० निगरण] निगल जाना। ~उलटि मूसैं साँपिनि **गिली**, यहु अचरजु भाई। →सव० ५१-४।

गिले—क्रि० [स० निगरण] निगल गया, नष्ट कर दिया। ~मानि वडे मुनिवर **गिले**, मान सवनि को खाइ। →सा०

माया० (१६) १७-२, सा० माया० (१६) ३१-२ ।

गिलौरा—स० पु० [दे०] पान का बीडा । ~ सिंघ ज बैठा पान कातरै घूस **गिलौरा** लावे । →पद ३३१-५ ।

गीध—सज्ञा पु० [स० गृध्र] गिद्ध नामक एक वडा पक्षी । ~काग **गीध** दोउ मरन विचारैं, सूकर स्वान दोउ पथ निहारैं । →र०७८-५, कहरा (३) ६-६ ।

गुंनी—वि० [स० गुणिन्] कलाकार । ~वाजै जन्त्र वजावै **गुंनी** । → सव० १८५-१ ।

गुसाईंनि—सज्ञा स्त्री० [हि० गोस्वामिनी] पूज्या, आदरसूचक शब्द । ~ गग **गुसाइनि** गहिर गभीर, जजीर बाँधि करि खरे कवीर । → पद २१३-३ ।

गुआर—सज्ञा पु० [हि० ग्वाल] अहीर । ~हम गोरू तुम **गुआर** गुसाईं जनम जनम रखवारे । →पद २३१-७ ।

गुजारा—क्रि० [फा० गुजारिश] प्रार्थना किया । ~एक से पूजा जैनि विचारा, एक मे निहुरि निमाज **गुजारा** । → र० १४-७ ।

गुजारैं—क्रि० [फा० गुजारिश] प्रार्थना या निवेदन करता है ।~ दिल महिं कपट निवाज **गुजारैं**, क्या हज कावै जाए । →सव० २३-६, पद २२६-५, पद ३०४-५ ।

गुज्झ—क्रि० [स० गुह्य] घनिष्टता, मित्रता या गठवन्धन करता है । ~ साँई सेती चोरियाँ चोरो सेती **गुज्झ** । → सा० सांच० (२२) १०-१ ।

गुड़—सज्ञा पु० [स०] गुड । ~काया कलाली लाहनि मेलेउँ गुरु का सवद **गुड़** कीन्हा । → पद ३४४-३ ।

गुड़िया—सज्ञा पु० [दे०] हौदा ।~ अस विनु पाखर गज विनु **गुड़िया**, विनु षडै सग्रामहि जुड़िया ।→सव० ११६-४ ।

गुढी—सज्ञा स्त्री० [स० गुणिका] उलझन, गाँठ, गुत्थी । ~ सुरझ्यो सूत **गुढी** सव भागी, पवन राखि मन धीरा ।→सब० १५४-५ ।

गुण—सज्ञा पु० [स०] प्रकृति के तीन भाव—सत्व, रजस् और तमस् ।~ कबीर **गुण** की वादली, तीतरवानी छाँहि ।→सा०माया० (१६) २३-१ ।

गुण—संज्ञा पु० [स०] डोरी, प्रत्यचा । ~ हरि रस जे जन वेधिया, सर **गुण** सीगणि नाँहि । → सा० सव० (४०) ५-१ ।

गुणा—सज्ञा पु० [स० गुण] गुण, विशेषता । ~ **गुणा** का भेद न्यारौ न्यारौ । → सब० ६६-१ ।

गुणियाले—वि० [स० गुण + हि० वाले (प्रत्य०)] गुणवान् । ~ कवीर प्रीतडी तौ तुझ सौ, वहु **गुणियाले** कत । →सा० निह० (११) १-१ ।

गुदरावै—क्रि० [फा० गुजरान] पेश करना, सामने रखना । ~तहाँ मो गरीव की को **गुदरावै** । → सव० १४१-१ ।

गुदरी—सज्ञा स्त्री० [हि० गुदडी] कथरी । ~ **गुदरी** सी उठि जाइगी चित चेति अभागी रे । → पद २७३-४ ।

गुन—संज्ञा पु० [सं० गुण] रहस्य। ~राम **गुन** वेलडी रे, अवधू गोरखनाथ जाँनी। → पद २५३-१।

गुन—संज्ञा पु० [सं० गुण] रस्सी, डोरी, तार। दे० 'गुण'। ~ कबीर सबद सरीर मैं, बिन **गुन** बाजै ताति। सा० सब० (४०) १-१।

गुन—संज्ञा पु० [सं० गुण] परिणाम, पदार्थ। ~ संजोगे का **गुन** रवै, विजोगे का **गुन** जाय। → र० ४०-६।

गुन—संज्ञा पु० [सं० गुण] लाभ, प्रभाव। ~ विष के संग कौन **गुन** होई, किंचित् लाभ मूल गो खोई। → र० ११-८, सब० १६४-३।

गुन—संज्ञा पु० [सं० गुण] परम तत्व। ~ **गुन** अतीत जस निरगुन आप, भरम जेवरी जग कियौ साप। → सब० ५०-८।

गुन—संज्ञा पु० [सं० गुण] १ कीर्तन-भजन। २ त्रिगुणात्मक बन्धन (सत्व, रजस्, तमस्)। ~**गुन** गाए **गुन** ना कटै, रटै न राम विवोग। सा० सुमि० (२) २८-१, सब० ५०-६।

गुन अतीत—वि० [सं० गुणातीत] गुणो से परे, निर्गुण। ~ **गुन अतीत** निरमोलिक लीजै। → पद २४७-२।

गुनवन्ती—वि० [सं० गुणवती] १ सत्व, रजस्, तमस् गुणो से युक्त, त्रिगुणात्मिका। २ गुणो वाली। ~ इम **गुनवन्ती** वेलि का, कछु गुन कहा न जाइ। → सा० वेली० (५८) ३-२।

गुनह—संज्ञा पु० [फा० गुनाह] अपराध, पाप। ~ और **गुनह** हरि बकसिहै, काँमी डाल न मूल। →सा० कामी० (२०) १७-२, सब० १७२-६।

गुनां—संज्ञा पु० [सं० गुण] १ लाभ। २ प्रयोजन। ~ कपट भगति कीजै कौन **गुनां**। सब० ५६-२।

गुनातीत—वि० [सं०] गुणो से परे, निर्गुण ब्रह्म। दे० 'गुन अतीत'। ~ **गुनातीत** के गावते, आपुहिं गये भ्रमाय। → र० ६१-५।

गुनि—क्रि० [हि० गुनना] विचार करके। ~ अच्छर पढि **गुनि** राह चलाई, सनक सनंदन के मन भाई। → र० ५-४।

गुनिएँ—क्रि०[हि० गुनना] मनन कीजिए। ~ का पढिए का **गुनिएँ**, का वेद पुराना सुनिएँ। → पद ३३६-६।

गुनियाँ—वि० [सं० गुणिन्] गुण वाले, समझदार। ~ कहै कबीर सुनहु रे **गुनियाँ**, विनसैंगो रूप देखै सभ दुनियाँ। →पद २७६-६।

गुनी—वि० [सं० गुणिन्] विद्वान्, अन√ =साधारण व्यक्ति। ~ **गुनी अनगुनी** अर्थ नहिं आया, बहुतक जने चीन्हि नहिं पाया। → र० ४-४।

गुपुत धरी—क्रि० [हि०] सुरक्षित रखा। ~ याही तैं मोहिं प्यारी लागी लैकै **गुपुत धरी**। → पद ३२७-३।

गुप्त—वि० [सं०] सूक्ष्म। ~ तहिया **गुप्त** थूल नहिं काया, ताके न सोक ताकि पै माया। → ७४-१।

गुमांना—संज्ञा पु० [फा० गुमान] घमण्ड।

दे० 'गुमाना'। ~ गरब **गुमाना** सब दूरि निवारै करनी की बल नाही। → पद ३१५-१३।

गुमाना—सज्ञा पु० [फा गुमान] अहकार, अभिमान। ~ कहहिं कबीर खोजै असमाना, सो न मिला जिहि जाय **गुमाना**। → र० ३२-३, पद २६७-७।

गुमानी—वि० [फा] अहकारी, घमण्डी, मिथ्याभिमानी। ~ वड सो पापी आहिं **गुमानी**, पाषड रूप छलो नर जानी। → र० १४-१।

गुर—सज्ञा पु० [स० गुरु मन्त्र] भेद, रहस्य, युक्ति। ~ कहै कबीर **गुर** पूरा पाया भाग हमारा जागा।→ पद ३४०-८, सा० पी० पि० (३६) ३-२।

गुर—सज्ञा पु० [दे०] मस्तूल। ~ **गुर** भौ ढील गोनि भै लचपचि, कहा न मानेहु मोरा हो। → कहरा (३) १-२६।

गुर—सज्ञा पु० [स० गुरु] सद्गुरु। → कहै कबीर **गुर** एक वुधि वताई, सहज सुभाइ मिलै राम राई। → पद ३११-५, पद २८१-५।

गुरगमि—सज्ञा पु० दे० 'गुरुगमि'।

गुरगमि—सज्ञा पु० दे० 'गुरुगमि'।

गुरु—सज्ञा पु० [स०] महान् पुरुष, ब्रह्मादि, सनकादि, सद्गुरु।~प्रथम चरन **गुरु** कीन्ह विचारा, करता गावै सिरजनहारा। → र० ४-१।

गुरुगमि—यौ० [स० गुरुगम्य] रहस्य का ज्ञान, गुरु के मार्ग से या गुरु के प्रभाव से। ~ प्रकट प्रकास ग्याँन **गुरुगमि** थैं, ब्रह्म अगिनि परजारी। → सव० १५८-३, पद ३४५-१०, पद ३४२-१२।

गुवारा—संज्ञा पु० [स० ग्वाल] ग्वाल। ~ मथुरा मरिगो कृस्न **गुवारा**, मरि मरि गए दसौ अवतारा। → र० ५४-२।

गुष्टि—सज्ञा स्त्री० [स० गोष्ठी] परामर्श, वातचीत। ~ आँधरि **गुष्टि** स्रिष्टि भौ बौरी, तीनि लोक मँह लागि ठगौरी। → र० ११-१।

गुसल—सज्ञा पु० [अ० गुस्ल] स्नान। ~ असमान म्यानै लहग दरिया **गुसल** करद वूद। →सव० ८१-७।

गुसांइ—सज्ञा पु० दे० 'गुसाईं'।

गुसाईं—सज्ञा पु०[स० गोस्वामी] स्वामी, प्रभु, ईश्वर। ~अव न वसूँ इहि गाउँ **गुसाईं**। → सव० १०-१, सा० वीन० (५६) ५-१।

गूंगा—वि० [फा० गुग] जिसे वाणी न हो, मूक, जा वोल न सके। ~ **गूँगा** ग्यान विग्यान प्रकासै, अनहद वानी वोलै। → सव० २८-८, पद १-२, पद ३०३-१२।

गूंगे—वि० दे० 'गूंगा'।

गूद—सज्ञा पु० [स० गुप्त, प्रा० गुत्त] गूदा, मास, भेजा। दे० 'गूदा'। ~ हाड झरी झरि **गूद** गली गल, दूध कहाँ ते आया। → सव० १७४-८।

गूदरी—सज्ञा स्त्री० [हि० गुदडी] फटा वस्त्र। ~ काहू गरी **गूदरी** नाही

काहू सेज पयारा। →पद २१६-६।

गूदा—सज्ञा पु० [स० गुप्त] मास, भेजा। ~ एक रुधिर एकै मल मूतर, एक चाम एक **गूदा**। → सव० ५५-३।

गे—सवो० [दे०] सम्बोधन 'हे' के स्थान पर पूर्वी प्रयोग (तिरहुत मे प्रचलित)। ~ ननदी **गे** तै विषम सोहागिनि, तैं निदले ससारा **गे**। → कहरा (३) ११-१।

गेल—क्रि० [स० √गम्] गया। ~ वेद कितेव कीन्ह विस्तारा, फैलि **गेल** मन अगम अपारा। → र० ५-५।

गेह—सज्ञा पु० [स० गृह] घर। ~ विनु जिभ्या गुन गाइया, विनु वस्ती का **गेह**। → पद २४८-६।

गै—सज्ञा पु० [स० गज] हाथी। ~ है **गै** वाहन सघन घन, छत्र धुजा फहराइ। → सा० साधुम० (३०) ४-१।

गैऊ—क्रि० [स० √गम्] चला गया। ~ सुनहि वाछा सुनहि **गैऊ**, हाथा छाडि वेहाथा भैऊ। → र० १६-३।

गैल—क्रि० [भोज०] चले गए, नष्ट हो गए। ~ दांत **गैल** मोर पान खात, केस **गैल** मोर गग नहात। नैन **गैल**··· । → वसंत (४) ४-२, ३।

गो—क्रि० [स० गम्] गया। ~ विप अमृत **गो** एकहि सानी, जिन जानी तिनि विपि कै मानी। → र० ११-७।

गोई—क्रि० [स० गोपन] छिपाकर। ~ पढना पढहु घरहु जनि **गोई**, नहिं तौ निश्चय जाहु विगोई। → र० १७-७, कहरा (३) १-२५।

गोड़—सज्ञा पु० [प्रा० गोड] पैर। ~ **गोड़** न मूड न प्रान अधारा, तामँह भरमि रहा संसारा। → र० ७२-२, पद ३१८-५।

गोड़ा—सज्ञा पु० [दे०] पाया, कैंची की तरह वँधी हुई ताने के दोनो ओर की लकडियाँ जो ताने को रोके रहती है। ~ चाँद सुरुज दुइ **गोड़ा** कीन्हा, माँझ दीप माँझा कीन्हा। → सव० १२७-६।

गोता—संज्ञा पु० [स० गोत्र] कुल, वंश। ~ नाता **गोता** कुल कुटुम सभ, इन्ह की कौन वडाई हो। → कहरा (३) ५-७।

गोती—वि० [स० गोत्रीय] गोत्र वाले। ~ और सकल ए भार लदाऊ, महिपी सुत कै **गोती**। → सव० ६६-४।

गोनि—सज्ञा स्त्री० [स० गुण] रस्सी, जिसे नाव खीचने के लिए मस्तूल मे वांधते हैं। ~ गुर भौ ढील **गोनि** भै लचपचि, कहा न मानेहु मोरा हो। → कहरा (३) १-२६।

गोनि—सज्ञा स्त्री० [स० गोणी] थैला। ~ नौ वहिया दस **गोनि** हो रमैया राम। → वेलि (६) १-२२।

गोवछ—सज्ञा पु० [सं० गोवत्स] गाय का वछडा। ~ कहै कवीर हरि सरन गहु, **गोवछ** खुर विस्तार। → र० २०-७।

गोवर—सज्ञा पु० [सं० गोमय] गौ का

मल, मलिन। ~ **गोवर** कोट उचाए हो रमैया राम। → वेलि (६) २-७, सव० ७१-७।

गोवरधनधारी—संज्ञा पु० [स० गोवर्धन-धारिन्] गोवर्धन पर्वत उठाने वाला अर्थात् श्रीकृष्ण। ~ लोग कहैं **गोवरधनधारी**। → पद २८३-१।

गोवरु—संज्ञा पु० दे० 'गोवर'।

गोवरौरा—सज्ञा पु० [हि० गुवरैला] गोवर का कीडा। ~ राम विना नर होइहो कैसा, वाट माझ **गोवरौरा** जैसा। → पद २२१-५।

गोर—सज्ञा स्त्री० [फा०] कब्र। ~ जाका वासा **गोर** मैं, सो क्यों सोवै सुक्ख। →सा० सुमि० (२) १३-२।

गोरू—सज्ञा पु० [सं० गोरूप] पशु। ~हम **गोरू** तुम गुआर गुसाई जनम जनम रखवारे। → पद २३१-७।

गोहराव—क्रि० [हि० गुहार] पुकारता है। ~ चेतत नाही वावरा, मोर मोर **गोहराव**। → र० ७८-११।

गोहरावा—क्रि० [हि० गोहराना] कहना, चेतावनी देना। ~ छेव परे केहु अंत न पावा, कहँहि कवीर अगमन **गोहरावा**। →ज्ञानचौं० (१) ७०।

गोहारि—सज्ञा स्त्री० [हि० गुहार] पुकार। ~ जरत जरत से वाँचिहो, काहे न करहु **गोहारि**। → र० १३-१२।

गोंहनि—सज्ञा पु० दे० 'गौहनि'।

गौ—क्रि० [सं० √गम्] चले गए। ~हिरनाकुस रावन **गौ** कसा, कृस्न गए सुर नर मुनि वमा। → र० ४५-१।

गौना—सज्ञा पु० [स० गमन] गमन, जाने की क्रिया। ~ रहिगौ पथ थकित भौ पौना, दसो दिसा उजारि भौ **गौना**। → र० ४५-४।

गौनी—क्रि० [स० √गम्] गमन किया। ~ भाई के संग सासुर **गौनी**, सासुहि सावत दीन्हा। → पद २६०-४।

गौने—सज्ञा पु० [स० गमन] गौना, द्विरागमन। ~ कहँ कवीर हम **गौने** जैवे, तरव कंत लै तूर वजाई। → पद ३१२ ८।

गौरी—सज्ञा स्त्री० [सं०] पार्वती। ~ ईश्वर **गौरी** पीवन लागे, राम तनी मतवारी रे। → सव० ८७-४।

गौहनि—सज्ञा पु० [स० गोधन] सग, साथ। ~ मैं सासुरे प्रिय **गौहनि** आई। →पद २३८-१, सा० विर० (३) ३१-१।

ग्यारसि—सज्ञा स्त्री० [स० एकादशी] एकादशी व्रत, महीने के दोनो पक्षो की ग्यारहवी तिथि। ~ वाह्मन **ग्यारसि** करै चौवीसौं, काजी माह रमजाना। → सव० २३-७, पद ३२६-४।

ग्रभवास—स० पु० [स० गर्भवास] गर्भ मे। ~ **ग्रभवास** मैं सुमिरन कीन्हा सुखदेव कौन सु माला। → पद ३१४-७।

ग्रहन—सज्ञा पु० [स० ग्रहण] सूर्य-चन्द्र के मध्य मे किसी दूसरे आकाशचारी पिंड की छाया पडना। ~ **ग्रहन** अमावस रुचि रुचि मागहि, कर

दीपकु लै कूप परहि।→सव० ८२-६, सव० १४४-४, पद २७६-५।

ग्रहि—क्रि० [स० ग्रहण] ग्रहण करना, अपनाना। ~परिहरि वकला **ग्रहि** गुन डारि, निरखि देखि निधि वार न पार।→सव० ५०-१०।

ग्रास—सज्ञा पु० [स०] कौर, भोजन, आहार। ~ द्वादस गम को अतरा, तहाँ अमृत कौं **ग्रास**।→पद ३४२-५।

ग्रिह—सज्ञा पु० [स० गृह] घर, गृहस्थी। ~इक वैरागी **ग्रिह** करै, एक ग्रिही वैराग।→सा० वेसा० (३५) २०-२, पद २६८-५, सव० ६६-३, पद २७५-३, सव ६७-३।

ग्रिही—सज्ञा पु० [स०गृहिन्] गृहस्थ।~ इक वैरागी ग्रिह करै, एक **ग्रिही** वैराग।→सा० वेसा० (३५) २०-२।

ग्रेह—स० पु० दे० 'ग्रिह'।

ग्वाड़ा—सज्ञा पु० [सं० गोष्ठ] गाय वाँधने का स्थान, गोशाला। ~**ग्वाड़ा** माहै आनद उपनौ, खूँटै दोऊ वाँधी रे।→सव० २७-६।

घ

घंम—सज्ञा पु० दे० 'घाम'।

घट—सज्ञा [स०] शरीर।~भूलि भटकि नर फिरि **घट** आया, हो अजान सो सभन्हि गँवाया।→र० २५-२, सव० १६६-३, सा० पर० (५) ६-१, र० ६८-४, र० ३०-६।

घटि—सज्ञा पु० [स० घट] हृदय मे, शरीर मे। ~जिहि **घटि** प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम।→ सा० सुमि० (५) १७-१, पद २३०-६।

घटि-घटि—सज्ञा पु० [सं० घट] प्रत्येक शरीर मे।~ऐसे **घटि-घटि** राम है, दुनिया देखै नाँहि।→सा० कस्तू० (५३) १-२।

घड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० घट] घडा, जलपात्र।~सहस **घड़ी** नित उठि जल ढारै, फिर सूखे का सूखा।→ सव० १६१-४।

घन—वि० [सं०] घनी, प्रचुर।~वारह पखुरी चौविस पाता, **घन** वरोह लागे चहुँ पासा।→सव० १६६-३।

घन—वि० [स०] सघन, गहरी।~ जावासा के रूष ज्यूँ, **घन** मेहाँ कुम्हि-लाइ। →सा० माया० (१६) १५-२।

घन—सज्ञा पु० [सं०] हथौडा।~**घन** अहरन विच लोह ज्यौं, घनी सहै सिरि चोट।→सा० चिता० (१२) ५१-२।

घनाँ—वि० [स० घन] अत्यधिक।~जा घट जान विजान है, तिहि घटि आव-टनाँ **घनां**।→सा० साध० सापी० (२६) ८-१।

घना—वि० [स० घन] अनेक, वहुत से।~निपजी मैं साझी **घना**, वाँटे नही कवीर।→सा० गुरु० (१) ३०-२।

घनी—वि० [स० घन+ई० (प्रत्य०)] अधिक मात्रा मे, नाना प्रकार की।

~गिरही तौ चिंता **घनी**, वैरागी तौ भीख।→सा० उप० (३४) ५-१।

घने—वि० [सं० घन] अनेक, अधिकाश। ~कबीर इस ससार मे, **घने** मनुष मतिहीन।→सा० चिता० (१२) २४-१।

घनेरा—वि० [हि० घना+एरा(प्रत्य०)] अधिक, वहुत।~हाथी घोडा वैल वाहनो, सग्रह किया **घनेरा**।→सव० १३४-३।

घनेरी—वि० [हि० घना+एरा (प्रत्य०) (स्त्री० घनेरी)] अधिक।~वावा आदम पै नजरि दिलाई, उन भी भिस्ति **घनेरी** पाई। → सव० १४१-६।

घमसाना—संज्ञा पु० [हि० घमासान] भयङ्कर।~कोई सूर लडै मैदाना, जिन मारि किया **घमसाना**। →पद २०५-४।

घर—सज्ञा पु० [स० गृह] १. सासारिक घर, २ वास्तविक घर, आध्यात्मिक घर।~**घर** जारै **घर** ऊबरै, **घर** राखें **घर** जाइ।~सा० जी० मृ० (४१) ४-१, २।

घरनि—सज्ञा स्त्री० [स० गृहिणी] पत्नी, घरवाली।~सुरपति जाय अहीलहि छरी, सुरगुरु **घरनि** चन्द्रमै हरी। ~र० ८१-३, पद २६७-६।

घरनी—पज्ञा स्त्री० दे० 'घरनि'।

घरवारी—संज्ञा स्त्री० [हि० घरवाली] घरवाली, रखैल। ~ समधी के संग नाही आई, महज भई **घर-वारी**।→पद २६०-६।

घरि—संज्ञा पु० [सं० गृह] घर मे।~**घरि** परमेसुर पाहुना, सुनौ सनेही दास।~सा० निह० प० (११) १८-१।

घरिआर—सज्ञा पु० दे० 'घरियार'।

घरियार—सज्ञा पु० [हि० घडियाल] नक्र, ग्राह, एक विशाल हिंसक जल-जतु। ~मच्छ कच्छ **घरियार** वियाने, रुधिर नीर जल भरिया। →सव० १७४ ६, र० ७४-६।

घसि—क्रि० [स० घर्षण] घिस कर। ~**घसि** चदन वनखडि वारा, विनु नैननि रूप निहारा।→सव० ८-७, पद २६२-३।

घाँन—सज्ञा पु० [स० घन=समूह] वस्तु की वह मात्रा जो एक वार डाल कर कोल्हू मे पेरी या चक्की मे पीसी जाती है। ~सती सूरतन साहि करि, तन मन कीया **घाँन**।→ सा० सूरा० (४५) ३५-१।

घाम—सज्ञा पु० दे० 'घाम'।

घाई—सज्ञा पु० [स० घातक] घातक। ~ऐसा **घाई** वापरा, जीवहि मारै झारि।→र० १८-६।

घाऊ—सज्ञा पु० [स० घात] चोट, जखम।~हालै करै निसाने **घाऊ** जूझि परे तँह मनमथ राऊ। →र० ८३-५।

घाट—सज्ञा पु० [स० घट्ट] लक्ष्य, गन्तव्य स्थान।~घट माँहैं औघट लह्या, औघट माँहैं **घाट**।→सा० पर० (५) ६-१, सा० पर० (५) २८-२।

घाटा—क्रि० [हिं० घटना] घट गया, समाप्त हो गया।~पाथर **घाटा** लोह सब, (तब) पारस कौने काम। →सा० विरह० (३) ८-२।

घाटी—सज्ञा स्त्री० [हि० घाट से] पर्वतो के बीच का सँकरा मार्ग।~औघट **घाटी** गुर कही, तिहि चढि रहा कबीर।→सा०मधि० (३१) ५-२।

घाटे—सज्ञा पु० [हिं० घाट] स्थित। ~**घाटे** बाटैं सब जग दुखिया, क्या गिरही बैरागी हो। → सब० १३८-३।

घात—सज्ञा पु० [स०] वध, हत्या।~ जाकैं पाइ जगत सभ लागैं, सो पडित जिउ **घात** करैं।→सब० ८२-४।

घात—सज्ञा स्त्री० [स०] कोई कार्य करने के लिए सुयोग, सुअवसर, दाँव।~इहि औसरि चेत्या नही, चूका अबकी **घात**।→सा० चिंता० (१२) २६-२।

घाता—क्रि० [स० घात] प्रहार करना। ~कर गहि केस करै जो **घाता**, तऊ न हेत उतारै माता। →पद ३३३-४।

घानि—सज्ञा स्त्री० [स० घन] घानी। दे० 'घाँन'।~कबीर माया मोहिनी, सब जग घाला **घानि**।→ सा० माया (१६) ८-१।

घाम—संज्ञा पु० [स० घर्म] धूप, घाम, यहाँ तात्पर्य है—दिन।~नैंना नीझर लाइया, रहट बहै निस **घाम**।→ सा० विर० (३) २४-१, सब० ४३-१५, सब० १४०-१३, कहरा (३) १-१२, सा० मधि० (३१) ४-२।

घाला—क्रि० [स० घटन] डाल दिया। ~कबीर माया मोहिनी, सब जग **घाला** घानि।→सा० माया० (१६) ८-१।

घालि—क्रि० [हिं० घालना] डालकर। ~ **घालि** जनेऊ ब्राह्मन होता, मेहरिहिं का पहिराया। → सब० ७६-७; पद २४४-६।

घालि—क्रि० [हि०] नष्ट कर देना, काट डालना।~राम छाडौ तौ मेरे गुरहिं गारि, मोकउँ **घालि** जारि भावै मारि डारि।→सब० १५६-८।

घालि—क्रि० [स० घटन] डालकर, मिलाकर।~**घालि** रसरिया जब जम खैंचै, तब का पति रहै तुम्हारी। →सब० १०४-६, सब० १८४-५।

घाले—क्रि० [हिं० घालना] मारे हुए। ~अति अभिमान लोभ के **घाले**, चले अपनपौ खोइ।→सब० ७३-४।

घालैं—क्रि० [स० घटन] नष्ट करता है।~जीव मारि जीवहिं प्रतिपालैं, देखत जन्म आपनो **घालैं**। → र० ८३-४, सब० ८-५।

घालैं—क्रि० [स० घटन] डालती है, पैदा कर देती है।~हरि बिचि **घालैं** अन्तरा, माया बडी बिसास।→सा० माया० (१६) ५-२।

घाल्या—क्रि० [स० घटन] मिटा दिया। ~कबीर केसौ की दया, समा **घाल्या** खोइ।→सा० उप० (५०) ११-१।

घाल्या—क्रि० [स० घालन] डालना, रखना। ~कौली **घाल्या** बीडरि चालैं, ज्यूं घेरौ त्यूं दरबैं। →सब० २७-४।

घाल्यौ—क्रि० [स० घटन] नष्ट करना। ~प्रगटी बास वासना धोइ, कुल प्रगट्यौ कुल **घाल्यौ** खोइ।→सब० ४७-५।

घाव—संज्ञा पु० [स० घात] चोट।~गगन दमामाँ वाजिया, परा निसानै **घाव**।→सा० सूरा० (४५) ६-१।

घिन—संज्ञा स्त्री [स० घृणा] घृणा। ~जाकौ यहु जग **घिन** कर चालै, ता प्रसाद निस्तरिया। →सब० ३२-८।

घींन—वि० [स० घृणित] दे० 'घीन'।

घीन—वि० [स० घृणित] घृणित।~अपने ऊँच नीच घर भोजन, **घीन** कर्म करि उदर भरै।→पद २७६-४, सब० ८२-५।

घुरड़ि—क्रि० [सं० घूर्णन] उस्तरे से घुटाकर।~भावै लवे केस करि, भावै **घुरड़ि** मुडाइ।→सा० भेष० (२४) ११-२।

घुराऊँ—क्रि० [हिं०] वजाऊँ।~रिपु कै दल मैं सहजहिं रौंदौं अनहद तवल **घुराऊँ** जी।→पद ३०७-७।

घूर—संज्ञा पु० [स० कूट] कूडे का ढेर।~हाड गोड लै **घूर** पँवारिन, आगि धुँवाँ नहिं खाई। →पद ३१८-५।

घूरि-घूरि—वि० [हिं० घोर] अत्यधिक। ~**घूरि-घूरि** वरखा वरसावै, परिया वूंद न पानी।→पद १६६-२।

घेरा—संज्ञा पु० [हिं०] वधन।~कहैं कवीर सुनो हो संतो, कठिन काल का **घेरा**।→सब० १८०-४।

घेरिन—क्रि० [हिं०] घेर लेना।~दसहुँ दिसा वाके फंद हैं, जिव **घेरिन** आना।→सब० १३५-४।

घोंटि—संज्ञा स्त्री० [स० घुट्टी] घुट्टी। ~ते नर कहहु कहाँ गए, जिन्हहिं दीन्ह गुर **घोटि**।→र० ३६-५।

घोर—संज्ञा पु० दे० 'घोरा'।

घोरा—संज्ञा पु० [स० घोटक] घोडा, अश्व।~**घोरा** घोरी कीन्ह वटोरा, गाँव पाय जस चले करोरा।→र० ६६-८, कहरा (३) १-२७।

घोरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० घोडा + ई (प्रत्य०)] घोडी। ~ घोरा **घोरी** कीन्ह वटोरा, गाँव पाय जस चले करोरा।→र० ६६-८।

च

चंगे—वि० [सं० चग] अच्छा, खासा, निर्मल।~उस **चगे** दीवान मैं, पला न पकडै कोइ। →सा० साँच (२२) २-२।

चंचु—संज्ञा पु० [स०] चोच।~मुकताहल विनु **चंचु** न लावै, मौनि गहै कै हरि गुन गावै। →पद ३३४-४।

चंदा—संज्ञा पु० [स० चन्द्र] चन्द्रमा।~विनु **चंदा** उजियारी दरसै जहँ तहँ हंसा नजरि परै। →पद २४६-४।

चंद्रवदनि—वि० [हिं० चन्द्रवदनी] चन्द्रमा के समान मुख वाली। ~**चंद्रवदनि** मृगलोचनि माया, वुंदका दियो उघार। →चाँचर (५) १-४।

चंपा—सज्ञा पु० [सं० चंपक] मझोले कद का एक पेड जिसमे हलके पीले रग के कडी महक के फूल लगते है । ~दौना मरुआ **चपा** कै फूला, मानहुँ जीव कोटि सम तूला ।→ र० ३०-४ ।

चंपै—क्रि [सं०√चप्] चाँपना, दवा कर रखना ।~आगि कहै दाझै नही, जे नहि **चंपै** पांइ । →सा० विचार० (३३) २-१ ।

चउका—संज्ञा पु० [स० चतुष्क, प्रा० चउक्क] रसोई घर । ~ गोवरु जूठा **चउका** जूठा, जूठै दीनी कारा । →सव० ७१-७ ।

चउवारे—सज्ञा पु० [हि० चौ+वार] खुला कमरा, वँगला । ~ पवन कोटि **चउवारे** फिरहि, वासिग कोटि सेज विसतरहि । →सव० १२८-७ ।

चकई—सज्ञा स्त्री० [स० चक्रवाक+ई०] मादा चकवा । ~ **चकई** विछुरी रैनि की, आइ मिली परभाति । → सा० विर० (३) ३-१ ।

चकमक—सज्ञा पु० [तु०] एक प्रकार का पत्थर जिस पर आघात करने से आग निकलती है ।~चित **चकमक** लागै नही, तायै धूवाँ ह्वै ह्वै जाइ । →साध सा० (२६) १६-२ ।

चकरी—सज्ञा स्त्री० [स० चक्री] चक्की ।~दुइ **चकरी** जनि दरर पसारहु, तव पैहौ ठिक ठौरा हो ।→ कहरा (३) २-१३ ।

चकवै—वि० [स० चक्रवर्तिन्] चक्रवर्ती राजा ।~सव **चकवै** वित धरनि समाना, एको जीव परतीत न माना । →र० ४७-५, वसत (४) ६-४ ।

चखियो—क्रि० [स० चप] चखा, रसास्वाद लिया ।~अन पान जहाँ जरै, तहाँ तै अनल न **चखियो** । →सा० वेसा० (३५) १-४, सा० सुमि० (२) १८-१ ।

चढत-चढावत—क्रि० [हि० चढना+ चढाना] प्राणायाम करना, प्राण को चढाना ।~**चढ़त-चढ़ावत** भँडहर फोरी, मन नहि जानै केकर चोरी । →र० ५६-१ ।

चतुरगुन—वि० [स० चतुर्+गुण] चौगुना, सव प्रकार से । ~ जीव सीव का आहि नमौना, चारिउ वेद **चतुरगुन** मौना । →र० ३०-२ ।

चतुरभुज—सज्ञा पु० [सं० चतुर्भुज] विष्णु । ~ चतुराई न **चतुरभुज** पइऐ । →सव० १०१-१ ।

चतुरा—वि० [स० चतुर] चतुर, होशियार ।~**चतुरा** झूलहि चतुराइया झूलहि राजा सेस । →हिंडोला (८) ३-३ ।

चतुराइया—सज्ञा स्त्री० [स० चतुर+ हि० आई (प्रत्य०)] चतुराई मे ।~ चतुरा झूलहि **चतुराइया** झूलहि राजा सेस । →हिंडोला (८) ३-३ ।

चपल—वि० [स०] चचल ।~मेरी **चपल** वुद्धि सौ कहा वसाइ । →पद २२४-२ ।

चपेटसी—क्रि० [हि० चपेटना] धर कर दवोचना ।~घोरे वैठि **चपेटसी**, यो ले वूडै ग्यान । →सा०अना० (२७) २-२ ।

चपेटै—क्रि० [हि० चपेटना] दवाती हैं। ~दुर्मति केर दोहागिनि भेटै, ढोटहि चाँपि **चपेटै**। →पद २६६-५।

चवैना—संज्ञा पु० [स० चर्वण] भोजन, ग्रास।~खलक **चवैना** काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद। →सा० काल० (४६) १-२।

चमंकि—क्रि० [हि० चमकना] चमकी, प्रकाशित हुई।~वूडा था पै ऊबरा, गुरु की लहरि **चमकि**। →सा० गुरु० (१) २५-१।

चमकिया—क्रि० [हि० चमक] चमक गया, तप्त हो गया।~कवीर चित्त **चमकिया**, चहुँ दिस लागी लाइ।→ सा० सुमि० (२) ३२-१, सा० साँच० (२२) ३-१।

चमरख—सज्ञा स्त्री० [हि० चाम+ सं० रक्षा] चमडे के टुकडे, जिनमे से होकर तकुआ घूमता है। ~ चारि खूँटी दोइ **चमरख** लाई, सहजि रहटवा दियौ चलाई। →पद २१५-३।

चर—वि० [स०] चेतन, जगम।~रवि के उदै तार भौ छीना, **चर** वीहर दोनो मँह लीना। →र० २६-५।

चरई—सज्ञा स्त्री [दे०] तार की खूँटी। ~जिभ्या तार नासिका **चरई**, माया मोम लगाया। →मव० १०६-५।

चरखी—सज्ञा स्त्री० [फा० चर्ख] चर्खी। ~ताना तनै को अहुठा लीन्हा **चरखी** चारो वेदा। →सव० १२७-२।

चरनों—सज्ञा पु० [सं० चरण] चरणो मे।~हरि **चरनों** चित राखिए, तौ अमरापुर होइ। →सा० भेप० (२४) ६-२।

चराएहु—क्रि० [हि० चराना] चराया, भोजन दिया।~कवहुँ न पार उतारि **चराएहु** कैसे खसम हमारे। →पद २३१-८।

चरिन्दा—सज्ञा पु० [फा०] चरने वाला। ~कामिनि रूपी सकल कवीरा, मृगा **चरिन्दा** होई।→सव० ६४-७।

चलत—वि० [हि०] चञ्चल।~**चलत** मनसा अचल कीन्ही माहि मन पगी। →पद ३२८-७।

चल्यौ हाथ झारि—[मुहा०] हाथ झाड कर चलना, हाथ खाली हो जाना। ~तीनि जगाती करत रारि, **चल्यौ** वनिजारा **हाथ झारि**। →पद २३६-६।

चषि—क्रि० [स० चष] चखकर।~ कवीर प्रेम न चापिया, **चषि** न लीया साव। →मा० सुमि० (२) १८-१।

चसम—सज्ञा स्त्री० [फा० चश्म] नेत्र, आँख। दे० 'चसम'।~काजल टीकि **चसम** मटकावै कसि कसि वाँधै गाढी।→पद ३१३-३।

चसमैं—सज्ञा स्त्री० [फा० चश्म] आँख, नेत्र। दे० 'चसम'। ~करि फिकिर दाइम लाइ **चसमैं** जहाँ तहाँ मौजूद। →सव० १८१-८।

चाँणक—सज्ञा पु० [स० चाणक्य] ई० पू० चौथी शताव्दी के राजनीति के एक आचार्य, जो पाटलिपुत्र के सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु और मत्री थे। ये परम चतुर थे। उन्ही के नाम के आधार पर यह शव्द वना है। भाव

है—चातुर्य, चतुराई। → सा० चाँणक० (१७)।

चाँद—सज्ञा पु० [स० चद्र] चद्रमा, चद्र नाडी, इडा, वायी नाडी।~सूर समाना **चाँद** मैं, दुहूँ किया घर एक। →सा० पर० (५) १०-१।

चाँदना—सज्ञा पु० दे० 'चाँदिना'।

चाँदिना—सज्ञा स्त्री० [हि० चाँद] चाँदनी, प्रकाश। ~ चाँद विहूना **चाँदिना**, अलख निरजन राइ। → सा० पर० (५) १५-२, सा० गुरु० (१) १७-२।

चाँप—सज्ञा स्त्री० [स० √ चप्] दवाव। ~दुर्मति केर दोहागिनि भेटै, ढोटहि **चाँप** चपेटै। →पद २६६-५।

चाँपिहि—क्रि० [हि० चाँपना] पीस डालेगे।~तर ऊपर धँ **चाँपिहि**, जम कोल्हु कोटि पचास। →र० १७-६।

चाँम—सज्ञा पु० [स० चर्म] चमडा, व्याघ्र चर्म या मृगछाला। ~का नागे का वाँधेँ **चाँम**। →सव० ७७-१, सव० ५५-३, सा० चिता० (१२) ११-१, सा० अपा० (४८) ५-२।

चाइ—सज्ञा स्त्री० [हि० चाह] इच्छा, लालसा। दे० 'चाव'।~राम नाँम चीन्है नहीं, पीतलि ही कै **चाइ**। → सा० चाँण० (१७) ५-२।

चाक—सज्ञा पु० दे० 'चाकि'।

चाकि—सज्ञा पु० [स० चक्र] कील पर घूमता हुआ मडलाकार पत्थर, जिस पर मिट्टी का लोदा रखकर कुभार वर्तन वनाते हैं, चाक। ~पाका कलस कुँभार का, वहुरि न चढिहै **चाकि**। →सा० रस० (६) १-२, विप्र० (२) २४।

चाख—क्रि० [स० चष्] चखना, स्वाद लेना।~जव लग सिर सौपे नही, **चाख** सकै नहिं कोइ। →सा० सूर० (४५) १८-२।

चाखिया—क्रि० [हि० चखना] चखता है।~जिनि यह अमृत **चाखिया**, सो ठाकुर हँम दास। →पद ३४२-६।

चाखुर—सज्ञा पु० [दे०] हेगा, भूमि को समतल करने वाला पट्टा।~वनकि भलुइया **चाखुर** फेरै, छागर भये किसाना। →सव० १५५-३।

चाखे—क्रि० [हि० चखना] स्वाद लेना। ~फ फा फल लागे वड दूरी, **चाखे** सतगुरु देइ न तूरी। → ज्ञान चौ० (१) ३८।

चाटक—सज्ञा पु० [स० चेटक] जादू। ~ हरिवाजी सुर नर मुनि जहडे, माया **चाटक** लाया।→सव १८-३।

चात्रिग—सज्ञा पु० [स० चातक] चातक।~रामहि राम रटौ **चात्रिग** ज्यौ निहचै भगति निवासा। →पद २०८-८।

चावुक—सज्ञा पु० [फा०] कोडा।~ सहज पलान चित कै **चावुक** लौ की लगाम लगाऊँ जी।→पद ३०७-३।

चारन—सज्ञा पु० [स० चारण] चारण, भाट, प्रशस्ति गायक।~मडए के **चारन** समधी दीन्हा, पुत्र विवाहल माता। →सव० ३६-३।

चारा—सज्ञा पु० [स० √चर्] भोजन, खाद्य पदार्थ। ~कीर भए सब जीयरा लिए विख कर **चारा**। → पद ३१६-७।

चाल—सज्ञा स्त्री०[स०√चल] आचरण करना।~जैसी मुख तैं नीकसैं, तैसी चालैं **चाल**। →सा० कर० वि० क० (१८) २-१।

चालनहार—क्रि० वि० [स० √चल्+हार] चलने वाले, मृत्यु के निकट। ~जिनि हम जाए ते मुए, हम भी **चालनहार**। →सा० काल० (४६) ३२-१।

चालना—क्रि० [सं० √चल्] चलना है, जाना है।~जिहिं पंथा तोहि **चालना**, सोई पथ सँवारि। →सा० चिता० (१२) १४-२।

चाला—क्रि० [स० √चल्] चलते हुए जाना।~कबीर **चाला** जाइ था, आगैं मिला खुदाइ। →सा० साध० सा० (२६) २१-१।

चालि—क्रि० [स० √चल्] चला गया, वह गया।~डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निवाँणा **चालि**। →सा० मन० (१३) २२-२।

चाली—क्रि० [स०√चल्] गयी, चली। ~दीन गँवाया दुनी सौ, दुनी न **चाली** साथि। →सा० चिता० (१२) ४३-१।

चालै—क्रि० [हि० चलना] चलता है। ~विनु जिभ्या गावै गुन रसाल, विनु चरनन **चालै** अधर चाल। → पद २२५-३, पद ३२३-६।

चालैं—क्रि० [स०√चल्] आचरण करना।~जैसी मुख तैं नीकसैं तैसी चालैं **चाल**। → सा० कर० वि० क० (१८) २-१, ३-१।

चाव—सज्ञा स्त्री० [हि० चाह] इच्छा, उत्कठा, लालसा।~खेत बुहारा सूरिवाँ, मुझ मरने का **चाव**। →सा० सूरा० (४५) ६-२, चाँचर (५) १-१०, वसत (४) १-७।

चाषि—क्रि० [सं०√चष्] चखकर, स्वाद लेकर।~इहि चिति **चाषि** सबै रस दीठा, राम नाम सा और न मीठा।→सब० १४-३।

चाषिया—क्रि० दे० 'चखियौ'।

चितवै—क्रि० [सं० चिन्ता] चिन्ता करता है।~कवीर का तूं **चितवै**, का तेरे चिंते होइ।→सा० वेसा० (३५) ६-१।

चिंता—सज्ञा स्त्री० [स०] चिंतन, स्मरण, ध्यान, ख्याल, अभिलाषा।~ **चिंता** तौ हरि नाँव की, और न चितवै दास।→सा०सुमि० (२) ६-१, सा० वेसा० (३५) ५-२, सव० १४६-८।

चिंतामणि—सज्ञा पु० [स०] वह मणि जिसके पास रहने से समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। ~**चिंतामणि** क्यूं पाइए ठोली, मन दे राम लियौ निरमोली। → सव० ३१-४, पद २५१-२, सा० वेसा० (३५) ५-१, सव० १४६-७।

चिंतामनि—सज्ञा पु० दे० 'चिंतामणि।

चिंते—क्रि० [स० चिन्ता या चिन्तन] चिंतन करने से। ~ कवीर का तूं

चितवै, का तेरे **चिते** होइ। सा० वेसा० (३५) ६-१।

चिकनिया—वि० [स० चिक्कण, हि० चिकना + इया (प्रत्य०)] छैला, विलासी। ~ चतुर **चिकनिया** चुनि चुन मारे कोई न छाडा नेरै। →पद २४४-२।

चिगवा—सज्ञा स्त्री० [दे०] नालिका, नली।~चद सूर दोइ भाठी कीन्ही, सुपमनि **चिगवा** लागी रे। →सव० ८७-५।

चिगाई—क्रि० [हि०] वनाई, तैयार की। ~ दोइ पुड जोरि **चिगाई** भाठी, चुआ महारस भारी। → सव० ३५-५।

चिजारा—सज्ञा पु० दे० 'चेजारा'।

चिड़ा—सज्ञा पु० [स० चटक] गौरा पक्षी, गौरैया का नर।~काल सचाना नर **चिड़ा** औझड औचिताह।→सा० काल० (४६) २-२।

चित—सज्ञा पु० [स० चित्त] चित्त, मन। ~ **चित** चरणू मैं चुभि रहा, तव न काल का वान।→सा० सजी० (४७) ५-२।

चितरनहारा—सज्ञा पु० [हि०] चित्रकार, रचने वाला। अंवर मद्धे दीसै तारा, कौन चतुर ऐसा **चितरनहारा**। → सव० ७४-३।

चितवै—क्रि० [हि०] चिंतन करना, स्मरण करना। ~ चिंता तौ हरि नांव की, और न **चितवै** दास। →सा० सुमि० (२) ६-१।

चितावणी—सज्ञा स्त्री [हि० चेतावनी] सचेत करने की क्रिया।→सा० चिता० (१२)।

चिति—सज्ञा पु० [स० चित्त] चित्त मे। ~इहि **चिति** चापि सवै रस दीठा, राम नाम सा और न मीठा।→सव० १४-३।

चितेला—संज्ञा पु० [हि० चित्रकार] चित्रकार। ~जिन्ह यह चित्र विचित्र उखेला, चित्र छोडि तैं चेतु **चितेला**। → ज्ञान चौं० (१) १४।

चित्र—सज्ञा पु० [स०] ससार के पदार्थ (चित्र), तस्वीर।~च चा **चित्र** रचो वहु भारी, **चित्र** छाडि तैं चेतु चित्रकारी। जिन्ह यह **चित्र** विचित्र उखेला, **चित्र** छोडि तैं चेतु चितेला। → ज्ञान चौ० (१) १३, १४।

चित्रकारी—सज्ञा पु० [हि० चित्रकार] चित्र वनाने वाला, निर्माता, प्रभु। ~ च चा चित्र रचौ वहुभारी, चित्र छाडि तैं चेतु **चित्रकारी**। →ज्ञान चौं० (१) १३।

चित्री—वि० [स० चित्रित] चित्रित, सुसज्जित।~ कवीर ऊँचा धौलहर, माँटी **चित्री** पौलि। → सा० काल० (४६) १८-१।

चिनाऊँ—क्रि० [सं०√चि] वनवाऊँ।~ काहे कूँ मदिर महल **चिनाऊँ**, मुंवा पीछ घडी एक रहन न पाऊँ।→ सव० ८०-२।

चिनि गया—क्रि० [हि० चुनना + स० √गम्] चुन गया।~कोई चेजारा **चिनि गया**, मिला न दूजी वार।→ सा० चिन्ता (१२) १७-२।

अचेतहि गैऊ, **चेत** अचेत झगर एक भैऊ । → र० ४७-६ ।

चेतत—संज्ञा पु० [हि०] अन्तरात्मा । ~**चेतत** रावल पावन खेडा, सहजै मूलहि वाधैं ।→सव० ६५-३ ।

चेतन—संज्ञा पु० [स०] जीवात्मा ।~ कवीर घोडा प्रेम का, **चेतन** चढ़ि असवार ।→सा० सूरा० (४५) २७-१ ।

चेतनि—सज्ञा पु० [स० चेतन] चैतन्य स्वरूप, आत्मतत्त्व ।~वसै गगन मैं दुनी न देखै, **चेतनि** चौकी वैठा ।→ सव० ३४-३ ।

चेतनि—वि० [स० सचेतन] सचेत होकर, सावधान होकर ।~कोई एक राखै सावधान, **चेतनि** पहरै जागि ।→सा० उप० (३४) १०-१ ।

चेतनि—सज्ञा स्त्री० [स० चेतना] ज्ञान । ~**चेतनि** चौकी वैसि करि, सतगुरु दीन्ही धीर । → सा० गुरु० (१) २३-१ ।

चेतनि—सज्ञा पु० [स० चेतन] चैतन्य व्रह्म । ~चित **चेतनि** मैं गरक ह्वै, चेति न देखैं मत ।→सा० विर्क० (३७) ५-१ ।

चेतवा—क्रि० [हि० चेत] होश मे आना, सावधान होना ।~**चेतवा** है तौ चेतहु, नहि दिवसु परतु है धार । →र० ४४-५ ।

चेता—वि० [हि० चेतना] चाहा हुआ, वाछित ।~मन का **चेता** तव भया, कछू पूरवला लेख ।→सा० पर० (५) १०-२ ।

चेति—क्रि० [स० चेतन] चेतकर, सावधान होकर ।~चित चेतनि मैं गरक ह्वै; **चेति** न देखैं मत । → सा० विर्क० (३७) ५-१ ।

चेति—क्रि० [स० चिंतन] सावधानी से, समझ कर । ~ वाजीगरी ससार कवीरा, **चेति** ढारि पासा ।→सव० १७५-८ ।

चेतु—क्रि० [स० चिंतन] सावधान हो जाओ ।~हसा हो चित **चेतु** सवेरा, इन्ह परपच करल वहुतेरा → पद ३२४-१ ।

चेतु—क्रि० [स० चिंतन] चिंतन करो, ध्यान करो । ~ जिन्ह यह चित्र विचित्र उखेला, चित्र छोडि तैं **चेतु** चितेला । →ज्ञान चौं० (१) १४ ।

चेतै—क्रि० [स० चिंतन] विचार करना । ~काल फाँस न मुगध **चेतै** कनक कामिनी लागि । → सव० १८७-६ ।

चेत्या—क्रि० [हि० चेत] सावधान हुआ, विचार किया । ~ इहि औसरि **चेत्या** नही, चूका अवकी वात । →सा० चिता० (१२) २६-२ ।

चेरा—सज्ञा पु० [सं० चेलक] चेला, शिष्य । ~ कवीर **चेरा** सत का, दासनि का परदास ।→सा०जी० मृ० (४१) १३-१ ।

चेरी—सज्ञा स्त्री० [स० चेटी] दासी ।~ कहै कवीर राजा राम भजन सौं नव निधि होइगी **चेरी** ।→सव० १६०-७, पद २४४-७ ।

चेली—सज्ञा स्त्री० [स० चेलक से]

शिष्या ।~ब्राह्मन कै घरि ब्राह्मनि होती, जोगी कै घरि चेली ।→सब० २६-५ ।

चोगी—सज्ञा स्त्री० [दे०] नली ।~भाठी गगन सीगी करि **चोगी** कनक कलस इक पावा ।→पद २५०-५ ।

चोआ—सज्ञा पु० [हि० चुआना] एक सुगन्धित द्रव पदार्थ, जो कई गध द्रव्यो को एक साथ मिलाकर उसका रस टपकाने से तैयार होता है ।~**चोआ** चदन मरदन अगा, सो तनु जलै काठ कै सगा ।→पद २७६-५, वसत (४) ११-२ ।

चोख—वि० [स० चोक्ष, प्रा० चोक्ख] फुर्ती से, वेग से ।~वैठा रहै चलन यह **चोख** ।→सब० १६७-१० ।

चोखी—सज्ञा स्त्री० [हि०] तले-भुने पदार्थ ।~एक तौ पडे धरनि पर लोटैं, एक कहैं **चोखी** दे माई ।→ सब० १२०-६ ।

चोखं—वि० [सं० चोक्ष] शुद्ध, उत्तम, श्रेष्ठ ।~आज वसौ मन मदिर **चोख**, कहै कवीर परहु मति धोखैं । →सब० ६-५ ।

चोघतां—क्रि० [स० √चि] चुगते हुए । ~कवीर टुक-टुक **चोघतां**, पल पल गई विहाइ ।→ सा० काल० (४६) ७-२ ।

चोटा—सज्ञा स्त्री० [स०√चुट्] चोट, मार, मुंह की खाना ।~सुमिरन भजन दया नहि कीन्ही तौ मुखि **चोटा** खाइगा ।→पद २७४-६ ।

चोरियां—क्रि० [हि० चोरी] छिपाता है, दुराव करता है । ~ साँई सेती **चोरियां**, चोरो सेती गुज्झ ।→सा० साँच० (२२) १० १ ।

चोल—सज्ञा स्त्री० [स०] मजीठ, एक प्रकार की लता जिसकी जड व डठलो को उवाल कर लाल रग निकाला जाता है । ~ पासि विनठा कप्पडा, क्या करै विचारी **चोल** । →सा० गुरु० (१) २४-२ ।

चोलना—सज्ञा पु० [स० चोल] एक प्रकार का पर्याप्त लम्वा और ढीला कुर्त्ता जिसे प्राय साधु पहनते हैं, चोला ।~काम **चोलना** भया पुराना गया भरम सभ छूटी । →सब० १५-४ ।

चोला—सज्ञा पु० [स० चोल] वस्त्र । ~सहज सिंगार प्रेम का **चोला** सुरति निरति भरि आनी । →सब० १७६-३, सब० १२५-२ ।

चोली—सज्ञा स्त्री० [स०] पान की डिविया । ~चदन भागा गुन करै, जैसे **चोली** पन । →सा० विर्क० (३७) ३-१ ।

चोवा—सज्ञा पु० दे० 'चोआ' ।

चौक—सज्ञा स्त्री० [सं० चतुष्क] चौकोर भूमि ।~दुलहिन लीपि **चौक** वैठारे, निरभय पद परगाता । →सब० ३६-४ ।

चौकं—सज्ञा पु० [स० चतुष्क] मगल के अवसर पर पूजन के लिए आटा और अवीर की रेखाओ से वना चौकोर क्षेत्र, वेदी । ~ पूरि सुहाग भयौ विनु दूलह **चौकं** राँड भई सग साईं । → पद २३८-६ ।

चौकै राड भई—[मुहा०] भाँवर पडते ही विधवा हो गई ।~पूरि सुहाग भयौ बिनु दूलह चौकै राड भई सग साई । →पद २३८-६ ।

चौज—सज्ञा पु० [?] आनद, मनो-विनोद करने वाली चमत्कारपूर्ण उक्ति ।~कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चौज । →सा० चिता० (१२) ३५-१ ।

चौडै—सज्ञा पु० [स० चुटा] अनाज रखने का गड्ढा । ~चीटी परवत उखारिया, लै राख्यौ चौडै । → सब० ५१-५ ।

चौथे पद—सज्ञा पु० [सं० चतुर्थ+पद] तुरीयावस्था, तुरीय [चतुर+ईयट् (प्रत्य०)] ।~कहै कबीर हमरा गोविन्द, चौथे पद महि जन की जिंद । →सब० ४२-१० ।

चौधरी—संज्ञा पु० [हि० चतुर+घर] मुखिया, अगुआ, मालिक ।~चौदह भुवन चौधरी मरिहै काकी धरिऐ आसा । →पद २९३-६ ।

चौपडि—सज्ञा स्त्री० [चतुष्पट] चौसर, एक प्रकार का खेल, जो बिसात पर चार रगो की चार-चार गोटियो और तीन पासो से दो मनुष्यो मे खेला जाता है, साधना ।~चौपडि माँडी चौहटै, अरध उरध बाजार । →सा० गुरु० (१) ३१-१ ।

चौहटै—सज्ञा पु० [हि० चौ+स०हट्ट] चौराहा, त्रिकुटी, जो दोनो भौहो के मध्य मे है ।~चौपडि माँडी चौहटै, अरध उरध बाजार । →सा० गुरु० (१) ३१-१ ।

च्यंत—संज्ञा स्त्री० [स०चिंता०] विचार, ध्यान, फिक्र ।~द्वादस दल अभिअतरि म्यत, तहाँ प्रभू पाइसि करिलै च्यत । →सब० १४०-१२; सब० ८१-२ ।

च्यंत—सज्ञा स्त्री० [स० चिता] १ ज्ञान । २ सासारिक चिताएँ ।~उपजी च्यत च्यत मिटि गई, भौ भ्रम भागा ऐसी भई । →सब० ४७-६ ।

च्यति—सज्ञा स्त्री० [स०चिन्ता] चिन्ता । ~अपनै च्यंति न आवई, जिनकी आदि न अत । →सा० निन्द्या० (५४) २-२ ।

छ

छछरै—क्रि० [स० तुच्छ] खाली होना, खाली करना । ~इहि भाँति भयानक उद्र मे उद्र न कबहूँ छछरै ।→सा० वेसा० (३५) १-५ ।

छकि—क्रि० [हि० छकना] तृप्त होना । ~छ छा आहि छत्रपति पासा, छकि किन रहै मेटि सब आसा ।→ज्ञान चौं० (१) १५ ।

छछिहारी—सज्ञा स्त्री० [दे०] छाछ को मथने वाली ।~इला पिंगुला सुख-मन नारी, वेगि बिलोइ ठाढी छछि-हारी ।→पद ३३०-४ ।

छठये—वि० [स० षष्ठ] छठे, मन को छठी इन्द्रिय माना गया है । यहाँ तात्पर्य है शुद्ध अत करण ।~ऐसी विधि जो मो कहँ ध्यावै, छठये माँह दरस सो पावै ।→र० ५२-३ ।

छतरिया—सज्ञा स्त्री० [स० छत्र] छाता। ~ ऐसनि जानि पसीजहु सीझहु, कस न **छतरिया** छायहु हो। →कहरा (३) १-२३।

छताँ—क्रि० वि० [स० सत्] रहते हुए। ~देह **छताँ** तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवत कवीर। → पद ३४६-७।

छत्र—सज्ञा पु० [स०] राजचिह्न, छाता, छतरी। ~गगन मडल महि लसकरु करै, सो सुरतानु **छत्र** सिरि धरै। → पद ३४६-८, सा० चिता० (१२) ११-२, सव० २७३-७।

छत्रपति—सज्ञा पु० [स०] राजा, परमात्मा। ~ छ छा आहि **छत्रपति** पासा, छकि किन रहै मेटि सव आसा। → ज्ञान चौं० (१) १५।

छत्री—सज्ञा पु० [स० क्षत्री] क्षत्रिय। ~ब्राह्मन **छत्री** वानी, तिनहू कहल नहि मानी। →पद ३४८-३, पद ३६२-११, र० ८३-१।

छपरी—सज्ञा स्त्री० [हि० छप्पर] झोपडी। ~वैश्नौं की **छपरी** भली, ना साकत वड गाँउँ। →सा० साधु म० (३०) १-२।

छरी—क्रि० [स० छल] प्रवचित किया, छला। ~ सुरपति जाय अहीर्लहि **छरी**, सुरगुरु घरनि चन्द्रमै हरी। → र० ८१-३।

छहियाँ—सज्ञा स्त्री० [हि० छाँह] छाया। ~वारह जोजन कै विपै चले छत्र की **छहियाँ** रे। →पद २७३-७।

छाँडहु—क्रि० [हि० छोडना] छोड दो या छोड दीजिए। ~**छाँड़हु** पति **छाँडहु** लवराई, मन अभिमान छूटि तव जाई। →र० ६०-१।

छाड़ा—क्रि० [हि० छोडना] छोड दिया। ~सुख **छाड़ा** तव सव दुख भागा, गुर कै सवदि मेरा मन लागा। → सव० १६२-५।

छाँडौं—क्रि० [हि० छोडना] छोडता हूँ। ~जे **छाड़ौं** तौ वूडिहौ, गहौ त डसिहै वाँहि। →सा० विर० (३) ४३-२।

छाँनाँ—वि० [स० छन्न] छन्न, छिपा। ~जिहि हिरदै हरि आइया, सो क्यो **छाँनाँ** होइ। → सा० साध० सा० (२९) १७-२, १६-१।

छाँनि—सज्ञा स्त्री० [हि०] छप्पर, छाजन। ~रॉम जपत दालिद भला, टूटी घर की **छाँनि**। → सा० साधु म० (३०) १०-१, पद ३०२-४।

छाँनि—क्रि० [स० चालन] छेद कर, भेद कर। ~लागी चोट मरम्म की, गई कलेजे **छाँनि**। → सा० विर० (३) १६-२।

छाँनै—क्रि० वि० [स० छन्न] प्रच्छन्न रूप से, एकान्त मे। → कबीर परगट राम कहि, **छाँनै** रॉम न गाइ। →सा० सूरा० (४५) ३६-१।

छाँह—सज्ञा स्त्री० [स० छाया] छाया, भक्ति की छाया। ~ कवीर तहाँ विलवियां, जहाँ **छाँह** नहि घम। → सा० मधि (३१) ४-२, सव० ६६-३, सव० ४३-१५, सव० १४०-१३, सा० माया (१६) २३-१।

छाँहा—सज्ञा स्त्री० दे० 'छाँह'।

छाँहि—सञ्ज्ञा स्त्री० दे० 'छाँह'।
छाँही—सञ्ज्ञा स्त्री० [स० छाया] प्रति-विम्व, छाया।~विस्नु लोक विनसे छिन माँही, हौ देखा परलै की **छाँही**। →र० ४६-४।
छाऊँ—क्रि० [स० छादन] आच्छादन करना, छाना।~काहे कूं **छाऊँ** ऊँच ऊँचेरा, साढे तीनि हाथ घर मेरा। →सव० ८०-३।
छाका—क्रि० [हि० छकना] छक गया। ~नीझर झरै अमीरस निकसै इहि मद रावल **छाका**। →पद ३४४-७।
छाकि—सञ्ज्ञा स्त्री० [हि० छकन] छक कर (पीने) का भाव, तृप्ति।~कवीर हरि रस यौं पिया, वाकी रही न **छाकि**। →सा० रस० (६) १-१।
छाकि पर्‌यो—हि० [मुहा०] तृप्त हो गया।~**छाकि पर्‌यो** आतम मति-वारा। →सव० १०८-१।
छागर—सञ्ज्ञा पु० [स० छागल] वकरा। ~सुम्रिति कहा आपु नहिं माना, तरुवर तर **छागर** होय जाना। → र० ६५-६।
छाजै—क्रि० [हि० छज] शोभा देता है। ~कहै कवीर राम है राजा, जो कछु करै सो **छाजै**। → सव० २८-१०।
छानै—सञ्ज्ञा पु० [स० छन्न] प्रच्छन्न रूप मे।~छाँनै लघन नित करै, राम पियारे जोग। →सा० साध सा० (२६) १०-२।
छापरडाँह—संज्ञा पु० [हि०] छप्पर पर। ~ नीर मिवाणाँ ठाहरै, नाँ कछु **छापरडाँह**। → सा० निगु० (५५) ४-२।
छाया—सञ्ज्ञा स्त्री० [स०] साया। ~ सीतल **छाया** सघन फल, पखी केलि करत।→सा० सजी० (४७) ६-२।
छाया—सञ्ज्ञा स्त्री० [स०] तेज—[सूर्य-प्रियाकान्ति प्रतिविम्वमनातप ,अमर-कोप, पृ० ४२४]। ~ प्रगटे पवन पानी औ **छाया**, वहु विस्तार कै प्रगटी माया।→र० ३-३।
छार—संज्ञा पु० [स० क्षार] भस्म, राख, मिट्टी।~सो तन छिया **छार** होइ जैहैं, नाँउँ न लेइहै कोई।→ सव० ७८-४, पद २११-८, कहरा (३) ७-३, र० ७१-६।
छारा—सञ्ज्ञा पु० दे० 'छार'।
छिछिल—क्रि० [दे०] फैल गया।~ **छिछिल** विरहुली **छिछिल** विरहुली, **छिछिल** रहलि तिहुँ लोक विरहुली। → विरहुली (७) ६।
छिटकाई—क्रि० [हि० छिटकाना] छोड दिया, छूट गया। ~ कहै कवीर भिसति **छिटकाई** दोजग ही मन माना। →पद २३०-१०।
छिटकाय—क्रि० [स० क्षिप्ति] इधर उधर फेक दिया, विखेर दिया। ~फगुआ लियो छिनाय कै, वहुरि दियो **छिटकाय**।→चाँचर(५) १-६।
छिन—सञ्ज्ञा पु० [सं० क्षण] क्षण। ~ विस्नु लोक विनसे **छिन** माँही, हौं देखा परलै की छाँही। → र० ४६-४।
छिन-छिन—क्रि० वि० [स० क्षण] क्षण-क्षण।

~ नैन हमारे बावरे, **छिन छिन** लोरैं तुज्झ । → सा० विर० (३) ४२-१ ।

छिनाय—क्रि० [हि० छीनना] छीन कर, मोहित कर ।~नारद को मुख माडि के, लीन्हो वदन **छिनाय** ।→ चाँच० (५) १-६ ।

छिमा—सज्ञा स्त्री० [स० क्षमा] शाति, महिष्णुता, सतोप ।~ खसमहिं छोडि **छिमा** होय रहई, होय न खीन अखै पद लहई ।→ज्ञान चौं० (१) ६ ।

छिया—सज्ञा पु० [स० क्षिया] मलिन, घृणित वस्तु, घिनौनी । ~ सो तन **छिया** छार होइ जैहै, नाउँ न लेइहै कोई ।→सव० ७८-४ ।

छिरकि—क्रि० [हि० छिडकना] छिडक कर ।~काँम अगिनि तन जरत रह्यो है, हरि रसि **छिरकि** वुझाई ।→ पद २६५-२ ।

छिरिआई—क्रि० [दे०] फैला हुआ है । ~ चिमिकि चिमिकि चिमिकै दृग दुहु दिस, अर्व रहा **छिरिआई** । पद २९५-३ ।

छिलकत—क्रि० [हि० छलकना] उमडती है । ~**छिलकत** थोथे प्रेम सो, धरि पिचकारी गात । → चाँचर (५) १-१६ ।

छिवैला—क्रि० [स०√ छुप् धा०] स्पर्श करता है । ~ पारस कौं जे लोह **छिवैला**, विगरि विगरि सो कचन ह्वैला ।→सव० ६६-४ ।

छीजै—क्रि० [स० क्षय] क्षीण होना, क्षीण होता है, नष्ट हो रहे हैं । ~ राम कहत लज्जा क्यूँ कीजै, पल पल आउ घटै तन **छीजै** ।→सव० ११७-५, सव० ३२-२, सव० १४४-५, पद २७६-८ ।

छीन—वि० [सं० क्षीण] दुर्वल, कमजोर । ~लम्वी पुरिया पाई **छीन**, सूत पुराना खूँटा तीन । → वसंत (४) ३-२ ।

छीना—वि० [सं० क्षीण] क्षीण, नष्ट । ~रवि के उदै तार भी **छीना**, चर वीहर दोनो मँह लीना । → र० २९-५ ।

छीलर—सज्ञा पु० [हि०] छिछला तालाव, पोखरा । ~ हरि सागर जिनि वीसरै, **छीलर** देखि अनत ।→ सा० सुमि० (२) ३०-२ ।

छुअत—क्रि० [हि० छूना] स्पर्श करते ही । ~मैं कासे कहौ को सुने पति-आय, फुलवा के **छुअत** भँवर मरि जाय । →पद २३६-१ ।

छुटकावन—क्रि० [हि० छुडाना से] छुडाने के लिए । ~ जापहिं जाउँ आपु **छुटकावन** ते वाँधे वहु फदा । →पद ३३७-२ ।

छूँछा—वि० [दे०] खाली, खोखला । ~ **छूँछा** परे अकारथ जाई, कहहिं कवीर चित चेतहु भाई । →र० ५६-४ ।

छूटनु—क्रि० [स० छुट्] छुटकारा पाना, मुक्त होना । ~कहैं कवीर छूटन नही मन वउरा रे **छूटनु** हरि की सेव ।→सव० १९३-११ ।

छूति—सज्ञा स्त्री० [स० छुप्, प्रा० छुत्त]

अस्पृश्य। ~ कहु धौं छूति कहाँ से उपजी, तबहिं छूति तुम मानी।→ सब० १६६-२।

छूरी—सज्ञा स्त्री० [स० क्षुर] फलदार चाकू। ~हसा ससय छूरी कुहिया, गइया पिये बछरुवै दुहिया। →पद ३२३-१।

छेक—सज्ञा पु० [हि०] छिद्र, छेद, सुराख। ~लागत ही भैं मिलि गया, पड्या कलेजै छेक। → सा० गुरु० (१) ७-२।

छेक—सज्ञा पु० [?] भेद, अंतर।~ कवीर सुपनै रैनिकै, पारस जीय मैं छेक।→सा० चिता०(१२) २३-१।

छेकल—क्रि० [हि० छेकना] स्थान वना लिया, पहुँच गए। ~हनुमत कस्यप जनक वालि, ई सभ छेकल जम के द्वार।→वसन्त (४) ६-५।

छेती—सज्ञा पु० [स० छिद्र] अतर। ~मैं अकेल ए दोइ जना, छेती नाही कांइ।→सा० काल० (४६) ८-१।

छेम—सज्ञा पु० [स० क्षेम] कुशल, सुरक्षा। ~ छेम कुसल औ सही मलामत, कहहु कवन को दीन्हा हो। →कहरा (३) ८-१।

छेव—सज्ञा पु० [स० छेद] जख्म, घाव, मृत्यु, नारा। ~हा हा करत जीव सभ जाई, छेव परै तब को समुझाई। →ज्ञान चौं० (१) ६६।

छेवा—सज्ञा पु० [स० छेद] प्रहार, वध। ~वकरी मुर्गा कीन्हेउ छेवा। →पद २४२-५।

छोछी—वि० [सं० तुच्छ, प्रा० छुच्छ, हि० छूंछी] रिक्त, खाली। ~छोछी नली काम नहिं आवै लपटि रही उरझाई। →पद २७१-६।

छोति—सज्ञा स्त्री० [स०√छुप्] छूत, अस्पृश्य। ~तहाँ कवीरा बन्दगी, पाप पुन्नि नहिं छोति। → सा० पर० (४५) ४-२, पद २२५-७।

छोति—सज्ञा स्त्री० [स०√छुप्>छुप्त> छुत्त>छूत] अपवित्र वस्तु, अस्पृश्य वस्तु। ~ हस बटाऊ चलि गया, काढौ घर की छोति।→सा० काल० (४६) १७-२।

ज

जंगम—सज्ञा पु० [स०] दाक्षिणात्य लिंगायत शैवसम्प्रदाय, लिंगायत सम्प्रदाय के साधु, ये लोग शिवलिंग धारण करते हैं। ~इक जगम इक जटाधार, इक अग विभूति करै अपार। → पद ३३२-३, सब० १३८-५, पद २४४-४।

जंजाल—सज्ञा पु० [स० जगज्जाल] सासारिक बंधन, प्रपच। ~जिउ जंजाल न छाँडई, जम दिया दमामाँ आइ।→सा० काल० (४६) ७-२, सा० सुमि० (२) ५-१।

जंत्र—सज्ञा पु० [स० यन्त्र] वाद्य; बाजा। ~वाजै जन्त्र बजावै गुंनी। →सब० १८५ १, पद २७०-१।

जंबुक—सज्ञा पु० [स०] सियार, गीदड। ~ऐसा एक अचभौ देखा, जंबुक करै केहरि सौ लेखा। →पद

३४७-४, कहरा (३) ६-६। र० ७८-४।

जंबूरै—सज्ञा पु० [फा० जम्बूरा] मदारी। ~ जुगति जबूरै पाइया विसहर लपटाई। →पद ३४५-६।

जँवाई—सज्ञा पु० [स० जामातृ] दामाद। ~ सो धन चोर मूसि लै जावै, रहा सहा लै जाइ **जँवाई**।→सव० १२०-४।

जँहडाइया—क्रि० [दे०] ठगे गए, धोखे मे आ गए। ~सवै लोग **जँहडाइया**, अधा सवै भुलान।→र० १६-७।

जईये—क्रि० [हि० जाना] चलें।~ पच सखी मिलिहैं सुजान, चलहु त **जईये** त्रिवेनी न्हान।→पद २३४-५।

जउ—अव्य० [स० यद्] यदि।~और मुएं क्या रोइए **जउ** आपा थिरु न रहाइ। →पद २६६-५।

जगत—सज्ञा पु० [सं० जगत्] विषय सुख। ~है हरिजन सौं **जगत** लरत है। →पद ३४७-१।

जगपति—सज्ञा पु० [स० जगत्पति] ईश्वर। ~ (तैं) भज्यौ न **जगपति** राजा। →पद २२०-२।

जगमगै—क्रि० [हि० जगमग] प्रकाशित हो रही है। ~ अगम अगोचर गमि नही, जहाँ **जगमगै** जोति। → सा० पर० (५) ४-१।

जगाती—संज्ञा पु० [अ० ज़कात] कर वसूल करने वाले, कर्मचारी।~ तीनि **जगाती** करत रारि, चल्यौ वनिजारा हाथ झारि। → पद २३६-६।

जगि—सज्ञा पु० दे० 'जग्य'।

जग्य—सज्ञा पु० [स० यज्ञ] यज्ञ, मख, याग।~ब्राह्मन होय कै ब्रह्म न जानै, घर मँह **जग्य** प्रतिग्रह आनै। → विप्र० (२) २, सव० १२८-१३; पद २०६-४।

जग्या—क्रि० [हि० जगना] सावधान रहना। ~कहै कवीर **जग्या** ही चाहिए, क्या गृह क्या वैराग रे।→ सव० ११८-६।

जटाधर—सज्ञा पु० [स०] जटाधारी। ~लुचित मुडित मोनि **जटाधर** अति तऊ मरना।→सव० १४२-८।

जटाधार—स० पु० दे० 'जटाधारि'।

जटाधारि—वि० [स० जटाधारी] जटा धारण करने वाले। ~कवि जन जोगी **जटाधारि**, सभ आपन औसर चले हारि। →पद २२४-६, पद ३३२-३।

जठर अगिनि—सज्ञा स्त्री० [सं०] गर्भाशय। ~**जठर अगिनि** मँह दीन्ह प्रजारी, तामे आपु भया प्रतिपाली। →र० २६-३।

जठराहँ—सज्ञा पु० [स० जठर] पेट मे। ~जिनि नर हरि **जठराहँ**, उदिक थैं पिड प्रकट कीयौ। →सा० वेसा० (३५) १।

जड़िया—क्रि० [स० जटन] जडा गया, सजाया गया, वहुमूल्य वनाया गया। ~कवीर मदिर लाख का, **जड़िया** हीरै लालि।→सा० चिता० (१२) १६-१।

जत—क्रि० वि० [स० इयत्] जितने।

~पसु पखेरू जीव जत, (सब) रहे मेर मैं बूडि ।→सा० उप० (५०) ४-२ ।

जतन—सज्ञा पु० [स०यत्न] यत्न, उपाय । ~ काया कचन **जतन** कराया, बहुत भाँति कै मन पलटाया ।→ र० ६४-१, सा० साध० सा० (२६) १६-२, सा० मन० (१३) १०-२, पद २८४-५, सव० ११३-१, सव० १६४-६ ।

जति—सज्ञा पु० दे० 'जती' ।

जती—सज्ञा पु० [स० यति] साधक, साधु, सन्यासी ।~स्वाँग **जती** का पहिरि करि, घरि घरि माँगै भीख । सा० गुरु० (१) २७-२, र० २५-५, पद २६७-७, सव० ८४-३, कहरा (३) ८-३ ।

जदि— अव्य० [स० यदि] यदि, अगर । ~**जदि** विषै पियारी प्रीति सौं, तव अन्तर हरि नांहि ।→सा० साध सा० (२६) १३-१ ।

जदि का—क्रि० वि० [स० यदा] जब से, जिस समय से । ~**जदि का** माइ जनमियाँ, काहू न पाया सुख ।→ सा० सम्र० (३८) ११-१ ।

जदि-तदि—अव्य० [स० यदा+तदा] जव-तव, कभी-न-कभी ।~जो है जाका भावता, **जदि-तदि** मिलिहै आइ ।→सा० हेत प्री०(४४) ३-१, सा० चिता० (१२) ३८-२ ।

जन—सज्ञा पु० [स०] भक्त ।~राम सरीखे **जन** मिले, तिन सारे सव कांम ।→सा० साधु० (२८) ५-२, सा० पारि०(४६) ३-१, र० ७६-२, सव० १४६-१ ।

जनतं—क्रि० [सं० जनन] उत्पन्न करते ही, जन्म देते ही ।~तो **जनतं** तीनि डाडि किन सारै ।→सव० १२६-२ ।

जननी—सज्ञा स्त्री० [स०] माता ।~ हरि **जननी** मैं वालक तेरा । →पद ३३३-१ ।

जनमांवनहारी—वि० [स० जन्म+आवन +हारी] पैदा करने वाली । ~नाँ हूँ परनी ना हूँ क्वारी, पूत **जनमांवनहारी** । →सव० २६-३ ।

जनमिया—क्रि० [हि० जनम से] पैदा हुआ ।~पहिले जन्म पूत को भयऊ, वाप **जनमिया** पाछे।→पद ३००-३ ।

जना—सज्ञा पु० [स० जना] लोग । ~साधु सत तेई **जना**, जो मानहिं वचन हमार । →र० ५८-६ ।

जना—क्रि० [स० जनन] पैदा किया, उत्पन्न किया । ~ एकै जनी **जना** ससारा, कौन ग्यान ते भयो निनारा । →र० २-६, पद ३१३-६ ।

जनावनहारी—वि० [हि०] पैदा करने वाली, उत्पन्न करने वाली । ~ वर नहिं वरै व्याह नहिं करई, पूत **जनावनहारी** । →सव० १६८-४ ।

जनी—संज्ञा स्त्री० [स०] स्त्री, माया । ~एकै **जनी** जना ससारा, कौन ग्यान ते भयो निनारा । → र० २-६ ।

जनी—क्रि० दे० 'जना' ।

जनी—वि० [स०√जन+ई०] उत्पन्न हुए (लोग) । ~जम के वाहन वांधे

जनी, वांधे स्रिष्टि कहाँ लौ गनी। → र० ६-२।

जनु—सज्ञा पु० दे० 'जन'।

जनेउ—सज्ञा पु० [स० यज्ञ] यज्ञोपवीत। ~जन्मत सूद्र मुए पुनि सूद्रा, कृतम **जनेउ** डारि जग मुद्रा। → र० ६२-२।

जपंतड़ाँ—क्रि० [प०] जपते हुए।~ राँमहि राम **जपंतड़ाँ**, काल घमीटा जाइ। → सा० चाँण० (१७) १८-२।

जबरहि—क्रि० वि० [फा० जवर+हि (प्रत्य०)] वल पूर्वक। ~मच्छ रूप माया भई, **जबरहि** खेले अहेर। →र० ४६-५।

जवह—सज्ञा पु० [अ०] वध, हत्या, काटना। ~ काजी काज करहु तुम कैसा, घर-घर **जवह** करावहु भैंसा। →र० ४६-४।

जम—संज्ञा पु० [स० यम] मृत्यु, काल, यमराज।~तेरे सिर पर **जम** खडा, खरच कदे का खाइ।→सा० सुमि० (२) १४-२, सा० वीन० (५६) ५-२, र० १८-३, र० ४१-६, सव० ६-६, पद २७२-१।

जम के वाहन—संज्ञा पु० [स० यम+ वाहन] काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि। ~**जम के वाहन** वाँधे जनी, वाँधे स्रिष्टि कहाँ लौ गनी। → र० ६-२।

जमघर—सज्ञा पु० [सं० यम-गृह] यम-राज का घर, काल या मृत्यु का घर।~हरि उतग तुम जाति पतगा, **जमघर** कियहु जीव को सगा। → र० ६५-६।

जमनां—सज्ञा पु० [स० यम] यमराज। ~रसना राम नाम हितु जाकै कहा करै **जमनां**। →सव० १४२-२।

जमपुरि—सज्ञा पु० [स० यमपुर] यमपुर, यमलोक।~एकै हरि का नाँव विन, वाँधे **जमपुरि** जाँहि।→सा० चिता० (१२) ५४-२।

जमराना—सज्ञा पु० [स० यमराज] यमराज। ~**जमराना** गढ भेलिसी, सुमिरि लेहु करतार।→सा० चिता० (१२) ७-२।

जमावली—सज्ञा स्त्री० [स० यमावली] यमपक्ति। ~ असखि कोटि जाकै **जमावली**, रावन सैना जिहि तैं छली। →सव० १२८-१५।

जर—संज्ञा स्त्री० [स० जड] जड, मूल। ~आदि अत नहिं होत विरहुली, नहि **जर** पल्लौ पेड विरहुली। → विर० (७) १।

जरजर—वि० [स० जर्जर] जीर्ण, खडित, क्षत-विक्षत।~चोट मतांनी विरह की, सव तन **जरजर** होइ।→ सा० विर० (३) १४-१।

जरजरा—वि० [स० जर्जर] जर्जर, जीर्ण, पुराना। ~ भेरा देख्या **जरजरा**, (तव) ऊतरि पडे फरकि। →सा० गुरु० (१) २५-२, सा० चिता० (१२) ६२-१।

जरजरी—वि० दे० 'जरजरा'।

जरजोधन—सज्ञा पु० [स० दुर्योधन] कुरुवशीय राजा धृतराष्ट्र के नौ पुत्रों

मे सबसे वडा, दुर्योधन। ~सहस वाह कै हरे परान, **जरजोधन** का मथिआ मान। →सव० १२८-१६, पद २७३-८।

जरणाँ—सज्ञा पु० [दे०] अत्यत प्राचीन, अनादिकाल से जैसा है वैसा, अनिर्वचनीय ब्रह्म।→सा० **जरणाँ** (८)।

जरतहि—क्रि० [हि० जलना] जलते हुए, परितप्त होते हुए। ~ कहहि कवीर पुकारि कै, ई जिव **जरतहि** जाय। →र० ७६-५।

जरद—वि० [फा० जर्द] पीला। ~मैं तोहि पूछौं मूसलमाना, लाल **जरद** की नाना वाना। →र० ४६-३।

जरन—सज्ञा स्त्री० [स० जरा] वार्द्धक्य, वृद्धावस्था। ~**जरन** मरन दुख घेरि करम सुख जीअ जनम तै छूटै। → सव० १५३-२। दे० 'जरा'।

जरा—सज्ञा स्त्री० [स०] वृद्धावस्था, वार्द्धक्य। ~ **जरा** मरण छूटै भ्रम भागै। → सव० १४०-२, पद २८६-१, ३४६-६। दे० 'जुरा'।

जरिए—क्रि० [हि० जलना] जलना। ~ जव **जरिए** तव होइ भसम तन रहै किरिम दल खाई। → सव० १७६-३।

जरिया—क्रि० [म० ज्वलन] जल गया। ~आगि जु लागी नीर महिं, कादौ **जरिया** झारि। →सा० ज्ञान वि० (४) ५-१।

जरी—सज्ञा स्त्री० [हि० जडी] जडीबूटी। ~ हमारै गुर दीन्ही अजव **जरी**।→पद ३२७-१।

जलन—सज्ञा स्त्री० [सं० ज्वलन] ईर्ष्या, डाह। ~ दिन दिन जरै **जलन** के पाऊँ, डाढे जाय न उमँगे काऊ।→ र० ५६-१।

जलनिधि—संज्ञा पु० [सं०] समुद्र; सागर। ~ कहा करउँ कैसे तरउँ, भव **जलनिधि** भारी। → सव० ६६-१, पद २६१-३।

जलहर—सज्ञा पु० [स० जलधर] जलाशय। ~ सहज समाधि विरष यहु सीचा,धरती **जलहर** सोषा।→सव० १२-७, सा० विर० (३ ३६-१, सा० हे० प्री० स० (४४) १-१।

जलहरि—सज्ञा पु० दे० 'जलहर'।

जलावनहार—सज्ञा पु० [हि० जलाना +हार (प्रत्य०)] जलाने वाला व्यक्ति।~रोवनहारे भी मुए, मुए **जलावनहार**।→सा० काल० (४६) ३१-१।

जलि—सज्ञा पु० [स० जल] जल मे। ~कवीर जग की को कहै, भौ **जलि** वूडै दास। → सा० माया (१६) १६-१।

जस—सज्ञा पु० [स० यश] यश, कीर्ति। ~ निरमल नाव चुनै **जस** बोलै।→पद ३३४-२।

जहँड़ाई—क्रि० [हि०] दे० जहँडाय।

जहँडाय—क्रि० [स० जहन] धोखे मे आना, हानि उठाना, ठगा जाना।~ मानुप जन्महि पाय नर, काहे कै **जहँडाय**।→र० २३-७, वेलि० (६) २-१, कहरा (३) ४-७।

जहड़ायहु—क्रि० दे० 'जहँडाय'।

जहँड़ाया—क्रि० दे० 'जहँडे'।

जहंडे—क्रि० [हि०] ठगे गए, धोखे मे पड गए । ~हरिवाजी सुर नर मुनि जहडे, माया चाटक लाया ।→सव० १८-३, कहरा (३) ६-२, पद २४२-२ ।

जहँड़े—क्रि०, दे० 'जहडे' ।

जहदम—संज्ञा पु० [फा० जहन्नुम] नरक, दुख एव कष्ट की जगह । ~जगत जहंदम राचिया,झूठे कुल की लाज । →सा० भेप० (२४) २०-१ ।

जहान—सज्ञा पु० [फा०] विश्व, संसार। ~झूलहि जीव जहान जहँ कतहूँ नही थिति ठौर ।→हिंडोला (८) ३-२ ।

जाँघ उघारि—[मुहा०] पर्दाफाश करना, पर्दा हटाना। दोपो को खोलना ।~ अपनी जाँघ उघारि कै अपनी कही न जाय ।→र० ७३-७ ।

जांचो—क्रि० [स० याचन्] माँगा ।~ वावन रूप न वलि को जाँचो, जो जाँचै सो माया ।→ पद २६२-६ ।

जांच्चौ—क्रि० [स० याचना] याचना करता रहा, माँगता फिरा । ~ यही उदर कै कारनै, जग जांच्चौ निस जाम ।→सा० चाँण० (१७) २-१ ।

जान—वि० [स० ज्ञान] ज्ञानी । ~जांन भगत का नित मरन, अन-जाने का राज । → मा० साध सा० (२६) ७-१ ।

जानि—सज्ञा पु० [स० ज्ञान] ज्ञान से । ~कहै कवीर जानि भ्रम भागा तउ मन मुन्नि ममाना । → सव० १५३-१० ।

जाँमण मरण—यौ० [स० जन्म मरण] जन्म-मरण । ~ कवीर ससा दूरि करि, जाँमण मरण भरम । →सा० उप० (३४) ४-१, सव० १६०-४ ।

जांमन मरना—यौ० दे० 'जांमण मरण'।

जाँमैं—सर्व० [स० यत्] जिसमे ।~ जीव अछत जाँमैं मरै, सूपिम लखै न कोइ । → सा० सू० ज० (१५) २-२ ।

जाहि—क्रि० [हि० जाना] नष्ट हो जाते है । ~ दिवस चारि सरमा रहै, अति समूला जाहि । → मा० का० न० (२०) ३-२ ।

जाइ—क्रि० [सं०√गम्=हि० जाना] चला जाता है, नष्ट हो जाता है । ~ घर जारै घर ऊवरै, घर राखैं घर जाइ ।→सा० जी० मृ० (४१) ४-१ ।

जाइ था—क्रि० [हि० जाना] जा रहा था, ढूंढ रहा था । ~ जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाया ठौर ।→ सा० पर० (५) ३७-१ ।

जाई—क्रि० [स० जा=उत्पन्न] उत्पन्न किया, पैदा किया । ~ नारि एक ससारहि आई, माय न वाके वाप न जाई । →र० ७२-१ ।

जाईले—क्रि० [हि० जाना] जाता है । ~ आनद मूल सदा पुरुखोतम घट विनसै गगनु न जाईले । → पद २४१-४ ।

जाए—क्रि० [स० जा] पैदा किया । ~ जिनि हम जाए ते मुए, हम भी

चालनहार ।→ सा० काल० (४६) ३२-१, पद० ३०१-२ ।

जागह—संज्ञा पु० [फा० जायगाह] स्थान, जगह । ~ जाने का **जागह** नही, रहिवै कौं नहिं ठौर । →सा० सू० मा० (१४) ५-१ ।

जाचउँ—क्रि० [स० याचन] याचना करूँ, भिक्षा माँगना । ~जौ **जाचउँ** तौ केवल राम ।→सब० १२८-१ ।

जाचन—क्रि० [स० याचना] भिक्षा माँगने के लिए। ~ कबीर **जाचन** जाइ था, आगे मिला अजच । → सा० उप० (५०) १२-१ ।

जात—सज्ञा स्त्री० [स० ज्ञाति] जाति-पाँति, कौम, वश । ~ सुन्नहि सुरति समाइया, कासो कहिए **जात** । → र० ३६-६ ।

जात है—क्रि० [स० √ गम्=जाना] नष्ट हो रहा है । ~कहत सुनत जग **जात है**, विषय न सूझै काल । → सा० चिता० (१२) ४६-१ ।

जाती—सज्ञा स्त्री० [स० ज्ञाति] जाति । ~धरम कहै सब पानी अहई, **जाती** के मन बानी अहई ।→ र० ७४-५ ।

जादवराय—सज्ञा पु० [हि० यादवराय] श्री कृष्ण ।~डरपत हौ यह झूलिवे को राखु **जादवराय** । → हिंडोला (८) २-७ ।

जान—सज्ञा पु० [स० ज्ञान] ज्ञान । ~जो यह एकै जानिया, तौ जाना सब **जान** ।→सा० निह० प० (११) ८-१ ।

जान—वि० [हि०] जानकार, ज्ञानी । ~ **जान** पुरुषवा मोर अहार, अन-जाने पर करौं सिंगार । → वसन्त (४) ४-४ ।

जाननहार—सज्ञा पु० [स० ज्ञान+हार (प्रत्य०)] ज्ञाता, जानकार ।~ हस रूप कोई साधु है, तत का **जाननहार** । → सा० सार० (३२) १-२ ।

जान-विजान—सज्ञा पु० [स० ज्ञान-विज्ञान] ज्ञान-विज्ञान ।~जा घट **जान विजान** है, तिहि घटि आवटना घनाँ ।→सा० साधसा० (२६) ८-१ ।

जानी—क्रि० [स०√ज्ञा] मालूम है, ज्ञात है ।~वड सो पापी आहि गुमानी, पाषड रूप छलो नर **जानी** । → र० १४-१ ।

जाने—सज्ञा पु० [स० ज्ञान से] पुस्तकीय ज्ञान वाले पडित ।~**जाने** जिव कँह परा अँदेसा, झूठहि आय के कहैं सँदेसा ।→र० ४३-४ ।

जाम—सज्ञा पु० [स० याम] प्रहर (दिन), समय । ~यही उदर कै कारनै, जग जाँच्यौ निस **जाम** । → सा० चाँण० (१७) २-१, वसत (४) ६-७ ।

जाय था—क्रि० [स०√गम्] जा रहा था ।~कबिरा सुख को **जाय था**, आगे मिलिया दुक्ख। →सा० निह० प० (११) ६-१ ।

जाय—क्रि० [स० जा] उत्पन्न किया, पैदा किया । ~कहै कबीर हरिके गुन गाया, कुन्ती करन कुँवारहिं **जाया** । →र० ८१-४, र० ६४-३,

सव० ८-८, सव० ११६-३, सव० १२६-३, सा० साधु म० (३०) ७-१।

जारा—क्रि० [स० ज्वलन] जला देता है।~चंदन वास भेदै नही, **जारा** सव परिवार।→सा० निगु० (५५) ११-२।

जारो—क्रि० [हि० जलना] जलाओ। ~ज जा ई तन जियतहि **जारो**, जोवन जारि जुक्ति तन पारो।→ ज्ञान चौं० (१) १७।

जारौं—क्रि० [स० ज्वलन] जला दूँ। ~यह तन **जारौं** मसि करौं, ज्यूं धूवाँ जाइ सरग्गि।→सा० विर० (३) ११-१, सव० १२०-१।

जार्‌यो—क्रि० [हि० जलाना] जलाने से। ~**जार्‌यो** जरै न काट्यो सूखै, उतपति प्रलै न आवै।→पद ३०५-७।

जाल—सज्ञा पु [स०] दाँव-पेच, कौशल। ~कवीर सूषिम सुरति का, जीव न जानै **जाल**।→सा० सू० ज० (१५) १-१।

जालन—सज्ञा पु० [स० ज्वलन] जलाने के लिए। ~**जालन** आँनी लाकडी, ऊठी कूंपल मेलि।→ सा० वेली० (५८) १-२।

जालि—क्रि० [हि० जलाना] जला दी जाती है। ~मडहट देखें डरपती, चौडै दीया **जालि**।→सा० काल (४६) १६-२।

जालि दे—क्रि० [हि० जला देना] जला दो। ~ऊँचे मन्दिर **जालि दे**, जहँ भगति न सारँगपानि। → सा० साधु म० (३०) १०-२।

जाली—क्रि० [हि० जलाना] जला दी जाती है।~वहुत जतन करि काया पाली, मरती वार अगिनि सँग **जाली**। →पद २७६-४।

जालूं—क्रि० [हि० जलाना] जला दूँ। ~**जालूं** कली कनीर की, तन राता मन सेत।→सा० चि० क० (४२) १-२।

जालौं—क्रि० [स० ज्वलन] जला दूँ। ~**जालौं** इहै वडापना, सरलै पेड खजूरि।→सा० निगु० (५५) १०-१, सा० गु० सि० हे० (४३) १३-२।

जावासा—सज्ञा० पु० [स० यावासक] एक प्रकार का कँटीला पौधा जिसके पत्ते वृष्टि से मुरझाकर गिर जाते है।~**जावासा** के रूप ज्यूं, घन मेहाँ कुम्हिलाइ। →सा० माया० (१६) १५-२।

जासी—क्रि० [प०] जाएगी।~वाला-पन गयौ जोवन **जासी**, जरा मरन भौ सकट आसी।→सव० ११७-३।

जासी—क्रि० [स०√गम्] जायगा।~ अव गहु सत्यनाम अविनासी, हरि तजि जियरा कतहुँ न **जासी**। → र० २०-१, सा० काल० (४६) ५-२, सा० काल० (४६) २३-१, सव० १६८-१०।

जासो—सर्व० [स० यत्] जिससे।~ **जासो** कियहु मिताई, सो धन भया न हित्त।→र० ५६-५।

जाहिगा—क्रि० [हि० जाना] चला जाएगा ।~जिअ रे **जाहिगा** मैं जाना।→सव० १२२-१।

जिंद—सज्ञा स्त्री० [फा०] जीवन ।~ कहै कबीर हमरा गोविन्द, चौथे पद महिं जन की **जिंद** ।→सब० ४२-१० ।

जिआवनहारा—वि० [हि०] जीवित रखने वाला, प्रभु ।~हमको मिला **जिआवनहारा** ।→पद ३२६-२ ।

जिउ—सज्ञा पु० [स० जीव] जीव । ~पिंड परे **जिउ** जैहै जहाँ, जीवत ही लै राखौ तहाँ ।→सब० ५०-१२, सा० काल० (४६) ७-२ ।

जितु—सर्व० [हिं० जिस] जिससे ।~ देव करहु दया मोहिं मारगि लावहु **जितु** भव वधन टूटै । →सब० १५३-१ ।

जिन—सर्व० [स० यत्] जिसने ।~ **जिन** यह चित्र वनाइया, साँचा सो सुतधारि ।→र० २६-६ ।

जिनि—सर्व० [हि० जिन] जो । ~ रे मन तेरो कोइ नही खैंचि लेइ **जिनि** भारु ।→पद २६६-६ ।

जिनि—अव्य० [दे०] मत, नही । ~ कबीर माया **जिनि** मिलै, सौ विरिया दै बाँह । →सा० माया० (१६) ३१-१ ।

जिबहैं—सज्ञा स्त्री० [अ० जवह] वध, हत्या । ~जोरी करि **जिवहैं** करै, कहते है ज हलाल । →सा० साँच० (२२) ८-१ ।

जिभ्या—सज्ञा स्त्री० [स० जिह्वा] जिह्वा, जीभ । ~पग विनु निरति करा विनु वाजा, **जिभ्या** हीना गावै । →सब० ३७-५, पद २२५-३, र० ३३-५, सा० सुमि० (२) ३०-१ ।

जिमीं—संज्ञा स्त्री० [फा०] पृथ्वी, भूमि । ~कहँ तव **जिमीं** कहाँ अस-मान, कँह तव वेद कितेव कुरान । →सव० ४०-३ ।

जिय—सज्ञा पु० [स० जीव] हृदय । ~वहुतक साहस करु **जिय** अपना, तेहि साहव सो भेंट न सपना । → र० ८०-१ ।

जियत मुवा—वि० [हि०जीना+मरना] जीते हुए मर जाना, अहंभाव का विनाश । ~कुल अभिमाना खोइकै, **जियत मुवा** नहिं होय ।→र० ८-७ ।

जियरा—सज्ञा पु० [सं० जीव से] जीव, हृदय, प्राण । ~तुम **जियरा** वहुतै दुख पावा, जल विनु मीन कौन सचु पावा । →र० ६५-२, र० २०-१, पद २७४-२, सा० विर०(३)१०-२, सा० काल० (४६) २८-२ ।

जियरै—सज्ञा पु० दे० 'जियरा' ।

जियाऊँ—क्रि० [हि० जीमना] भोजन, कराऊँ । ~न्यौति **जियाऊँ** अपनो करहा छार मुनिस की दाढी रे ।→ पद २५५-८ ।

जिरजोधन—सज्ञा पु० दे० 'जरजोधन' ।

जिव—सज्ञा पु० [स० जीव] जीव ।~ **जिव** तरसै तुझ मिलन को, मन नाही विसराम । → सा० विर० (३) ६-२, सा० वेसा० (३५) ६-२; सा० काल० (४६) २३-१ ।

जिहाज—सज्ञा पु० [अ० जहाज] जहाज । ~नाव **जिहाज** खेवइया साधू, उतरे दास कवीरा । →पद २६५-६ ।

जीअ—सज्ञा पु० दे० 'जीयरा' ।

जीता—१ क्रि० [हि० जीत] विजयी होना। २. वि० [सं० जीवित] जीवित, जो मरा न हो। ~राम भजा सोइ जीता रे।→पद २६३-२।

जीन—सज्ञा पु० [फा०] घोडे की पीठ पर रखी जाने वाली गद्दी, काठी। ~दै मुहरा लगाम पहिरावउँ, सिकली जीन गगन दौरावउँ। → सव० ३-३।

जीम—क्रि० [स०√जिम्=जेमनम्] भोजन करना। ~मोट चून मैदा भया, वैठि कवीरा जीम। → सा० मधि० (३१) १०-२।

जीयरा—संज्ञा पु० [स० जीव+रा] जीव, प्राणी। ~तेरी वारी जीयरा, नेरी आवै नित। →सा० काल० (४६) ६-२, पद २८२-३,३१६-७।

जीवत—वि० [स० जीवन] जीते ही, जीते जी। ~जीवत मिरतक ह्वै रहै, तजै जगत की आस। →सा० जी० मृ० (४१) १-१।

जीवाँ—सज्ञा पु० [स० जीव] साधारण प्राणी। ~जीवाँ को राजा कहै, माया के आधीन। →सा० माया० (१६) १८-२।

जुक्ति—सज्ञा स्त्री० [स० युक्ति] उपाय, मर्म, रहस्य, युक्ति, प्रयत्न, साधन। ~मोहा वपुरा जुक्ति न देखा, सिव सक्ति विरचि नहि पेखा। →र० ८२-५, र० ५-२, सव० ६०-४।

जुक्ति—सज्ञा स्त्री० [स० युक्ति] सद्गुरु द्वारा वताया गया मार्ग। ~रामहि जानि जुक्ति जो चलई, जुक्तिहि तें फदा नहि परई। →र० २१-२।

जुक्ती—सज्ञा स्त्री० दे० 'जुक्ति'।

जुग—वि० [स० युग] दोनो। ~इनको इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन को। →सा० विचा० (३३) ६-२।

जुग जुगन्त—यौ० [हि०] युगो युगो तक, अनेक वर्षो तक। ~साधु सगति मिलि करि वसत, भौ वद न छूटै जुग जुगन्त। →पद ३३८-४।

जुगति—सज्ञा स्त्री० [स० युक्ति] युक्ति, उपाय, साधन, साधना, साधना की युक्ति। दे० 'जुक्ति'। ~जुगति जवूरै पाइया विसहर लपटाई। → पद ३४५-६, पद ३११-२, सव० १६४-६, पद ३०६-३, पद २४५-५, पद २६०-६, सव० ६७-११।

जुगन—सज्ञा पु० [स० युग] युगो। ~कहाँ लै कहौं जुगन की वाता, भूला ब्रह्म न चीन्है वाटा। →र० ५-१।

जुगुति—सज्ञा स्त्री० दे० 'जुगति'।

जुझाउर—वि० [हि० जूझ] युद्ध सम्वन्धी, उत्तेजित करने वाला। ~जव वजै जुझाउर वाजा, तव कायर उठि उठि भाजा।→पद २०५-३।

जुड़िया—क्रि० [हि० जुडना] जुडा रहता है, लगा रहता है। ~अस विनु पाखर गज विनु गुडिया, विनु पडै सग्रामहि जुड़िया। → सव० ११६-४।

जुरा—सज्ञा स्त्री० [स० जरा] वृद्धावस्था। ~काल न खाइ कलप नहि

व्यापै, देही जुरा नहिं छीजै। → सव० ३२-२, पद २०२-५, सा० काल० (४६) ८-२। दे० 'जरा'।

जुलुम—सज्ञा पु० [अ० जुल्म] अत्याचार, अन्याय, अपराध। ~ जोर किया सो जुलुम है, लेइ जवाव खुदाइ।→ सा० साँच० (२२) ९-१, सव० ७६-११।

जुवा—सज्ञा पु० [स० द्यूत] वाजी। ~ रांम नाम अतर गति नाही तौ जनम जुवा ज्यौं हारी। → सव० १०४-२।

जू-ज—सर्व० [हि० जो-जो] भिन्न, भिन्न।~सोई आखर सोइ वैन, जन जू-जू वाचवत। → सा० विचा० (३३) ७-१।

जूझ—सज्ञा पु० [स० युद्ध] युद्ध, लडाई।~ कवीर सोई सूरिवाँ, मन सो माँडै जूझ।→ सा० सूरा० (४५) ३-१, सा० सूरा० (४५) २-२।

जूझनां—क्रि० [स० युद्ध] युद्ध करना। ~ विन खांडे सग्राम है, नित उठि मन सौं जूझना। →सा० साध सा० (२९) ८-२।

जूझै—क्रि० [स० युद्ध] युद्ध करता है। ~छत्री सो जो कुटुम से जूझै, पाँचो मेटि एक कै वूझै। → र० ८३-३, सव० ८६-५।

जूठन—वि० दे० 'जूठा'।

जूठनि—सज्ञा स्त्री० दे० 'जूठा'।

जूठा—वि० [स० जुष्ठ] जूठन, उच्छिष्ट भोजन, किसी के खाने के वाद वचा हुआ अन्न। ~ जूठी करछी अन्न परोसा, जूठै जूठा खाया।→ सव० ७१-६, सव० ९४-६, सा० कामी० (२०) १४-१, विप्र० (२) ७।

जूठो—वि० दे० 'जूठा'।

जेंवावै—क्रि० [हि० जीमना] भोजन कराता है। ~ दुखित सुखित होइ कुटुव जेंवावै, मरण वेर एकसर दुख पावै। →पद २५८-४।

जे—क्रि० वि० [स० यद्] यदि, अगर। ~जे दिढ ग्यान न ऊपजै, तौ अहटि मरै जनि कोइ रे।→ सव० ९७-१०, पद २५४-३।

जेठ—सज्ञा पु० [स० ज्येष्ठ] किसी स्त्री के पति का वडा भाई।~ऊँ जे सुनी मन्दोदरि तारा, तिन घर जेठ सदा लगवारा।→ र० ८१-२।

जेता—क्रि० वि० [हि० जितना] जितना, समान। ~ देवल माँहे देहुरी, तिल जेता विस्तार।→सा० पर० (५) ४२-१।

जेर—वि० [फा०] पराजित, परास्त। ~खेलति माया मोहिनी, जिन्ह जेर कियो ससार।→चाँचर (५) १-१।

जेवड़ा—संज्ञा पु० दे० 'जेवडी'।

जेवड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० जीवा] रस्सी, जजीर। ~ गले राम की जेवड़ी, जित खँचे तित जाउँ।→सा० निह० प० (११) १४-२, सा० चाँण० (१७) ११-१, सा० चिता० (१२) ४८-१, सव० ५०-८।

जेवन—संज्ञा पु० [स० जेमन] भोजन। ~छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन;

छूतिहि जग उपजाया। → सव० १६६-७।

जेवरी—सज्ञा स्त्री० दे० 'जेवडी'।

जेवहिं—क्रि० [हि० जीमना] भोजन करते हैं। ~ कोटि चन्द्रमा करहिं चिराक, सुर तैंतीसउ जेवहिं पाक। →सव० १२८-५।

जैंदेउ—सज्ञा पु० [स० जयदेव] प्रसिद्ध भक्त।~ सनक सनदन जैंदेउ नामा, भगति करी मन उनहुँ न जाना।→ सव० १४३-३।

जैंवे—क्रि० [स०√गम् = हि० जानः] जाएँगे। ~ ना जानैं अपनौं मरि जैंवे, टका दस वढै अवर लै खैंवे। → र० ५५-७, पद २५८-१।

जैंवहु खेत—[मुहा० खेत रहना], मृत्यु को प्राप्त होना। ~परिहरि जैंवहु खेत हो रमैया राम।→वेलि (६) २-८।

जोइ—क्रि० [हि० जोहना] खोजना, ढूंढना। ~जिहि घट मैं ससैं वसैं, तिहि घटि राम न जोइ। → सा० साध० सा० (२६) १४-१।

जोइया—सज्ञा स्त्री० [स० जाया] स्त्री। दे० 'जोई'। ~कहँहि कवीर ये हरि के काज, जोइया के ढिगरहिं कवनि लाज।→वसन्त (४) ६-५।

जोइया—क्रि० [स०√युज् [योजित किया, युक्त किया। ~तीन्यूँ मिलि करि जोइया, (तव) उडि उडि पडै पतग।→सा० ग्या० वि०(४) १-२।

जोई—सर्व० [स० यत् = जो + ई (प्रत्य०)] जो लोग। ~ देह हलाये भगति न होई, स्वाग धरे नर वहु विधि जोई। →र० ६७-१।

जोई—सज्ञा स्त्री० [स० योपिता] स्त्री, पत्नी। ~तुम हम हम तुम और न कोई, तुम मोर पुरुप हमैं तोरि जोई। →र० १-५।

जोई—क्रि० [स० जपण] देखते हैं। ~सिव सनकादि आदि ब्रह्मादिक, सेस सहस मुख जोई। → सव० ७८-५।

जोऊँ—क्रि० [हि०] खोजूं, देखूं। ~ वन वन ढूंढि नैंन भरि जोऊँ, पीव न मिलैं तौ विलखि करि रोऊँ। → सव० १७३-५।

जोऊँ—क्रि० [हि० जोहना] प्रतीक्षा करूं, इंतजार करूँ। ~मैं विरहिनि ठाढी मग जोऊँ, राम तुम्हारी आस। →सव० २२-३।

जोग—संज्ञा पु० [स० योग] सयोग। ~अह निसि हरि ध्यावैं नही, क्यो पावैं दुलभ जोग। →सा० सुमि० (२) २८-२, वसंत (४) ७-५।

जोग—वि० [स० योग्य] योग्य। ~ नाँ कछु किया न करि सका, नाँ करने जोग सरीर। →सा० सम्र० (३८) १-१।

जोग—सज्ञा पु० [सं० योग] मिलन। ~छाँनैं लंघन नित करैं, राम पियारे जोग। →सा० साध सा० (२६) १०-२।

जोग—सज्ञा पु० [सं० योग] हृदय को ईश्वर से जोडना, साधना। ~मैं जान्यौं पढिवौ भलौ, पढ़िवा तैं भल

जोग।→सा० क० वि० क० (१६) १-१।

जोग—सज्ञा पु० [सं० योग] नाथ-योगियो की साधना। ~ऐसा **जोग** न देखा भाई, भूला फिरै लिये गफिलाई।→ र० ६६-१।

जोगिया—संज्ञा पु० [स० योगी] योगी। ~**जोगिया** के नगर वसो मति कोई, जो रे वसै सो **जोगिया** होई। → सव० १२५-१।

जोति—सज्ञा स्त्री० [स० ज्योति] चमक, प्रकाश।~सोई भुवंग जाकै मस्तकि मनि है, **जोति** उजालै खेलै। → सव० ६६-५, सा० काल० (४६) १७-१।

जोति—संज्ञा स्त्री० [स० ज्योति] जीवात्मा। ~कहै कवीर भव वंधन छूटै, जोतिहि **जोति** समानी। → सव० ३५-१०।

जोति—संज्ञा स्त्री० [स० ज्योति] परम ज्योति, जीवतत्व। ~नाना वानी वोलिया, **जोति** धरी करतारि। → सा० विचा० (३३) ४-२।

जोति—संज्ञा स्त्री० [स० ज्योति] ज्योति, यहाँ पर 'ब्रह्म' से तात्पर्य है। ~विवि अक्षर का कीन्ह वंधाना, अनहद सव्द **जोति** परमाना। → र० ५-३।

जोति—सज्ञा स्त्री० [स० ज्योति] ब्रह्म की ज्योति, आत्मज्योति।~दस द्वारे का देहरा, तामे **जोति** पिछानि।→ सा० भ्रम वि० (२३) १०-२।

जोतिग—सज्ञा पु० [सं० ज्योतिप] ज्योतिप विद्या। ~जप तप संजम पूजा अरचा **जोतिग** जग वौराना। →पद २०८-५।

जोतिहि—सज्ञा स्त्री० [स० ज्योति] परम ज्योति,परमात्मा।~कहै कवीर भव वंधन छूटै, **जोतिहि** जोति समानी। →सव० ३५-१०।

जोनि—सज्ञा स्त्री० [स० योनि] योनि। ~उपजै खपै **जोनि** फिरि आवै, सुख का लेम सपने नहिं पावै। → र० ८४-३।

जोनिन—सज्ञा स्त्री० [स० योनि] योनियाँ। ~सनकादिक भूले भँवर वोय, लख चौरासी **जोनिन** जोय। →वसन्त (४) १-५।

जोनीं—सज्ञा स्त्री० [सं० योनि] योनि। ~गुर मिलि जिनिके खुले कपाट, वहुरि न आवै **जोनीं** वाट। →पद २०२-१०, सव० १७७-६, पद ३०८-४। दे० 'जोनि'।

जोय—संज्ञा स्त्री० [सं० जाया] पत्नी, स्त्री।~सनकादिक भूले भँवर वोय, लख चौरासी जोनिन **जोय**। → वसन्त (४) १-५।

जोर—सज्ञा पु० [फा०] वल, शक्ति। ~आहि मेरे ठाकुर तुम्हरा **जोर**। →सव० ४२-१।

जोर—सज्ञा पु० [फा०] जवरदस्ती, वलपूर्वक। ~**जोर** किया सो जुलुम है, लेइ जवाव खुदाइ। → सा० साँच० (२२) ६-१, कहरा (३) ४-७।

जोर—क्रि० [स०√जुड्] जोडना।~

तिरिया त्रिष्ना पापिनी, तासो प्रीति न जोर। →सा० माया० (१६) १४-१।

जोरा—सज्ञा स्त्री० [फा०] अत्याचार। ~वदे पर **जोरा** हुवै,जम की वरजि गुसांइ।→सा० वीन०(५६) ५-२।

जोरी—क्रि० [हि० जोडना से] एकत्र किया। ~कव दत्तैं मावासी तोरी, कव सुखदेव तोपची **जोरी**। →र० ६६-४।

जोरी—क्रि० वि० [फा०] वलपूर्वक।~**जोरी** करि जिवहैं करैं, कहते है ज हलाल। → सा० साँच० (२२) ८-१।

जोरी—सज्ञा स्त्री० [हि० जोडी] युग्म, दो का समूह। ~ **जोरी** विछुरी हस की, पडे वगाँ कै साथि। → सा० अपा० (४८) १-२।

जोरू—सज्ञा स्त्री० [हि० जोड] स्त्री। ~**जोरू** जूठनि जगत की, भले वुरे का वीच। → सा० कामी० (२०) १४-१।

जोवती—क्रि० [सं० जुह्वन्] प्रतीक्षा करती, इतजार करती। ~ वहुत दिनन की **जोवती**, वाट तुम्हारी राम।→सा० विर० (३) ६-१।

जोवन—संज्ञा पु० [स० यौवन] युवावस्था। ~ तन मन **जोवन** भरि पिया, प्यास न मिटी मरीर। → सा० लाँवि (७) १-२, सा० चिता० (१२) ८-१।

जोवनहार—सज्ञा पु० [हि०] साक्षि-चैतन्य। ~ **जोवनहार** अतीत सदा सगि ए गुण तहाँ समाही। → पद २६८-६।

जोवैं—क्रि० [हि० जोहना] प्रतीक्षा कर रहे हैं। ~ तहाँ कवीरा मठ रचा, मुनि जन **जोवैं** वाट। →सा० लै (१०) ३-२।

जोहारा—क्रि० [स० जुषण] प्रणाम करना। ~ वूडि गए नहिं आपु सभारा, ऊँच नीच कहु काहि **जोहारा**। →विप्र० (२) २१, वेलि (६) २६।

जोहारि—क्रि० दे० 'जोहारा'।

जोहिया—क्रि० [हि० जोहना से] खोजा, ढूंढा। ~ वहुत ध्यान कै **जोहिया**, नहिं तेहि सख्या आय।→ र० ७७-६।

जोहै—क्रि० [हि० जोहना] जोहता है, इंतजार करता है, इच्छा करता है। ~फद छोडि जे वाहर होई, वहुरि पथ नहिं **जोहै** सोई।→ र० ७४-७।

जौहरी—सज्ञा पु० [फा०] रत्न विक्रेता, रत्न को परखने वाला।~हरि हीरा जन **जौहरी**, ले ले माँडिय हाटि।→ सा० पारि० (४६) ३-१।

ज्योति—सज्ञा स्त्री० [स०] प्रकाश। जीव रूप यक अन्तर-वासा, अन्तर **ज्योति** कीन्ह परगासा। → र० १-१।

ज्वाव—सज्ञा पु० [अ० जवाव] उत्तर। ~पाहन कौ क्या पूजिए, जो जनमि न देई **ज्वाव**। → सा० भ्रमवि० (२३) ३-१।

झ

झकझोरी—सज्ञा पु० [हि०] झटका ।~ अतर मधे अत लेइ, **झकझोरी** झोला जीवहिं देइ ।→ वसन्त (४) ७-४ ।

झकोरैं—क्रि० [हि०] चलती है । ~ सोरह मंझैं पवन **झकोरैं**, आकासैं फरु फिरिया । → सब० ११९-६ ।

झखमारि—[मुहा०] झख मारना। विवश होकर । ~ त्रिखावत जो होइगा, (सो) पीवेगा **झखमारि** । → सा० विर्क० (३७) ७-२ ।

झख मारी—क्रि० [स० झख+हि० मारना] मन मारकर, 'झख' मछली को कहते हैं । यह मुहावरा उसी से बना है, भाव है—व्यर्थ समय नष्ट करना ।~ पण्डित सो वोलिये हित-कारी, मूरुख ते रहिये **झख मारी** । →र० ७०-४, पद २००-५ ।

झगरा—सज्ञा पु० [हि० झगडा] विवाद, सघर्ष । ~राउर की कछु खवरि न जानहु, कैसे क **झगरा** निवेरहु हो । →कहरा (३) २-५ ।

झगरा—सज्ञा पु० [हि०] सशय ।~ **झगरा** एक निवेरहु राम। सब० १३३-१ ।

झटका—संज्ञा पु० [हि०] पशु को एक ही आघात से काट डालना । ~ वै हलाल वै **झटका** मारैं, आगि दुनौ घर लागी ।→पद ३०४-८ ।

झड़पसी—क्रि० [हि० झपटना] झपट्टा मारेगा । ~ काल अचिंता **झड़पसी**, ज्यौं तीतर कौ वाज ।→सा० काल० (४६) ६-२ ।

झड़ि—सज्ञा स्त्री० [हि०] झडी ।~ पारब्रह्म वड मोतियाँ, **झड़ि** वाँधी सिषराँह । → सा० निगु० (५५) ३-१ ।

झनकार—सज्ञा स्त्री० [सं० झंकार] ध्वनि । ~ विनु वाजा **झनकार** उठैं जहँ समुझि परैं जव ध्यान धरैं ।→ पद २४६-३ ।

झमकाए—क्रि० [हि०] चमकाने से । ~ का चूरा पाइल **झमकाए**, कहा भयो विछुवा ठमकाए । → सव० १३०-३ ।

झरनां—क्रि० [हि०] गिरने देना ।~ सुपिनैं विंदु न देई **झरनां**, तिसु काजी कउ जरा न मरना । → पद ३४६-६ ।

झरी—क्रि० [स० क्षरण] झरना । ~ हाड **झरी** झरि गूद गलीगल, दूध कहाँ ते आया ।→ सव० १७४-८ ।

झरैं—क्रि० [हि० झरना] झरता है । ~ नीझर **झरैं** अमीरस निकसैं इहि मद रावल छाका ।→ पद ३४४-७ ।

झल—सज्ञा स्त्री० [स० ज्वलन] ज्वाला, जलन । ~गोविंद मिलैं न **झल** वुझैं, रही वुझाइ वुझाइ ।→ सा० चाँण० (१७) १-२ ।

झल—सज्ञा स्त्री० [स० ज्वाल] विष-याग्नि । ~ मुर्गी मिनकी सो लडैं, **झल** पानी दौडे । → सव० ५१-६ ।

झल—सज्ञा स्त्री० [स० ज्वाल] आग । ~कहै कवीर गुर दिया पलीता सो **झल** विरलै देखी । →पद २१९-८ ।

झलकती—क्रि० [स० झल्लिका] चम-

कती है, दमकती है।~मन्दिर माँही झलकती, दीवा की सी जोति। → सा० काल० (४६) १७-१।

झलक्कै—क्रि० [स० झल्लिका] प्रतिविम्बित होने लगता है, प्रकाशित होने लगता है। झलकना, चमकना। ~ तव सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीसि।→सा० मन० (१३) २०-२, सा० सुन्द० (५२) ४-२।

झलमई—वि० [स० झल + मयी] ज्वालामय, अग्निमय। ~आगै पीछै झलमई, राखै सिरजनहार।→सा० सम्र० (३८) ७-२।

झलि—सज्ञा स्त्री० [स० ज्वाल] ज्वाला मे। ~ माया की झलि जग जरै, कनक कामिनि लागि। → सा० माया० (१६) ३२-१।

झांई—सज्ञा स्त्री० [स० छाया] अंधकार। ~ अँखियन तौ झांई परी, पथ निहारि निहारि।→सा० विर० (३) ३२-१।

झाई—सज्ञा स्त्री० [स० छाया] परछाई, प्रतिविम्व। ~ झाई मानत इच्छा कीनी, इच्छा ते अभिमानी। →पद २६४-३, कहरा (३) १०-३।

झांपि—क्रि० [स० झम्पन] ढँक लेना, वद कर लेना। ~ नैना अतरि आव तू, नैन झांपि तोहि लेउँ। → सा० निह० प० (११) २-१।

झारि—वि० [हि०] सभी लोग। ~छव चकवै मडलिक झारि, अजहू हो नर देख विचारि।→वसन्त (४) ६-४।

झारि—वि० [स०] सम्पूर्ण रूप से। ~ आगि जु लागी नीर महि, कादौ जरिया झारि।→ सा० ज्ञान० (४) ५-१, सा० कामी० न० (२०) १-२।

झारी—वि० [स० ?] समस्त, सव, सम्पूर्ण। दे० 'झारि'। ~प्रगटे सुर नर मुनि सव झारी, ताही खोज परे सव हारी।→ र० ३-६, र० ६-५, पद २६१-६।

झाल—सज्ञा स्त्री० [स० झल] लपट; ज्वाला। ~एक कनक अरु कामिनी, दोइ अगिन की झाल। → सा० कामी न० (२०) १२-१, सा० सूरा० (४५) २६-१।

झालि—क्रि० [हि० झेलना] झेलकर। ~ कवीर केवल राम कह, सुद्ध गरीवी झालि। → सा० चिता० (१२) ५२-१।

झिन—वि० [स० क्षीण] सूक्ष्म।~कहै कवीर केहि देही खोरी, जव चलिही झिन आसा तेरी।→ र० ८०-४।

झिरमिर—वि० [अनु०] मद-मंद, धीरे-धीरे।~झिरमिर झिरमिर वरपिया, पाहन ऊपरि मेह। →सा० निगु० (५५) २-१।

झीं झीं—यौ० [दे०] नाद, ध्वनि। ~ रामुरा झीं झीं जतर वाजै, कर चग्न विहूना नाचै।→पद २७०-१।

झीं झीं—वि० [स० क्षीण-क्षीण] सूक्ष्म, सूक्ष्म। ~ झीं झीं आसा मँह लगे, ज्ञानी पण्डित दास।→ र० ८०-५।

झीन—वि० [स० जीर्ण, प्रा० झीण] सूक्ष्म, झीना।~ पानी हू तैं पातरा, धूंवा हू ते झीन। → सा० मन० (१३) १२-१।

झीना—वि० [स० क्षीण] क्षीण, कृश। ~ कबीर हरि का भावता, **झीना** पिंजर तास। → सा० सा० सा० (२६) ४-१।

झूरि—क्रि० [हि०] सूखकर, शुष्क होकर, सतप्त होकर। ~ ऊँचा विरिख अकासि फल, पखी मूए **झूरि**। → सा० सूरा० (४५) १७-१।

झूरि—वि० [हि० झूर] शुष्क, सतप्त, चिन्तित। ~ दुखिया मूवा दुख कौ सुखिया सुख कौं **झूरि**। → सा० मधि० (३१) ८-१।

झूरी—वि० [हि० झूर] सूखी।~हाड जरै जैसे लकडी **झूरी**, केस जरै जैसे तिन कै कूरी। → सव० १३६-५, सव० ६-४।

झूलि—क्रि० [हि० झूलना] लटके या झूलते रहते हैं।~ ते विधना वागुल रचे, रहे अरध मुखि **झूलि**।→ सा० चिता० (१२) २८-२।

झेल—क्रि० [हि०] झेलना, वचाना। ~टूटै वरत अकास तै, कौन सकत है **झेल**। → सा० सूरा० (४५) ३२-२।

झेलिक झेला—सज्ञा पु० [दे०] ठेलाठेली, खीचतान, धोखाधडी।~ छाँडि देहु नर **झेलिक झेला**, वूडे दोऊ गुरु औ चेला।→ र० १२-४।

झोट—सज्ञा पु० [सं० झुण्ड] वालो का समूह, झोटा।~जव जमु आइ **झोट** पकरै, तवहि काहे रोआ। → सव० १७५-६।

झोरी—सज्ञा स्त्री० [हि०] कपड़े की थैली। ~ सत करि खपर खिमा करि **झोरी**, ग्यान विभूति चढाई।→ सव० ३३-७।

झोल—संज्ञा पु० [स० ज्वाल] ज्वाला। ~कवीर दरिया परजला, दाझै जल थल **झोल**। → सा० दया नि० (५१) १-१।

झोला—सज्ञा पु० [हि०] धक्का, रेला। ~ अतर मधे अत लेइ, झकझोरी **झोला** जीवहिं देइ। → वसन्त (४) ७-४।

झोलै—क्रि० [स० ज्वलन] जलाए, सताए। ~ जहँ जहँ जाइ तही सचु पावै माया तासु न **झोलै**। → पद २५४-५।

ट

टकसाल—सज्ञा स्त्री० [स० टंकशाला] सिक्का ढालने का स्थान, शुद्ध, निर्दोष। ~ अमृत वरिसै हीरा निपजै, घटा पडै **टकसाल**। → सा० पर० (५) ४७-१।

टका—सज्ञा पु० [स० टक] द्रव्य, रुपया। ~ मन दस नाज **टका** दस गाठी, ऐंडौ टेढौ जात। → सव० ७०-२।

टाँकि—क्रि० [सं० टकन] छेनी से काटकर।~पाहन **टाँकि** न तोलिए, हाडि न कीजै वेह। → सा० सग० (२६) ५-१।

टाकी—सज्ञा स्त्री० [स० टक] छेनी। ~अर सकल पाखान वरावरि, **टाकी** अगिनि प्रकासा।→ सव० ६६-८।

टांचनहारै—वि० [हि०] तराशने वाला, गढने वाला। ~**टाचनहारै** टाचिया दै छाती ऊपरि पाउ। → पद २११-५।

टाचिया—क्रि० [हि० टांचना] तराशा, काटा। ~ टाचनहारै **टाचिया** दै छाती ऊपरि पाउ।→पद २११-५।

टाडौ—सज्ञा पु० [हि० टांड] अन्न आदि व्यापार की वस्तुओ से लदे हुए पशुओ का झुड, जिसे व्यापारी लेकर चलते हैं, व्यापार की वस्तुएँ। ~ वनिज खुटानौ पूंजी टूटि, दह दिसि **टाडौ** गयौ फूटि।→पद २३६-७।

टाटी—सज्ञा स्त्री० [स० स्थात्री या तटी] टट्टी, टटिया, पर्दा।~काहे कूं भीति वनाऊँ **टाटी**, का जानूं कहाँ परिहै माटी।→सव० ८०-१, पद ३०२-२।

टापा—संज्ञा पु० [स० स्थापन] अज्ञान की पट्टी। ~राम नाम जानै नही, आये **टापा** दीन।→ सा० चिता० (१२) २४-२।

टीका—सज्ञा पु० [स० तिलक, प्रा० टिक्क] गद्‌दी।~दुदुर राजा **टीका** वैठे, विखहर करै खवासी। → पद ३००-५।

टीकि—क्रि० [हि० टीक्ना] लगाकर। ~काजल **टीकि** चसम मटकावै कसि कसि वांधै गाढी।→पद ३१३-३।

टीडरि—सज्ञा स्त्री० [दे०] वाल्टी। ~ वांधे ज्यू अरहट **टीडरि**, आवत जात विगूते।→मव० १८६-६।

टूक—वि० [स० स्तोक] जरा, थोडा सा, किंचित्, टुकडा, खड। ~खूव खाँड है खीचड़ी, माँहि पडै **टूक** लौंन।→सा० साँच० (२२) १२-१; सा० काल० (४६) ७-१, सा० द० निर० (५१) ३-२, सव० १८१-४।

टेकहु—क्रि० [हि० टेकना] सहारा लो। ~ **टेकहु** नाम जहाज समुझ मन वौरा हो।→चाचर (५) २-२६।

टेरै—क्रि० [हि० टेरना] पुकारती है। ~ ठाढी माइ करारै **टेरै**, है कोई लावै गहि रे।→सव० ६७-२।

टोकनी—सज्ञा स्त्री० [प्रा० टोक्कण] भिक्षा-पात्र।~कवीर तष्टा **टोकनी**, लीए फिरै सुभाइ। → सा० चांण० (१७) ५-१।

टोटी—सज्ञा स्त्री० [स० तुण्ड] नली। ~ कहै कवीर यह कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकसै **टोटी**।→ पद २५८-५।

टोप—संज्ञा पु० [हि०] लडाई मे पहनने की लोहे की टोपी, शिरस्त्राण।~ स्वाद सनाह **टोप** ममिता को कुवुद्धि कमान चढाई। → सव० ९३-५, सव० ११८-३।

टोवहु—क्रि० [हि० टोहना] खोजते हो, टटोलना। ~ पेलना अछत पेलि चलु वौरे, तीर तीर का **टोवहु** हो। →कहरा (३) १-२०।

ठ

ठकुराई—सज्ञा स्त्री० [हि० ठाकुर+आई (प्रत्य०)] प्रभुता, स्वामित्व, सर-दारी। ~जहाँ मसीति देहुरा नाँही; तहँ काकी **ठकुराई**।→पद ३२६-६।

ठग—संज्ञा पु० [स० स्थग] धूर्त, धोखा देने वाला। ~ ठ ठा ठौर दूरि, **ठग** नियरे, नितिकै निठुर कीन्ह मन घेरै। →ज्ञान चौं० (१) २७।

ठगिनि—संज्ञा स्त्री० [हि० ठगिनी] ठगने वाली, धोखा देने वाली।~ माया-महा **ठगिनि** हम जानी। → पद २३७-१।

ठगौरी—संज्ञा स्त्री० [हि०] भ्रम मे डालने वाली क्रिया या चतुराई, मोहित करने वाली क्रिया, माया। ~ हरि ठग जगत **ठगौरी** लाई। → पद ३३५-१, सव० १३०-५।

ठगौरी—संज्ञा स्त्री० [हि० ठग+वौरी] ठगने की कला, जादू, टोना। ~ये कलि गुरु वडे परपंची, डारि **ठगौरी** सब जग मारा।→ पद ३२४-७।

ठगौरी—संज्ञा स्त्री० [हि० ठग+वौरी] ठगने वाली, माया।~आँधरि गुष्टि स्रिष्टि भौ वौरी, तीनि लोक मँह लागि **ठगौरी**।→र० ११-१।

ठपका—सज्ञा पु० [दे०] धक्का, ठेस। ~ **ठपका** लागा फुटि गया, कछू न आया हाथि। → सा० चिता० (१२) ३६-२।

ठमकाए—क्रि० [सं०स्तम्भ] वजाने से। ~का चूरा पाइल झमकाए, कहा भयो विछुआ **ठमकाए**।→सव० १३०-३।

ठमूकड़ा—वि० [सं० स्तम्भ] स्थिर, क्रियाशून्य।~अहरनि रहा **ठमूकड़ा**, जव उठि चला लुहार।→सा०काल० (४६) २१-२।

ठहराइ—क्रि० [हि०] स्थिर करना, चरितार्थ करना। ~कथनी कथी तो क्या भया, जौ करनी नाँ **ठहराइ**। →सा० कर०वि० क०(१८) १-१।

ठहरांनी—क्रि० [सं० स्थैर्य+ना (प्र०)] रुकी हुई, प्रतिष्ठित। ~कहै कवीर तेरा संत न जाइगा राम भगति **ठहरांनी**।→सव० १२३-६।

ठहरानी—क्रि० [हि० ठहरना] स्थिर हो गई। ~ पवन थक्यो गुडिया **ठहरानी**, सीस धुनै धुनि रोवै प्रानी। →सव० १६१-४।

ठहराय—क्रि० [हि० ठहराना] रुकता है।~ अति भरमत भरम हिंडोलना नेकु नही **ठहराय**। → हिंडोला (८) २-६।

ठाँइ—संज्ञा पु० दे० 'ठाउँ'।

ठाँई—संज्ञा पु० दे० 'ठाउँ'।

ठाउँ—संज्ञा पु० [सं० स्थान] स्थान, जगह। ~अनेक जुग जो पुन्नि करै, नही राम विन **ठाउँ**।→सा० सुमि० (२) २०-१, सा० जर० (८) ५-१, कहरा (३) १०-६, पद २३७-७, र० २६-२।

ठाऊँ—संज्ञा पु० दे० 'ठाउँ'।

ठाँवै-ठाँव—संज्ञा पु० [स० स्थान से] स्थान-स्थान पर। ~पुर पट्टन सूवस वसै, आनंद **ठाँवै-ठाँव**। → सा० साधु म० (३०) २-१।

ठाकुर—संज्ञा पु० [स० टक्कुर] स्वामी, मालिक, सद्गुरु। ~ नटवर विद्या खेल जो जानै, तेहिका गुन सो **ठाकुर** मानै। →र० ६८-३, पद ३४२-६, कहरा (३) १-१०, सव० १६-३।

ठाना—क्रि० [सं० अनुष्ठान] रचा। ~ चारि वेद ब्रह्मे निज **ठाना**, मुक्तिक मर्म उनहुँ नहिं जाना।→ र० ३४-३।

ठानिन्हि—क्रि० [स० अनुष्ठान] तत्परता के साथ प्रतिपादन करते हैं।~रामहुँ केर मरमु नहिं जाना, लै मति **ठानिन्हि** वेद पुराना।→र० ६१-३।

ठानी—वि० [स० अनुष्ठान से] स्थिर, सिद्ध। ~ गये पंडु कुन्ती सी रानी, सहदेवहु जिन वुधि मति **ठानी**। → र० ५५-३।

ठाम—सज्ञा पु० [स० स्थान] स्थान, सहारा। ~मूली ऊपरि नट विद्या, गिरै त नाही **ठाम**। →सा० सुमि० (२) २६-२, र० ४८-३।

ठामा—सज्ञा पु० दे० 'ठाम'।

ठाहर—क्रि० [हि० ठहरना] ठहरना, रुकना। ~ तिहिं पूति वाप इकु जाया, विनु **ठाहर** नगर वसाया।→ सव० ८-८।

ठाहरि—सज्ञा पु० [सं० स्थान] स्थान पर। ~ अवधू जानि राखि मन **ठाहरि**।→सव० ३३-१।

ठाहरै—क्रि० [स० स्थिर] ठहरता है, टिक पाता है, रुक सकता है। ~ विरला कोई **ठाहरै**, सतगुरु साँमी झूठि।→सा० सग० (२६) १-१।

ठाहरैं—क्रि० [स० स्थिर] रुकना।~ नीर मिवाणाँ **ठाहरै**, नाँ कछु छापर-डाँह।→सा० निगु० (५५) ४-२।

ठिक—वि० [हि०] ठीक, वास्तविक, यथार्थ। ~ दुइ चकरी जनि दरर पसारहु, तव पैहौ **ठिक** ठौरा हो।→ कहरा (३) २-१३।

ठिठकी—वि० [स० स्थित] डरी हुई, त्रस्त।~करि सिंगार वहै पखिआरी, सत की **ठिठकी** फिरै विचारी।→ सव० ४६-६।

ठीक दै—मुहा० [हि० ठीक देना] नियत करके, पूरा-पूरा करके। ~ चार लाख अरु **ठीक दै**, जनम लिख्यौ सव चोटै। → पद २१७-४।

ठूँठा—वि० [स० स्थाणु] जिसका हाथ कटा हो, लूला। ~ सिसुपाल की भुजा उपारिन, आपु भए हरि **ठूँठा**। →सव० ४-८।

ठेलिया—क्रि० [हि०] ढकेलना, ठेलना, धक्का देना।~अँधहि अधा **ठेलिया**; दोनो कूप पडत। →सा० गुरु०(१) १५-२।

ठैऊ—संज्ञा पु० [स० स्थान] अधिष्ठान। प्रथम अरभ कौन को भैऊ, दूसर प्रगट कीन्ह सो **ठैऊ**।→र० ३-१।

ठोकत—क्रि० [हि० ठोकना] चोट करना। ~ पानी महँ पखान की रेखा, **ठोंकत** उठै भभूका। →सव० १६१-२।

ठोकि वजाइ—मुहा० = ठोकना वजाना। ठोक वजाकर, परीक्षण करके। ~ हरि विन अपना कोइ नही, देखे **ठोकि वजाइ**। →सा० विर्क०(३७) १०-२।

ठोली—क्रि० वि० [दे०] सरलतापूर्वक। ~चिंतामणि क्यूं पाइए **ठोली**, मन दे राम लियौ निरमोली। → सव० २१-४।

ठौर—सज्ञा पु० [स० स्थान] निश्चय। ~आपु जियत लखु आपु ठौर करु, मुए कहाँ घर तेरा। → सब० १८०-२।

ठौर—सज्ञा पु० [सं० स्थान] स्थान, स्थल, जगह, ठिकाना। ~जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाया ठौर। → सा० पर० (५) ३७-१, हिंडोला(८) ३-२, सा० काल० (४६) २५-२, ज्ञान चौं० (१) २७, सब० १७०-४, सा० सू० मा० ४-२, ५-१, कहरा (३) २-१३, सा० चिता० (१२) ३६-१।

ठौरा—सज्ञा पु० दे० 'ठौर'।

ड

डक—सज्ञा पु० [हि० डका] एक प्रकार का बाजा, जो ताँवे या लोहे के वर्तन पर चमडा चढ़ा कर बजाया जाता है, डका, नगाडा। ~ मेरु दड पर डक दीन्ह, अष्ट कवँल परजारि दीन्ह। → वसन्त (४) २-२, सब० १८-२।

डड—सज्ञा पु० [सं० दण्ड] पाप, अपराध। ~ राम न रमसि कौन डंड लागा, मरि जैवे का करिवे अभागा। →पद २५८-१।

डड—सज्ञा पु० [स० दण्ड] मेरुदण्ड। ~ जरि गौ कथा धजा गयौ टूटी, भजि गौ डड खपर गयौ फन्ी। → सब० १२६-४।

डडु—सज्ञा पु० [सं० दण्ड] डण्डा। ~ जम का डंडु मूंड माहिं लागै खिन महिं करै निवेरा। →पद २१६-८।

डडूल—सज्ञा पु० [स० द्वन्द्व, प्रा० डडुल] वात्याचक्र, ववडर, द्वन्द्व। ~ कर सेती माला जपै, हिरदै वहै डडूल। → सा० भेष० (२४) १-१।

डगमग—सज्ञा पु० [हि०] अस्थिरता। ~डगमग छाडि दे मन वौरा। → सब० १३७-१।

डरपत—क्रि० [हि० डरना] डरते रहो। ~सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोहि डराई देत विलाई। →पद ३२०-१।

डरपता—क्रि० [हि० डर] डरना, भयभीत होना। ~ आंखि न मीचौं डरपता, मत सपना ह्वै जाइ। → सा० उप० (५०) ६-२।

डरपती—क्रि० [हि० डरना से] भयभीत होती है। ~मडहट देखें डरपती चौडे दीया जालि। → सा० काल० (४६) १६-२।

डरिहो—क्रि० [हि० डालना] डाला जाएगा। ~ मरिहो रे तन का ले करिहो, प्रान छूटे वाहर लै डरिहो। →पद २२१-१।

डसिले—क्रि० [स० दंशन] डस लिया। ~ससार भवगम डसिले काया, अरु दुखदारन व्यापै तेरी माया। →सब० १४५-३।

डसिहै—क्रि० [स० दशन] डस लेता है। ~जे छाँडौं तौ वूडिहौं, गहौं त डसिहै वाँहि। → सा० विर० (३) ४३-२।

डहकाई—क्रि० [हि० डहकाना] धोखा देती है। ~ या मजारी मुगध न

मानै, सब दुनिया डहकाई । → पद ३२०-३ ।

डहकाए—क्रि० [हि० डहकाना] भटकते हुए, धोखा खाते हुए ।~ग्यांन अचेत फिरै नर लोई, तार्थं जनम जनम डहकाए ।→पद ३३१-२ ।

डहके—क्रि० [हि०] ठगा, धोखा दिया । ~ या माया सुर नर मुनि डहके, पीर पयवर कौं धरि खाई । →सव० १२०-७ ।

डहकै—क्रि० [हि०] चिंघाडना । ~ कानि तराजू सेर तिन पौआ, डहकै ढोल वजाई हो । → कहरा (३) ४-५ ।

डहडही—क्रि० [दे०] हराभरा होना, लहलहाना ।~जे काटौं तौ डहडही, सीचौं तौ कुम्हिलाइ । → सा० वे० (५८) ३-१ ।

डांग—सज्ञा स्त्री० [दे०] डण्डा, लाठी । ~ घर घर खायउ डाग समुझ मन वौरा हो ।→ चाँचर (५) २-१६ ।

डाड कै डोरिया—यौ० [हि०] कमर की डोरी, करधनी । ~ डाड कै डोरिया तोरिलाइन, जो कोटिन धन होई हो ।→कहरा (३) ६-२ ।

डाडि—सज्ञा पु० [स० दण्ड] चिह्न, तिलक । ~ तौ जनतैं तीनि डाडि किन सारै ।→सव० १२६-२ ।

डाँड़ि—सज्ञा पु० [स० दण्ड] दण्ड । ~ वाँधि मारि डाँड़ि सभ लैहैं, छुटिहै सभ मतवाली हो । → कहरा (३) १-११ ।

डाँड़ी—सज्ञा स्त्री० [हि०] हिंडोले मे लगी हुई चार लकडियाँ या डोरी की लरें जिनसे वँधी हुई वैठने की पटरी लटकती रहती है । ~ सुभ असुभ बनाय डांड़ी गहै दोनौं पानि । → हिंडोला (८) १-४ ।

डाँड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० दण्ड] तराजू का डडा जिसके दोनो सिरो से पलडे लटकाए जाते है ।~विन डाँड़ी विन पालरैं, तौलै सब ससार । → सा० सम्र० (३८) ८-२ ।

डाकि पड़े—क्रि० [हि० डाँकना + पडना] कूद पडे । ~ डाकि पड़े ते ऊवरे, दाझे कौतिगहार । → सा० सूरा० (४५) २६-२ ।

डाकिनी—सज्ञा स्त्री० [स०] पिशाचिनी, राक्षसी, डाइन । ~ कवीरा माया डाकिनी, सब काहू कौं खाइ । → सा० माया० (१६) २१-१ ।

डागल—सज्ञा पु० [हि० डग, डगर] ऊवड-खावड भूमि या मार्ग । ~ डागल ऊपरि दौरना, सुख नीदडी न सोइ । → सा० चिता० (१२) ५६-१ ।

डाजा—क्रि० [स० दग्ध] जलना, क्रुद्ध होना ।~स्वारथ लागि रहै वेकाजा, नाम लेत पावक जौ डाजा ।→विप्र० (२) १० ।

डाढ़े—वि० [स० दग्ध] दग्ध । ~दिन दिन जरै जलन के पाऊँ, डाढ़े जाय न उमँगे काऊ ।→र० ५६-१ ।

डार—सज्ञा स्त्री० [हि० डाल] डाली से, शाखा से । ~ पाका फल जो गिरि परा, वहुरि न लागै डार ।→ सा० चिता० (१२) ३४-२ ।

डाला—सज्ञा पु० [हि० डाल] शाखा। ~कहै कबीर सब भेख भुलाना मूल छाँडि गहि डाला।→पद ३१४-८।

डाव—सज्ञा पु० [स० दाव्] दाँव, चाल। ~ नाँ गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव। → सा० गुरु० (१) १६-१।

डाहै—क्रि० [स० दाहन] दग्ध करता है। ~उदधि भूप ते तरुवर डाहै, मच्छ अहेरा खेलै।→पद १६६-८।

डाहै—क्रि० [स० दग्ध] जला देता है। ~ अनल जोति डाहै एक संगा, नैंन नेह जस जरै पतगा।→र० २३-३।

डाहो—क्रि० [स० दग्ध] जला दिया। ~तीसर वूडे पारथि भाई, जिन वन डाहो दावा लाई।→र० १२-५।

डिंभ—सज्ञा पु० [स० दभ] घमड, पाषण्ड, आडम्बर, अभिमान, दभ। ~ डाइनि डिंभ सकल जग खदा। → सब० ८५-६, र० ४७-४, पद २६७-७।

डिल्ली—सज्ञा स्त्री० [हि०] भारत की राजधानी, दिल्ली। ~ चारि दिग महि मड रचो है, रूम साम विच डिल्ली। →सब० ६४-१५।

डिगम्बर—सज्ञा पु० [स० दिगम्बर] नगा रहने वाला, जैन साधु, दिगम्बर यति। ~ मौंनी वीर डिगम्बर मारे जतन करंता जोगी।→पद २४४-३।

डिगै—क्रि० [हि० डिगना] विचलित होना। ~मन न डिगै तनु काहे को डेराई।→पद २१३-१।

डुगडुगी—संज्ञा स्त्री० [अनु०] एक प्रकार का छोटा अनवत्थ (चमडा से मढा हुआ) वाद्य। ~ ढोल दमामा डुगडुगी, सहनाई औ भेरि। →सा० चिता० (१२) ३-१।

डूंगर—संज्ञा पु० [स० तुग] टीला, भीटा। ~कवीर हरि रस वरपिया, गिरि डूंगर सिषराँह।→सा० निगु० (५५) ४-१।

डूंगरि—सज्ञा स्त्री० [स० तुग से] टीला या पहाडी पर। ~ डूंगरि वूठा मेह ज्यूं, गया निवांणा चालि। → सा० मन० (१३) २२-२।

डूंघे—वि० [प०] गहरा। ~ तीरथ करि करि जग मुआ, डूंघै पानी न्हाइ।→मा०चाँण० (१७) १८-१।

डेरा—सज्ञा पु० [हि०] निवासस्थान। ~ मन मारि अगमपुर लीया, चित्र-गुप्त परे डेरा कीया।→पद २०५-७।

डेहरि—सज्ञा स्त्री० [फा० दहलीज़] द्वार। ~ जिन्ह सभ जुक्ति अगमन कै राखिनि, धरनि माछ भरि डेहरि हो।→ कहरा (३) १-१८।

डोरै-डारै—मुहा० डोरा डालना, परचाना, अपनी ओर आकृष्ट करना। ~ डाइन डारै सुनहाँ डोरै, सिंघ रहै वन घेरे।→सब० ४४-३।

ढ

ढंढोलता—क्रि० [स० ढुढन] टटोलता, ढूंढता। ~ सायर माँहि ढंढोलता, हीरै पडि गया हत्थ। →सा० पर० (५) ३४-२।

ढंढोल्या—क्रि० [सं० ढुंढन] ढूंढता है या ढूंढा । ~ रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या वादि । →सा० पर० (५) ३३-२ ।

ढहाऊं—क्रि० [हि० ढहाना] गिरा दूं । ~ धीर गंभीर खडग लिए मुदगर माया कै कोट ढहाऊं जी । → पद ३०७-५ ।

ढहाया—क्रि० [सं० ध्वसन] गिरा दिया, नष्ट कर दिया । ~ ब्रह्म अगिनि सहजैं परजाली एकहिं चोट ढहाया। →सव० ६३-८ ।

ढहि पडा—क्रि० [सं० ध्वसन] मकान आदि का ढह जाना, गिर जाना । ~ कबीर मदिर ढहि पड़ा, ईंट भई सैंवार । → सा० चिता० (१२) १७-१, १८-१ ।

ढहि पड़ै—क्रि०[सं० ध्वसन + हि० पडना] ढह जाते हैं, गिर जाते हैं । ~ जो चुनिया सो ढहि पड़ै, जन्मे सो मरि जाय । → सा० काल० (४६) ११-२ ।

ढाकनो—क्रि० [हि० ढकना] छिपाना । ~ स्वान बापुरो धरनि ढाकनो, बिल्ली घर की दासी । → पद ३००-६ ।

ढाढ़स—संज्ञा पु० [सं० दृढ़] साहस । ~ नर को ढाढ़स देखहु आई, कछु अकथ कथा है भाई । → सव० १५५-१ ।

ढारि पासा—मुहा० = पासा ढालना, कर्म करना । ~ बाजीगरी ससार कबीरा, चेति ढारि पासा । →सव० १७५-८ ।

ढालि—क्रि० [हि०] फेंकना । ~ कहै कबीर ते कबहु न हारहिं ढालि जु जानहि पासा । → सव० १६०-८ ।

ढिग—क्रि० वि० [सं० दिक्] समीप, निकट । ~ तेरी ढिग मिनी कछू करि पुकार । → पद ३३८-२ । वसत (४) १२-३ ।

ढीकुली—संज्ञा स्त्री० [दे०] कुएँ से पानी खीचने वाला यंत्र । ~ सुरति ढीकुली लेज लो, मन नित ढोलन-हार । →सा० लै० (१०) २-१ ।

ढुकि ढुकि—क्रि० [दे० ढुकना] घुस-घुस कर । ~ ग्रहन अमावस ढुकि ढुकि माँगै, कर दीपक लिए कूप परै । → पद २७६-५ ।

ढुरि—क्रि० [हि० ढरना या ढुलना] ढरना या ढुलक जाना, सरक जाना । ~ अस ढुरि जाहु राड के करहा प्रेम प्रीति ल्यौ लाए रे । →पद २५५-२ ।

ढुरि—क्रि० [हि०] ढुरक कर या लुढक-कर । ~ जैसे जल जलही ढुरि मिलियौ त्यौं ढुरि मिल्यौ जुलाहा । → पद २८५-४, सा० पर० (५) १८-२ ।

ढुलि—क्रि० दे० 'ढुरि' ।

ढेला—संज्ञा पु० [सं० दल] मिट्टी आदि का टुकडा । ~ ऊँच निच परवत ढेला न ईंट, बिनु गायन तहँवा उठै गीत । →सव० १६५-२ ।

ढोर—संज्ञा पु० [हि०] गाय, भैंस आदि पालतू पशु, मवेशी । ~ ढोर पतग सरे घरिआरा, तेहि पानी सब करै अचारा । →र० ७४-६ ।

ढोलनहार—सज्ञा पु० [दे० ढोल+हार (प्रत्य०)] ढरकाने या खीचने वाला व्यक्ति । ~सुरति ढीकुली लेज लौ, मन नित **ढोलनहार** । → सा० लै० (१०) २-१ ।

ढोल्या—क्रि० [स० दोलन] वहन किया है, धारण किया है ।~बाहरि **ढोल्या** हीगलू, भीतरि भरी भँगारि ।→सा० भेष० (२४) ७-२ ।

ढौरी—सज्ञा स्त्री० [दे०] लगाव, लगन । ~ हमसूं प्रीति न करि री बौरी, तुम्ह से केते लागे **ढौरी** । → पद २४३-५ ।

त

तंग—सज्ञा पु० [हि०] ज्ञान ।~आवत जात दोऊ विधि लूटै, सर्व **तंग** हरि लीन्हा हो ।→ कहरा (३) ८-२ ।

तंगी—सज्ञा स्त्री० [फ़ा०] दु ख, सीमाएँ । ~वध तैं निर्वंध कीया तोरि सब **तगी** । →पद ३२८-६ ।

तत—सज्ञा स्त्री० [सं० तन्त्र] तन्त्री । ~ सब रग तत रवाव तन, विरह वजावै नित्त । → सा० विर० (३) २०-१ ।

तत मंत—सज्ञा पु० [स० तन्त्र मन्त्र] तंत्र मन्त्र । ~ इक **तंत मत** ओपध वाँन, इक सकल सिध राखै अपान । → सव० ६१-६ ।

तति—सज्ञा पु० [स० तन्तु] तात ।~ लवानालि **तति** एक सँमि करि, जंत्र एक भल साजा । →सव० १७२-३ ।

तंवोली—सज्ञा पु० [स० ताम्बोल] ताम्बूल (पान) वेचने वाला ।~ **तवोली** के पान ज्यौ, दिन-दिन पीला होइ । → सा० साध सा० (२९) ९-२ ।

तइयो—अव्य० [सं० तथापि] फिर भी, तो भी । ~ खूँटा गाडि डोरि दृढ बाँधे, **तइयो** तोरि पराई । → पद २०६-४ ।

तकाई—क्रि० [हि० तकना] खोजा । ~धूप दाझतैं छाँह **तकाई**, मति तरवर सच पाऊँ । → सब० ९९-३ ।

तकुला—सज्ञा पु० [हि० ताकना] देखने योग्य अर्थात् परमपद । ~ भैंसिन्ह माँह रहत नित वकुला, **तकुला** ताकि न लीन्हा हो ।→कहरा (३) २-८ ।

तजलो—क्रि० [स० त्यजन] त्याग दिया । ~ **तजलो** कासी मति भइ भोरी, प्राननाथ कहु का गति मोरी । → सव० १९-३ ।

तटि—सज्ञा पु० [स० तट से] किनारे । ~ सरवर **तटि** हसिनी तिसाई ।→ पद ३११-१ ।

तणाँ—प्रत्य० [राज०] सम्बन्ध कारक चिह्न 'का' । ~ सब आसन आसा **तणाँ**, निवरति कोई नांहि । →सा० माया० (१६) २७-१ ।

तत—सज्ञा पु० [स० तत्त्व] सारतत्त्व । ~ दूजा वनिज नही कछु वाषर, राँम नाम दोऊ **तत** आपर । → सव० १४-५ ।

तत—संज्ञा पु० [स० तत्त्व] तत्त्व, रहस्य, वास्तविकता । ~ फूटा कुभ जल जलहि समाना यह **तत** कथौ गियानी । →सब० ९१-६ ।

तत—संज्ञा पु० [सं० तत्त्व] तत्त्व, ब्रह्म। ~ जौ तत नाउँ न जानियाँ, गल मैं परिया फंद। →सा० क० वि० क० (१८) ४-२, सा० पर० (५) ३२-१, सा० सुमि० (२) ३-१।

तत—सर्व० [सं०] उसके। ~ गत फल फूल तत तरु पल्लव, अंकुर बीज नसांनाँ। →सब० १५८-२।

तत—संज्ञा पु० [सं० तत्त्व] तत्त्व, सार। ~ हंस रूप कोइ साधु है, तत का जाननहार। → सा० सार० (३२) १-२, पद ३३०-२, सा० सुमि० (२) ३-१, सा० काल० (४६) १२-२, सब० ४४-७।

तत—संज्ञा पु० [सं० तत्व] सत्य। ~ भाई रे विरलै दोस्त कबीर के यहु तत बार बार कासो कहिए। →पद २०८-१।

ततवेता—संज्ञा पु० [सं० तत्त्व वेत्ता] परमार्थ जानने वाला। ~कहै कबीर सोई ततवेता जीवन मुक्ति समाइ। →पद ३०६-१०।

ततसार—संज्ञा पु० [सं० तत्त्व + सार] सार तत्त्व। ~करनी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार। → सा० गुरु० (१) २८-२, सा०सुमि० (२) २-२।

तत्त—संज्ञा पु० दे० 'तत'।

तत्त—संज्ञा पु० [सं० तत्त्व] प्राकृतिक तत्त्व। ~ रैनि दिवस न चंद सूरज तहाँ तत्त पल्ली नाहिं। → हिंडोला (८) १-२४।

तत्तु—संज्ञा पु० [सं० तत्त्व] सार, तत्त्व, गुण। ~वालना कासो वोलिय (रे) भाई, बोलत ही सब तत्तु नसाई। →र० ७०-१।

तत्तु—संज्ञा पु० [सं० तत्त्व] रहस्य, भेद, मर्म। ~ लौहे लोह जस काटि सयाना, त्रिया कै तत्तु त्रियै पै जाना। → र० ५०-४।

तत्तुमसी—सर्व० [सं० तत् त्वम् असि] तू वही है। ~ तत्तुमसी इन्हके उपदेसा, ई उपनिषद् कहैं संदेसा। → र० ८-१।

तत्तुहि—संज्ञा पु० [सं० तत्त्व + हिं० हि] सारतत्त्व मे। ~ जौं तन त्रिभुवन माहि छिपावै, तत्तुहि मिलै तत्त सो पावै। →ज्ञान चौं० (१) ३६।

तदबीर—संज्ञा स्त्री० [अ०] उपाय, युक्ति। ~कै मुरीद तदबीर बतावै, उनमे उहै जो ज्ञाना। → पद २९७-६।

तन—संज्ञा पु० [सं० तनु] शरीर। ~ फिर पाछे पछिताहुगे, यह तन जैहै छूटि। →सा० सुमि० (२) २५-२, सा० वीन० (५६) ४-१, सा० कस्तू० म्रि० (५३) ३-१।

तनक—वि० [सं० तनु] थोडा। ~राम बडे मैं तनक लहुरिया। → पद ३३९-२।

तनि—संज्ञा पु० [सं० तनु] तन मे, शरीर मे। ~ सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीका तनि ताप। → सा० मा० (१६) २०-२, सा० पर० (५) २९-२।

तनौं— चतुर्थी कारक [प्रा० तणी] के लिए। ~ ईश्वर गौरी पीवन लागे, राम तनौं मतिवारी रे। →सब० ८७-४।

तनी—सज्ञा पु० [स० तन + ई (प्रत्य०)] शरीर पर की । ~ चिरकुट फाडि चुहाडा लै गयी **तनी** तागरी छूटी । →पद २१६-१० ।

तपति—क्रि० [स० तपन] जलती है, तपती है ।~ना तल **तपति** न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लाग । →सव० ८३-४ ।

तपनि—सज्ञा स्त्री० [हि० तपना] जलन । ~ राम विनु तन की **तपनि** न जाइ ।→पद २६१-१ ।

तपसी—सज्ञा पु० [स० तपस्वी] तपस्वी, तपस्या करने वाला । ~ कोई कहै मैं दाता रे भाई कोई कहै मैं **तपसी** । →पद ३१५-७, पद २५२-३ ।

तपा—सज्ञा पु० [स० तपस्वी] तपस्वी । ~**तपा** जु माते तव कै भेव, संन्यासी माते अहमेव ।→पद ३१०-४ ।

तवल—सज्ञा पु० [अ० तवल] अवनद्ध वाद्य, चमडे से मढा हुआ बाजा । ~ रिपु कै दल मैं सहजहिं रौंदौ अनहद **तवल** घुराऊँ जी । → पद ३०७-७ ।

तवाई—क्रि० [फा०] नष्ट हो जाना । ~ स सा सरा रचो वरिआई, सर वेधे सव लोग **तवाई** । → ज्ञान चौं० (१) ६७ ।

तमासा—सज्ञा पु० [अ० तमाशा] अनोखी वात । ~ तेहि ऊपर कछु अजव **तमासा**, मारो है जम किल्ली । →सव० ६४-१६ ।

तमासा—सज्ञा पु० [अ०] कौतुक, खिलवाड़, वैचित्र्य । ~ अनहद अनुभव की करि आसा, देखहु यह विपरीत **तमासा** ।→ र० १६-१ ।

तमासा—सज्ञा पु० [अ० तमाशा] अद्‌भुत कार्य । ~ तीनि लोक ब्रह्मण्ड खण्ड मैं, अँधरा देख **तमासा** । → सव० २८-६, वसत (४) ७-६ ।

तरँग—सज्ञा स्त्री० [स०] लहर, जल । ~ कवलपत्र **तरँग** एक माही, सगै रहै लिप्त पै नाही । →र० ७४-२ ।

तर—क्रि० वि० [स० तल] नीचे, तले । ~ सुम्रिति कहा आपु नहिं माना, तरुवर **तर** छागर होय जाना । → र० ६५-६, सव० २३६-२, सव० ८८-६, र० ७३-१ ।

तरउवा—सज्ञा पु० [हि०] खेदा करने वालो के सहयोगी, पदाति । ~चित्त **तरउवा** पवन खेदा सहज मूल वाधा । →सव० १००-३ ।

तरकस—सज्ञा पु० [फा० तरकश] तूणीर, तीर या वाण रखने का चोगा । ~ करहिं लराई मति के मदा, ई अतीत की **तरकस** वदा ।→र० ६६-६, पद ३०७-४ ।

तरकस वंदा—सज्ञा पु० [फा०] तरकस वाँधने वाला व्यक्ति, सिपाही । ~ करहिं लराई मति के मदा, ई अतीत की **तरकस वदा** । →र० ६६-६ ।

तरगस—सज्ञा पु० दे० 'तरकस' ।

तरन—क्रि० [सं० तरण] उद्धार करने के लिए । ~ भवनिधि **तरन** चरन चितामनि, इक निमिख न यहु मनु लाया । →सव० ६८-४ ।

तरन—सज्ञा पु० [स० तरण] तरने

वाला। ~करु विचार विकार परिहरु, तरन तारने सोई। → पद २२८-८।

तरन-तारन—संज्ञा पु० [हि०] उद्धार कर्त्ता हैं। ~ करि विचार विकार परिहरि **तरन-तारन** सोइ। →सव० १८७-७।

तरपन—सज्ञा पु० [स० तर्पण] देवताओ की तृप्ति के लिए स्नान करके मत्रोच्चार करते हुए उन्हे जल देना। ~सज्ञा **तरपन** औ षट कर्मा, ई वहु रूप करहि अस धर्मा।→र० ३५-२।

तरव—क्रि० [हि० तरना] पार कर जाएँगे।~कहै कवीर हम गौने जैवे, **तरव** कत लै तूर वजाई। → पद ३१२-८।

तरवर—सज्ञा पु० [सं० तरुवर] वृक्ष। ~भूमि विना अरु वीज विन, **तरवर** एक भाई। →सव० १-३।

तरस—सज्ञा पु० [स० त्रस] दया, करुणा।~खसम पिछानि **तरस** करि जिय मैं माल मनी करि फीकी। → पद २२६-७।

तरसि—सज्ञा पु० [सं० त्रास] भय। ~ सासु की दुखी ससुर की पिआरी जेठ कै **तरसि** डरउँ रे। → पद २३२-३।

तराई—क्रि० [स० तरण] उद्धार हो जाता है। ~ हरि का दास मरै जो मगहरि तौ सगली सैंन **तराई**। → सव० १७७-८।

तरासा—क्रि० [स० त्रसन] भय उत्पन्न करती है। ~ उर्ध निरासा उपजि **तरासा**, हकराइन्हि परिवारा हो। →कहरा (३) ६-३।

तरुनि—संज्ञा स्त्री० [सं० तरुणी] युवती, स्त्री।~वुढिया हँसि वोलै मैं नितहि वारि, मोहि अस **तरुनि** कहो कौन नारि। →वसन्त (४) ४-१।

तलपै—क्रि० [हि० तडपना] तडपता है। ~ विरहिन पिउ पावै नही, जियरा **तलपै** माइ। →सा० विर० (३) ३४-२।

तलफि—क्रि० [हि० तडपना] तडप गया। ~ पानी माँहि **तलफि** गौ भूभुरि, धूरि हिलोरा देई। → पद ३२३-३।

तलव—सज्ञा स्त्री० [अ०] वुलावा। ~आई **तलव** गोपालराइ की माया मदिर छाडि चल्यौ। → पद २३३-१०।

तलि—क्रि० वि० [स० तल] नीचे।~ नाँ जाँनौं किस विरिख **तलि** कूडा होइ करक। → सा० निन्द्या० (५४) ७-२।

तवाँई—क्रि० [स० तपन] संताप ग्रस्त होना।~ दर्व हीन कैसन पुरुषारथ, मनही माँह **तवाँई** हो। → कहरा (३) ६-५।

तवावहिंगे—क्रि० [हि० तपाना] तप्त करेंगे। ~ जैसे वहु कचन के भूखन एकहि घालि **तवावहिंगे**। → मव० १८४-५।

तष्टा—सज्ञा पु० [फा० तश्त > तश्ता > तष्टा] तसला। ~कवीर **तष्टा** टोकनी, लीए फिरै सुभाइ। →सा० चाँण० (१७) ५-१।

तसवी—संज्ञा स्त्री० [अ० तसबीह] सुमिरिनी; जप माला। ~ कोई फेरै माला कोई फेरै **तसबी**, देखो रे लोगा दोनो कसवी।→सब० ३८-३।

तहवाँ—क्रि० वि० [स० तत्र] वहाँ, वहाँ पर। ~ कबीर मन पछी भया, भावै **तहवाँ** जाइ। → सा० सग० (२६) ७-१, र० ३४-५, सब० १६६-३।

तहिया—क्रि० वि० [स० तदाहि] तहाँ, उस स्थान पर, तब, उस समय, सहज शून्य ब्रह्म या निरालम्ब अवस्था। ~ **तहिया** होत कली नहि फूला, **तहिया** होत गर्भ नहि मूला। →र० ७-१५, र० ४०-२।

तहियो—अव्य० [स० तदपि] तव भी, फिर भी। ~ खेवै सभै मर्म नहि जानी, **तहियो** कहे रहै उतरानी। →र० ४५-६।

तांइ—अव्य० [स० तावत्] कारण, लिये, निमित्त। ~ कबीर करत है वीनती, भौसागर के **तांइ**। → सा० वीन० (५६) ५-१।

ताति—सज्ञा स्त्री० [स० तन्त्री] एक प्रकार का वाद्य जिसमे तार लगे होते हैं, जैसे—वीणा, सितार आदि।~ कबीर सबद सरीर मैं, विन गुन वाजै **ताति**। →सा० सव० (४०) १-१।

तांमसु—वि० [स० तामस] तमस् से युक्त। ~ विसमिल **तामसु** भरम कदूरी, भखि लै पचै होइ सबूरी। →सब० ७२-४।

ता—सर्व० [स० तद्] उससे।।~दाध बली **ता** सब दुखी, सुखी न देखौं कोइ।→सा० दया नि०(५१) ३-१।

ताइ लिया—क्रि० [हि० तवा] मूंदकर रखा, ढंक दिया, सुरक्षित किया। ~कसनी दे कचन किया, **ताइ लिया** ततसार।→सा० गुरु० (१) २८-२।

ताइँ—अव्य० [स० तावत्] निमित्त, लिए। ~ किएउँ सिंगारु मिलन कै **ताईं**, हरि न मिले जग जीवन गुसाइँ। →पद ३३६-३।

ताका—सर्व० [स० तत्] उसका। ~ **ताका** जल कोई हसा पीवै, विरला आदि बिचारि।→सा० पर० (५) ४५-२।

ताकू—संज्ञा पु० [हि०] सूत काटने के काम मे व्यवहृत उपकरण, तकली। ~**ताकू** केरे सूत ज्यो, उलटि अपूठा आनि।→सा० मन० (१३) १-२।

ताग—सज्ञा पु० [स० तार्कव] तागा, डोरा। दे० 'तागा'। ~ हार गुह्यौ मेरो राँम **ताग**, बिचि बिचि मान्यक एक लाग।→ पद २३४-३।

तागरी—सज्ञा स्त्री० [हि० ताग+कडी] मेखला, करधनी। ~चिरकुट फाडि चुहाडा लै गयौ तनी **तागरी** छूटी। →पद २१६-१०।

तागा—सज्ञा पु० [स० तार्कव, प्रा० तग्गो] तागा, सूत।~ जब लगि **तागा** वाहौं वेही, तब लगि बिसरै राम सनेही।→सब० १३६-४।

तागि—सज्ञा पु० दे० 'तागा'।

ताजनै—सज्ञा पु० [फा० ताजियाना] कोडा। ~ चलु रे बैकुठ तुझहि लै

तारउ, हिचहि त प्रेम ताजनै मारउ। →सव० ३-४।

ताजी—सज्ञा पु० [फा०] अरबी घोडा। ~ ताजी तुरुकी कवहु न साजेहु, चढेउ काठ के घोरा हो। → कहरा (३) १-२७।

ताड़ी—संज्ञा स्त्री० [दे०] ध्यान, समाधि। ~ दसवैं द्वारैं ताड़ी लागी अलख पुरुख जाकौ ध्यान धरैं।→ पद २४६-५।

तात—सज्ञा पु० [स०] पिता। ~तात जननी कहै पुत्र हमारा, स्वारथ लागि कीन्ह प्रतिपाला।→र० ७८-२।

तातपर्ज—सज्ञा पु० [सं० तात्पर्य] तात्पर्य, भाव। ~ कहो तातपर्ज एक ऐसा, जस पथी वोहित चढि वैसा। → र० ५१-२।

ताता—वि० [स० तप्त] तप्त, गर्म। ~ ताता लोहा यौ मिलै, सधि लखै नहिं कोइ। → सा० वीन० (५६) ७-२, विप्र० (२) २८।

तातैं—सर्वं० [स० तत्] उससे।~माला फेरै मनमुखी, तातैं कछू न होइ।→ सा० भेप० (२४) ३-१।

तातैं—वि० [सं० तप्त] तप्त। दे० 'ताता'। ~ सतगुर साँचा सूरिवाँ, तातैं लोहि लुहार। → सा० गुरु० (१) २८-१।

तायँ—अव्य० [स० तदेव] इसी कारण। ~निर्मल कीन्ही आत्माँ, तायँ सदा हजूरि।→सा० गुरु (१) ३५-२।

तायँ—सर्वं० [सं० तत्] उसी से। ~ जो कछु सो हरि किया, तायँ भया कवीर कवीर।→सा० सम्र०(३८) १-२।

तामँह—सर्वं० [स० तत्] उसमे। ~ गोड न मूड न प्रान अधारा, तामँह भरमि रहा संसारा।→र० ७२-२।

तार—सज्ञा पु० [स० तारा] नक्षत्र। दे० 'तारा'। ~ चमकै विजुरी तार अनत, तहाँ प्रभू वैठे कवलाकत। →सव० १४०-४।

तारन—सज्ञा पु० [स० तारण] तारने वाला, उद्धार करने वाला। ~ तारन तिरन तिरन तूँ तारन, और न दूजा जानौं। सव०६६-७, पद२२८-८।

तारन—क्रि० [हि० तारना] उद्धार करना। ~ तारन तरनु तवँ लगि कहिए जव लगि तत्त न जाँनाँ।→ पद २६४-५।

तारा—सज्ञा पु० [स०] नक्षत्र, ज्योति, अग्नि। ~ धरती गगन पवन नहिं होता, नहिं तोया नहिं तारा।→सा० पर० (५) २७-१।

तारि—क्रि० [स० तारण] भव-सागर से पार करके। ~ राम मोहि तारि कहाँ लै जइहौ। → पद २६४-१।

तारी—संज्ञा स्त्री० [दे०] ध्यान, एकाग्रता, दे० 'ताडी'। ~ ससिहर सूर द्वार दस मूँदे, लागी जोग जुग तारी।→ पद २०१-४, सव० १३-१७, सव० १५८-४, ज्ञान चौ० (१) ४०, ४१, र० ६४-३।

ताल—सज्ञा पु० [स०] एक प्रकार का वाजा, झाँझ, मँजीरा। ~धौल मदलिया वैल रवावी कउवा ताल वजावै।→पद ३३१-३।

तालावेलि—सज्ञा स्त्री० [हि० तलफना]

छटपटाहट, तडपन, व्याकुलता।~ **तालाबेलि** होत घट भीतर, जैसे जल विनु मीन।→सब० २२-५।

ताल—सज्ञा पु० [स० तल्ल] तालाव। ~ अम्बर कुजाँ कुरलियाँ, गरजि भरे सब **ताल**। →सा० बिर० (३) २-१।

तिन—सज्ञा पु० [सं० तृण] घास। दे० 'तिनका'। ~ **तिन** कै ओटे राम है, परवत मेरे भाइ। → सा० कस्तू० (५३) ७-१, पद २६८-५।

तिनका—सज्ञा पु० [स० तृण, तिनका। दे० 'तिन'।~समदहि **तिनका** वरि-गिनै, स्वाँति बूंद की आस।→सा० निह० (११ ५-१।

तिना—सज्ञा पु० [स० तृण] तृण, तिनका। दे० 'तिन'।~राम सनेही दास विचि, **तिना** न सचर होइ।→ सा० साधसा० (२६) १४-२।

तिरत—क्रि० [हि० तिरना] पार होते। ~ जैसी कहै करै जो तैसी, तौ **तिरत** न लागै वारा। → पद २६८-३।

तिरत—क्रि० [स० तरण] तैरने या पार करने मे।~कवीर मधि अग जे को रहै, तौ **तिरत** न लागै वार। →सा० मधि० (३१) १-१।

तिरन—सज्ञा पु० [हि०] उद्धार करने का साधन।~तारन **तिरन** तिरन तूं तारन, और न दूजा जाँनौं।→सब० ६६-७।

तिरनहुं—सज्ञा पु०[स०तृण]तृण को भी। ~ **तिरनहुं** कबहुं न निन्दिए, पाँव तले है जोइ।→सा०निन्द्या० (५४) ६-१।

तिरविक्रम—संज्ञा पु० [स० त्रिविक्रम] विष्णु। ~पृथु गए पृथिमी के राव, **तिरविक्रम** गए रहे न काव।→वसन्त (४) ६-३।

तिराइ—क्रि० [सं० तरण] तैरना।~ मूरिप संग न कीजिए, लोहा जल न **तिराइ**।→सा० कुसं० (२५) २-१।

तिराई—क्रि० [सं० तरण] पार हो सकते हैं। ~ हरि को दास मरै जो मगहरि, सेना सकल **तिराई**। → पद ३०८-८।

तिरि—क्रि० वि० [हि०] मुक्त हो जाय। ~भोजन कहे भूख जे भाजै तो सव कोई **तिरि** जाई।→सब० १६८-४।

तिरि—क्रि० [हि० तैरना] तैर कर। ~ भौ बूडत कछु उपाइ करीजै ज्यौं **तिरि** लंघै तीरा। →पद २३१-६।

तिरि गए—क्रि० [सं० तरण] तैर कर पार हो गए। ~ हलके हलके **तिरि गए**, वूडे जिन सिरभार। → सा० चिता० (१२) ६२-२।

तिरिबौ—क्रि० [हि० तिरना] पार करना। ~मन ग्यान जानि कै करि विचार, रामरमत भौ **तिरिबौ** पार। पद २२४-८।

तिरिया—सज्ञा स्त्री० [सं० त्रिया] स्त्री। ~ **तिरिया** त्रिस्ना पापिनी, तासो प्रीति न जोर।→सा० माया० (१६) १४-१, सव ६६-६।

तिरिये—वि० [स० त्रीणि] तीनो से। ~ ते **तिरिये** भग लिंग अनन्ता, तेऊ न जाने आदि औ अंता।→र०२-२।

तिरूँ—क्रि० [स० तरण] पार करूँ। ~ कहै कवीर कैसे तिरूँ, पंच कुसगी सग।→सा० मन० (१३) २१-२।

तिरै—क्रि० [हि० तरन] पार हो जाना, उद्धार हो जाना। ~ जीतौ वूडौ हारौ तिरै, गुरु परसादि जीवत ही मरै। → सव० ५३-७, सव० १४०-१८।

तिरै—क्रि० [स० तरण] तरना, उद्धार होना, पार होना।~कहै कवीर सोई गुरु मेरा, आप तिरै मोहि तारै।→ सव० ४४-८।

तिलक—वि० [स०] श्रेष्ठ। ~ तत्त तिलक तिहुँलोक मैं, रामनाम निज-सार।→ सा० सुमि० (२) ३-१।

तिवास—वि० [स० त्रि + वासर] तीन दिन का वासी। ~जैसे दूध तिवास का, उलटि हुआ जो आक।→सा० विर्क० (३७) २-२।

तिसनां—सज्ञा स्त्री० [स० तृष्णा] तृष्णा, लोभ। ~ तिसनां तीर रहै घट भीतरि यहु गढु लिऔ न जाई।→ सव० ६३-६, सव० १०२-६।

तिसाई—वि० [स० तृषा से] प्यासा ही, तृषित ही। ~देवल वूडा कलस सो, पखि तिसाई जाइ।→सा० रस० (६) ७-२, पद ३११-१।

तिसै—सर्व० [हि०] उसी को।~तव लगि प्रानी तिसै सरेवहु जव लगि घट महि सासा।→सव० १६०-५।

तीखा—वि० [स० तीक्ष्ण] नुकीला। ~ कवीर मन तीखा किया, लाइ विरह खरसान। → सा० सजी० (४७) ५-१।

तीतर—संज्ञा पु० [सं० तित्तिर] एक पक्षी विशेष। ~काल अचिंता झड-पसी, ज्यौ तीतर कौं वाज। →सा० काल० (४६) ६-२।

तीतरवानीं—वि० [सं० तीतरवर्णी] तीतर पक्षी के वर्ण वाली अर्थात् मिश्रित रंग वाली।~कवीर गुण की वादली, तीतरवानीं छाँहि। → सा० माया० (१६) २३-१।

तीर—सज्ञा पु० [फा०] वाण, शर। ~ सतगुरु शव्द कमान ले, वाहन लागे तीर।→सा० गुरु० (१) ६-१, सव० ६३-६, सव० २६२-१।

तीर—क्रि० [हि०] पार लगना।~ ऐसो दुर्लभ जात मरीर, राम नाम भजु लागु तीर।→वसन्त (४) ६-१।

तीर—सज्ञा पु० [स०] किनारा, तट। कवीर हीरा वनिजिया, मानसरोवर तीर। → सा० गुरु० (१) २६-२, कहरा (३) १-२०।

तुज्झ—सर्व० [स० तुभ्यम्] तुम्हारे प्रति।~नैन हमारे वावरे, छिन छिन लोरैं तुज्झ। → सा० विर० (३) ४२-१।

तुझ—सर्व० [स० तुभ्यम्] तुम्हे।~नाँ हौं देखौं और कूँ, ना तुझ देखन देउँ।→सा० निह० (११) २-२।

तुतरे—सज्ञा पु० [हि० तुतला] अस्पष्ट वोलने वाला, तुतलाने वाला। ~ ल ला तुतरे वात जनाई, तुतरे पाय तुतरे परचाई।→ज्ञान चौं० (१) ५६।

तुम्बा—सज्ञा पु० [स० तुम्वक] लौकी का वना तुवा।~मुख के नाल स्रवन

के **तुम्बा**, सतगुरु साज बनाया।→ सब० १०६-४।

तुरंगहि—संज्ञा पु० [सं० तुरग + हि० हि (प्रत्य०)] घोडे को। ~ आयौ चोर **तुरंगहि** लै गयौ मोहडी राखत मुगध फिरै।→पद २३३-६।

तुरकां—संज्ञा पु० दे० 'तुरका'।

तुरकांनीं—संज्ञा स्त्री० [फा० तुर्क + आनी (प्रत्य०)] मुसलमान स्त्री। ~ भगता कै भगतिनि होइ बैठी, तुरका कै **तुरकांनीं**।→पद २२७-७।

तुरका—संज्ञा पु० [फा० तुर्क] मुसलमान।~गाय बधे तेहि **तुरका** कहिए, इन्हते वै क्या छोटे।→पद २६६-६, पद २२७-७।

तुरसी—संज्ञा स्त्री० [सं० तुलसी] तुलसी का पौधा।~आसि पासि **तुरसी** का बिरवा माझि बनारस गाँऊँ रे।→ पद २५५-११।

तुरावहु—क्रि० [सं०√ तुद्] तोडवा डालो, नष्ट कर दो। ~ रे महावत तोकौं मारौं साटि, इसहिं **तुरावहु** घालहु काटि।→ पद ४२-५।

तुरिया—संज्ञा स्त्री० [सं० चतुर + ईयट्] तुरीयावस्था, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त से परे चौथी अवस्था।~राजा सँवरै **तुरिया** चढी, पथी सँवरै नाम लै बढी। → र० ६-४।

तुरकी—संज्ञा पु० [फा०] तुर्किस्तान का घोडा। ~ताजी **तुरकी** कबहु न साजेहुँ, चढ़ेहु काठ के घोरा हो।→ कहरा (३) १-२७।

तूंड—संज्ञा पु० [सं० तुड] मुख। ~ करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि **तूंड**। → सा० क० वि० क० (१८) ५-१।

तूंबड़ा—संज्ञा पु० [सं० तुम्बक] कमण्डल। ~ धरती अरु असमान बिचि, दोइ **तूंबड़ा** अवध।→सा० मधि० (३१) ११-१।

तूंबी—संज्ञा स्त्री० [सं० तुम्बक] कड़वी लौकी।~**तूंबी** अठसठि तीरथ न्हाई, कडुवापन तऊ न जाई। सब० ७६-४।

तूटी—वि० [सं० त्रुटि से] त्रुटिपूर्ण। ~ हिन्दू तुरुक दोऊ रह **तूटी**, फूटी अरु कनराई।→पद ३२६-७।

तूटै—क्रि० [हि० टूटना] टूट जाएगा। ~ अबकी बेर न कागद कीन्यौं, तौ धर्मराय सो **तूटै**।→पद २१७ ५।

तूटै—क्रि० [हि० टूटना] टूट जाता है, नष्ट हो जाता है। ~झूठे को साँचा मिलै, तब ही **तूटै** नेह। → सा० साँच० (२२) १७-२।

तूर—संज्ञा पु० [सं० तूर्य] फूंककर बजाया जाने वाला एक बाजा, तुरही।~निसि अँधियारी मिटि गई, बाजे अनहद **तूर**।→सा० पर०(५) ४३-२।

तूर—संज्ञा पु० [सं० तूर्य] नगाडा, तुरही, मंगलवाद्य। दे० 'तूरा'। ~ कहै कबीर हौं सर रचि मरिहौं तरौं कंत लै **तूर** बजाई।→पद २३८-८, पद ३१२-८, सब० १३-६।

तूरा—संज्ञा पु० [सं० तूर्य] तुरही, एक वाद्य विशेष। दे० 'तूर'।~**तूरा** दुइ मुख बाजना, न्याइ तमाचे खाइ।

सा० निह० पति० (११) १२-२, सब० १५८-६, पद० २५५-६ ।

तूरी—क्रि० [हि० तोडना] तोडकर । ~ फ फा फल लागे बड दूरी, चाखे सतगुरु देइ न **तूरी** । → ज्ञान चौं० (१) ४७ ।

तूला—वि० [स० तुल्य] तुल्य, समान । ~दौना मरुआ चपा कै फूला, मानहुँ जीव कोटि सम **तूला** ।→र० ३०-४ ।

तृखा—सज्ञा स्त्री० दे० 'तृषा' ।

तृषा—सज्ञा स्त्री० [स०] प्यास ।~भूख न **तृषा** धूप नहिं छाँही, सुख दुख रहित रहै तेहि माँही ।→र० ७७-४, पद २०६-२, सब० १५०-२ ।

तेई—सर्व० [स० ते+ई] वे ही । ~ साधु सत **तेई** जना, जो मानहिं वचन हमार ।→र० ५८-६ ।

तेज—सज्ञा पु० [स० तेजस्] अग्नि । ~**तेज** पवन मिलि पवन सवद मिलि सहज समाधि लगावहिंगे । → सब० १८४-४ ।

तेनि—सर्व० [स० तेन] उसके द्वारा । पति सगि जागी सुन्दरी, कौतुक दीठा **तेनि** ।→सा० पर० (५) १-२ ।

तेह—वि० [?] कठोर । ~माटी गलि सैंजल भई, पाहन वोही **तेह** ।→सा० निगु० (५५) २-२ ।

तैं—सर्व० [सं० त्वम्] तू, तुम । ~जाका सँग **तैं** वीछुरा, ताही के सग लागि । सा० सुमि० (२) १२-२, पद ३४८-१ ।

तैयो—अव्य० [स० तदपि] तव भी । जौ सौ वार कहौं समुझाई, **तैयो** धरा छोरि नही जाई ।→र०६४-२ ।

तोपची—सज्ञा पु० [अ० तोप + ची (प्रत्य०)] तोप चलाने वाला, गोलन्दाज । ~ कव दत्त मावासी तोरी, कव सुखदेव **तोपची** जोरी । →र० ६६-४ ।

तोया—सज्ञा पु० [स० तोय] जल ।~ धरती गगन पवन नहिं होता, नहिं **तोया** नहिं तारा । → मा० पर० (५) २७-१ ।

तोरन—सज्ञा पु० [सं० तोरण] स्वागत द्वार । ~ काल खडा सिर ऊपरै, ज्यो **तोरन** आया वीद । → सा० काल० (४६) ४-२ ।

तोरिलाइन—क्रि० [हि० तोडना] तोड-कर फेंक देते हैं । ~डांड कै डोरिया **तोरिलाइन**, जो कोटिन धन होई हो ।→कहरा (३) ६-२ ।

तोलै—क्रि० [स० तोलन] सयमित करे । ~वारवार वरजि विखया तैं लै नर जौ मन **तोलै** ।→पद २५४-४ ।

तोहरि—सर्व० [स० तव] तुम्हारी । ~ तूं मेरौ पुरिखा हौं तेरी नारी, **तोहरि** चाल पाहनहुं तैं भारी ।→ पद २४३-४, बसत (४) ११-१ ।

तोहारि—सर्व० दे० 'तोहरि' ।

त्यौं—अव्य० [स० तत्] वैसा ।~भावै **त्यौं** परमोधिए, ज्यूं वसि वजाई फूक ।→सा० गु० (१) २१-२ ।

त्रास—सज्ञा पु० [स०] भय । ~**त्रास** मथन दधि मथन कियो हो रमैया राम ।→वेलि (६) १-६ ।

त्रिकुट—सज्ञा स्त्री० दे० 'त्रिकुटी' ।

त्रिकुटी—संज्ञा स्त्री० [स०] दोनो भौहो के मध्य का स्थान जहाँ आकर तीनो नाडियाँ (इडा, पिंगला, सुषुम्ना मिलती हैं)।~वोछी मति चदा गो अथई, त्रिकुटी सगम स्वामी वसई। →र० १३-६, सव० ५४-४, पद ३२१-४।

त्रिखा—सज्ञा स्त्री० [स० तृषा] प्यास, विषय वासना। ~ जुगन जुगन की त्रिखा वुझानी करम भरम अघ व्याधि टरै।→पद २४६-७, सव० १६८-३।

त्रिखि—वि० [स० तृषित] तृषित, प्यासी। ~साकत कै यहु पिंड परा-इन, हमरी दृष्टि परै त्रिखि डाइनि। सव० ४६-८।

त्रिन—सज्ञा पु० [स० तृण] तृण, तिनका। ~ वज्रहु ते त्रिन खिन मे होई, त्रिन ते वज्र करै पुनि सोई। →र० २६-१, सव० १३६-५।

त्रिय—सज्ञा स्त्री० [स० स्त्री] औरत, पत्नी। दे० 'त्रिया'।~ई भर जुवती वै वार नाह, अति रे तेज त्रिय रैनि ताहि। →वसंत (४) ५-४।

त्रिया—सज्ञा स्त्री० [स० स्त्री] स्त्री।~ लोहे लोह जस काटि सयाना, त्रिया कै तत्तु त्रियै पै जाना। → र० ५०-४, र० ७७-२।

त्रियो—क्रि० [हि० तैरना] तैरना, पार होना। ~ त ता अति त्रियो नहि जाई, तन त्रिभुवन मँह राखु छुपाई। →ज्ञान चौं० (१) ३५।

त्रिविध—क्रि० वि० [स०] तीन प्रकार से—तीव्र, मध्यम और मद गति। ~रज गति त्रिविध कीन्ह परगासा, कर्म धर्म वुधि केर विनासा।→ र० २६-४।

त्रिषा—संज्ञा स्त्री० दे० 'तृषा'।

त्रिसनां—संज्ञा स्त्री० [सं० तृष्णा] तृष्णा, लालसा। ~ ऊभर था सो सूभर भरिया, त्रिसनां गागरि फूटी। → सव० १५-३।

त्रिसनां—सज्ञा स्त्री० [म० तृष्णा] लोभ, लालच। ~ त्रिसनां काम क्रोध मद मतसर काटि काटि कम दीन्हा।→ पद ३४४-४, पद ३०२-४।

त्री—वि० [सं०] तीन वार (प्रात, मध्याह्न, साय)। ~ अखड मडल मडित मड, त्री अगनान करै त्री खड।→ सव० ४३-७।

त्री अस्थान—यौ० [स० त्रि+स्थान] त्रिकुटी।~ त्री अस्थान अतर मृग-छाला, गगन मंडल सींगी वाजै। सव० ११२-३।

त्रीखण्ड—सज्ञा पु० [स० त्रिखण्ड] त्रिभुवन, तीन लोक।~अखड मडल मडित मंड, त्रि स्नान करै त्रीखण्ड। →सव० १४०-५।

थ

थंभाई—क्रि० [स० स्तंभन] रुक जाता है, स्थिर हो जाता है।~ थोर थोर थिर होहु रे भाई, विन खभै जैस मदिल थंभाई। → ज्ञानचौ० (१) ३८।

थकां—क्रि० [स० स्था+ √कृ०] क्लात, वीतते-वीतते।~दिवस थकां

साँई मिलौ, पीछे पडिहै राति । → सा० मन० (१३) १३-२ ।

थकित—वि० [हि० थकना] शिथिल, श्रात, थका हुआ । ~ रहिगौ पथ **थकित** भौ पौना, दसो दिसा उजारि भौ गौना ।→र० ४५-४ ।

थक्यो—क्रि० [हि० थकना] रुक गया । ~ पवन **थक्यो** गुडिया ठहरानी, सीस धुनै धुनि रोवै प्राँनी ।→सव० १६१-४ ।

थर—सज्ञा स्त्री० [स० स्तर] परत, तह । ~ द्वै **थर** चढ़ि गयौ राड कौ करहा मनह पाट की सैली रे । → पद २५५-४ ।

थरहर—सज्ञा स्त्री० [हि० थरथर] भय या शीत के कारण कँपकँपी । ~**थरहर** कपै वाला जीउ, ना जानौ क्या करिहै पीउ ।→पद २७८-३ ।

थाँभै—क्रि० [स० स्तम्भन] रोकना । ~नारी कुड नरक का, विरला **थाँभै** वाग ।→सा० कामी० (२०)१५-१ ।

थाकि—क्रि० [स०√स्था+ √कृ०] थक कर, श्रात होकर । ~ कवीर मारग कठिन है, मुनि जन वैठे **थाकि** । →सा० सू० मा० (१४) ६-१ ।

थाकी—क्रि० [हि० थकना] थक गई, नष्ट हो गई, समाप्त हो गई । ~ **थाकी** सौज सग के विछुरे, राम नाम मसि धोई ।→सव० १५-६ ।

थाके—क्रि० [हि० थकना] थक गए, शात हो गए । ~जे थे सचल अचल ह्नै **थाके**, चूके वाद विवादा । → सव० १५-७, सव० १६०-३, पद २८२-३ ।

थाकी—क्रि० दे० 'थाके' ।

थाघी—सज्ञा स्त्री० [स० स्थूणा] सहारे की लकडी, आधार, सहारा । ~ निगुसाँवाँ वहि जाएगा, जाकै **थाघी** नहिं कोइ । →सा० जी० मृ० (४) ११-१ ।

थान—सज्ञा पु० [स० स्थान] कपडा । ~**थान** वुनै कोली मैं वैठी, मैं खूंटा मैं गाडी ।→सव० ३०-५ ।

थान—सज्ञा पु० [स० स्थान] स्थान, पद । दे० 'थाना' । ~ अकुर वीज नसाय कै, भए विदेही **थान** ।→ र० ३५-८ ।

थाना—सज्ञा पु० [सं० स्थान] १. स्थान, २. योनि, ३. शरीर । ~ वहुरि न पइहउ ऐसो **थाना**, साधु संग तुम नहिं पहिचाना । →र० ४४-२ ।

थाना—सज्ञा पु० [स० स्थान+आ] स्थान, जगह ।~शव्द न चीन्है कथये ज्ञाना, ताते जम दीयो है **थाना** ।→ र० १८-३ ।

थापनि—सज्ञा स्त्री० [स० स्थापना] स्थापना, गुरु द्वारा शिष्य की पुष्टि । ~ **थापनि** पाई थिति भई, सतगुर दीन्ही धीर । → सा० गुरु० (१) २६-१ ।

थापहु—क्रि० [सं० स्थापन] स्थापित करते हो । ~ जीउ वघहु सु धरमु करि **थापहु** अघरम कहहु कत भाई । →सव० १६४-५ ।

थापि—क्रि० [सं० स्थापना] स्थापित कर दिया ।~गुरु दीहल मोहि **थापि** हो रमैया राम ।→वेलि (६) २ ।

थापै—क्रि० [स० स्थापन] चढाते है। ~ निरजिव आगे सरजिव **थापै**, लोचन कछू न सूझै। → सव० १८८-४।

थारी—सज्ञा स्त्री० [सं० स्थाली] थाली। ~ हँडिया हाड हाड **थारी** मुख, अव षट कर्म वनेऊ। → सव० १६५-४।

थिति—संज्ञा स्त्री० [स० स्थिति] आलम्बन।~**थिति** विनु सुरति रहस विनु आनद, ऐसो चरित अनूपा। →पद० २०४-६।

थिति—वि० [स० स्थित] स्थिर, ठहरा हुआ। ~ झूलहि जीव जहान जहँ कतहूँ नही **थिति** ठौर। → हिंडोला (८) ३-२।

थिति—सज्ञा स्त्री० [सं० स्थिति] स्थिति, स्थिरता, शाति।~ थापनि पाई **थिति** भई, सतगुर दीन्ही धीर। →सा० गुरु० (१) २६-१।

थिति—संज्ञा स्त्री० [स० स्थिति] प्रतिष्ठित हो जाने की दशा। ~ **थिति** पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाइ। →सा० पर०(५) २६-१।

थिर[१]—वि० [सं० स्थिर] स्थिर। ~ नहि जल नहि थल नहि **थिर** पौना, को धरे नाम हुकुम को वरना।→र० ६-४, सा० काल० (४६) ३०-१।

थिर[२]—वि० [स० स्थिर] स्थिर,स्थायी। ~थिति पाई मन **थिर** भया, सतगुर करी सहाइ। → सा० पर० (५) २६-१, ज्ञान चौं० (१) ३७।

थिर[३]—वि० [सं० स्थिर] स्थिर, एकाग्र। ~मन **थिर** वैसि विचारिया, रामहि लौ लाई। →सव० १-५।

थिर[४]—वि० [स० स्थिर] स्थायो, स्थिर। ~ क्या मार्गों किछु **थिर** न रहाई।→सव० ६२-१।

थिरु—वि० [स० स्थिर] स्थिर। दे० 'थिर'। ~ और मुएँ क्या रोइए जउ आपा **थिरु** न रहाइ। → पद २६६-५।

थीरा—वि० [स० स्थिर] स्थिर, शान्त। दे० 'थिर'। ~ माझ मझरिया वसै जो जानै, जन होइहैं सो **थीरा** हो। →कहरा (३) ७-६।

थूँनि—संज्ञा स्त्री० [स० स्थूण] खम्भा, स्तम्भ। ~ दुचिते की दोइ **थूँनि** गिरानी मोह वलेंडा टूटा। → पद ३०२-३।

थूल[१]—वि० [स० स्थूल] स्थूल शरीर। ~ **थूल** अस्थूल पवन नहि पावक, रवि ससि धरनि न नीरा।→ सव० १६६-२।

थूल[२]—वि० [स० स्थूल] स्थूल। ~ तहिया गुप्त **थूल** नहि काया, ताके न सोक ताकि पै माया।→र० ७४-१।

थैं—प्रत्य० [थैं > तै > ते > से] से।~जरा मरण **थैं** भये धीर, रांम कृपा भइ कहि कवीर। → सव० ६१-१०, पद २१२-१, सव०४८-२।

थोथरा—वि० [दे०] निस्सार, थोथा। ~ जप तप **थोथरा**, तीरथ व्रत वेसास। → सा० भ्र० वि० (२३) ८-१।

थोथरे—वि० [दे०] थोथा, निस्सार। दे० 'थोथरा'।~ सवै पछोडे **थोथरे**,

एक दिना विस्वास ।→ सा० वेसा० (३५) १६-१ ।

थोथी[1]—वि० [दे०] जिसकी धार तेज न हो, भोथर, कुंठित ।~मारा है जे मरैगा, विन सर **थोथी** भालि । → सा० ग्या० वि० (४) २-१ ।

थोथी[2]—वि० [दे०] निकम्मी, कुठित, व्यर्थ । ~ झूठी अनभै बिस्तरी, सव **थोथी** वाई ।→सव० १-६ ।

थोथे—वि० [दे०] निस्सार, खोखला । दे० 'थोथरा' ।~छिलकत **थोथे** प्रेम सो, धरि पिचकारी गात ।→ चांचर (५) १-१६ ।

थोरी—वि० [हि० थोडी] थोडी । ~ विनती एक रांम सुंनि **थोरी** ।→ पद २८८-१ ।

थौ—क्रि० [हि० था] था । धरनि अकास दोऊ नहिं होते तव यहु नद कहां **थौ** रे ।→पद २८२-२ ।

द

दई—संज्ञा पु० [स० दैव] ईश्वर ।~जव दफतर देखैंगा **दई**, तव ह्वैंगा कौन हवाल ।→सा० सांच० (२२) ८-२ ।

दगध्या—क्रि० [स० दग्ध] पीडित किया । ~छापा तिलक वनाइ करि, **दगध्या** लोक अनेक । → सा० भेप (२४) १६-२ ।

दफतर—संज्ञा पु० [फा० दफ्तर] दफ्तर, लेखा, कर्मपत्री । ~ जव **दफतर** देखैंगा दई, तव ह्वैंगा कौन हवाल । →सा० सांच० (२२) ८-२ ।

दम—संज्ञा पु० [फा०] सांस, श्वास । ~टुक **दम** करारी जउ करहु हाजिर हजूर खुदाइ ।→सव० १८१-४ ।

दमदम—संज्ञा पु० [फा०] एक एक श्वास का । ~ **दमदम** की कोइ खवरि न जानै, करि न सकै निरुआरा । →सव० ६४-१४ ।

दमामां—संज्ञा पु० दे० 'दमामा' ।

दमामा—संज्ञा पु० [फा०] दुदुभि, वडा नक्कारा, नगाडा, डंका । ~ ढोल **दमामा** डुगडुगी, सहनाई औ भेरि । → सा० चिता० (१२) ३-१, सा० सूरा० (४५) ६-१, सा० काल० (४६) ७-२ ।

दमोदर—संज्ञा पु० [स० दामोदर] कृष्ण ।~दीनदयाल क्रिपाल **दमोदर**, भगत वछल भै हारी । → सव० ६८-६ ।

दया—संज्ञा स्त्री० [स०] अनुग्रह, कृपा । ~ दाता तरवर **दया** फल, उपगारी जीवत ।→सा० सजी० (४७) ७-१ ।

दर—क्रि० वि० [फा०] भीतर । ~ पच पहरुआ **दर** महिं रहते, तिनका नहिं पतिआरा ।→सव० ११-५ ।

दर—संज्ञा पु० [फा०] पता, स्थान । ~**दर** की वात कहौ दरवेसा, पातसाह है कौने भेसा ।→ र० ४६-१ ।

दरगह—संज्ञा पु० [फा० दरगाह] दरवार ।~सतगुरु पूजउं सदा मनावउं, ऐसी सेव **दरगह** सुखु पावउं । → सव० १११-५, सा० सम्र० (३८) ३-२, सा०मन० (१३) १७-२, सा० सांच० (२२) ३-२ ।

दरपन—संज्ञा पु० [स० दर्पण] दर्पण,

शीशा ।~ परगट कथा माहै जोगी, दिल मैं **दरपन** जोवै ।→सब० ३४-५, र० ३२-१ ।

दरब—सज्ञा पु० [स० द्रव्य] धन, सासारिक उपलब्धियाँ, पचभूत, प्रकृति । ~ नहि परतीत जो यहि ससारा, **दरब** की चोट कठिन कै मारा । → र० १३-१ ।

दरबानी—सज्ञा पु० [फा० दरबान] पहरेदारी । ~कामु किवार दुख सुख **दरबानी** पाप पुन्नि दरवाजा । → सब० ६३-३ ।

दरबी—सज्ञा स्त्री० [स० दर्वी] करछुल । ~अध सो दरपन वेद पुराना, **दरबी** कहा महारस जाना ।→र० ३२-१ ।

दरबेसा—सज्ञा पु० [फा० दरवेश] पुनीतात्मा, सिद्ध, फकीर ।~दर की वात कही **दरबेसा**, पातसाह है कौने भेसा ।→र० ४६-१ ।

दरमादा—सज्ञा पु० [फा० दरमाद] दुखित, दीन ।~**दरमादा** ठाढौ दरवारि । →सब० १४८-१ ।

दरर—सज्ञा पु० [दे०] दलने वाली वस्तु ।~दुइ चकरी जनि **दरर** पसारहु, तब पैहौ ठिक ठौरा हौ । → कहरा (३) २-१३ ।

दरवै—क्रि० [स० द्रवण] द्रवित होती है, द्रवीभूत ।~कौली घाल्या वीडरि चालै, ज्यूं घेरौं त्यूं **दरवै** ।→ सब० २७-४ ।

दरस—संज्ञा पु० [स० दर्शन] दर्शन । ~**दरस** परस तै दुरमति नासी, दीन रटनि लौ आई ।→पद २६५-३ ।

दरसै—क्रि० [स० दर्शन] दर्शन होना । अनभौ भाव न **दरसै**, जियत न आप लखाय । र० ३१-६ ।

दरार—संज्ञा स्त्री० [स० दर] रध्र, छिद्र ।~ मेरे मन मैं परि गई, ऐसी एक **दरार** । → सा० विर्क० (३७) १-१ ।

दरि—सज्ञा पु० [फा० दर] दरबार मे । ~ चढि मसीति एकै कहै, **दरि** क्यूं साँचा होइ ।→ सा० साँच० (२२) ६-२ ।

दरि—सज्ञा पु० [फा० दर, स० द्वार] [सप्तमी प्रयोग] द्वार पर ।~आवत सग न जात सगाती, कहा भयौ **दरि** वाँधे हाथी । → सब० ६२-५ ।

दरिया—सज्ञा स्त्री० [फा०] समुद्र, नदी । ~ **दरिया** केरी नाँव ज्यो, सँजोगे मिलि जाँहि ।→सा० चिता० (१२) ५६-२, सा० दया नि० (५१) १-१, सा० पर० (५) २६-१, सब० १८१-७, पद ३२८-६ ।

दरियाव—सज्ञा पु० [फा० दरिया] नदी । ~ समानी **दरियाव** दरिया पार ना लघी । पद ३२८-६ ।

दरीचै—सज्ञा पु० [फा०] झरोखा, खिडकी ।~मनवाँ जाइ **दरीचै** वैठा, मगन भया रसि लागा । → सब० २६-५ ।

दरोगु—सज्ञा पु० [अ०] धोखा, असत्य । ~**दरोगु** पढि पढि खुसी होइ वेखवरु वादु वकाँहि ।→सब० १८१-५ ।

दर्पन—सज्ञा पु० [सं० दर्पण] दर्पण, आइना । ~ सवद मसकला फेरि

करि, देह दर्पन करै सोइ। → सव० ३-२।

दर्ब—संज्ञा पु० [सं० द्रव्य] धन। ~ दर्ब हीन कैसन पुरुषारथ, मनही माँह तवाँई हो। → कहरा (३) ६-५।

दल—संज्ञा पु० [सं०] समूह। ~ जब जरिए तब होइ भसम तन रहै किरिम दल खाई। सव० १७६-३।

दलाली—संज्ञा स्त्री० [फा०] मध्यस्थता का पारिश्रमिक। ~ है कोई संत सहज सुख अंतरि जाकौ जप तप देउ दलाली। →पद ३४४-१।

दव—संज्ञा स्त्री० [सं०] दावाग्नि, बडवानल। दे० 'दवा'। ~ नलनी सायर घर किया, दव लागी बहुतेन। → सा० माया (१६) २२-१।

दवन—संज्ञा पु० [सं० दमन] दमन, निग्रह। ~ प्रिथिमी रवन दवन नहिं करिया, पैठि पताल नही वलिया छलिया। →र० ७५-४।

दवा—संज्ञा स्त्री० [सं० दाव] दावाग्नि, वन की अग्नि। दे० 'दव'। ~ अगि उधारै लागिया, गई दवा सूँ फूंटि। →सा० गुरु० (१) ८-२।

दस द्वारे—संज्ञा पु० [सं० दश द्वार] शरीर के दस छिद्र—दो नेत्र, दो कान, दो नासिका, मुख, गुदा, लिंग, ब्रह्मरंध्र। ~ दस द्वारे का देहरा, तामे जोति पिछानि। → सा० भ्रम वि० (२३) १०-२।

दसन—संज्ञा पु० [सं० दशन] दाँत। ~ नैन नासिका जिनि हरि सिरजै, दसन वसन विधि काया। → सव० ८१-७, सव० ५-४।

दसनन—संज्ञा पु० दे० 'दसन'।

दसवैं तत्त—संज्ञा पु० [सं० दशम तत्त्व] दसवाँ तत्व, दहर कोश। ~ कहत कबीर नवै घरु मूसे, दसवैं तत्त समाई। →सव० ११-८।

दसवैं द्वारि—संज्ञा पु० [सं० दशमद्वार] कपाल कुहर के भीतर तालु मे स्थित सूक्ष्म छिद्र। ~ मन मजन करि दसवैं द्वारि, गंगा जमुना संधि विचारि। →सव० ५०-५।

दस्तगीरी—संज्ञा स्त्री० [फा०] सहायक, मददगार। ~ यहु जु दुनिया सिहरु मेला कोई दस्तगीरी नाहि। →सव० १८१-२।

दह—संज्ञा पु० [सं० ह्रद] कुण्ड। ~ देखत ही दह मैं पडै, दई किसा कौ दोस। →सा० साषी० (५७) ३-२।

दह—वि० [सं० दश] दस। ~ वनिज खुटानौं पूंजी टूटि, दह दिसि टाडौ गयौ फूटि। →पद २३६-७।

दहदिसि—दे० 'दहुँदिसि'।

दहुँ दिसि—संज्ञा स्त्री० [सं० दश दिशा] दश-दिशाएँ, चारो ओर। ~ भैं भैं प्रिथिमी दहुँ दिसि धावै, अस्थिर होय न औषध पावै। → र० ५-७, पद २४१-३।

दहेड़िया—संज्ञा स्त्री० [हि० दही + हंडी] दही जमाने या रखने का पात्र। ~ एक दहेड़िया दही जमायौ दुसरी परि गई साढी रे। →पद २५५-७।

दाव—संज्ञा पु० [सं० प्रत्य० दो (दाच्)] उपयुक्त अवसर, अनुकूल संयोग। ~

जो हारौं तौ हरि सवाँ, जो जीतौं तो दाव ।→सा० सूरा० (४५) ३०-१, चाँचर (५) १-११, बसत (४) ७-१० ।

दाइज—संज्ञा पु० [स० दाय] दहेज । विवाह के अवसर पर वर पक्ष को दिया गया दान ।~बन के रोझ धरि **दाइज** दीन्हो, गोह लोकन्दे जाई । →सब० १५५-७ ।

दाइम—सज्ञा पु० [अ०] नित्य । ~करि फिकिर **दाइम** लाइ चसमैं जहाँ तहाँ मौजूद ।→सब० १८१-८ ।

दाग—सज्ञा पु० [फा०] धव्वा । ~ कवहुँक **दाग** लगावै, कारी हाँडी हाथ । →र० ६६-१० ।

दाझत—क्रि० [स० दग्ध] जल रहा है । जा बन मे क्रीला करी, **दाझत** है वन सोइ ।→सा० ग्यान वि०(४)८-२ ।

दाझतै—क्रि० [स० दहन] जलते हुए । ~ धूप **दाझतै** छाँह तकाई, मति तरवर सच पाऊँ । →सव० ६६-३ ।

दाझन—सज्ञा स्त्री० [स० दहन] जलन, ताप । ~ दावै **दाझन** होतु है, निरदावैं निहसक ।→सा० विर्क० (३७) ६-१ ।

दाझनाँ—क्रि० [स० दाहन] दग्ध होना, सतप्त होना । ~ आठ पहर का **दाझनाँ**, मोपैं सहा न जाइ ।→सा० विर० (३) ३५-२ ।

दाझनि—क्रि० [स० दाहन] जलना । ~ कासि कुड्वा सुत कलित **दाझनि** वारवार । → सा० चाँण० (१७) २२-२ ।

दाझै—क्रि० [स० दाह] दग्ध होना । ~ आगि कहै **दाझै** नही, जे नहिं चपै पाँइ । → सा० विचा० (३३) २-१ ।

दाझै—क्रि० [स० दाह] दग्ध हो रहे हैं । ~कवीर दरिया परजला, **दाझै** जल थल झोल । → सा० दया निर० (५१) १-१ ।

दाझै—क्रि० [स० दाह] दग्ध होना, जलना । ~ सायर जरै सकल वन **दाझै**, मछ अहेरा खेलै । → सव० ४४-६, सव० १६८-३ ।

दाता—सज्ञा पु० [स०] दान देने वाला, दानी । ~ **दाता** तरवर दया फल, उपगारी जीवंत । → सा० सजी० (४७) ७-१, सव० १४१-७ ।

दाति—सज्ञा स्त्री० [स० दातव्य] दान । ~ सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सईं न **दाति** । → सा० गुरु० (१) १-१ ।

दाते—सज्ञा पु० दे० 'दाता' ।

दादि—सज्ञा स्त्री० [फा०] प्रशसा, विनती ।~सुनहु हमारी **दादि** गुसाँई, अब जिन करहु बधीर । → पद ३४६-५ ।

दादि—सज्ञा स्त्री० [फा०] न्याय ।~ बुरी दिवान **दादि** नहिं लागै, इक वाधै इक मारै हो राम । → सव० १०-८ ।

दाध—सज्ञा स्त्री० [स० दग्ध] जलन, दाह । ~ **दाध** वली ता सव दुखी, सुखी न देखौं कोइ । → सा० दया निर० (५१) ३-१ ।

दाधा—क्रि० [स० दग्ध] दग्ध किया, जलाया । ~ गुरु **दाधा** चेला जला,

विरहा लागी आगि । → सा० ग्यान विर० (४) ७-१ ।

दाघी—वि० [स० दग्ध] जली हुई । ~दाघी देह न पालवै, सद्गुरु गया लगाइ।→सा०ज्ञान विर०(४)६-२ ।

दाघे--क्रि० [सं० दग्ध] दग्ध हो गए, जल गए । ~ डाकि पड़े ते ऊवरे, दाघे कौतिगहार । → सा० सूरा० (४५) २६-२ ।

दामिनी—सज्ञा स्त्री० [स०] विद्युत, विजली ।~माया मोह उहाँ भरपूरी, दादुर दामिनी पवन अपूरी ।→ र० १६-५ ।

दारन—वि० दे० 'दारुन' ।

दारा—सज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री, पत्नी, भार्या । ~ पर निंदा पर धन पर दारा, पर अपवादहि सूरा ।→ सव० ६८-५, सव ६४-४, विप्र० (२) ७ ।

दारी—सज्ञा स्त्री० [स०] दासी ।~ हो दारी के ले देउँ तोहि गारी, तैं समुझु सुपथ विचारी।→पद ३४८-१ ।

दारुन—वि० [स० दारुण] भीषण, दुस्सह, भयंकर ।~माधौ दारुन दुख सह्यौ न जाइ । → सव० २२४-१, सव० १४५-३, कहरा (३) १-१० ।

दालिद—सज्ञा पु० [स० दारिद्रय] दरिद्रता । ~ राँम जपत दालिद भला, टूटी घर की छाँनि ।→सा०साधु म० (३०) १०-१, सा० वेसा० (३५) १८-२, ज्ञान चौं० (१) ५७ ।

दाव—सज्ञा पु० [हि० दाँव] उपाय, युक्ति, दाँव, मौका । ~ कहै कवीर मन को सुभाव, इक नाम विना सव जम को दाव ।→ सव० १०६-१० ।

दावा—सज्ञा पु० [अ०] स्वत्व, अधिकार; कामना ।~ दावा किसही का नही, विना विलायत राज ।→सा० वेसा० (३५) १३-२, सा० विर्क० (३७) ६-१ ।

दावँ—सज्ञा पु० दे० 'दावा' ।

दास—संज्ञा पु० [सं०] भक्त । ~ कहै कवीर राम भजि भाई, दास अधम गति कवहुँ न जाई ।→पद ३४७-५ ।

दासा—संज्ञा पु० [सं०] शूद्र ।~सर्मन वर्मन देव औ दासा, रज सत तमगुन धरति अकासा ।→ र० २७-७ ।

दिखावनहार—संज्ञा पु० [हि० दिखाना +हार] दिखलाने वाला ।~लोचन अनँत उघारिया, अनँत दिखावनहार। →सा० गुरु० (१) ३-२ ।

दिग—संज्ञा स्त्री० [स० दिक्] दिशा । ~चारि दिग महि मड रचो है, रुम साम विच डिल्ली ।→सव०६४-१५ ।

दिगन्तर—सज्ञा पु० [स०] भिन्न-भिन्न दिशाओ (योनियो) मे जाना ।~ आजु काज है काल्हि अकाजा, चलेउ लादि दिगन्तर राजा ।→र०१३-४ ।

दिगमग—सज्ञा पु० [स० दिग्मण्डल] दिशाएँ ।~ तीनि लोक एक करिगह कीन्हो, दिगमग कीन्हो ताना । → सव० १२७-१० ।

दिज—सज्ञा पु० [स० द्विज] ब्राह्मण । ~ इनकै पूरव दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा । → पद ३२९-४ ।

दिठाई—क्रि० [स० दृढ+आई (प्रत्य०)] अधिष्ठित किया, स्थापित किया ।

~ सत्त सत्त कै बिस्नु दिठाई, तीनि लोक मँह राखि निजाई। → र० २७-२।

दिठियार—संज्ञा पु० [स० दृष्टि+आर (प्रत्य०)] देखने वाला, दृष्टि सपन्न। ~ आँधर कहै सबै हम देखा, तहँ दिठियार बैठि मुख पेखा। → र० ४२-४।

दिढ़—वि० [स० दृढ] मजबूत। ~ घायल कौं घायल मिलै, तौ राम भगति दिढ़ होइ।→ सा० गु० सि० हे० (४३) ११-२।

दिढ़ाइ—क्रि० [सं० दृढ] दृढ कर दिया। ~ चूल्है अगिनि बुताइ करि चरखा दियौ दिढ़ाइ।→पद २३५-८।

दिढ़ाई—क्रि० [सं० दृढ] दृढ निश्चय करके।~उहै बात जो जनक दिढ़ाई, देह धरे विदेह कहाई।→र० ८-६।

दिढ़ावै—क्रि० [हि०] दृढ करना। ~ करम पढै करमहि कौं धावै, जे पूंछे तेहि करम दिढ़ावै। → विप्र० (२) १२।

दिनकार—संज्ञा पु० [स० दिनकर] सूर्य। ~ते नर चौरासी भरमिहैं, जो लगि ससि दिनकार।→ र० ४३-७।

दिपंती—वि० [सं० दीप्ति] दीप्तिमती, चमकती हुई।~ राज करंता राजा जाइगा रूप दिपती रानी।→ सब० १२३-३।

दिलासा—संज्ञा पु० [फा०] आशा, हौसला। ~ तन की सकल सक्ति घटि गयऊ, मनहि दिलासा दूनी हो। →कहरा (३) ३-७।

दिवला—सज्ञा पु० [सं० दीपक] दीपक। ~ या तन का दिवला करूं, वाती मेलो जीव। → सा० विर० (३) २३-१।

दिवांन—संज्ञा पु० [अ० दीवान] मत्री। ~बुरी दिवांन दादि नहिं लागै, इक बाधै इक मारै हो राम। → सब० १०-८, सब० १४१-५।

दिवांनां—वि० [फा० दीवाना] उन्मत्त, पागल। ~ निरभै भया कछू नहिं व्यापै कहै कबीर दिवांनां। → पद ३२५-८।

दिवाना—वि० [फा० दीवाना] तन्मय, आनन्द मग्न।~कहै कबीर मैं भया दिवांना, मुसि मुसि मनुवा सहजि समाना।→सब० ७२-५।

दिवानी—वि० [फा० दीवानी] उन्मत्त, पागल। ~ जब हम रहली हठिल दिवानी तब पिय मुखा न बोला। →पद ३४०-३।

दिवाजा—सज्ञा पु० [दे०] दीपार्चन, आरती। ~ इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गग दिवाजा। →पद ३२९-४।

दिवाना—सज्ञा पु० दे० 'दिवान'।

दिसावरां—सज्ञा पु० दे० 'दिसावरि'।

दिसावरि—सज्ञा पु० [सं० देश+अपर] पराया देश, विदेश, अन्यत्र।~ गयौ दिसावरि कौन बतावै, जोगिया बहुरि गुफा नहिं आवै।→ सब० १२६-३, सा० सजी० (४७) ७-२।

दिस्टि—सज्ञा स्त्री० [स० दृष्टि] दृष्टि। ~ जाकी दिस्टि नाद लिव लागै। →पद २५०-२।

दीक्षा—संज्ञा स्त्री० [स०] मन्त्र ।~ इन्हते **दीक्षा** सव कोई मांगै, हँसि आवै मोहि भाई ।→पद २६६-६ ।

दीठ—क्रि० [स० दृष्टि] दिखाई पडता है ।~कालि्ह जु बैठा माडिया, आज मसाना **दीठ** ।→सा० काल० (४६) १५-१ ।

दीठ—क्रि० दे० 'दीठा' ।

दीठा—क्रि० [स०√दृश्] देखा ।~ इहि चिति चाषि सबै रस **दीठा**, राम नाम सा और न मीठा । → सब० १४-३, सव० २८१-६, पद ३०४-१, सा० जर० (८) १-२ ।

दीठा—क्रि० [स० दृष्ट] देखा गया । ~ पति संगि जागी सुन्दरी, कौतुक **दीठा** तेनि ।→सा०पर० (५) १-२, २-१, सा० मन० (१३) ६-१ ।

दीदार—संज्ञा पु० [फा०] दर्शन । ~ कही सतौ क्यो पाइए, दुर्लभ हरि **दीदार** ।→सा० सुमि० (२) २७-२, पद २२३-८ ।

दीदै—सज्ञा पु० [फा० दीद] नेत्रो से, दृष्टि से ।~फाटै **दीदै** मैं फिरूँ, नजरि न आवै कोइ । → सा० साघ सा० (२६) १७-१ ।

दीन—सज्ञा पु० [अ०] धर्म, मजहब । ~ मन मम्ले की खवरि न जानै, मति भुलान दुइ **दीन** वखानै ।→र० ४०-५, सव० ५५-२, पद २२६-३, सा० चिता० (१२) ४३-१, सा० सांच० (२२) ७-२ ।

दीन—वि० [स०] भक्त, दास ।~दरस परस तै दुरमति नासी, **दीन** रटनि लौ आई ।→पद २६५-३ ।

दीन[1]—क्रि० [स०√दा] दिया ।

दीन[2]—वि० [सं०] जिसमे दैन्य भाव हो ।~दुँदर दिल विष सूं भरी, **दीन** गरीबी राम । → सा० जी० मृ० (४१) १२-२ ।

दीन (ता)—सज्ञा स्त्री० [स०] दैन्य, लघुता ।~**दीन** गरीबी वदिगी, करता होइ सु होइ । → सा० जी० मृ० (४१) ११-२ ।

दीनन—सज्ञा पु० [फा० दीन का वहुवचन] धर्म ।~दोऊ आप **दीनन** मे झगरै, ठाढे देखहिं हस कबीर । → पद २८६-६ ।

दीप—संज्ञा पु० [सं०] परम ज्योति । ~ कदली पुहुप **दीप** परकास, ह्रिदा पंकज महि लिया निवास । → सब० ४३-६ ।

दीया—क्रि० [स० दा = देना] दे दिया । ~ आगै थै सतगुर मिल्या, दीपक **दीया** हाथि । → सा० गुरु० (१) ११-२ ।

दीयौ—क्रि० [स० √ दा, हि० देना] दिया । ~ सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास **दीयौ** ।→सा० वेसा० (३५) १-२ ।

दीवा—सज्ञा पु० [स० दीप] दीपक । ~मन्दिर माँही झलकती, **दीवा** की सी जोति । → सा० काल० (४६) १७-१ ।

दीवान—सज्ञा पु० [अ०] दरवार ।~ उस चंगे **दीवान** मैं, पला न पकडै कोइ ।→ सा० सांच० (२२) २-२ ।

दीसत—क्रि० [सं०√दृश्) दिखाई पडते हैं, पहचान मे आते है । ~ कवीर

हरि का भावता, दूरै तैं **दीसत** ।→ सा० साध० सा० (२६) ३-१ ।

दीसै—क्रि० [स०√दृश्] दिखाई पडता है । ~ करता **दीसै** कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड । → सा० क० वि० कथ० (१८) ५-१ ।

दीहल—क्रि० [हि० देना] दिया ।~ गुरु **दीहल** मोहि थापि हो रमैया राम । →वेलि (६) २-६ ।

दुंदर—वि० [स० द्वद्वालु] झगडालू, झगडा करने वाला व्यक्ति ।~ **दुंदर** दिल विष सूं भरी, दीन गरीवी राम । → सा० जी० मृ० (४१) १२-२, सव० ६३-४ ।

दुंदि—सज्ञा पु० [स० द्वन्द्व] द्वन्द्व, राग-द्वेष, सुख-दु ख, हर्ष-शोक । ~ विनु गुरु ज्ञान **दुंदि** भई, खसम कही मिलि वात ।→र० ५-११ ।

दुइ-दुइ—सज्ञा पु० [स० द्वि से] द्वन्द्व । ~ **दुइ-दुइ** अग सूं लाग करि, डूबत है ससार । → सा० मधि० (३१) १-२ ।

दुखड़ियाँ—क्रि० [स० दु ख] दुख रही है । ~ अँखियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जानै **दुखड़ियाँ** ।→सा० विर० (३) २५-१ ।

दुचिते—वि० [हि० दो+चित्त] चित्त की दो अवस्थाएँ—विषयासक्ति और वाह्याचार ।~ **दुचिते** की दोइ थूंनि गिरानी मोह वलेंडा टूटा । → पद ३०२-३ ।

दुतिअ—वि० [स० द्वितीय] दूसरा । दे० 'दुतिया' ।~ कहै कवीर भगवत भजि नर **दुतिअ** नाही कोइ । → सव० १८७-८ ।

दुतिया—वि० [सं० द्वितीय] द्वितीय, दूसरा ।~ **दुतिया** नाम पारवती भैऊ, तप करते संकर कहँ दैऊ । → र० २७-५, पद २२८-६ ।

दुनियां—संज्ञा स्त्री० [अ०] जगत्, ससार । ~ वेद कतेव दीन अरु **दुनिया**, कौंन पुरिख कौन नारी ।→ सव० ५५-२ ।

दुनियाई—वि० [अ० दुनिया+हि० ई (प्रत्य०)] सासारिक । ~ वांधत वधन छोरि न जाई, विषै रूप भूली **दुनियाई** । → र० ३३-३ ।

दुनियाई—सज्ञा स्त्री० [अ० दुनिया+ ई (प्रत्य०)] ससार मे । ~पठएँ न जाउँ अनवा नहिं आऊँ सहजि रहूँ **दुनियाई** हो ।→पद २३७-५ ।

दुनीं—संज्ञा स्त्री० दे० 'दुनी' ।

दुनी—सज्ञा स्त्री० [अ०] संसार, सांसारिक मोह-प्रपंच आदि । ~ दीन गँवाया **दुनी** सौं, **दुनी** न चाली साथि । → सा० चिता० (१२) ४३-१, सव० १८५-२, सव० ३४-३, पद २०८-३, सा० साँच० (२२) ७-१, पद ३४१-२ ।

दुनौं—वि० [हि० दोनो] दोनो का । ~सतो राह **दुनौं** हम दीठा ।→पद ३०४-१ ।

दुरगंधि—संज्ञा स्त्री० [स० दुर्गन्ध] दुर्गन्ध, वदवू । नऊँ दुवार नरक धरि मूंदे **दुरगंधि** ही के वेढे । → सव० १०२-२ ।

दुरत दुराई—[यौ०] छिपाने से छिपना या

अलग करने से अलग हो जाना।~ मोहिं तोहिं आदि अति वनि आई,अव कैसे **दुरत दुराई**।→पद २४०-३।

दुरमति—सज्ञा स्त्री० [स० दुर्मति] दुर्वुद्धि। ~ **दुरमति** दूरि गवाँइसी, देसी सुमति वताइ।→ सा० साधु० (२८) २-२, पद २६५-३, पद ३०२-४।

दुराइ—क्रि० वि० [हि० दूर] अलग, दूर।~ राँम नाँम सौं दिल मिला, जम सो परा **दुराइ**।→ सा० वेमा० (३५) ११-१।

दुरासनि—वि० [स० दुराशय] दुराशय, कठोर। ~ सास **दुरासनि** जीव डराऊँ।→ पद २३४-२।

दुरि—क्रिया वि० [हि० दूर] दूर किए हुए। ~ राम नाम को सेवहु वीरा, दूरि नाहि, **दुरि** आसा हो।→कहरा (३) ३-१।

दुरुस—वि० [फा दुरुस्त] ठीक, शुद्ध। ~ सो हिन्दू सो मूसलमान, जिसका **दुरुस** रहै ईमान।→सव० ४१-४।

दुर्गम—वि० [सं०] दु साध्य।~अगम **दुर्गम** गढ देउँ छुडाई, औरौ वात सुनहु कछु आई।→र० ५८-२।

दुर्लभ—वि० [सं०] दुष्प्राप्य।~ ऐसो **दुर्लभ** जात सरीर, राम नाम भजु लागु तीर।→वसत (४) ९-१।

दुलभ—वि० [स० दुर्लभ] दुर्लभ, कठिनाई से पाया जाने वाला। दे० दुर्लभ।~मानुष जनम **दुलभ** है, होइ न वारवार।→सा० चिता० (१२) ३४-१, सा० रस० (६) २-२।

दुलहाई—सज्ञा स्त्री० [सं० दुर्लभ+हि० आई (प्रत्य०)] विवाह सवंधी गीत। ~ हरि अस ठाकुर तजा न जाई, वालन भिस्त गाव **दुलहाई**।→ र० २६-४।

दुलहिनीं—संज्ञा स्त्री० [हि०] सौभाग्यवती वधू।~**दुलहिनीं** गावहु मगलचार।→सव० १४९-१।

दुवार—सज्ञा पु० [स० द्वार] दरवाजा। ~ जम **दुवार** जव लेखा मागै तव का कहसि मुकुन्दा।→पद २३१-२।

दुवारा—सज्ञा पु० [स० द्वार] द्वार, दरवाजा। दे० 'दुवार'। ~ भगति **दुवारा** साँकरा, राई दसएँ भाइ। →सा० मन० (१३) २६-१।

दुविधा—सज्ञा स्त्री० [स० द्विधा] दो ओर जाना, डाँवाडोल, चचलता, सशय। ~ मुख तौ तवही देखिए, (जे) मन की **दुविधा** जाइ।→सा० मन० (१३) ८-२।

दुह—वि० [स० द्वि] दोनो।~ हमहिं कुसेवग कि तुमहिं अयाना, **दुह** मैं दोस काहि भगवाना।→सव० २-३।

दुहाई—संज्ञा स्त्री० [स० द्वि+आह्वाय] गुहार, शपथ, सौगध।~वोली भाई राँम की **दुहाई**। → पद २०१-१, सव० ६६-१।

दुहागनि—सज्ञा स्त्री० वि० [स० दुर्भाग्यवती] दुर्भाग्यवती, सुहागिन का विलोम। ~ जो हाँसेही हरि मिलै, तौ नही **दुहागनि** कोइ। → सा० विर० (३) २९-२।

दुहिया—क्रि० [स० दोहन] दुहते हैं।

~ हंसा ससय छूरी कुहिया, गइया पिये बछरुवै दुहिया।→पद ३२३-१।

दुहूंठा—क्रिया वि० [हि०] दोनो स्थानो पर। ~ तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दुहूंठा रांम खुदाई।→पद ३२९-५।

दुहूधा—क्रि० वि० [स० द्विविधि] दोनो ओर से।~ आवत जात दुहूधा लूटे, सब तत्त हरि लीन्हा रे। → सव० ८४-२।

दुहेरा—वि० दे० 'दुहेला'।

दुहेला—वि० [स० दुर्हेल] दु साध्य, कठिन। ~ तहिया होत गुरू नहि चेला, गम्म अगम्म न पथ दुहेला। → र० ७-५, सा० निद्या० (५४) ६-२, पद ३३९-४।

दुहेली—वि० [स० दुर्हेल] दु खदायी, दुस्साध्य। ~ जटा तोरि पहिरावै सेली, जोग जुक्ति कै गर्व दुहेली।→ र० ७१-२, सा० सूरा० (४५) २४-२।

दूज—सज्ञा पु० [स० द्वैत] द्वैत।~पच पियादे पारि कै, दूरि करै सब दूज। →सा० सूरा० (४५) ३-२।

दूजा—वि० [स० द्वितीय] दूसरा, अति-रिक्त।~जप तीरथ व्रत कीजै पूजा, दान पुन्य कीजै बहु दूजा। → र० २२-७, सा० गुरु० (१) २६-१, पद २९२-२२।

दूजा—सज्ञा स्त्री० [स० द्वितीया] द्वितीया तिथि।~ग्रहन अमावस सायर दूजा, साती पाठ परोजन पूजा।→ विप्र० (२) ४।

दूजा—संज्ञा पु० [स० द्वितीय] १ द्वैत भाव। २. अनन्यता का भाव। ~क्या जपु क्या तपु क्या व्रत पूजा, जाकै हृदै भाव है दूजा। → सव० १०१-३।

दूधा—सज्ञा पु० [सं० दुग्ध] दूध। ~ गुप्त प्रकट है एकै दूधा, काको कहिए ब्राह्मन सूदा।→र० २६-७।

दूनी[१]—वि० [सं० द्वि] दोनो।

दूनी[२]—सज्ञा स्त्री० [अ० दुनिया] ससार, जगत्।~सूर्य चन्द्र तारागन नाही, मच्छ कच्छ नहि दूनी। → सव० ३१-६।

दूभर—वि० [स० दुर्भर] दुस्साध्य, कठिन। ~ दूभर पनियाँ भरा न जाई।→सव० १५०-१।

दूषा—वि० [स० दु ख] दु खी।~सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा।→सव० २५-६।

दूलह—सज्ञा पु० [स० दुर्लभ] वर, पति। ~पूरि सुहाग भयौ विनु दूलह चौकै राड भई संग साँई।→पद २३८-६।

दृग—सज्ञा पु० [स० दृक्] द्रष्टा। ~ चिमिकि चिमिकि चिमिकै दृग दुहु दिस, अर्व रहा छिरिआई। → पद २९५-३।

देवा—क्रि० [राज०] दिए जाएँगे।~ हैवर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देवा गाड।→सा०चिता० (१२) ११-२।

देव—सज्ञा पु० [स०] वैश्य।~ सर्मन वर्मन देव औ दासा, रज सत तमगुन धरति अकासा।→र० २७-७।

देवघर—सज्ञा पु० [स० देवगृह] मदिर। ~जैनी धर्म क मर्म न जाना, पाती तोरि देवघर आना।→ र० ३०-३, चांचर (५) २-५।

देवघरा—संज्ञा पु० दे० 'देवघर'।

देवल—सज्ञा पु० [स० देवालय] देवालय, मदिर।~मन चाले **देवल** चलै, ताका सर्वस जाइ। → सा० मन० (१३) २८-२, सव० ६०-३, सा० विर० (३) ४४-२।

देवलि—सज्ञा पु० दे० 'देवल'।

देवा—वि० [स० दिव्य] पवित्र, पावन। ~तैं सुत मानु हमारी सेवा, तो कँह राज देइहो **देवा**।→र० ५८-१।

देसी—क्रि० [सं०√दा] देगा। ~ देवलि देवलि धाहडी, **देसी** ऊगे सूरि।→ सा० विर० (३) ४४-२, सा० साधु० (२८) २-२।

देह—क्रि० [हि० देना] याचना।~ए सवही अहला गया, जवहि कहा कछु **देह**।→सा० वेमा० (३५) १४-२।

देहरा—सज्ञा पु० [सं० देवगृह] देवालय, मदिर।~ दस द्वारे का **देहरा**, तामे जोति पिछानि। → सा० भ्रम० (२३) १०-२।

देहरी—संज्ञा स्त्री० [स० देहली] द्वार। ~**देहरी** वैठी मेहरी रोवै, द्वारै लगि सगी माइ।→सव० १०५-३।

देहिया—सज्ञा स्त्री० [स० देह] शरीर। ~ तोरी सदा न **देहिया** रे।→ पद २७३-२।

देही—सज्ञा पु० [स० देहिन्] देह मे रहने वाला जीवात्मा। ~ काल न खाइ कलप नहि व्यापै, **देही** जुरा नहिं छीजै। → सव० ३२-२, सव० ७२-३।

देही—सज्ञा स्त्री० [स० देह] शरीर। ~ कवीर कहा गरवियो, **देही** देखि सुरग।→सा० चिता० (१२) ६-१।

देहुरा—सज्ञा पु० [स० देवगृह] देवालय, मंदिर। दे० 'देहरा'। ~ नीव विहूना **देहुरा**, देह विहूना देव। → सा० पर० (५) ४१-२, सव० ११६-७, सव० ३२६-६।

देहुरी—संज्ञा स्त्री० [स० देहली] देहरी, द्वार के चौखट की लकडी जो नीचे होती है। दे० 'देहरी'।~देवल माँहे **देहुरी**, तिल जेता विस्तार। →सा० पर० (५) ४२-१।

देहुरै—सज्ञा पु० [सं० देवगृह] देवालय, मदिर। दे० 'देहरा'। ~ तुरक मसीति **देहुरै** हिन्दू, दुहूठा राँम खुदाई।→पद ३२६-५, सा० भ्रम० (२३) ११-१।

दोइ सरीर—सज्ञा पु० [स० द्वि+शरीर] द्वैत भाव। ~ कहै कवीर वह क्यों मिलै, जव लगि **दोइ सरीर**।→सा० पर० (५) २५-२।

दोई—वि० [सं० द्वि] दोनो। ~झूठ गर्भ भूले मति कोई, हिन्दू तुरुक झूठ कुल **दोई**।→ र० २६-८।

दोजक—सज्ञा पु० दे० 'दोजख'।

दोजख—संज्ञा पु० [फा० दोज़ख] नरक। ~ होय भिस्त जौ चित न डोलावै, खसमहिं छोडि **दोजख** को धावै।→ र० ५-८, र० ४०-४, सा० निह० (११) ७-१, सव० ८२-२।

दोजग—संज्ञा पु० [फा० दोज़ख] नरक। दे० 'दोजख'। ~कहै कवीरा भिस्ति छोडि करि **दोजग** ही मन माना। → पद २२६-१०, पद ३२५-२।

दोवर—वि० [हि० दोहरा] दोहरा। ~दोवर कोट अरु तेवर खाई। → सब० ६३-२।

दोस—सज्ञा पु० [स० दोष] बुराई, त्रुटि। ~ हमहि कुसेवग कि तुमहि अयाना, दुहु मैं दोस काहि भगवाना। → सब० २-३, पद २१०-६, सा० साषीभू० (५७) ३-२।

दोसत—सज्ञा पु० दे० 'दोस्त'।

दोस्त—सज्ञा पु० [फा०] मित्र, प्रिय। ~ एक दोस्त जो हम किया, जिस गलि लाल कवाइ। ~ सा० मन० (१३) ११-१, सा० पर० (५) १२-२।

दोहरा—वि० [दे०] कठिन। ~ स्वामी होना सोहरा, दोहरा होना दास।→ सा० चाँण० (१७) ३-१।

दोहागिनि—सज्ञा स्त्री० [हि०] दुर्भाग्य। ~दुर्मति केर दोहागिनि भेटै, ढोटहि चाँप चपैटै।→पद २६६-५।

दौं—सज्ञा स्त्री० [स० दाव] दावाग्नि। ~ हिरदै भीतरि दौं वलै, धुवाँ न परगट होइ। → सा० ग्यान० (४) ३-१, सा० वेली० (५८) २-१।

दौना—संज्ञा पु० [स० दमनक] एक पौधा जिसकी पत्तियो मे तेज, किंतु कुछ कडवी गध होती है। ~ दौना मरुआ चपा कै फूला, मानहुँ जीव कोटि सम तूला।→र० ३०-४।

द्यौहड़े—सज्ञा पु० [स० देवगृह+डे (प्रत्य०)] देवगृह>देवघर>द्यवहर, देवालय।~पुन्नै पाए द्यौहड़े, ओछी ठौर न खोइ।→सा० चिता० (१२) ५६-२।

द्यौहाड़ी—संज्ञा स्त्री० [स० देवगृह+री (डी) प्रत्य०] देवगृह> देवघर> द्योहर, देवालय। ~ वलिहारी गुरु आपणै, द्यौहाड़ी कै वार। → सा० गु० (१) २-१। [ना० प्र० सभा]।

द्रुगम—वि० [स० दुर्गम] दुर्गम, कठिन। ~अगम द्रुगम गढि रचिओ वास, जामहि जोति करै परगास।→सव० ४३-३।

द्रुलभ—वि० [स० दुर्लभ] दुर्लभ।~ अह निसि हरि ध्यावै नही, क्यो पावै द्रुलभ जोग। → सा० सुमि० (२) २८-२।

द्रोह—सज्ञा पु० [सं०] शत्रुता। ~ है दयाल द्रोह नहि वाके, कहहु कौन को मारा।→पद २६२-४।

द्वात—सज्ञा स्त्री० [अ० दावात] स्याही रखने का पात्र। ~ मसि विनु द्वात कलम विनु कागद, विनु अक्षर सुधि होई।→पद २७०-८।

द्वादस दल—सज्ञा पु० [द्वादश दल] अनाहत चक्र (इसमे वारह दल होते है)। ~ द्वादस दल अभिअतरि म्यत, तहाँ प्रभू वैठे समरथ सार।→सव० १४०-१२।

द्वारा—सज्ञा पु० [स० द्वार] मार्ग, दरवाजा, प्रवेश द्वार। ~ गगन मध्ये रोकिनि द्वारा, जहाँ दिवस नहि राती।→सव० ६५-७।

ध

धंधा—संज्ञा पु० [हि०] सासारिक प्रपच, प्रपंच का चक्कर।~धंधा ही मे मरि

गया, वाहर हुई न वंव । → सा० चिता० (१२) ३३-२, सव० २५-७ ।

धंधा—सज्ञा पु० [स० धन+√धा] कार्य, उद्यम, व्यापार। ~धंधा वधा किन्ह वेवहारा, करम विवरजित वसै निआरा। → र० २२-३, वसत (४) ६-१ ।

धंधे—सज्ञा पु० [हि०] काम-काज, कर्मवधन । ~ वस आगि लगि वसै जरिया, भर्म भूलि नर धंधे परिया । →र० ५०-२ ।

धंधै—सज्ञा पु० [स० धधक] कर्म, कार्य । ~ कवीर जे धधै तौ धूलि, विन धधै धूलै नही । → सा० चिता० (१२) २१-१ ।

धनि—वि० [स० धन्य] कृतार्थ, धन्य । ~राम देव सगि भावरि लेइहौं धनि धनि भाग हमारा।→सव०१४६-६।

धज—सज्ञा पु० [हि०] टुकडा, चिथडा । ~फारि पटोरा धज करूँ, कामलिया पहिराउँ।→सा०विर० (३)४१-१।

धजा—सज्ञा पु० [स० ध्वज] ध्वजा, पताका । ~ काया देवल मन धजा, विपय लहरि फहराइ।→मा० मन० (१३) २८-१ ।

धड़—संज्ञा पु० [सं० धर] शरीर का स्थूल मध्य भाग ।~ धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न विसारौं तुज्झ ।→सा० सूरा० (४५) २६-२ ।

धन—सज्ञा स्त्री० दे० 'धना' ।

धना—सज्ञा स्त्री० [स० धनिका] स्त्री । दे० 'धनि' । ~ गये राम औ गये लछमना, सग न गई सीता अस धना ।→र० ५५-१ ।

धना—संज्ञा पु० [स० धन] सम्पत्ति । ~ मुए एक जांय तजि धना, मरहिं इत्यादिक ते के गना । → ज्ञान चौं० (१) ३४ ।

धनि—सज्ञा स्त्री० [स० धनिका] युवती, स्त्री, पत्नी ।~ धनि पिउ एकै सगि वसेरा, सेज एक पै मिलन दुहेरा।→ पद ३३६-४, वसत (४) ८-२ ।

धनिक—वि० [स०] धनवान ।~ धन के कहे धनिक जौ होई तौ निरधन रहै न कोई ।→सव० १६८-८ ।

धनुक—सज्ञा पु० [स० धनुष] धनुष । ~ मिरतक उठा धनुक कर लीये, काल अहेडी भागा ।→सव० १३-५ ।

धनुहडी—संज्ञा पु० [स० धनुष+डी (प्रत्य०)] छोटा धनुष ।,~ससा सीग की धनुहड़ी रमै वांझ का पूत । → सा० वेली० (५८) ४-२ ।

धन्नि—वि० [सं० धन्य] कृतार्थ, प्रशंसा-योग्य । ~ धन्नि सुहागिनि जो पियै भावै, कह कवीर फिरि जनमि न आवै ।→पद ३३६-५ ।

धमार—सज्ञा स्त्री० [हि०] उछलकूद, उत्पात ।~ पाँच पचीमो दसहूँ द्वार, सखी पाँच तहँ रची धमार ।→वसन्त (४) ३-६ ।

धमारी—सज्ञा स्त्री० [हि०] खेलकूद । ~ जारौ माँग मैं तासु नारि की, जिन सरवर रचल धमारी । → पद २२२-३ ।

धरंम—सज्ञा पु० [स० धर्म] धर्म ।~

कबीर मन फूला फिरै, करता हूँ मैं धरंम।→सा० चाँण० (१७) २१-१।

धर—वि० [सं०] धारण करने वाला, सँभालने वाला।~तहिया होत पिंड नहिं वासू, ना धर धरनि न अनल अकासू।→र० ७-४।

धर—क्रि० [सं०] पकड कर।~ पाँच किसाना भाजि गये हैं, जीव धर वाध्यौ पारी हो राम। → सब० १०-१०।

धर—सज्ञा स्त्री० [सं० धरा] पृथ्वी। ~ त्रिसना छानि परी धर ऊपरि दुरमति भाडा फूटा।→पद ३०२-४।

धरई—क्रि० [स०√धृ=धारण] धारण करते हैं।~ जो जन गुरु की निन्दा करई, सूकर स्वान जन्म सो धरई। →र० ६७-५।

धरती—सज्ञा स्त्री० [स० धरित्री] पृथ्वी, जमीन, मृत्युलोक। ~ जेहि जल जीव सीव को वासा, सो जल धरती अमर परगासा। → सब० १०७-३।

धरनि—सज्ञा स्त्री० [स० धरणी] पृथ्वी। ~ तहिया होत पिंड नहिं वासू, ना धर धरनि न अनल अकासू। →र० ७-४, र० ७५-६, सब० ३२-१४, सब० १६६-२, पद २८२-२, सा० सम्र० (३८) ५-२।

धरनी—सज्ञा स्त्री० दे० 'धरनि'।

धरनीधरा—सज्ञा पु० [स० धरणीधर] शेषनाग। ~ अगम अगोचर अभिअतरा, ताकी पार न पावै धरनीधरा।→सब०४३-८, सब०१४०-६।

धरमराइ—सज्ञा पु० [स० धर्मराज] यमराज। ~ धरमराइ जब लेखा माग्या, बाकी निकसी भारी। → सब० १०-६, सब० २७४-७।

धरमी—वि० [सं०√धर्मिन्] धर्म का पाषण्ड करने वाला। ~ नेमी देखा धरमी देखा, प्रात करै असनाना। →पद २६७-३।

धरल—क्रि० [हि० धरना] पकड लिया। ~सतो अचरज एक भौ भारी, पुत्र धरल महतारी।→पद २६०-१।

धरा—क्रि० वि० [स०√धृ] पकडा हुआ।~जौ सौ बार कहौं समुझाई, तैयो धरा छोरि नही जाई। → र० ६४-२।

धरिया—क्रि० [स० धारण] धारण किया। ~ होय बराह धरनि नहिं धरिया, छत्री मारि निछत्र न करिया। →र० ७५-६।

धरिया—क्रि० [स० धारण] धारण करता है। ~ कर्म धर्म मति बुधि परिहरिया, झूठा नाम साँच लै धरिया।→र० २६-३।

धर्मराज—संज्ञा पु० [स०] यमराज, काल।~ थोरहि सपति गौ बौराई, धर्मराज के खबरि न पाई। → र० २१-५, सब० २१७-५।

धर्मराय—सज्ञा पु० दे० 'धर्मराज'।

धवती—क्रि० वि० [स० धावन] धौकती हुई, चलती हुई। ~ धवणि धवंती रहि गई, बुझि गए अगार।→ सा० काल० (४६) २१-१।

धसै—क्रि० [हि० धँसना] प्रवेश करता है। ~ ओसो प्यास न भाजई, जब

लगि घसै न आभ। → सा० सुमि० (२) २१-२।

धांनीं—सज्ञा स्त्री० [सं० धामन्] स्थान, जगह। ~ सोनै की लका बनी भइ धूर की धांनीं रे।→पद २७३-५।

धागा—संज्ञा पु० [हि० तागा] डोरा, प्रेम की डोर। ~ धागा ज्यूं टूटै त्यूं जोरि। → सब० १५४-१, पद ३४०-७।

धागा—सज्ञा पु० [हि० तागा] सूत्र, ध्यान का सूत्र।~ सतौ धागा टूटा गगन विनसि गया सवद जु कहां समाई।→पद २६८-१।

धाप—सज्ञा पु० [हि०] छाप।~ द्रिष्टि परे उन काहु न छांडे, कै लीन्हो एक धाप।→ चाँच० (५) १-२१।

धाय—क्रि० [स० धावन] दौड कर। ~ मदिर तौ है नेह का, मति कोइ पैंठे धाय।→र० २२-८, र० १-७।

धाया—क्रि० [स० √ धा] दौडा। ~ जिन अवधू गुरु ग्यान लखाया, ताकर मन तँहई लै धाया। → र० ८३-२।

धार—सज्ञा पु० [स०] डाका, छापा। ~ चेतवा है तौ चेतहु, नहिं दिवसु परतु है धार।→ र० ४४-५।

धारा—सज्ञा स्त्री० [स०] मालवा मे 'धारा' नामक नगरी जहाँ भोज की राजधानी थी। ~ जात कौरवहिं लागु न वारा, गये भोज जिन साजल धारा।→र० ५५-२।

धारैं—क्रि० [स० धारण] धारण करती है। ~ कोटि सरसती धारैं राग, कोटि इन्द्र जह गवन लाग।→सब० ११०-७।

धावा—क्रि० [सं० धावन] दौडता है। ~ चकवा बैसि अगारै निगलै समद अकासा धावा।→पद ३३१-८।

धाहड़ी—क्रि० [अनु०] ध्वनित होता है, आवाज उत्पन्न होती है। ~ देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि।→सा० विरह० (३) ४४-२।

धाहदे—क्रि० [अनु०] चिल्ला-चिल्ला कर पुकारना या कहना। ~ ऊठि कबीरा धाहदे, दाझत है संसार।→ सा० दया० निर० (५१) २-२।

धियांना—सज्ञा पु० दे० 'धियान'।

धियांनी—वि० [स० ध्यानिन्] ध्यान लगाने वाला।~ब्रह्म गियाँनी अधिक धियांनी, जम कै पटै लिखाया। → पद २२०-६।

धिया—सज्ञा स्त्री० [स० दुहिता] पुत्री। ~ देव चरित्र सुनहु रे भाई, सो तो ब्रह्मा धिया नसाई।→र० ८१-१।

धियान—सज्ञा पु० [स० ध्यान] ध्यान। ~ अविगत अतरि प्रगटै, लागैं प्रेम धियान।→सा० पर० (५) ४४-२, पद ३१०-३, पद २३१-४।

धियावहु—क्रि० [हि० ध्यान] ध्यान करो। ~ कहै कबीर नर तिसहिं धियावहु बावरिया ससारा।→सब० १७७-१०।

धींगा धींगी—सज्ञा स्त्री० [हि० धींग] वाह्याडम्वर।~धीगा धींगी भलो न माना, जो काहू मोहि हिरदय न जाना।→र० ६७-२।

धी—सज्ञा स्त्री० [स०] बोध ।~ मृतक कूं धी जौं नही, मेरा मन बी है ।→ सा० मन० (१३) २३-१ ।

धीजिए—क्रि० [सं०√धृ] धारण करना, ग्रहण करना, विश्वास करना । ~ उज्जल देखि न धीजिए, बग ज्यौं माँडै ध्यान । → सा० असा० (२७) २-१ ।

धीमर—सज्ञा पु० [हि० धीवर] मल्लाह, मछुआरा । ~ करम फाँस जम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा । →पद २२१-४ ।

धीर—वि० [स०] धैर्य । ~ चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुरु दीन्ही धीर ।→सा० गुरु० (१) २३-१ ।

धुंधुवाउँ—क्रि० [स० धूम्र से] धीरे-धीरे, सुलग-सुलग कर धुंआ देकर जलना । ~ हौं विरह्वा की लाकडी, समुझि समुझि धुंधुवाउँ । → सा० बिर० (३) ३७-१ ।

धुजा—संज्ञा पु० [स० ध्वज] झण्डा । ~है गै वाहन सघन घन, छत्र धुजा फहराइ ।→सा०साधुम०(३०)४-१ ।

धुनि—सज्ञा स्त्री० [स० ध्वनि] शब्द, आवाज, नाद, अनाहत नाद । ~ अवधू ग्यान लहरि धुनि माडी रे । → सब० ३०-१, पद ३०५-१८, सव० ५२-६ ।

धूंवरि—वि० [सं० धूम+हि० रि] धुएँ के रङ्ग का । ~ यहु ससार इसो रे प्राणी, जैसी धूंवरि मेह । → पद २०३-४ ।

धूंवा—संज्ञा पु० [सं० धूम्र] धुआँ ।~ पानी हू तै पातरा, धूंवां हू ते झीन । →सा० मन० (१३) १२-१ ।

धूप—सज्ञा स्त्री० [स०] सासारिक ताप । ~ धूप दाझतै छाँह तकाई, मति तरवर सच पाऊँ । → सब० ६६-३ ।

धूम—संज्ञा पु० [सा० धूम्र] धुआँ ।~ इक धूम घोटि तन होहि स्याम, यूं मुकति नही बिन रांम नाम । → सब० ६१-८ ।

धूर—संज्ञा स्त्री० [सा० धूलि] धूलि, मिट्टी । ~ सोनै की लका बनी भइ धूर की धानी रे । → पद २७३-५, बसत (४) २-५, सब० १०२-८ ।

धूरि—संज्ञा स्त्री० दे० 'धूर' ।

धूरी—सज्ञा स्त्री० दे० 'धूर' ।

धूलि—क्रि० [हि० धोना] धुलना, स्वच्छ हो जाना । ~ कबीर जे धधै तौ धूलि, बिन धधै धूलै नही । → सा० चिता० (१२) २१-१ ।

धूवां—सज्ञा पु० [स० धूम्र] धूवाँ, धूम्र । दे० 'धूम' ।~यह् तन जारौ मसि करौं, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि । →सा० बिर० (३) ११-१ ।

धेनु—सज्ञा स्त्री० [स०] गाय ।~ओस न प्यास मदिर नहि जँह्वा, सहसौं धेनु दुहावैं तहवां ।→सब० १६५-३ ।

धोइ—क्रि० [स० धावन, प्रा० धोअण] निकाल फेंको, छोड दो । ~कबीर अपने जीव तै, ए दोइ बातै धोइ । सा० चिता० (१२) ४१-१ ।

धोरे—संज्ञा पु० [सं० धर] समीप, निकट । ~ धोरे बैठि चपेटसी, यो

यौं बूडै ग्यांन। → सा० असाधु० (२७) २-२।

धौखैं—सज्ञा पु० [सं० धूक] भुलावा, छल।~ दुनियाँ के **धौखैं** मुवा, चलैं जु कुल की कानि।→ सा० चिता० (१२) ४६-१।

धौलहर—सज्ञा पु० [स० धवलगृह] प्रासाद, महल।~धूंवाँ केरा **धौलहर,** जात न लागै वार।→ सा० चिता० (१२) २७-२, सा० काल० (४६) १८-१।

ध्याया—क्रि० [स० ध्यान] ध्यान किया। ~ते नर विनठे मूलि, जिनि धधैं मैं **ध्याया** नही।→सा० चिता० (२१) २१-२।

ध्यावैं—क्रि० [स० ध्यान] ध्यान करना, सुरति लगाना। ~ अह निसि हरि **ध्यावैं** नही, क्यो पावै द्रुलभ जोग। →सा० सुमि० (२) २८-२।

ध्रिग—अव्य० [सं० धृक्] धिक्, धिक्कार। ~कवीर हरि की भगति विन, **ध्रिग** जीवन ससार। → सा० चिता० (१२) २७-१।

न

नदन—सज्ञा पु० [स०] पुत्र।~लोका तुम ज कहत हौ, नद कौ **नंदन** नंद कहौ धूं काकौ रे।→ पद २८२-१।

नइ-नइ—क्रि० [स० नमन] झुक जाना। ~ जिहि जिहि डाली पग धरैं, सोई **नइ-नइ** जाइ।→सा० सम्र० (३८) १०-२।

नकटूं—सज्ञा पु० [स० नासिका] नाक। ~ नैनूं **नकटूं** श्रवनूं, रसनूं, इन्द्री कहा न मानैं हो राम। → सव० १०-४।

नग—सज्ञा पु० [स०] मणि।~ फूटा **नग** ज्यो जोडि मन, सधिहि सधि मिलाइ।→सा०सुमि० (२) ३१-२।

नगन—वि० [स० नग्न] वस्त्रहीन, नग्न। ~ इक पढहि पाठ इक भ्रमैं उदास, इक **नगन** निरतर रहैं निवास। → सव० ६१-३।

नगवेली—संज्ञा स्त्री० [स नागवल्ली] काँटेदार वेल। ~आव चढी अंवली रे अँवली ववूर चढी **नगवेली** रे।→ पद २५५-३।

नग्र—सज्ञा पु० [स० नगर] नगर। ~आतम व्रह्म जो खेलन लागे काया **नग्र** मझार। →पद ३०६-४।

नचींत—वि० [स० निश्चित] निश्चित। ~ जिन दिल बाँधी एक सौं, ते सुख सोवैं **नचींत**। → सा० निह० पति० (११) १३-२।

नजरि—सज्ञा स्त्री० [अ० नज़र] प्रत्यक्ष। ~ विनु चदा उजियारी दरसैं जहँ तहँ हसा **नजरि** परैं।→पद २४६-४।

नजरि—सज्ञा स्त्री० [अ० नज़र] दृष्टि, निगाह।→कहै कवीरा सत हो, परि गया **नजरि** अनूप। → सा० पर० (५) २४-२, सव० १४१-६।

नजरि—सज्ञा स्त्री० [अ०] दृष्टि मे, निगाह मे। ~ फाटै दीदै मैं फिरूँ, **नजरि** न आवै कोइ। → सा० साध-सा० (२९) १७-१।

नजीकि—वि० [फा० नजदीक] निकट, समीप। ~ दासु कवीर तेरी पनह समाना, भिस्ति **नजीकि** राखि रहिमाना। →सव० १४१-८।

नट—सज्ञा पु० [स०] अभिनेता। ~ नाना नाच नचाय के, नाचै नट के भेख।→र० ६३-५।

नटत—क्रि० [स०√नट] नाचता हुआ, नृत्य करता हुआ। ~ मरकट मूंठी स्वाद न विहुरै, घर घर नटत फिर्यो।→सव० ५-५।

नटबिधि—यौ० [स० नटविधि] नट के समान। ~ काको जरै काहि होइ हानि, **नटबिधि** खेलै सारग पानि। →पद २५६-४।

नटवत—[स०] नट के समान।~ **नटवत** सारे साज साजिया, जो खेलै सो देख वाजिया।→ र० ८२-४, सव० ६०-१०।

नपाक—वि० [फा० नापाक] अपवित्र। ~रज वीरज सो मास उपाने, मास **नपाक** जो तुम खाई।→पद २१०-५।

नफर—सज्ञा पु० [अ०] दास, नौकर। ~ साहिव गरवा चाहिए, **नफर** विगाड़ै नित्त। → सा० वीन० (५६) २-२।

नबी—संज्ञा पु० [अ०] ईश्वर के दूत, पैगम्बर। ~ **नबी** हवीवी के जो कामा, जहँ लैं अमल सो सबै हरामा। →र० ४८-५।

नभ—सज्ञा पु० [स० नभस्] आकाश। ~ मरि गये ब्रह्मा **नभ** के वासी, सीव सहित मुए अविनासी। → र० ५४-१।

नरहरि—सज्ञा पु० [सं०] श्रेष्ठ नर। ~ **नरहरि** लागी दव विनु ईंधन, मिलै न वुझावनहारा। → सव० १५७-१।

नरहरि—सज्ञा पु० [स०] नृसिंह प्रभु। ~ **नरहरि** सहजे ही जिनि जांना। → सव० १५८-१, सव० ९७-६, सव० ५०-१।

नरहरी—सज्ञा पु० दे० 'नरहरि'।

नरायन—संज्ञा पु० [स० नारायण] सभी नरो का आश्रय। ~ सर खूटी एक राम **नरायन**, पूरन प्रगटे भेदा। → सव० १२७-३।

नरी—सज्ञा स्त्री० [स० नलिका] ढरकी के भीतर की नली, जिस पर तार लपेटा रहता है (ढरकी=जुलाहो का वह औजार जिससे वे वाने का सूत फेकते हैं)।~महि अकास दुइ गाड खँदाया, चाँद सुरुज दुइ **नरी** वनाया।→र० २८-२।

नवाऊँ—क्रि० [स० नमन] झुकाऊँ। ~ कहै कवीर मेरै सिर परि साहेव मैं ताकौं सीस **नवाऊँ** जी। → पद ३०७-८।

नवावौं—क्रि० [स० नमन] झुकाना, नमस्कार करना।~अव मन रामहिं ह्वै रहा, सीस **नवावौं** काहि। → सा० सुमि० (२) ८-२।

नसांना—क्रि० [हि०] नष्ट हो गया। ~ भागा भर्म भया मन असथिर, निद्रा नेह **नसांना**।→पद ३०५-१५।

नसाईं—क्रि० [स० नष्ट] नष्ट हो जाते हैं। ~ वोलना कासो वोलिय (रे) भाई, वोलत ही सव तत्तु **नसाईं**। →र० ७०-१।

नसानी—क्रि० [हि०] नष्ट हो गई। ~ आपन आपन झगरा पसारिनि, पिया सो प्रीति **नसानी** हो। →कहरा (३) २-७।

नसौना—वि० [सज्ञा नाशकारिन्] विनाशक। ~जीव सीव का आहि **नसौना**, चारिउ वेद चतुर गुन मौना। →र० ३०-२।

नहि तर—अव्य [हि० नही+तो+तर] अन्यथा, नही तो। ~राम कहे भल होइगा, **नहि तर** भला न होइ।→ सा० सुमि० (२) १-२, सा० साधु० (२८) १०-२।

नाँइ—सज्ञा पु० दे० 'नाँउँ'।

नाउँ—सज्ञा पु० [सं० नाम] नाम। ~**नाउँ** मेरै खेती **नाउँ** मेरै वारी, भगति करउँ जन सरनि तुम्हारी। → सव० ४६-३, सा० सावसा० (२६) १२-१।

नाँगी—वि० [स० नग्न] नग्न, नगी, वस्त्रविहीना। ~ पतिवरता **नाँगी** रहे, तौ उसहि पुरिस कौं लाज। →सा० निह० पति० (११)१७-२, सव० ७७-१, सा० चिता० (१२) ३७-२।

नाँगे—सज्ञा पु० दे० 'नाँगी'।

नान्हाँ—वि० [स०√न्यच्] छोटा, सूक्ष्म, महीन।~**नान्हाँ** काती चित्त दे, मँहगे मोलि विकाइ। → सा० चिता० (१२) ५८-१।

नान्हीं—वि० [स०√न्यच्] महीन, पतला।~**नान्हीं** मैदा पीसि लई है, छाँनि लई द्वै वारा। → सव० १५४-७।

नां फिरु—अव्य० [हि०] अन्यथा। ~वदे खोज दिल हर रोज **नां फिरु** परेसानी माहि।→सव० १८१-३।

नाभि—सज्ञा स्त्री० [स० नाभि] नाभि। ~सनक सनदन सिव सुकादि, **नाभि** कवल जाने ब्रह्मादि।→पद २२४-५।

नाँमहरूँम—वि० [अ० महरूम] वचित। ~दरगह तेरी साँइयाँ **नाँमहरूँम** न होइ।→सा० सम्र० (३८) ३-२।

नाँव—सज्ञा पु० [स० नाम] नाम। दे० 'नाव'। ~ भगति भजन हरि **नाँव** है, दूजा दुक्ख अपार। →सा० सुमि० (२) ४-१, सा० चिता० (१२) ५४-२, सा० निन्द्या० (५४) १-२, सा० विर०(३) १२-१, सा० क० वि० कथ० (१८) ४-२, ज्ञान चौं० (१) ३३, र० ३४-२।

नाँव—सज्ञा पु० [स० नाम] नाम का जप। ~एकै हरि के **नाँव** विन, गए जनम सव हारि। → सा० चिता० (१२) २-२।

नाइक—संज्ञा पु० [स० नायक] स्वामी। ~गोकुल **नाइक** वीठुला, मेरा मनु लागा तोहिं रे।→सव० ६७-१।

नाइँ—सज्ञा पु० [स० नाम] नाम से। ~अल्लह राम जिऊँ तेरै **नाईं**।→ सव० २३-१।

नाउँ—संज्ञा पु० दे० 'नाँव'।

नाऊँ—संज्ञा पु० दे० 'नाँव'।

नाकै—संज्ञा पु० [हि०] छिद्र, प्रवेश द्वार। ~गुरु परसादि सुई कै नाकै, हस्ती आवै जाही।→सब० ३०-८।

नाखै—क्रि० [स० नष्ट] नष्ट करे, उल्लघन करे। ~ सगहि पोच है ज्ञान पुकारै, चतुरा होय सो नाखै। →पद २०७-६।

नाग—संज्ञा पु० [स०] शेषनाग, सर्प। ~विनसे नाग, गरुड गलि जाई, बिनसे कपटी, औ सत भाई।→र० ४६-१, सा० निगु० (५५) ८-१, सा० कामी० (२०) २१-१।

नाज—संज्ञा पु० [हि० अनाज] अनाज, अन्न (गल्ला)। ~मन दस नाज टका दस गाठी, ऐंडौ टेढौ जात। →सब० ७०-२, सा० वेसा० (३५) १३-१।

नातर—अव्य० [स० न+तो+अरु] नही तो, अन्यथा। ~ भली भई जु गुर मिल्या, नातर होती हानि।→ सा० गुरु०(१)१६-१, पद २१६-२, सब० १६१-५।

नातरु—अव्य० दे० 'नातर'।

नाता—संज्ञा पु० [स० ज्ञाति] सम्बन्ध, रिश्ता।~नाता गोता कुल कुटुम सभ, इन्ह की कौन बडाई हो। → कहरा (३) ५-७।

नादाना—वि० [फा० नादान] अज्ञानी। ~भूला वे अहमक नादाना, तुम हरदम रामहि ना जाना। → पद २१०-१।

नादै—संज्ञा पु० [सं० नाद] शब्द, ध्वनि। ~ज्यूं मृग नादै वेध्यौ जाइ, पिड परे वाको ध्यान न जाइ।→ सब० ५६-३।

नाधे—क्रि० [सं० नद्ध] जुते हुए।~ वैठत नाहि साधु की सगति, नाधे जनम गयो।→सब० ६४-२।

नाना—वि० [हि०] विचित्र, अनुपम। ~मैं तोहि पूछो मूसलमाना, लाल जरद की नाना वाना। →र० ४६-३।

नापाक—वि० [फा०] अपवित्र। ~ दिल नापाक पाक नहि चीन्हा तिसका मरम न जाना।→पद २३०-६।

नामा—संज्ञा पु० [हि० नामदेव] प्रसिद्ध भक्त, जिन्होंने मराठी व हिन्दी दोनो मे काव्य-रचना की थी। ~ सिव माते हरि चरन सेव, कलि माते नामा जयदेव।→वसन्त(४)१०-७।

नामा—संज्ञा पु० [सं० नाम] नाम का। ~ऊ जे सुनी जौनपुर धामा, झूंसी सुनि पीरन को नामा। → र० ४८-२।

नाराइन—संज्ञा पु० [स० नारायण] ईश्वर। ~ मेरी जिभ्या विस्नु नैन नाराइन हिरदै वसहि गोविंदा। → पद २३१-१, सब० १४२-१।

नाराइना—संज्ञा पु० दे० 'नाराइन'।

नारि—संज्ञा स्त्री० दे० 'नारी'।

नारी—संज्ञा स्त्री० [स० नाडी] धमनी, नाडी। ~ इला पिंगुला सुखमन नारी, वेगि विलोइ ठाढी छछिहारी। →पद ३३०-४, वसंत (४) ३-४।

नाल—संज्ञा स्त्री० [स०] वीणा की डाँडी। ~ मुख के **नाल** स्रवन के तुम्वा, सतगुरु साज वनाया। → सव० १०६-४।

नालि—संज्ञा स्त्री० [सं० नाल] नली या नाली। ~ प्रेम पलीता सुरति **नालि** करि गोला ग्यान चलाया।→ सव० ६३-७।

नालि—संज्ञा स्त्री० [स० नाल] डाँडी। ~ लवा **नालि** तति एक सँमि करि, जन्त्र एक भल साजा। → सव० १७२-३।

नाव—सज्ञा पु० [सं० नाम] नाम। ~ कवीर हरि के **नाव** सौं, प्रीति रहै इकतार।→मा० उपदे० (३४) ८-१, पद २६५-६।

नाव—सज्ञा स्त्री० [स० नौका] नौका, नाव। ~मूसा खेवट **नाव** विलइया, सोवै दादुर सर्प पहरिया। → सव० ८६-४, पद ३४२-११, सा० चिता० (१२) ५६-२।

नाह—सज्ञा पु० [स० नाथ] पति, स्वामी, आत्मा। ~ ई भर जुवती वै वार **नाह**, अति रे तेज त्रिय रैनि ताहि। → वसंत (४) ५-४, पद २३२-६, पद ३४८-२।

नाहींतर—[अव्य०] दे० 'नातर'।

नित—अव्य० [स० नित्य] नित्य, दे० 'नित'। ~तेरी वारी जीयरा, नेरी आवै **नित**।→सा० काल० (४६) ६-२।

निआउ—सज्ञा पु० [स० न्याय] दे० 'न्याव'। न्याय। ~ मुल्ला कहहु **निआउ** खुदाई। →पद २३०-१।

निआरा—वि० [स० निराकृत] पृथक्, अलग।~धधा वधा किन्ह वेवहारा, करम विवरजित वसै **निआरा**। → र० २२-३।

निकदिया—क्रि० [स० नि+कदन] नष्ट कर दिया है। ~ कवीर मूल **निकदिया**, कौंन हलाहल खाइ।→ सा० भ्र० वि० (२३) ६-२।

निकुल—वि० [नि+अ० कुल] कुल-हीन, सीमाहीन, असीम। ~ राम **निकुल** कुल भेंटि लै, सव कुल रहा समाइ।→सा० चिता०(१२)४५-२।

निखेध—सज्ञा पु० [स० निषेध] निषिद्ध। ~तजि भरम करम विधि **निखेध** राम नामु लेही।→पद २७५-६।

निगध—वि० [स० निर्गन्ध] गन्ध रहित। ~एक **निगध** वासनाँ प्रगटै, जगथै रहै अकेला।→पद ३०५-१३।

निगम—सज्ञा पु० [स०] पथ, मार्ग। ~अगम **निगम** गढ रचिले अवास, तहवाँ जोति करै परकाम। →सव० १४०-३।

निगम—सज्ञा पु० [स०] वेद। ~ **निगम** रिसाल चारि फल लागे, तामे तीन समाई।→सव० ८८-४, सव० ७-४।

निगलै—क्रि० [हि० निगलना] खा जाता है। ~ चकवा वैसि अगारै **निगलै** समद अकासा धावा। →पद ३३१-८।

निगुणां[१]—वि० [सं० निर्+गुण] अनाड़ी, विवेकहीन, गुणहीन।

निगुणाँ—वि० [सं० नि + गुरु] निगुरा, जिसका कोई गुरु नही है। →सा० निगु० (५५)।

निगुराँह—वि० [स० नि + गुरु] बिना गुरु का। दे० 'निगुरा'। ~ सगुरा सगुरा चुनि लिए, चूक पड़ी **निगुराँह**। →सा० निगु० (५५) ३-२।

निगुरा—वि० [स० नि + गुरु] जिसका कोई गुरु नही है। ~मतगुर सपुट खोलि दिखावै, **निगुरा** होइ तो कहा बतावै। →सव० ५४-६।

निगुसाँवाँ—वि० [हि० नि + गोसाईं] जिसका कोई मालिक न हो। ~ **निगुसाँवाँ** बहि जाएगा, जाकै थाघी नहिं कोइ। →सा० जी० मृ०(४१) ११-१।

निगोड़ी—वि० [हि०] अभागिन। ~अजन मजन करै ठगौरी, का पचि मरै **निगोड़ी** बौरी। →सव० १३०-५।

निग्रह—सज्ञा पु० [सं०] नियन्त्रण, अवरोध। ~ज ना **निग्रह** से करु नेहू, करु निरुवार छाँडु सदेहू। → ज्ञान चौं० (१) २१, पद २६८-६।

निचीता—वि० [स० निश्चित] निश्चित, चिन्ता रहित। ~ वाँवरिया वन मैं फँद रोपै सग मैं फिरै **निचीता** रे। →पद २६३-७।

निचोइ—क्रि० [हि० निचोडना] निचोड कर। ~नेक **निचोइ** सुधा रस वाकौ कौन जुगति सौं पीजै। → सव० १७८-२।

निछत्र—वि० [सं० नि + क्षत्रिय] क्षत्रिय विहीन। ~होय वराह धरनि नहिं धरिया, छत्री मारि **निछत्र** न करिया। →र० ७५-६।

निज—वि० [स०] अपने भीतर विद्यमान् परम तत्व, प्रत्यगात्मा। ~ राम नाम **निज** जानि के, छाडहु वस्तुहिं खोटि। →र० ३६-६।

निज—सज्ञा पु० [स०] आत्म तत्व। ~ग्याँन अकूर न ऊगई, भावै **निज** परमोध। →सा० कामी० (२०) २०-२।

निज—सज्ञा पु० [स०] आत्मा, आत्म स्वरूप। ~ **निज** निरखत गत व्यौहारा। → सव० ८-२।

निजदरसन—यौ० [हि०] आत्मसाक्षात्कार। ~कउवा कुबुधि निकट नहिं आवै, सो हसा **निजदरसन** पावै। → पद ३३४-५।

निजाई—भाव [हि० निज + आई (प्रत्य०)] निजत्व, स्वामित्व, अधिकार। ~ सत्त सत्त कै विस्नु दिठाई, तीनि लोक मँह राखि **निजाई**। → र० २७-२।

निठुर—वि० [सं० निष्ठुर] क्रूर। ~ ठ ठा ठौर दूरि ठग नियरे, नितिकै **निठुर** कीन्ह मन घेरे। → ज्ञान चौं० (१) २७।

निड़ै—वि० [स० निकट] निकट, नजदीक, पास। ~कवीर चन्दन कै **निड़ै**, नीव भि चन्दन होइ। → सा० निगुणाँ० (५५) १२-१।

नित—वि० [स० नित्य] सदैव, प्रतिदिन। ~जल कै मंजन जो गति होई,

मीना नित ही न्हावै। → पद ३०८-३।

नितहि—वि० [स० नित्य + हि० हि] दे० 'नित' और 'नित्त'। नित्य, सदैव, सर्वदा। ~ बुढ़िया हँसि बोलै मैं **नितहि** वारि, मोहि अस तरुनि कहौ कौन नारि।→वसत (४) ४-१।

नितिकै—अव्य० [हि०] अत्यन्त। ~ ठ ठा ठौर दूरि, ठग नियरे, **नितिकै** निठुर कीन्ह मन घेरे। →ज्ञान चौं० (१) २७।

नित्त—वि० [स० नित्य] नित्य, सदैव, हमेशा। दे० 'नित'।~सब रग तंत रबाब तन, विरह बजावै **नित्त**। → सा०विर० (३) २०-१, सव० १४४-४, सा० वीन० (५६) २-२।

निदले—क्रि० [हिं०] निद्रित कर दिया, सुला दिया। ~ ननदी गे तै विषम सोहागिनि, तै **निदले** ससारा गे। → कहरा (३) ११-१।

निदान—अव्य० [सं० निदान] अत मे, आखिर। ~ लोग बटाऊ चलि गए, हँम तुम रहे **निदांन**।→सा० सूरा० (४५) ३३-२, सा० कामी० (२०) ६-२।

निदान—क्रि० वि० [सं०] अन्तत, अन्ततोगत्वा। ~ दीपक जोति पतग ज्यूँ, पडता आप **निदान**।→सा०गु० (१) १६-२।

निदानि—अव्य० दे० 'निदांन'।

निन्दई—क्रि० [सं० निन्दा] निन्दा करते हैं।~ लोग विचारा **निन्दई**, जिनहूँ न पाया ग्यांन। → सा० निन्द्या० (५४) १-१।

निन्दक—सज्ञा पु० [सं०] निन्दा करने वाला। ~ **निन्दक** नियरे राखिए, आँगनि कुटी बँधाइ।→सा०निन्द्या० (५४) ३-१, ४-१।

निन्द्या—सज्ञा स्त्री० [स० निन्दा] निन्दा। →सा० निन्द्या० (५४)।

निधड़क—क्रि० वि० [हि० नि = नही + धडक] वेरोक, बेखटक, निश्चित। ~**निधड़क** बैठा राम विन, चेति न करै पुकार।→सा० काल० १२-१।

निधांन—सज्ञा पु० [स० निधान] आश्रय। ~ साचु कहि हम गाँठि दीन्ही छोडि परम **निधांन**।→सव० १८७-४, पद २४५-१।

निधाना—सज्ञा पु० [स० निधान] राशि, खजाना, निधि। → जाइ पाप सुख मिलै **निधाना**, निरुचै वचन कवीर कै माना।→र० ५८-५, पद २२८-३।

निधांनु—सज्ञा पु० दे० 'निधान'।

निनारा—वि० [हि० न्यारा] पृथक्, भिन्न, अलग। ~ एकै जनी जना ससारा, कौन ग्यान ते भयो **निनारा**। →र० २-६, सव० ४-१०।

निनारी—वि० दे० 'निनारा'।

निपजी—क्रि० [सं० निष्पद्य] उत्पन्न हुआ।~**निपजी** मैं साझी घना, बांटे नही कवीर। →सा० गुरु० (१) ३०-१।

निपजै—क्रि० [सं० निष्पद्यते] उत्पन्न होता है। ~ अमृत वरिसै हीरा

निपजै, घटा पडै टकसाल ।→ सा० पर० (५) ४७-१ ।

निपजै—क्रि० [स० निष्पद्यते, प्रा० निपज्जई] बढती है, पुष्ट होती है ।~ उपजै **निपजै** निपजि समाई, नैंनन देखत यह जगु जाई ।→पद २७६-३ ।

निपुन—वि० [स० निपुण] चतुर, पूर्ण । ~सतो पाडे **निपुन** कसाई ।→ पद २६६-१ ।

निबल—वि० [स० निर्बल] कमजोर । ~ इन्द्री सबल **निबल** मैं माधौ, बहुत करै बरियाई ।→पद २६७-३ ।

निबहै—क्रि० [सं० निर्वाह] निर्वाह, सरक्षण होना या करना । ~ जैसी उपजै पेड सूं, तैसी **निबहै** ओरि ।→ सा० उप० (३४) ७-१ ।

निबहै—क्रि० [स० निर्वहन] निर्वाह होना, पार लगना । ~ निवरति कै **निबहै** नही, प्रवृत्ति परपंच माहि ।→ सा० माया० (१६) २७-२ ।

निबांणा—सज्ञा पु० [सं० निम्न ?] नीचा स्थान । ~डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया **निबांणा** चालि ।→ सा० मन० (१३) २२-२ ।

निवारहु—क्रि० [स० निवारण] निवारण करना, हटाना । ~मत सुनु मानिक मत सुनु मानिक, ह्रिदया बध **निवारहु** हो ।→कहरा (३) २-१ ।

निबेरहु—क्रि० [स० निवृत्त] निपटारा कीजिए । ~ झगरा एक **निबेरहु** राम ।→सव० १३३-१ ।

निबेरा—क्रि० [स० निवृत्त] निवारण, अलगाव । ~ कहै कवीर सोई जन तेरा, खीर नीर का करै **निबेरा** । →पद ३३४-६ ।

निबेरा—सज्ञा पु० [स० निवृत्त] निपटारा या निवटारा । ~वदे करिले आपु **निबेरा** । → सव० १८०-१, पद २१६-८ ।

निबेरा—सज्ञा पु० [स० निवृत्त] स्पष्टीकरण, सुलझाना ।~जो या पद का करै **निबेरा** ।→सव० ३७-२ ।

निबेरि—क्रि० [स० निवारण] निवारण करो । ~वह हालै वह चीरई, साकत संग **निबेरि** । →सा० कुस० (२५) ४-२ ।

निबेरे—क्रि० [सं० निवृत्त] निवारण करे ।~कहै कवीर सोई जन मेरा, जो घर की रारि **निबेरे** । → पद २६६-६ ।

निमसिले—क्रि० [हि० निमसना] समाप्त हो जाना, वन्द हो जाना । ~ कंसा नाद बजाइले, धुनि **निमसिले** कसा । →सव० ५२-५ ।

निमाज—सज्ञा स्त्री०[फा० नमाज] मुसलमानो की ईश्वर प्रार्थना, जो नित्य पाँच बार होती है । ~कर्म तो सो जो भव औतरिया, कर्म तो सो **निमाज** को धरिया । र० ३६-३, सव० ३१-८, पद ३२६-३ ।

निमिष—सज्ञा पु० [स० निमेष] पल, क्षण । ~ **निमिष** एक जो निरखै पावैं, ताहि **निमिष** मँह नैन छिपावै । → ज्ञान चौ० (१) १२, सव० ६८-४ ।

नियरा—क्रि० वि० [स० निकट] निकट,

नजदीक, समीप। ~पारब्रह्म **नियरा** रहै, पल मैं करै निहाल। → सा० क० वि० क० (१८) २-२, सा० सूरा० (४५) १८-१, ज्ञान चौं० (१) २७, सा० माया० (१६) २१-२, र० ३०-८।

नियरायल—क्रि० [हि० नियर+आयल] निकट आ गया। ~ लालच लागे जनम सिराई, जरा मरन **नियरायल** आई। →र० २३-५।

नियरे—क्रि० वि० दे० 'नियरा'।

नियांना—क्रि० [?] समा गया। सिमट गया। ~ग्यारह मास कहो क्यूं खाली, एकहि माहि **नियांना**। → सब० २३-८।

नियाई—सज्ञा पु० [स० न्यायी] न्याय-कर्त्ता। ~ जो जस करिहै सो तस पइहै, राजा राम **नियाई**। → पद २६८-२।

नियारा—वि० [स० निराकृत] न्यारा, पृथक्, भिन्न। ~ कहत कबीर भले असवारा, वेद कतेब तै रहहिं **नियारा**। →सब० ३-५।

निरजन—सज्ञा पु० [स०] अजन अर्थात् कालिमा या दोप से रहित। यह परम तत्व का वाचक है। प्रारभ मे योगियो एव सतो के मत मे निरजन की यही अवधारणा थी, किन्तु धीरे-धीरे उक्त अवधारणा मे परिवर्तन हुआ और वह हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। यहां निरजन का अर्थ है—यम अथवा काल। ~ जल थल नभ मँह रमि रहौ, मोर **निरंजन** नाउँ। →र० २१-८।

निरंजन—सज्ञा पु० [सं०] काल पुरुप। ~अजर अमर एक विरिछ **निरंजन** डारा। →पद ३१६-३।

निरंजन—संज्ञा पु० [स०] अजन या कालिमा से रहित, ब्रह्म। ~ सेवक सो जो लागै सेव, तिनही पाया **निरंजन** देव। →पद २०२-६।

निरंजन—सज्ञा पु० [स०] माया से अलिप्त, ब्रह्म। ~पूजहु राम **निरंजन** देवा। →पद ३०८-२।

निरंजन—सज्ञा पु० [स०] परमात्मा। ~ मन थिर होइत कवल प्रकासै, कवँला माँहि **निरंजन** वासै। →सब० ५४-५, सब० १४३-८।

निरंतरि—वि० [स० निरन्तर] सदैव, हमेशा। ~ कहै कबीर सुनौ हो अवधू, मैं अभै **निरंतरि** पाया। → सब० ६३-८।

निरध—वि० [स०] बिलकुल अधा, महा अज्ञानी। ~ जाका गुरु भी अँधला, चेला खरा **निरंध**। → सा० गुरु० (१) १५-१।

निरअस्ति—वि० [स० निर्+अस्ति] जिसका अस्तित्व नही है, मिथ्या। ~कहैं कबीर जो सपने जागै, **निर-अस्ति** अस्ति न होय। → र० ८४-११।

निरकारा—वि० [स० निराकार] निर्गुण ब्रह्म। ~पाठ पुरांन वेद नही सुमृत, तहां वसै **निरकारा**। →पद ३०८-६।

निरखत—क्रि० [सं० निरीक्षण] साक्षा-

त्कार होने पर। ~ निज **निरखत** गत व्यौहारा।→सब० ८-२।

निरखत—क्रि० [स० निरीक्षण] देखते-देखते। ~ ड डा **निरखत** निसु दिन जाई, **निरखत** रहा नैन रत-नाई। →ज्ञान चौ० (१) ११।

निरखि—क्रि० [सं० नि +√ईक्ष] देखकर।~ ज्यो केहरि वपु **निरखि** कूपजल, प्रतिमा देखि पर्‍यो। → सब० ५-३, पद २२५-४।

निरगुन—सज्ञा पु० [स० निर्गुण] निरा-कार ब्रह्म। ~ आपु **निरगुन** सगुन होय के झूलिया गोविंद।→ हिंडोला (८) १-६।

निरजिव—वि० [स० निर्जीव] मिट्टी, पत्थर आदि के देवता, जड, निष्प्राण। ~ **निरजिव** आगे सरजिव थापै, लोचन कछू न सूझै।→सब० १८८-४, वसत (४) ८-२, पद २११-४।

निरजीउ—वि० दे० 'निरजिव'।

निरति—सज्ञा पु० [स० नृत्य] नृत्य, नाच।~पग विनु **निरति** करा विनु वाजा, जिभ्या हीना गावै।→ सव० ३७-५, सब० ४५-२, पद० ३३१-४।

निरदावै—वि० [सं० निर्+अ० दावा] अनधिकार, निष्काम। ~ जे नर **निरदावै** रहैं, ते गिनै इन्द्र कौ रक। →सा० विर्क० (३७) ६-२।

निरधार—वि० [स० निराधार] निरा-श्रय, आधार रहित, आलम्वनहीन। ~एक निस्प्रेही **निरधार** का, गाहक गोपीनाथ। → सा० भेष० (२४) २२-२, सा० पर० (५) २२-१।

निरन्तर—वि० [सं०] शाश्वत, देश-काल के व्यवधान से रहित। ~ हदे छाँडि वेहदि गया, हुवा **निरन्तर** वास।→सा० पर० (५) ५-१।

निरपख—वि० [स० निष्+ पक्ष] निष्पक्ष। ~पख छाडै **निरपख** रहै, सवद न दूखा जाइ। → सा० कुस० (३६) ३-२।

निरफल—वि० [स० निष्फल] निष्फल, व्यर्थ।~कवीर सगति साधु की, कदे न **निरफल** होइ। → सा० साधु० (२८) १-१।

निरवहई—क्रि० [स० निर्वाह] निर्वाह करते हैं। ~ अपने तुतुर और को कहई, एकै खेत दुनौ **निरवहई**। → ज्ञान चौ० (१) ६०।

निरवही—क्रि० [स० निर्वाह] निर्वाह किया।~जासो वात राम की कही, प्रीति न काहू सो **निरवही**। → र० १७-२।

निरवान—संज्ञा पु० [स० निर्वाण] मोक्ष। ~वुझ वुझ पडित पद **निरवान**, साझ परे कहवाँ वसे भान।→सव० १६५-१, सव० १५३-६।

निरवानु—सज्ञा पु० दे० 'निरवान'।

निरवाल्या—सज्ञा पु० [स० निवारण] निस्तार या छुटकारा पाना। ~ जे मन लागै एक सौं, तौ **निरवाल्या** जाइ।→ सा० निह० पति० (११) १२-१।

निरबैर—वि० [सं० निर्वैर] द्वेष रहित। ~ तव **निरबैर** भया सवहिन थैं,

कांम क्रोध गहिडारा। → सत्र० ११४-२ ।

निरबैरता—संज्ञा स्त्री० [स० निर्+ वैरता] शत्रुता का अभाव।→दया नरबै० (५१)।

निरबैरी—संज्ञा पु० [स० निर्वैर+ई०] वह जो किसी से शत्रुता न रखता हो। ~ **निरबैरी** निहकामता, साँई सेती नेह।→सा० साध सा० (२६) १-१।

निरभै—वि० [स० निर्भय] भय रहित, निडर। ~ **निरभै** होइ निसक भजु, केवल कहै कवीर। → सा० गुरु० (१) २३-२, सा० सुमि० (२) १०-१, सा० साधु म० (३०) ७-२, सव० १६३-२।

निरमया—क्रि० [स० निर्माण] निर्मित किया, रचा। ~ जाको जेता **निरमया**, ताको तेता होइ।→सा०वेसा० (३५) ८-१।

निरमल—वि० [स० निर्मल] अमल, स्वच्छ, निर्विकार, पवित्र।~**निरमल** नाव चुनै जस वोलै।→पद ३३४-२, सव० १६३-१, पद ३०५-२, सा० चित्त क० (४२) ३-१।

निरमोलिक—वि० [स० निर+मूल्य> मोल+इक (प्रत्य०)] अमूल्य, अमूल्य परम तत्व।~गुन अतीत **निरमोलिक** लीजै। →पद २४७-२, सा० उपज० (५०) ८-१, सत्र० ६६-८।

निरमोलिया—वि० दे० 'निरमोलिक'।

निरमोली—वि० [स० निर्मूल्य] अमूल्य, वहुमूल्य। दे० 'निरमोलिक'। ~ चिंतामणि क्यूं पाइए ठोली, मन दे राम लियौ **निरमोली**। → सव० २१-४।

निरवक—वि० [हि० निरा] निरा, मात्र, विना मेल का।~समुझि परी नहिं राम कहानी, **निरवक** दूध कि सरवक पानी।→र० ४५-३।

निरषौं—क्रि० [स० निरीक्षण] देखूं, अवलोकन करूँ।~नैनाँ अंतरि आव तूं, निस दिन **निरषौं** तोहि।→सा० विर० (३) ३३-१।

निराधार—१. वि० [स०] निरालम्ब। २ संज्ञा पु० [सं०] परमतत्व, ब्रह्म। ~ **निराधार** अधार लै जानी, राम नाम लै उचरी वानी। → र० ७४-४।

निरालप—वि० [स० निरालय] मलिन, दूषित।~ ऐसनि देह **निरालप** वौरे, मुए छुवे नहिं कोई हो। → कहरा (३) ६-१।

निरासल—क्रि० [हि० निराश] निराश हो गया।~फुल भल फुलल मलिनि भल गाथल, फुलवा विनसि गो भवँर **निरासल**।→पद २३६-४।

निरुआरा—संज्ञा पु० [हि०] निवारण, छुटकारा।~दम दम की कोई खवरि न जानै, करि न सकै **निरुआरा**। →सव० ६४-१४।

निरुवार—क्रि० [सं० निवारण] मिटाओ, निवारण करो। ~ व वा निग्रह से करु नेहू, करु **निरुवार** छांडु संदेहू। →ज्ञान चौं० (१) २१।

निबंध—वि० [सं० निर्वन्ध] वधन मुक्त।

~ वंध तैं निर्वंध कीया तोरि सव तंगी ।→पद ३२८-६ ।

निर्वान—संज्ञा पु० [स० निर्वाण] निर्वाण, मोक्ष । ~ कुल मरजादा खोय कैं, खोजिनि पद **निर्वान**।→र० ३५-७।

निवरति—सज्ञा स्त्री० [स० निवृत्ति] निवृत्ति ।~ **निवरति** कै निवहै नही, प्रवृत्ति परपँच माहि।→सा० माया० (१६) २७-२ ।

निवाज--सज्ञा स्त्री० [फा० नमाज़] नमाज़ । दे० 'निमाज' ।~दिल महिं कपट **निवाज** गुजारैं, क्या हज कावैं जाए ।→सव० २३-६, सा० साँच० (२२) ५-१, पद २२६-५ ।

निवाज—वि० [फा० नवाज़] कृपा करने वाला ।~ जिनहिं **निवाज** साज सव कीन्हे तिनहि विसारि और लगरी । →पद २४६-४ ।

निवाज—सज्ञा पु० [फा० नवाज़] कृपा, अनुग्रह ।~रक **निवाज** करैं राजेसुर, भूपति करैं भिखारी । → सव० २८-२ ।

निवाजा—सज्ञा स्त्री० दे० 'निमाज' ।

निवाजा—सज्ञा पु० [फा० नेवाज] वजाने वाला, करने वाला ।~कहु रे मुल्ला वाग **निवाजा** ।→सव० ७२-१ ।

निवारा—सज्ञा स्त्री० [फा० नवार] मोटे सूत की चौडी पट्टी जिससे पलंग वुने जाते हैं, नेवार । ~ काहू दीन्हा पाट पटवर काहू पलघ **निवारा** । → पद २१६-५ ।

निवारि—क्रि० [स० निवारण] निवारण करो, निकाल दो ।~ मारि करैं तौ पिउ नही, पीव तौ मानि **निवारि** । →सा० चिता० (१२) ४२-२ ।

निवारि—क्रि० [स० निवारण] छोड दो । ~ जीवन मरन विचारि करि, कूरे काँम **निवारि** ।→ सा० चिता० (१२) १४-१ ।

निवारी—क्रि० [स० निवारण] निपटाना । ~ कहैं कवीर सुनो हो सतो, भैंसे न्याव **निवारी** ।→पद ३००-८ ।

निवारैं—क्रि० [स० निवारण] दूर करे, अलग करे ।~गरव गुमाना सव दूरि **निवारैं** करनी कौ वल नाही । → पद ३१५-१३ ।

निसंक—वि० [स० नि शंक] सशय रहित । ~निरभैं होइ **निसंक** भजु, केवल कहै कवीर । → सा० गुरु० (१) २३-२ ।

निसक—वि० [स० नि शक] निर्भय, निडर । ~ होइ **निसक** मगन होइ नाचै, लोभ मोह भ्रम छाँडैं ।→सव० १३७-३ ।

निसंगा—वि० [स० नि संग] शुद्ध ।~ वेधीले चक्र भुजगा, भेटीले राइ **निसंगा** । →सव० १७१-६ ।

निस—संज्ञा स्त्री० [स० निशा] रात्रि, रात । दे० 'निसि' । ~ **निस** अँधियारी कारणैं, चौरासी लख चद । → सा० गुरु० (१) १८-१, सा० पर० (५) ३०-२, सा० विर० (३) २४-१, सव० ६१-२ ।

निसरिगो—क्रि० [हि० निकसना] निकल गया । ~ कहँहि कवीर जव सास **निसरिगो**, मदिल अनल जरी है गे । →कहरा (३) ११-८ ।

निसरै—क्रि० [स० निस्सरण] निकलता है। ~ कहीं कौन पिवै कही कौन गाजै, कहाँ थै पानी निसरै।→सव० ८१-३।

निसहि—सज्ञा स्त्री० [स० निशा] रात्रि। दे० 'निसि'।~आजि कि काल्हि कि निसहि मैं, मारगि माल्हताह।→ सा० काल० (४६) २-१।

निसांन—संज्ञा पु० [फा० निशान] डका। ~गुर परताप साध की सगति, हरि भजि चल्यौ निसांन वजाई।→सव० १२०-१०।

निसानी—सज्ञा स्त्री० [स० नि श्रेणी] सीढी। ~ वडी निसानी नांव रांम कौ, चढि गयौ कीर कवीरा।→ पद २१७-८।

निसानी—सज्ञा स्त्री० [फा० निशान] चिह्न। ~ मेर निसानी मीच की, कुसंगति ही है काल।→ सा० कुस० (२५) ५-१।

निसाने—सज्ञा पु० [फा० निशान] लक्ष्य। ~हालै करै निसाने घाऊ, जूझि परे तँह मनमथ राऊ।→ र० ८३-५।

निसानै—संज्ञा पु० [फा० निशान] एक प्रकार का अवनद्ध (चमडे से मढा हुआ) रणवाद्य, नगाडा। ~ गगन दमामाँ वाजिया, परा निसानै घाव। →सा० सूरा० (४५) ६-१।

निसाफ—सज्ञा पु० [अ० इन्साफ] न्याय। ~मोलना माते पढि मुसाफ, काजी माते दै निसाफ।→ वसन्त (४) १०-४।

निसासा—सज्ञा पु० [सं० नि + श्वास] निश्वास, लम्बी सांस। ~ उर्ध निसासा उपजि तरासा, हकराइन्हि परिवारा हो।→कहरा (३) ६-३।

निसि—सज्ञा स्त्री० [स० निशा] रात, रात्रि।~अह निसि हरि घ्यावै नही, क्यो पावै द्रुलभ जोग।→सा०सुमि० (२) २८-२।

निसु—सज्ञा स्त्री० [स० निशा] रात्रि। दे० 'निसि' ~निसु वासर नहिं होत विरहुली, पौन पानी नहिं मूल विरहुली।→विरहुली (७) २।

निस्चल—वि० [स० निश्चल] अटल, स्थिर, शान्त।~जहँवा धीर गभीर अति निस्चल, तहँ उठि मिलहु कवीरा। →पद २०७-८।

निस्चै—सज्ञा पु० [सं० निश्चय] निश्चय। ~ ई निस्चै इन्हके वड भारी, वाहि करें वर्णन अधिकारी। →र० ८-२।

निस्चै—सज्ञा पु० [स० निश्चय] असन्दिग्ध। ~ जाइ पाप सुख मिलै निधाना, निस्चै वचन कवीर कै माना।→र० ५८-५।

निस्तरई—क्रि० [स० निस्तरण] उद्धार होगा।~कथ न देइ मसखरी करई, कहु धौं कौनि भाँति निस्तरई। → र० ५६-२।

निस्तरिया—क्रि०[स०निस्तारण]निस्तार होता है, उद्धार होता है।~ जाको यहु जग घिन कर चालै, ता प्रसाद निस्तरिया।→सव० ३२-८।

निस्तार—सज्ञा पु० [स०] छुटकारा। ~ मागो काहि रक सभ देखौं, तुम

ही तै मेरो निस्तार। → सव० १४८-४।

निस्प्रेही—वि० [सं० निस्पृह] निष्काम। ~एक निस्प्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ। → सा० भेप० (२४) २२-२।

निहकरमी—वि० [सं० निष्कर्मिन्] अनासक्त। दे० 'निहकर्मी'। ~निहकरमी कै निंदा कीजै, करम करे ताही चित दीजै। →विप्र० (२) १३।

निहकर्मी—वि० [सं० निष्कर्मिन्] निष्काम, विरत। दे० 'निहकाम'। →निह० पति० (११)।

निहकामता—वि० [सं० निष्कामता] निष्काम होने का भाव।~ निरवैरी निहकांमता, सांई सेती नेह। → सा० साधसा० (२६) १-१।

निहकाम—वि० [सं० निष्काम] निष्काम, विना फल की इच्छा के, कामना रहित। दे० 'निहकर्मी'। ~ कहैं कवीर ते रांम के, जे सुमिरै निहकाम।→सा० कामी० (२०)७-२।

निहचल—वि० [सं० निश्चल] अक्षय, नष्ट न होने वाला, स्थिर, अटल, अचल। ~ निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर। → सा० गुरु० (१) ३०-१, सा० सूरा० (४५) २५-२, सव० ३४-६।

निहचै—संज्ञा पु० [सं० निश्चय] निश्चित रूप से, अवश्य। ~ निज तत नाउं निहचै नहिं जाना सब माया मैं खपसी।→पद ३१५-८,पद २०८-८।

निहफल—वि० [सं० निष्फल] व्यर्थ। ~ तोरउं न पाती पूजउं न देवा, राम भगति विनु निहफल सेवा।→ सव० १११-४।

निहसंक—वि० [सं० निःशंक] शंका रहित, निस्संदेह। ~ दावै दाझन होतु है, निरदावै निहसंक।→ सा० विर्क० (३७) ६-१।

निहार—क्रि० [हि० निहारना] ध्यानपूर्वक देखना, अनुभव करना। ~ लागै तौ भागै नहीं, सुख सिंधु निहार कवीर।→र० ६८-७।

निहाल—वि० [फा०] पूर्णकाम, सन्तुष्ट। ~पारब्रह्म नियरा रहै, पल मैं करै निहाल। → सा० क० वि० क० (१८) २-२।

निहुरि—क्रि० [देश०] झुककर। ~एक से पूजा जैनि विचारा, एक से निहुरि निमाज गुजारा। → र० १४-७, कहरा (३) १-१४।

निहोरा—संज्ञा पु० [सं० मनोहार] मनुहार, अनुनय, विनय, प्रार्थना। ~तव काहू का कवन निहोरा।→ सव० १६-२, सव० १६७-५।

निहोरा—संज्ञा पु० [सं० मनोहार] अनुग्रह, आसरा। ~ जउ कासी तनु तजहि कवीरा तौ रामहि कौन निहोरा।→पद २८५-२।

नींब—संज्ञा स्त्री० [सं० निम्ब] नीम का वृक्ष। दे० 'नीम'। ~अम्रित लै लै नींब सिचाई, कहै कवीर वाकी वानि न जाई।→पद २६६-५, सा० निगु० (५५) १२-१।

नींव—संज्ञा स्त्री० [सं० नेमि, प्रा० नेइ] घर वनाने मे गहरी नाली के रूप मे

खुदा हुआ गड्ढा, जिसके भीतर से दीवार की जुडाई आरम्भ होती है। ~ नींव बिहूना देहुरा, देह बिहूना देव। →सा० पर० (५) ४१-१।

नीकसी—संज्ञा स्त्री० [निष्क्रमण] निकल गई।~ सती जरन कौं नीकसी पिउ का सुमिरि सनेह। → सा० सूरा० (४५) ३६-१, ३७-१।

नीका—क्रि० वि० [स० न्यक्त] अच्छी तरह।~रामचरन नीका गहो, जनि जा जनम ठगाइ। → सा० माया० (१६) १-२।

नीझर—सज्ञा पु० [सं० निर्झर] झरना। ~ नैना नीझर लाइया, रहट बहे निस घाम। → सा० बिर० (३) २४-१, सब० ११२-६, पद ३४४-७।

नीडर—वि० [स० उप० नि + हि० डर] निर्भय, भय रहित। ~ ग्यांनी तौ नीडर भया, मांने नांही सक। → सा० कामी० (२०) २६-१।

नीदड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० निद्रा] नीद। ~ रैनि न आवै नीदड़ी, अगि न चढई मास। → सा० साध० सा० (२६) ४-२।

नीपजै—क्रि० [सं० निष्पद्यते] उत्पन्न होआ है, पैदा होता है, उपजता है। फलना, फूलना, विकसित होना। ~कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिखर गढमांहि।→ सा० पर० (५) ८-२, सा० कुस० (२५) ३-२, सब०१७-४।

नीम—सज्ञा पु० [स० निम्ब] एक वृक्ष विशेष। दे० 'नीव'। ~चन्दन होसी बाँवना, नीम न कहसी कोइ। → सा० साधु० (२८) १-२।

नीर—सज्ञा पु० [स०] जल। दे० 'नीरा'। ~ कहै कबीर सोई जन तेरा, खीर नीर का करै निवेरा। → पद ३३४-६।

नीरखै—क्रि० [स० निरीक्षण] देखता है। ~ सैयद सेख किताब नीरखै, पडित सास्त्र बिचारै।→पद २२८-६।

नीरा—सज्ञा पु० [स० नीर] जल। दे० 'नीर'। ~ थूल अस्थूल पवन नहि पावक, रवि ससि धरनि न नीरा। →सब १६६-२, पद २८४-५।

नील रँगाऊँ दंत—[मुहा०] कलकित होना, धिक्कार।~ जो हसि बोलौं और सौं, तो नील रँगाऊँ दंत।→ सा० निह० पति० (११) १-२।

नीलाज—वि० [सं० निर्लज्ज] लज्जाहीन।~झूठा कबहुँ न करिहै काज, हौं बरजौं तोहि सुनु नीलाज। → बसंत (४) १२-५।

नूर—सज्ञा पु० [फा०] कान्ति, तेज, ज्योति। ~ कांम परे ही जानिए, किसके मुख पर नूर।→सा० सूरा० (४५) १४-२, पद २८१-४।

नेक—क्रि० वि० [हि०] अच्छी तरह से। ~नेक निचोइ सुधा रस वाकौ कौन जुगति सौं पीजै।→सब० १७८-२।

नेकु—वि० [हि०] जरा भी, थोडा भी। ~अति भरमत भरम हिंडोलना नेकु नही ठहराय।→हिंडोला(८) २-६।

नेड़ा—वि० [स० निकट >नियर >नेरा >नेडा] निकट, पास, समीप। ~ गाहक राजा राम हैं, और न नेड़ा आइ।→सा० चिता० (१२)५८-२,

सा० कस्तू० ग्रि० (५३) ६-२।

नेपै—क्रि० [स० मापन] नापता है, हिसाब करता है।~गाउं कु ठाकुर खेत कु **नेपैं**, काइथ खरच न पारै। →सब० १०-५।

नेम—सज्ञा पु० [स० नियम] नियम, विधान।~बानिज एक सभन मिलि ठाना, **नेम** धरम सजम भगवाना। →र० ३६-३।

नेमी—वि० [स० नियम से] नियम पालन करने वाला। ~ **नेमी** देखा धरमी देखा, प्रात करैं असनाना। →पद २६७-३।

नेरी—वि० [स० निकट] निकट। दे० 'नेडा'।~ तेरी बारी जीयरा, **नेरी** आवै नित।→ सा० काल० (४६) ६-२।

नेरे—क्रि० वि० दे० 'नेडा'। → पद ३४०-५।

नेरैं—वि० दे० 'नेडा'।→पद २४४-२।

नेव—सज्ञा स्त्री० [सं० नेमि] दे० 'नीव'। →चाँचर (५) २-५।

नेवगी—संज्ञा पु० [स० नैयमिक] नेगी, हिसाव लेने वाले कर्मचारी।~ तेरे **नेवगी** खरे सयाने हो राम। → सब० १०-२।

नेह—संज्ञा पु० [सं० स्नेह] स्नेह, तृष्णा, आसक्ति। ~ मंदिर तौ हैं **नेह** का, मति कोइ पैंठे धाय।→ र० २२-८, सब० २१-३, पद ३०५-१५।:

नेहरा—सज्ञा पु० [स० स्नेह+हि० रा] प्रेम, मोह। ~ जारो जग का **नेहरा** मन बौरा हो।→चाँचर (५) २-१।

नैन—संज्ञा पु० [हि० नयन] नेत्र, आँखें। ~ मेरी जिभ्या बिस्नु **नैन** नाराइन हिरदै बसहि गोविंदा। → पद २३१-१।

नैं—क्रि० [स०√नी] झुक कर। ~ सांचा एक अलह को नाम, जाको **नैं नैं** करहु सलाम। →सब० ४०-५।

नैना—सज्ञा पु० [सं० नयन] नेत्रो से, आँखो से।~ मैं का जानौ राम को, **नैनां** कबहुँ न दीठ।→सा० जरणा० (८) १-२।

नैनूं—सज्ञा पु० दे० 'नैन'। → सव० १०-४।

नैहरौ—सज्ञा पु० [हि० नैहर] पितृगृह। ~सहज सुनि कौ **नैहरौ**, गगन मडल सिरिमौर।→पद ३४२-७।

नौतम—वि० [स० नवतम] नवीनतम, बिल्कुल नया। ~ तूं सतगुरु हउं **नौतम** चेला, कहै कबीर मिलु अत की वेला।→पद २६१-५।

नौबति—सज्ञा स्त्री० [फा० नौबत] राजाओ, बादशाहो, अमीरो के द्वार पर मगल और वैभव-सूचक शहनाई और नगाडे का वाद्य। ~ जिनके **नौबति** बाजती, मैंगल बंधते बारि। →सा० चिता० (१२) २-१, सब० १०५-१।

न्यारा—वि० [सं० निराकृत] पृथक्, अलग, भिन्न। ~ अमरलोक सचु पाइया, कबहुँ न **न्यारा** होइ। → सा० मन० (१३) १४-२, सब० ६६-१।

न्यारी—सज्ञा स्त्री० [स० निराकृत] पृथक्, भिन्न, विचित्र, अनोखी, विलक्षण। दे० 'न्यारा'। ~ अवधू कुदरति की गति **न्यारी**।→सव० २८-१, पद ३१४-१।

न्यारी—वि० [स० निर्निकट] दूर।~ कहै कवीर सुनौ भाई साधौ हमसूँ वाधिनी **न्यारी**।→पद ३१३-१०।

न्यारै—वि०दे० 'न्यारा'।→सव० ५८-२।

न्यारो—वि०दे० 'न्यारा'।→पद २६६-३।

न्यारो—वि० [स० निर्निकट, प्रा० निन्नियड, हि० निन्यार] विचित्र।~राम गुन **न्यारो** न्यारो न्यारो। →पद २५२-१।

न्यारौ—वि० दे० 'न्यारा'।

न्याव—संज्ञा पु० [स० न्याय] न्याय। ~ कहै कवीर सुनो हो सतो, भैंसे **न्याव** निवारी।→पद ३००-८।

न्हावन—क्रि० [स० स्नान] स्नान करना। ~ साँचा **न्हावन** गुरु की सेवा।→सव० १७७-२।

प

पंखा—सज्ञा पु० [स० पक्ष] पख।~ देव विन देहुरा पत्र विनु पूजा, विनु **पंखा** भवरा विलंविया। → सव० ११६-७।

पखी—संज्ञा पु० [स० पक्षी] पक्षी, चिडिया। दे० 'पखेरू'। ~ कवीर मन **पंखी** भया, उडिकै चढा अकासि। →सा० मन० (१३) २५-१।

पखेरू—सज्ञा पु० [स० पक्षालु] पक्षी। दे० 'पंखी'।~पसु **पखेरू** जतु जिव, तिनकी गाँठी किसा गरत्थ।→सा० वेसा० (३५) ६-२, सा० उप० (५०) ४-२।

पंगी—वि० [स० पंगु] लँगडा। दे० 'पगुल'। ~ चलत मनसा अचल कीन्ही माँहि मन **पंगी**। → पद ३२८-७।

पंगुल—वि० [स० पगु] लँगडा।~पाऊँ तैं **पंगुल** भया, सतगुरु मारा वान। →सा० गुरु० (१) १०-२।

पंगुला—वि० [स० पगु] लँगडा। दे० 'पंगुल'।~ **पंगुला** मेर सुमेर उलघै, त्रिभुवन मुकुता डोलै। → सव० २८-७, सा० सजी० (४७) ४-२।

पंचे वाइ—यौ० [स० पच वायु] पच प्राण। ~ पहिले खोजौ **पचे वाइ**, वाइ विंदु ले गगन समाइ।→ सव० ५४-३।

पंजर—सज्ञा पु० [स० पिञ्जर] पिंजडा। दे० 'पिंजर'। ~ चतुराई सूवै पढी, सोई पजर माँहि। → सा० चांण० (१७) १४-१।

पजर—संज्ञा पु० [सं०] ककाल, शरीर। ~कवीर पीर पिरावनी, **पंजर** पीर न जाइ।→सा०विर० (३) १३-१।

पडा—सज्ञा पु० [स० पण्डित] पुजारी। ~ **पडा** कै मूरति होइ वैठे, तीरथ हू मैं पानी।→पद २२७-४।

पडिआ—सज्ञा पु० [स० पण्डित] शास्त्रज्ञ। ~ **पडिआ** कवन कुमति तुम लागे। → सव० १६४-१, पद २५०-३।

पंथ—संज्ञा पु० [स० पथ] मार्ग। ~ रहिगी **पथ** थकित भौ पौना, दसो दिसा उजारि भौ गौना।→र० ४५-४, सा० चिता० (१२) १४-२, कहरा (३) २-१०।

पथा—सज्ञा पु० [स० पथ] मार्ग, रास्ता। दे० 'पथ'। ~ जिहि **पंथा** तोहि चालना, सोई पथ सँवारि। → सा० चिता० (१२) १४-२।

पथी—सज्ञा पु० [स० पथिन्] विभिन्न पथो या सम्प्रदायो के लोग।~राजा सँवरै तुरिया चढी, **पथी** सँवरै नाम लै बढी।→र० ६-४।

पथी—सज्ञा पु० [स० पथिन्] पथिक, यात्री, पथ पर चलने वाला। ~ विरहिनि ऊभी पथ सिरि, **पथी** बूझै धाइ। → सा० बिर० (३) ५-१, सा० निगु० (५५) १०-२, कहरा (३) २-१०।

पन—संज्ञा पु० [सं० पर्ण] पान। ~ चदन भागा गुन करै, जैसे चोली **पंन**।→ सा० विर्क० (३७) ३-१।

पँवारिन—क्रि० [स० प्रवारण] फेंका। ~हाड गोड लै घूर **पँवारिन**, आगि धुँवाँ नहिं खाई।→ पद ३१८-५।

पइहउ—क्रि० [स० प्राप्त] पाओगे।~ वहुरि न **पइहउ** ऐसो थाना, साधु सग तुम नहिं पहिचाना। → र० ४४-२।

पउढे—क्रि० [स० प्लवन] लेट गए, सो गए। ~ विजुली चमकै होइ अनद, तँह **पउढ़े** प्रभु वालगोविंद।→ सब० ४३-४।

पख—सज्ञा पु० [स० पक्ष] पक्ष।~**पख** छाड़ै निरपख रहै, सवद न दूखा जाइ। → सा० कुसव० (३६) ३-२, पद ३०५-११।

पखारै—क्रि० [सं० प्रक्षालन] धोना, स्वच्छ करना। ~ काम क्रोध मल भरि रहे, कहा देह **पखारै**।→ सव० ६५-४।

पखिआरी—[देश०] पीछे।~करि सिंगार बहै **पखिआरी**, सत की ठिठकी फिरै विचारी।→ सब० ४६-६।

पखुरी—सज्ञा स्त्री० [हि० पखुडी] पुष्प-दल, पखुडियाँ। ~ बारह **पखुरी** चौबिस पाता, घन बरोह लागे चहुँ पासा।→सब० १६६-३।

पगरी—सज्ञा स्त्री० [सं० पटक] पगडी, साफा, ऊष्णीष।~ सील धरम जप भगति न कीन्ही हौं अभिमान टेढ़ **पगरी**।→पद २४६-२।

पगां—सज्ञा पु० [स० पग] पैरो के। ~ और सबै सावन कै भुनगा, जगत **पगां** तलि पेलै।→सब० ६६-६।

पगु—सज्ञा पु० [स० पदक] पैर। ~ सहज कै पावडै **पगु** धरि लीजै। → सब० ३-२।

पचि—क्रि० [स० पचन] प्रयत्न करके, प्रयास करके। ~ कवीर पकरी टेक राम की, तुरुक रहे **पचि** हारी।→ सब० ७६-१२, सब० ११३-४।

पचि मुए—मुहा० [हि० पच मरना] थककर हार गए। ~ बहुत सयाँने **पचि मुए**, फल निरमल पै दूरि।→ सा० सूरा० (४५) १७-२।

पचूँ—संज्ञा स्त्री० [सं० पच] पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ। ~गुरुमुखि कलमा ग्यान मुखि छूरी, हुई हलाल **पचूँ** पूरी।→ सव० २४-३।

पछराखा—सज्ञा पु० [हि०] अनुकूल।

~ जाके देव वेद **पछराखा,** ताके होत अढाई हो। → कहरा (३) ४-४।

पछानैं—क्रि० [हि० पहचान] पहचानता है।~सो वउरा जो आपु न **पछानैं,** आपु पछानै त एकै जानै। → पद ३०६-६।

पछाड़ि लै—क्रि० [हि० पछाडना] पराजित कर दो। ~ यहु मन पटकि **पछाड़ि लै,** सव आपा मिटि जाइ। →सा० सजी० (४७) ४-१।

पछारिन—क्रि० [हि० पछाडना] मार डालते हैं।~ वरवस आनि कै गाय **पछारिन,** गला काटि जिव आपु लिआ।→पद २१०-२।

पछारी—क्रि० [हि० पछाडना] पछाड कर, परास्त कर।~नही वलिराजसे माँडी रारी, नहि हरिनाकुस वधल **पछारी**।→र० ७५-५।

पछिम—सज्ञा पु० [स० पश्चिम] पश्चिम दिशा। ~ इनकै काजी मुलाँ पीर पैकंवर, रोजा **पछिम** निवाजा। → पद ३२६-३।

पछेवरा—सज्ञा पु० [स० पक्षपट] चादर। ~ दिल मन्दिर मैं पैसि करि, तानि **पछेवरा** सोइ।→सा० वेसा० (३५) ३-२।

पछोड़े—क्रि० [स० प्रक्षालन] पछोरना, सूप मे रख कर फटककर साफ करना। ~ सवै **पछोड़े** थोथरे, एक विना विस्वास।→सा० वेसा० (३५) १६-२।

पटंतर—सज्ञा पु० [स० पट्ट+तल] तुलना, समता, वरावरी। ~ तास **पटतर** नाँ तुलै, हरिजन की पनिहारि। → सा० साधुम० (३०) ५-२।

पटतरे—सज्ञा पु० [स० पट्ट+तल] वरावरी, तुलना। दे० 'पटतर'।~ राम नाम कै **पटंतरे,** देवे कौं कुछ नाहिं।→सा० गुरु० (१) ४-१।

पटंवर—सज्ञा पु० [स० पाटम्वर] रेशमी वस्त्र। ~ काहू दीन्हा पाट **पटवर** काहू पलघ निवारा।→पद २१६-५।

पटकि—क्रि० [हि० पटकना] पटक कर। ~ यहु मन **पटकि** पछाडि लै, सव आपा मिटि जाइ। → सा० सजी० (४७) ४-१।

पटम—संज्ञा पु० [दे०] दिखावा, छद्म। ~ पिय के मन भावै नही, **पटम** किए क्या होइ।→ सा० भेप० (२४) २३-२।

पटरिया—सज्ञा स्त्री० [हि० पटरी] दे० 'पटिया'। काठ का तख्ता।~करम **पटरिया** वैठिकै को को न झूलै आनि। →हिंडोला (८) १-५।

पटवारी—संज्ञा पु० [स० पट्ट+हि० वारी] आय-व्यय का लेखा रखने वाला।~काग दुकाग कारगुन आगे, वैल करै **पटवारी**।→पद ३००-७।

पटिया—सज्ञा स्त्री० [स० पट्टिका] तख्ती, पाटी।~ मोकउ कहा पढवसि आल जाल, मेरी **पटिया** लिखि देहु स्री गोपाल। → सव० १५६-४, पद २२२-२।

पटै—सज्ञा पु० [स० पट्ट] अधिकार-पत्र। ~ ब्रह्म गियांनी अधिक धियांनी,

जम कै **पटै** लिखाया। → पद २२०-६।

पटोरा—सज्ञा पु० [स० पाटम्बर] रेशमी वस्त्र। दे० 'पटबर'। ~ कनक कामिनी घोर **पटोरा**, सपति बहुत रहै दिन थोरा।→र० २१-४, सा० विर० (३) ४१-१।

पट्टन—सज्ञा पु० [सं० पत्तन] नगर। ~ कबीर **पट्टन** कारिवाँ, पच चोर दस द्वार। → सा० चिता० (१२) ७-१, १-२, सा० साधुम० (३०) २-१।

पडंत—क्रि० [हि० पडना] पडते हैं, गिरते हैं। ~माया दीपक नर पतग, भ्रमि भ्रमि इवै **पडत**।→सा० गुरु० (१) २०-१।

पड़तां—क्रि० [हि० पडना] पडने पर, लगने पर।~ अनी सुहेली सेल की, **पड़तां** लेइ उसास।→ सा० कुसब० (३६) १-१।

पड़ै—क्रि० [हि० पडना] गिर पडती है। ~ बिरहिन ऊठै भी **पड़ै**, दरसन कारनि राम।→ सा० बिर० (३) ७-१।

पढ़नसाल—सज्ञा स्त्री० [हि० पाठशाला] पाठशाला। ~प्रहलाद पधारे **पढ़न-साल**, सगि सखा बहु लिए बाल। →सब० १५६-३।

पढ़िबा—क्रि० [राज०] पढने से।~मैं जान्यौं पढिबौ भलौ, **पढ़िबा** तै भल जोग। → सा० कथ० बि० क० (१६) १-१।

पढ़िया—वि० [हि०] शास्त्रज्ञ।~जाइ पूछौ गोविंद **पढ़िया** पंडिता, तेरा कौन गुरू कौन चेला। → सब० ११६-१।

पतग—वि० [देश०] कच्चा रग, अस्थायं। ~ कहै कबीर मेरे रग रांम राई, और **पतग** रग उडि जाई। → पद २५६-४।

पतग—संज्ञा पु० [स०] कीडे-मकोडे। ~ ढोर **पतग** सरे घरिआरा, तेहि पानी सब करै अचारा। → र० ७४-६।

पतग—सज्ञा पु० [सं०] पतिङ्गा, शलभ। दे० 'पतंगा'।~ दीपक जोति **पतंग** ज्यूं, पडता आप निदान। → सा० गुरु० (१) १६-२, २ -१, पद २२८-४।

पतंगा—सज्ञा पु० [स० पतग] पतग, शलभ। ~ जो चीन्हे तेहि निर्मल अगा, अनचीन्हे नर भए **पतंगा**। → र० ४-५, २०-२, २३-३, ६५-६।

पताल—सज्ञा पु० [स० पाताल] पृथ्वी के नीचे के सात लोको मे अतिम, पाताल। ~ सरग **पताल** भूमि लै बारी, एकै राम सकल रखवारी। → र० ५६-३।

पति—सज्ञा स्त्री० [हि०] प्रतिष्ठा, इज्जत।~घालि रसरिया जब जम खैंचै, तब का **पति** रहै तुम्हारी। → सब० १०४-६, पद २८८-२, कहरा (३) ७-५।

पति—संज्ञा पु० [स०] स्वामित्व, परि-ग्रह का भाव, सग्रह करने की लिप्सा। ~ छाँडहु **पति** छाँडहु लवराई, मन

अभिमान छूटि तव जाई । → र० ६०-१ ।

पतिअइअैं—क्रि० [स० प्रत्यय + हि० आना] विश्वास किया जाय ।~ कहे सुने कैसे **पतिअइअैं**, जव लग तहाँ आप नहि जइअैं । → सव० १०३-५ ।

पतिआई—क्रि० [हि० (१) पतिआना] विश्वास कर लिया । [(२) हि० पति + आई] पति मान लिया ।~ नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई **पतिआई** ।→पद ३१२-५, पद २३८-५ ।

पतिआय—क्रि० [हि० पतिआना] विश्वास करे ।~ मैं कासे कहौ को सुने **पतिआय**, फुलवा के छुअत भँवर मरि जाय ।→पद २३६-१ ।

पतिआरा—सज्ञा पु० [स० प्रत्यय] प्रतीति, विश्वास । ~ पच पहरुआ दर महि रहते, तिनका नही **पतिआरा** । → सव० ११-५ ।

पतित—वि० [सं०] पापपूर्ण, भ्रष्ट । ~अजामेल गज गनिका **पतित** करम कीन्हे ।→पद २७५-५ ।

पतिवरता—वि० [स० पतिव्रता] पतिव्रता नारी ।~पतिवरता नाँगी रहे, तौ उसहि पुरिस कौ लाज ।→ सा० निह० पति० (११) १७-२ ।

पतियानां—क्रि० [स० प्रत्यय से] निष्ठा हो गई, विश्वास हो गया । ~ कहै कवीर मैं जाना, मैं जाना मन **पतियांना** ।→पद ३३६-११ ।

पतियाइ—क्रि० [स० प्रत्यय] प्रतीति करना, विश्वास करना ।~ दीठा है तो कस कहूँ, कह्या न को **पतियाइ** । सा० जरणा० (८) २-१, सा० जी० मृ० (४१) १०-२ ।

पतियाई—क्रि० [स० प्रत्यय] विश्वास करेगा ।~भाई रे अद्भुत रूप अनूप कथा है, कहौ तो को **पतियाई** । → पद २०४-१, पद २६१-१ ।

पतियाना—क्रि० [स० प्रत्यय] विश्वास करता है । ~ साँच कहौ तो मारन धावै, झूठे जग **पतियाना** । → पद २६७-२ ।

पतियार—वि० [स० प्रत्यय + हि० आर] विश्वास करने वाला ।~हमरा कहल के नहि **पतियार**, आपु वूडे नर सलिल धार ।→वसत (४) १२-१ ।

पतियारा—क्रि० [स० प्रत्यय] आजमाइश की ।~ तीनि वेर **पतियारा** लीन्हा, मन कठोर अजहूँ न पतीना ।→सव० ४२-६ ।

पतियारा—सज्ञा पु० [स० प्रत्यय] विश्वास करने वाला ।~तीनि लोक भरपूर रहो है, नाहिन है **पतियारा** । →सव० १८८-८ ।

पतियाहु—क्रि० [सं० प्रत्यय] विश्वास करना । ~ झूठे जनि **पतियाहु** हो, सुनु सत सुजाना ।→सव० १३५-१ ।

पतीजें—क्रि० [हि० प्रतीति] विश्वास करने से । ~ लोक **पतीजें** कछू न होवै नाही राम अयाना । → सव० १७७-४ ।

पतीजैं—क्रि० [स० प्रतीति से] भरोसा करे ।~ पतियाना जौ न **पतीजैं**, तौ

अंधे कौं का कीजै ।→पद ३३६-१२।

पतीनां—क्रि० [स० प्रत्यय] प्रतीति किया, विश्वास किया ।~ तीनि बेर पतियारा लीन्हा, मन कठोर अजहूँ न **पतीना** ।→सब० ४२-६ ।

पद—सज्ञा पु० [स०] परम पद, दर्जा। ~कहै कवीर सुनो हो संतो, जहँ **पद** तहइ समाही ।→ सव० १७०-८ ।

पदुमिनि—सज्ञा स्त्री० [सं० पद्मिनी] चार प्रकार (पद्मिनी, हस्तिनी शखिणी, चित्रिणी) की स्त्रियो मे सर्वोत्तम । ~ प्रथमै **पदुमिनि** रूप आहि, है सापिनि जग खेदि खाहि । →वसंत (४) ५-३ ।

पनच—संज्ञा स्त्री० [सं० पतचिका] धनुष की डोरी । ~ पैली पार कै पारधी ताकी धनुही **पनच** नही रे। सवद १२१-५ ।

पनह—सज्ञा पु० [फा० पनाह] शरण। ~ दासु कवीर तेरी **पनह** समाना, भिस्ति नजीकि राखि रहिमाना ।→ सव० १४१-८ ।

पनिया—सज्ञा पु० [हि० पानी] जल । ~ **पनिया** अदर धरे न कोय, पौन गहै कसमलिन धोय ।→ वसन्त (४) १-३ ।

पनिहार—संज्ञा पु० [हि०] पानी भरने वाला ।~समुद कोटि जाके **पनिहार**, रोमावलि कोटि अठारह भार। → सव० १२८-८ ।

पनिहारि—सज्ञा स्त्री० [हि०] पानी भरने वाली ।~तास पटतर नाँ तुलै हरिजन की **पनिहारि** ।→सा० साधु म० (३०) ५-२ ।

पमाँवही—क्रि० [?] डीग मारते हैं। ~ कायर बहुत **पमाँवही**, वहकि न बोलै सूर । → सा० सूरा० (४५) १४-१ ।

पयप्या—क्रि० [देश०] उल्लसित किया । ~ पच मखी मिलि पवन **पयप्या**, वाडी पानी मेल्ही । →पद २५३-६ ।

पयंवर—सज्ञा पु० [फा० पैगम्वर] धर्म प्रवर्तक । दे० 'पैगम्वर' ।~या माया सुर नर मुनि डहके, पीर **पयंवर** कौं धरि खाई । →सव० १२०-७ ।

पयाँना—सज्ञा पु० [स० प्रयाण] गमन, यात्रा । ~ कोटिक भए कहाँ लगि वरनौं, सभनि **पयांना** दीन्हा रे ।→ सव० ८४-४ ।

पयाँना—क्रि० [स० प्रयाण] प्रयाण किया, प्रस्थान किया, चला गया । ~ उदया सूर निस किया **पयाँना**, सोवत थे जव जागा ।→सव० १३-६।

पयाना—क्रि० [स० प्रयाण] प्रयाण, यात्रा करना । ~ निकट **पयाना** जमपुर धावै, वोलै एकै वानी । → सव० १६१-८ ।

पयाना—क्रि० [सं० प्रयाण] गमन ।~ कँह लौं गनौ अनत कोटि लौ, सकल **पयाना** कीन्हा हो। →कहरा (३) ८-४ ।

पयाना—सज्ञा पु० [स० प्रयाण] प्रयाण (करना), गमन (करना) ।~ वूता पहिरि जम करै सुमाना, तीनि लोक मँह करै **पयाना** ।→र० १०-३ ।

पयाना—सज्ञा पु० [स० प्रयाण] यात्रा। ~ कवीर चित्त चमकिया, किया **पयाना** दूरि।→सा० साँच० (२२) ३-१।

पयारा—सज्ञा पु० [स० पलाल] पुवाल। ~ काहू गरी गूदरी नाही काहू सेज **पयारा**।→पद २१६-६।

परंपुरिख—संज्ञा पु० [स० परम पुरुप] परमात्मा।~दीपक ग्यान सवद धुनि घटा, **परंपुरिख** तहाँ देव अनता।→सव० ५६-५।

पर—सज्ञा पु० [फा०] पख।~ पीया चाहै तौ लै खग सारी, उडि न सकै दोऊ **पर** भारी।→पद ३११-३।

पर—सज्ञा पु० [स०] दूसरा, जडतत्व। आपा **पर** जव चीन्हिया, (तव) उलटि समाना माँहि।→सा० विचा० (३३) ३-२।

परखत—क्रि० [स० परीक्षण] देखने से। ~वढवत वढी घटावत छोटी, **परखत** खर परखावत खोटी।→र० ७६-१।

परखनहारा—वि० [स० परीक्षण>हि० परखना+हारा (प्रत्य०)] परखने वाला, मूल्य आँकने वाला।~**परखनहारा** वाहिरा, कौडी वदले जाइ। →सा० अपा० (४८) २-२।

परखि—क्रि० [स० परीक्षण] परीक्षा कर लो, परख लो। ~ **परखि** लेहु खरा खोट हो रमैया राम। →वेलि (६) १-३०।

परगट—वि० [स० प्रकट] प्रकट, व्यक्त। ~**परगट** कंया माहै जोगी, दिल मैं दरपन जोवै।→ सव० ३४-५, पद ३१६-६, सा० साधसा० (२६) १८-२।

परगाता—क्रि० [स० पर+गायन] गान करते हैं। ~ दुलहिन लीपि चौक वैठारे, निरभय पद **परगाता**।→ सव० ३६-४।

परगासा—सज्ञा पु० [स० प्रकाश] प्रकाशित, प्रकाशमान।~जीव रूप यक अन्तरवासा, अन्तर ज्योति कीन्ह **परगासा**।→र० १-१।

परगासा—वि० [सं० प्रकाश] प्रकाशित। ~ रज गति त्रिविध कीन्ह **परगासा**, कर्म धर्म वुधि केर विनासा। →र० २६-४।

परगासा—क्रि० [स० प्रकाश से] प्रकाशित हो गया। ~ घट की ज्योति जगत **परगासा**, माया सोक वुझाना। →पद ३०५-१६।

परगासु—सज्ञा पु० [स० प्रकाश] प्रकाश। दे० 'परगासा'।~ चेत सुचेत चित्त होइ रहु, तौ लै **परगासु** उजारा। →सव० ११-६।

परगासै—क्रि० [स० प्रकाश] प्रकाशित होती है। ~ मझा जोति रांम **परगासै**, गुर गमि वाँनि। → सव० १२-२।

परचा—सज्ञा पु० [स० परिचय] परिचय, साक्षात्कार। ~ पूरे सूं **परचा** भया, सव दुख मेल्या दूरि।→ सा० गुरु० (१) ३५-१, पद ३१५-१०।

परचाई—क्रि० [हि० परिचय] परिचय करता है। ~ ल ला तुतरे वात जनाई, तुतरे पाय तुतरे **परचाई**।→ ज्ञान चौं० (१) ५६।

परचै—संज्ञा पु० [स० परिचय] साक्षात्कार। दे० 'परचा'।~अपनै **परचै** लागी तारी, अपन पै आप समाना। → सब० १३-१७, पद २ ५-१२।

परचै—सज्ञा पु० [स० परिचय] परिचय, जान-पहचान। ~ बिनु **परचै** कस जानिहौ, झूठा है हकार। → र० ५७-५।

परजरै—क्रि० [सं० प्रज्वलन] प्रज्वलित हो जाता है।~ देखे ही तै **परजरै**, परसाँ ह्वै पैमाल।→सा० कामी न० (२०) १२-२, सब० ४७-४।

परजला—क्रि० [स० प्र + ज्वलन] प्रज्वलित हुआ, जल गया। ~कबीर दरिया **परजला**, दाझै जल-थल झोल।→सा० दया० निर० (५१) १-१।

परजली—क्रि० [सं० प्रज्वलित] प्रज्वलित हुई। ~ पानी माही **परजली**, भई अपरवल आगि।→ सा० ग्या० वि० (४) ६-१।

परजा—सज्ञा पु० [स० प्रजा] प्रजा। ~राजा मूवा **परजा** मूवा मूवा वैद औ रोगी।→पद २६३-४।

परजा—सज्ञा स्त्री० [स० प्रजा] साधारण जन।~अर्थ विहूना सँवरै नारी, **परजा** सँवरै पुहुमी झारी। → र० ६-५।

परजा—सज्ञा स्त्री० [स० प्रजा] शिष्य-शाखा। ~ वहु विधि **परजा** लोग तोर, तेहि कारन चित्त दीठ मोर।→वसंत (४) ११-४।

परजारि—क्रि० [स० प्रज्वलित] जला दिया। ~ मेरु दंड पर डंक दीन्ह, अष्ट कवँल **परजारि** दीन्ह।→वसत (४) २-२।

परजारी—क्रि० [स० प्रज्वलित] प्रज्वलित किया, जलाया।~यहु रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अगनि **परजारी** रे। → सब० ८७-३, पद २०१-३; पद ३०३-३, पद ३४४-५।

परतछै—वि० [स० प्रत्यक्ष] प्रत्यक्ष। ~ विद्या बेद पढै पुनि सोई, बचन कहत **परतछै** होई।→र० ५७-२।

परताप—सज्ञा पु० [सं० प्रताप] ऐश्वर्य, प्रभुत्व।~नरकै सगि सुवा हरि बोलै हरि **परताप** न जानै। →सब० १६८-५।

परति—सज्ञा स्त्री० [हि० पर्त] पर्त, तह। ~हरत इहाँ ही हारिया, **परति** पडी मुखि धूलि।→सा० चिता० (१२) ३२-२।

परतीत—संज्ञा स्त्री० [स० प्रतीति] प्रतीति, विश्वास। दे० 'परतीति'। ~ नहि **परतीत** जो यहि ससारा, दरव की चोट कठिन कै मारा। → र० १३-१, पद २७२-७, सा० कस्तू० म्रि० (५३) ४-२, र० ४७-५।

परतीति—सज्ञा स्त्री० [स० प्रतीति] ज्ञान, जानकारी, विश्वास। दे० 'परतीत'।~मन **परतीति** न ऊपजै, जीव वेसास न होइ।→सा० चिता० (१२) ५५-२, सा० निह० प० (११) १६-१, सा० विचा० (३३) ६-२, सब० ५०-६, सब० १५६-१।

परतीति—सज्ञा स्त्री० [स० प्रतीति]

निश्चय। ~ कहत कवीर सुनो रे लोई, अव तुम्हरी परतीति न होई। →पद ३५०-५।

परतीतैं—सज्ञा स्त्री० [स० प्रतीति] श्रद्धा, विश्वास। दे० 'परतीत'।~ विनु परतीतैं पाती तोरैं, ग्यान विना देवलि सिर फोरैं।→सव० ६०-३।

परदा—संज्ञा पु० [फा०] आवरण। ~कवीर यहु तौ एक है, परदा दीया भेप।→ सा० भेप० (२४) १८-१, पद ३०५-१०, पद ३३२-५, र० ८२-६।

परदास—सज्ञा पु० [स० प्रदास] दासानुदास।~कवीर चेरा सत का, दासनि का परदास। → सा० जी० मृ० (४१) १३-१।

परदे—पु० [फा०] दे० 'परदा'।

परधा—वि० [स० अपरार्ध] आधा, अर्ध। ~आधा परधा ऊवरैं, चेति सकै तौ चेति।→सा०चिता०(१२) १५-२।

परनऊँ—क्रि० [स० परिणय] विवाह किया, परिणय किया। ~ विनर जानि परनऊँ परसोतम, कहि कवीर रगि राता।→सव० ११२-६।

परनौं—वि० [स०परिणीता] विवाहिता। ~ना हूँ परनौं ना हूँ क्वारी, पूत जनमावनहारी। →सव० २६-३।

परपँच—सज्ञा पु० [स० प्रपच] जजाल, झमेला।~ निवरति कै निवहै नही, प्रवृत्ति परपँच माहि।→सा० माया० (१६) २७-२, पद ३२४-१।

परपंच—सज्ञा पु० [सं० प्रपञ्च] माया। ~च रच्यौ है, मोर नाम कहि लीन्हा।→ पद २६०-५।

परपंची—सज्ञा पु० [स० प्रपंची] पापण्डी।~राजा देस वडो परपंची, रइयत रहत उजारी। → सव० १५६-४।

परपाजा—संज्ञा पु० [हि०] पितामह का पिता। ~ दादा वावा औ परपाजा, जिन्ह के ई भुंई भांडे हो।→ कहरा (३) ५-३।

परवत—सज्ञा पु० [स० पर्वत] पर्वत, पहाड। ~ परवत परवत मैं फिरा, नैंन गंवाये रोइ।→सा० विर०(३) ४०-१, सव० १६५-२।

परवोधि—क्रि० [स० प्रवोधन] उपदेश देकर। ~ जग परवोधि होत नर खाली, करते उदर उपाया। → पद ३४१-३।

परभाति—सज्ञा पु० [सं० प्रभात] प्रात काल।~चकई विछुरी रैंनि की, आइ मिली परभाति।→सा०विर० (३) ३-१, सा० काल० (४६) १४-२।

परमान—सज्ञा पु० [स० प्रमाण] प्रमाण। ~ कहिवे की सोभा नही, देखे ही परमान।→सा० परचा०(५) ३-२, सव० १५२-६।

परमाना—सज्ञा पु० [स० प्रमाण] प्रमाण। दे० 'परमान'। ~ विवि अक्षर का कीन्ह वधाना, अनहद सव्द जोति परमाना। →र० ५-३, र० ८-३।

परमारथ—सज्ञा पु० [सं० परमार्थ] मोक्ष।~जहाँ वारह मास वसंत होय परमारथ ... (४) १-१

परमिति—संज्ञा स्त्री० [सं० पर+मिति] सीमा ।~जोजन एक **परमिति** नहिं जानैं, बातनि ही बैकुण्ठ बखानैं ।→ सब० १०३-३ ।

परमेसुर—सज्ञा पु० [सं० परमेश्वर] परमेश्वर ।~ घरि **परमेसुर** पाहुना, सुनौ सनेही दास ।→सा० निह० प० (११) १८-१ ।

परमोध—सज्ञा पु० [स० प्रबोध] उपदेश ।~ ग्यांन अकूर न ऊगई, भावै निज **परमोध** ।→सा० कामी०(२०) २०-२ ।

परमोधता—क्रि० [सं०प्रबोधन] जगाता है, उपदेश देता है ।~औंरा कौं **परमोधता**, गया मुहरकाँ माँहि ।→सा० चाँण० (१७) १३-२ ।

परमोधिए—क्रि० [स० प्रबोधन] अर्थ निकाल लें, समझ लें ।~ भावै त्यौं **परमोधिए**, ज्यूं बंसि बजाई फूक ।→ सा० गुरु० (१) २१-२ ।

परमोधै—क्रि० [स० प्रबोधन] उपदेश देता है ।~ फिरि **परमोधै** आंन कौं, आपन समझै नांहि ।→सा० चाँण० (१७) १४-२ ।

परलय—सज्ञा पु० दे० 'परलै' ।

परले—संज्ञा पु० दे० 'परलै' ।

परलै—पु० [सज्ञा प्रलय] प्रलय, विनाश । ~ दुसर सयान को मरम न जाना, उतपति **परलै** रैनि बिहाना ।→र० ३६-२, सब० ६०-७, र० ५८-३, ७, र० ४६-४, सा० चिता० (१२) ३८-२, पद ३१३-६ ।

परलौं—क्रि० [हि० पडना] पड़ी । ~ सासु ननद पटिया मिलि बँधलौं, भसुरहिं **परलौं** गारी । → पद २२२-२ ।

परवान—सज्ञा पु० [सं० प्रमाण] प्रमाण, निश्चय ।~धीरैं धीरैं पाव दे, पहुँचैंगे **परवान** । → सा० नर० (८) ४-२ ।

परषिये—क्रि० [स० परीक्षा] परख होती है ।~सूरा तबही **परषिये**, लडै धनी के हेत ।→सा० सूरा० (४५) ६-१ ।

परसंग—संज्ञा पु० [स० प्रसग] प्रसंग, रहस्य की बात । ~ सतगुर हम सूं रीझि करि, कहा एक **परसंग** । → सा० गुरु० (१) ३३-१ ।

परस—सज्ञा पु० [स० स्पर्श] स्पर्श, सामीप्य ।~ दरस **परस** तैं दुरमति नासी, दीन रटनि लौ आई ।→ पद २६५-३ ।

परसत—क्रि० [स० स्पर्शन] स्पर्श करता है । ~ सदा सरबदा सगि रहै जल **परसत** नाही ।→पद ३४५-२ ।

परसां—क्रि० [स० स्पर्श] स्पर्श करने से । ~ देखे ही तैं परजरै, **परसां** ह्वै पैमाल । →सा० कामी० (२०) १२-२ ।

परसाद—सज्ञा पु० [स० प्रसाद] अनुग्रह, कृपा । ~ सतगुर के **परसाद** तैं, सहज शील मत सार ।→सा० सब० (४०) २-२ ।

परसादा—सज्ञा पु० [सं० प्रसाद] अनुग्रह, कृपा । दे० 'परसाद' । ~कहै कबीर मैं पूरा पाया, भया राम **परसादा** । →सब० १५-८ ।

परसादि—सज्ञा पु० [स० प्रसाद] अनुग्रह, कृपा । ~ गुर **परसादि** अकिलि भई अवरै नातरु था वेगाना । → पद २१६-२, सव० ३०-८, सा० मधि० (३१) ६-१ ।

परसैं—क्रि० [सं० स्पर्श] स्पर्श करे । ~ लोह हिरन्य होय धौं कैसे, जो नहि पारस **परसैं** ।→पद २७२-५ ।

परसोतम—सज्ञा पु० [स० पुरुषोत्तम] परमेश्वर, ब्रह्म । ~ अपरपार पार **परसोतम**, वा मूरति की वलिहारी । →सव० ३७-८ ।

परांन—सज्ञा पु० [स० प्राण] प्राण । ~ वेगि मिलौ तुम आइ करि, नहिं तर तजौं **परान** । → सा० सुन्दरि० (५२) १-२, पद २२६-४ ।

पराई—क्रि० [सं० पलायन] भाग जाती है, भाग जाना ।~खूंटा गाडि डोरि द्दढ वाधे, तइयो तोरि **पराई** ।→पद २०६-४, ज्ञान चौ० (१) ६६ ।

पराना—सज्ञा पु० [स० प्राण] प्राण, जीवन । दे० 'पराना'। ~ढ ढा ढूढ़त ही कत आना, हीडत ढूढत जाहि **पराना** ।→ज्ञान चौं० (१) ३१ ।

पराया—वि० [स० पर] दूसरे का । ~ मन रे कागद कीन **पराया** ।→ पद २१७-१ ।

परिजरैं—क्रि० [स० प्रज्वलित] प्रज्वलित करना, जलाना । ~ जौं कछु जुक्ति जानि **परिजरैं**, घटही जोति उजियारी करैं ।→ ज्ञान चौ० (१) १८ ।

परिमल—सज्ञा पु० [स०] सुगध, सुवास ।~जस खर चंदन लादे भारा; **परिमल** वास न जान गँवारा ।→र० ३२-२, सव० ११६-६, वसत (४) २-४ ।

परिया—सज्ञा स्त्री० [हि०] मिट्टी का छोटा वर्तन । ~ घूरि घूरि वरखा वरसावै, **परिया** वूंद न पानी । → पद १९९-२ ।

परिहरि—क्रि० [स० परिहरण] छोड कर ।~लपसी लौंग गनै एक सारा, **परिहरि** खांड मुख फांकै छारा । → र० ७१-६, सव० १८७-७, पद २६२-५, वेलि० (६) २-८ ।

परिहरिया—क्रि० [सं० परिहरण] छोड देता है । ~ निझरुहि नीरु जानि **परिहरिया**, करम क वांधल लालच करिया । → र० २९-२ ।

परिहरी—क्रि० [स० परिहरण] त्याग दिया ।~ मन की दुविधा मन **परिहरी** ।→ सव० ५०-२ ।

परिहरु—क्रि० [स० परिहरण] छोडो । ~ **परिहरु** लोभ अरु लोकाचारु, **परिहरु** काम, क्रोध, हकारु । →सव० १०१-४ ।

परिहरैं—क्रि० [स० परिहरण] त्यागना, छोडना । ~ताहि न कवहू **परिहरैं**, पलक न छांडै पास।→सा० सुन्दरि० (५२) ३-२ ।

परी—क्रि० [हि० पडना] पीछे पड गई । ~ राजठगौरी विस्नुहि **परी**, चौदह भुवन केर चौधरी ।→र० ११-३ ।

परोजन—सज्ञा पु० [स० प्रयोजन] स्वार्थ, प्रयोजन । ~ ग्रहन अमावस सायर

दूजा, साती पाठ **परोजन** पूजा ।→ विप्र० (२) ४ ।

परोसनि—संज्ञा पु० [हि० पडोसी] पडोसी । दे० 'परोसी'।~तौ का **परोसनि** कै हुलराए।→सव० १३०-२।

परोसी—संज्ञा पु० [सं० प्रतिवेशिन्] पडोसी ।~**पारोसी** सो रूठना, तिल-तिल सुख की हानि ।→सा० चाँण० (१७) १२-१ ।

परौं—क्रि० वि० [सं० परश्व] (परसो आने वाला) । ~ कालिह **परौं** भुइ लोटना, ऊपरि जमिहै घास।→सा० चिता० (१२) १०-२ ।

पर्चा—संज्ञा पु० [सं० परिचय] परिचय, साक्षात्कार।~साहिव सौं **पर्चा** नही, पहुँचेंगे किस ठौर । → सा० सूपि० मा० (१४) ४-२ ।

पलंघ—संज्ञा पु० [सं० पल्यङ्क, हि० पलग] पलग । ~ काहू दीन्हा पाट पटवर काहू **पलंघ** निवारा । → पद २१६-५ ।

पल—संज्ञा पु० [सं०] समय का एक पुराना मापक जो लगभग २४ सेकड के वरावर होता है । ~ कवीर **पल** की सुधि नही, करै कालिह का साज। →सा० काल० (४६) ६-१ ।

पलक—संज्ञा० पु० [सं० पल] क्षण । ~ अलख जो लागी **पलक** मे, पलकहि मंह डसि जाय । र० २६-७, पद २६६-४, सा० सुन्दरि० (५२) ३-२ ।

पलटाई—क्रि० [हि० पलटना] वदल दिया ।~ चद चकोर की ऐसी वात जनाई, मानुस वुद्धि दीन्ह **पलटाई** । →र० २४-१ ।

पलटाया—क्रि० [हि० पलटाना] वहकाया, उलट फेर किया । ~ काया कचन जतन कराया, वहुत भाँति कै मन **पलटाया** ।→र० ६४-१ ।

पलटे—क्रि० [सं० प्रलोठन] वदल गए । ~**पलटे** केस नैन जल छाया, मूरिख चेत वुढापा आया । → सव० ११७-४ ।

पलथि—संज्ञा स्त्री० [सं० पर्य्यस्त, प्रा० पल्लत्थ] वह आसन जिसमे दाहिने पैर का पजा वाएँ और वाएँ पैर का पंजा दाहिने पुट्ठे के नीचे दवा कर वैठते हैं, पालथी । ~ खुर खुर खुर खुर चलै नारि, वैठि जोलाहिन **पलथि** मारि ।→वसन्त (४) ३-४ ।

पलांन—संज्ञा पु० [सं० पल्याण] गद्दी । ~ सहज **पलान** चित कै चावुक लौ की लगाम लगाऊँ जी । → पद ३०७-३ ।

पला पकडै—[मुहा०] दामन पकडना । ~ उस चगे दीवान मैं, **पला न पकडै** कोइ ।→सा० साँच० (२२) २-२ ।

पलास—संज्ञा पु० [सं० पलाश] ढाक । ~ जिनि कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक **पलास** ।→ सा० साधुम० (३०) ८-२, सा० साधु० (२८) ७-१ ।

पलीता—संज्ञा पु० [फा० फतील] रेशो को वटकर वनाई गई वत्ती जिससे वदूक या तोप के भीतर आग लगाई जाती है । ~ काम क्रोध दोउ भया

पलीता तहाँ जोगनी जागी → सव० २६-४, सव० ६३-७, पद २१६-८।

पलुहावन—सज्ञा पु० [स० पल्लवन] पल्लवित होना। ~ जन जो चोरी भिच्छा खाही, सो विरवा **पलुहावन** जाही।→र० ६०-२।

पलेटी—वि० [हि० लपेटना] लिपटी हुई।~कहु वौ किहि विधि राखिए, रुई **पलेटी** आगि। → सा० माया० (१६) ३२-२।

पलेटे—वि० [हि० 'लपेटना' से वर्ण-विपर्यय होकर] लपेटी हुई।~कवीर कहा गरवियो, चाँम **पलेटे** हाड। → सा० चिता० (१२) ११-१।

पल्लौ—सज्ञा पु० [स० पल्लव] विस्तार। ~ रैनि दिवस न चद सूरज तहाँ तत्त-**पल्लौ** नाहिं।→ हिंडोला (८) १-१४।

पल्लौ—संज्ञा पु० [स० पल्लव] पत्ता। ~ आदि अत नहिं होत विरहुली, नहिं जर **पल्लौ** पेड विरहुली। → विरहुली (७) १।

पल्लौ—संज्ञा पु० [स० पल्लव] अंगुली। ~ कर **पल्लौ** के वल खेलै नारि, पडित होय सो लेय विचारि। → वसत (४) ८-१।

पवन—सज्ञा पु० [स०] प्राणायाम। ~ आमन **पवन** दूरि करि रउरा। →सव० ४१-१।

पवन—सज्ञा पु० [स०] वायु, प्राण। ~ माटिक तन माटी मिलै, **पवनहिं** **पवन** समाय।→ र० ६१-६, सव० १६१-२, पद २८६-४, सा० विचा० (३३) ४-१।

पवन—सज्ञा पु० [स०] प्राण वायु। ~सोरह मझै **पवन** झकोरै, आकासै फरु फरिया। →सव० ११६-६।

पवन कै सरीरा—[यौ०] पवन का शरीर, वह शरीर जिसमे पवन है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर। ~ माटी कै देह **पवन कै सरीरा**, तेहि ठग सौं जनि डरै कवीरा।→पद २४३-७।

पवना—सज्ञा पु० [स० पवन] प्राण। दे० 'पवन'। ~मन **पवना** की गमि नही, तहाँ पहूँचे जाइ।→ सा० सू० मा० ८-२।

पष—सज्ञा पु० [स० पक्ष] पक्ष। ~ **पष** ले वूडी पिरथवी, झूठी कुल की लार।→सा० भेप० (२४) २१-१।

पषां—संज्ञा पु० [स० पक्ष] पक्ष, १५ दिन।~उरध पाव अरध सीस, वीस **पषां** इम रखियौ। → सा० वेसा० (३५) १-३।

पषांन—संज्ञा पु० [स० पापाण] पत्थर। दे० 'पाहन'।~फाटा फटिक **पषांन** ज्यौं, मिला न दूजी वार। → सा० विर्क० (३०) १-२, पद २६२-१३।

पषानक—सज्ञा पु० [स० पाषाण] पत्थर का।~माटिक कोट **पषानक** ताला, सोई वन सोई रखवाला। → र० १२-१।

पसर—सज्ञा पु० [स० प्रसार] इद्रियो की विषयो की ओर जाने की प्रवृत्ति। ~ इन्द्री **पसर** मिटाइये, सहजि

मिलैंगा सोइ ।→सा० मन० (१३) २-२ ।

पसरती—वि० [स० प्रसरण] विषयो की ओर फैलती हुई ।~पाँचौ राखै **पसरती** सहज कहीजै सोइ ।→ सा० सहज० (२१) २-२ ।

पसर्‌यौ—क्रि० [स० प्रसरित] फैल गया । ~ गुर गारडू मिल्यौ नहिं कवहूँ **पसर्‌यौ** विख विकरारा । → पद २२३-६ ।

पसाउ—संज्ञा पु० [स० प्रसाद] अनुग्रह, कृपा । दे० 'परसाद' 'परसादा'। ~ सो वैकुंठ कहौ धौं कैसा करि **पसाउ** मोहि दइहौ ।→पद २६४-२ ।

पसार—सज्ञा पु० [स० प्रसार] प्रसार, कामधन्धा । ~ छाडि **पसार** राम भजु वउरे कहै कवीर समझाई ।→ पद २७१-१० ।

पसार—सज्ञा पु० [स० प्रसार] फैलाव (फैलाकर),विस्तार ।~ आदि अत उतपति प्रलय, देखहु दिष्टि **पसार** । →र० ५८-७, र० २७-८ ।

पसारा—क्रि [स० प्रसार] फैला दिया । ~ सकल ब्रह्म मँह हस कबीरा, कागा चोच **पसारा** ।→सव ६४-३ ।

पसारा—क्रि० [स० प्रसार] फैलाया । ~ करम फाँस जम जाल **पसारा**, जस धीमर मछरी गहि मारा । → पद २२१-४

पसारा—क्रि० [स० प्रसार] फैलाया है । ~एकै नारी जाल **पसारा**, जग महँ भया अदेसा ।→पद २६१-४ ।

पसारि—क्रि० [स० प्रसार] फैलाकर । ~मांसु **पसारि** गीध रखवारी ।→ सव० ८६-२, सव० १६३-६ ।

पसारिनि—क्रि० [सं० प्रसार] फैलाया, वढाया । दे० 'पसारिन्हि' ।~आपन आपन झगरा **पसारिनि**, पिया सो प्रीति नसानी हो । → कहरा (३) २-७ ।

पसारिन्हि—क्रि० [स० प्रसार] फैलाया । दे० 'पसारिनि' ।~अस जोलहा का मरम न जाना, जिन जग आय **पसा-रिन्हि** ताना ।→ र० २८-१ ।

पसारै—क्रि० [सं० प्रसार] फैलाता है । ~ जोरि जेवरी खेत **पसारै**, सव मिलि मोकौं मारै हो राम ।→सव० १०-६ ।

पसु—सज्ञा पु० [सं० पशु] पशु, जान-वर ।~ वाँध्यो वारि खटीक कै, ता **पसु** केतिक आय । → सा० काल० (४६) २७-२, सा० उप० (५०) ४-२, पद २२८-४ ।

पसुवा—सज्ञा पु० [स० पशु] पशु, जीव । ~ जव लग ऊँच नीच करि जाना, ते **पसुवा** भूले भ्रम नाना । →सव० ७-५ ।

पसू—सज्ञा पु० दे० 'पसु' ।

पहजन—क्रि० वि० [प्रा० प्रवज्जण] मानने को, अनुमानत । ~ गजै न मिनिऐ तौलि न तुलिऐ **पहजन** सेर अढाई ।→पद २७१-५ ।

पहरिया—सज्ञा पु० [स० प्रहरी] रक्षक, पहरेदार ।~ मूसा खेवट नाव विल-इया, सोवै दादुर सर्प **पहरिया** । → सव० ८६-४ ।

पहरैं—सज्ञा पु० [हि० पहरा] रखवाली ।~ कोइ एक राखै सावधान, चेतनि पहरैं जागि ।→ सा० उप० (३४) १०-१ ।

पहरैं—संज्ञा पु० [हि० पहरा] पहरे पर । ~ चोरन को डर बहुत कहत हैं, उठि उठि पहरैं लागि रे । → सब० ११८-२ ।

पहिं—अव्य० [हि०] निकट, पास । ~का सुनहा कौं सुम्रित सुनाएँ, का साकत पहिं हरि गुन गाएँ । → पद २६९-३ ।

पहिराउं—क्रि० [हि० पहनना] पहन लूं । ~ फारि पटोरा धज करूं, कामलिया पहिराउँ ।→ सा० विर० (३) ४१-२ ।

पहुप—सज्ञा पु० [सं० पुष्प] पुष्प, फूल । ~ पहुप विना एक तरवर फलिया, विन कर तूर बजाया । → सब० १३-९ ।

पहूँती—क्रि० [हि० पहुची] पहुँच गई । ~ वेलडिया द्वै अनी पहूँती, गगन पहूँती सैली ।→पद २५३-३ ।

पहूँते—क्रि० [हि० पहुँचना] पहुँचे । ~अघटि चले सो नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे ।→सब० २५-३ ।

पांइ—सज्ञा पु० [स० पाद] पैर, पांव । ~ आगि कहे दाझै नही, जे नहिं चपै पांइ।→सा० विचार०(३३) २-१ । सा० अपारि० (४८) १-१, पद ३२८-३ ।

पांऊँ—संज्ञा पु० [स० पाद] पैर । दे० 'पांइ' । ~ हंस उडाने ताल सुखाने, पहले त्रिधा पाँऊँ ।→पद ३२३-५, पद २११-५ ।

पाँचौ—सज्ञा स्त्री० [सं० पंच] पच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, रसना,त्वचा ।~पाँचौ राखै पमरती, सहज कहीजै सोइ । →सा० सहज० (२१) २-२ ।

पाडर—सज्ञा पु० [सं०] कुद का पुष्प । ~ पाडर पिजर मन भँवर, अरथ अनूपम बास ।→सा० वेसास०(३५) १६-१ ।

पांत—सज्ञा स्त्री० [सं० पक्ति] पक्ति । ~नित्त अमावस नित संक्रान्त, नित नित नवग्रह बैठे पांत । → सब० १६५-४ ।

पांन—सज्ञा स्त्री० [दे०] मांडी । ~ उरझ्यो सूत पाँन नहिं लागै, कूच फिरै सब लाई ।→सब० १५४-३ ।

पांवड़ै—सज्ञा पु० [हि०] घोडे की काठी का पायदान जिसमे पाँव रखकर चढते है, रिकाव । ~ सहज कै पाँवड़ै पगु धरि लीजै ।→सब० ३-२ ।

पावरी—सज्ञा स्त्री० [हि० पाव + री (प्रत्य०)] खडाऊँ । ~ सतजुग मैं हम पहिरि पावरी, त्रेता झोरी डजा । →सब० ६३-५ ।

पासि—सज्ञा स्त्री० [स० पाशु] धूलि, रज ।~ पासि विनठा कप्पडा, क्या करै विचारी चोल । → सा० गुरु० (१) २४-२, सा० विर्क० (३०) ४-२ ।

पाइ—संज्ञा पु० दे० 'पांइ' ।

पाइ—सज्ञा पु० [स० पाद] पैर मे। पाइ कुहाडा मारिया, गाफिल अपनैं हाथि। → सा० चिता० (१२) ४३-२।

पाइक—सज्ञा पु० [सं० पावक] अग्नि। ~पाइक पच पुहमि जाकै प्रकटै, सो क्यूँ कहिए दूरा।→सब० ८१-६।

पाइल—सज्ञा स्त्री० [हि० प.यल] नूपुर।~ का चूरा पाइल झमकाए, कहा भयो बिछुवा ठमकाए। →सब० १३०-३।

पाइसि—क्रि० [हि०] पाएगा, प्राप्ति होगी।~द्वादस दल अभिअतरि म्यत, तहाँ प्रभू पाइसि करिलै च्यंत। → सब० १४०-१२।

पाई—सज्ञा पु० [फा० पाई] पायँता या, पंताना। ~ सुरही तिन चरि अमृत सरबै, लेर भवंगहि पाई। → पद २६८-५।

पाई—क्रि० [हि० पाना] उपलब्ध होना। ~जग मैं देखौं जग न देखै मोहि इहि कबीर किछु पाई हो।→पद२३७-६।

पाई—सज्ञा स्त्री० [दे०] पतली छड़ियाँ या बेंत का ढाँचा, जिस पर ताने के सूत को फैलाकर खूब मांजते हैं। ~पाई करि जब भरना लीन्हो, बै बाँधन को रामा। →सब० १२७-८, बसत० (४) ३-२।

पाउ—सज्ञा पु० दे० 'पाँऊँ'।

पाऊँ—सज्ञा पु० [स० पाद] पैर। दे० 'पाँइ'। ~ दिन दिन जरै जलन के पाऊँ, डाढे जाय न उमँगे काऊ।→ र० ५६-१, सा० गु० (१) १०-२।

पाकपाक—वि० [फा०] पवित्रों मे पवित्र। ~ अल्लाह पाकंपाक है सक करउ जे दूसर होइ। → सब० १८१-५।

पाक—सज्ञा पु० [सं० पक्वान्न] पकवान, भोजन। ~ षड रस भोजन बिजना बहु पाक मिठाई। →पद ३४५-११, सब० १२८-५।

पाक—वि० [फा०] पवित्र।~ जाहि मासु को पाक कहत हो, ताकी उतपति सुनु भाई।→पद २१०-४।

पाकड़ै—क्रि० [हि० पकडना] पकडता है।~देखा देखी पाकड़ै, जाइ अपरचै छूटि। →सा० सगति० (२६) १-१।

पाकरि—क्रि० [हि० पकडना से] पकडकर। ~ तिहि धेनु तैं इछा पूगी, पाकरि खूँटै बाँधी रे।→सब०२७-५।

पाखर—सज्ञा स्त्री० [स० प्रक्षर, प्रा० पक्खर], लोहे का झूल, कवच।~ अस विनु पाखर गज विनु गुड़िया, विनु षडै संग्रामहि जुडिया।→सब० ११६-४, सा० निगु० (५५) ५-१।

पागा—सज्ञा स्त्री० [हि०] पगडी। ~जो सिर रचि रचि बाँध्यो पागा, सो सिर रतन बिडारत कागा। → सब० ६-३, सब० १३६-४।

पाछै—क्रि० वि० [हि० पीछे] बाद मे। ~ आधी पाछै जो जल बरसै तिहि तेरा जन भीना।→पद ३०२-५।

पाट—सज्ञा पु० [स० पट्ट] सिंहासन। ~ जैसी भित्ति तैसि है नारी, राज पाट सब गनैं उजारी।→र०७१-४।

पाट—[हि० पाटना] पाटना, बनाना। ~बाखरि एक विधातैं कीन्हा, चौदह ठहर पाट सो लीन्हा।→र० २-३।

पाट—सज्ञा पु० [स०] वस्त्र। ~**पाट** न सुवस सभा विनु अवसर, बूझहु मुनि जन लोई।→पद २७०-३।

पाट—सज्ञा पु० [स० पट्ट] रेशम।~ काहू दीन्हा **पाट** पटवर काहू पलघ निवारा।→पद २१६-५।

पाट—सज्ञा पु० [स० पट्ट] लकडी का पटरा।~द्वै थर चढि गयो राड कौ करहा मनहु **पाट** की सैली रे। → पद २५५-४।

पाट—सज्ञा पु० [स० पट्ट] पीढा। ~ चोरन दीन्हा **पाट** सिंहासन, साहुन से भयो ओटा।→सब० १८८-६।

पाटन—संज्ञा स्त्री० [हि० पाटना] छत, ऊपर की मजिल। ~ तन **पाटन** मैं कीन्ह पसारा, माँगि माँगि रस पिऐ विचारा।→सब० १०८-४।

पाटन—सज्ञा पु० [स० पट्टन] नगर। ~ वहि सुत वहि वित वहि पुर **पाटन**, बहुरि न देखै आइ।→सब० १०५-५।

पाड़ी—क्रि० [हि० पडना] पडी हुई है। ~ सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि **पाड़ी** भोल। → सा० गुरु० (१) २४-१।

पाड़ै—क्रि० [सं० पारय] समर्थ। ~ आसा पास खड नहिं **पाड़ै** यहु मन सुन्नि न लूटै।→सबद १५३-५।

पाड़ैगा—क्रि० [हि० पडना] पड़ेगा। ~ एक राम के नाँव विन, जँम **पाड़ैगा** रौलि।→सा०काल० (४६) १८-२।

पातरा—वि० [स० पात्रट] पतला, कृश।~ पानी हू तै **पातरा**, धूवा हू तै झीन। → सा० मन० (१३) १२-१।

पातरी—वि० [हि० पतली] सूक्ष्म।~ समुझि न परै **पातरी** मोटी, ओछी गाँठि सबै भौ खोटी।→र० ८०-३।

पातसाह—सज्ञा पु० [फा० पादशाह] बादशाह, नरेश, खुदा। ~ दर की बात कहौ दरवेसा, **पातसाह** है कौने भेसा।→र० ४६-१।

पाती—संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र] पत्ती। ~ जैनी धर्म क मर्म न जाना, **पाती** तोरि देवघर आना।→ र० ३०-३, पद २११-३।

पाथर—सज्ञा पु० [स० प्रस्तर] पत्थर। ~ **पाथर** घाटा लोह सब, (तब) पारस कौने काम। → सा० विर० (३) ८-२, सब० १०१-५।

पाथा—सज्ञा पु० [स० पथ] मार्ग, राह। दे० 'पथ', 'पथा'।→र० ६८-१।

पानि—सज्ञा पु० [स० पानीय] पानी, जल।~अगिनि कहै मैं ई तन जारौं, **पानि** कहै मैं जरत उबारौं।→ र० ७८-६।

पानि—सज्ञा पु० [स० पाणि] हाथ। ~सुभ असुभ बनाय डांडी गहै दोनों **पानि**।→हिंडोला (८) १-४।

पानीग्रहन—सज्ञा पु० [स० पाणिग्रहण] विवाह। ~ **पानीग्रहन** भयो भव

मडन, सुखमनि सुरति समानी । →
सव० ३६-६ ।

पानी-पौन—सज्ञा पु० समूह०[स० पानीय + पवन] पचभूतो (क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर) के प्रतीक । ~**पानी-पौन** सजोय के, रचिया यह उतपात ।→र० ३६-५ ।

पापिनी—सज्ञा स्त्री [स०] पाप मे ले जाने वाली, दुष्टा ।~ कबीर माया **पापिनी**, फद ले बैठी हाटि ।→सा० माया० (१६) २-१ ।

पारख—सज्ञा पु० [हि०] विवेक । ~ कहै कबीर भूल की औषध, **पारख** सब की भाई । → पद २६४-६, पद २६४-८ ।

पारख—सज्ञा पु० [हि०] पारखी, सद्गुरु। दे० 'पारीख' । ~गाँठी रतन मरम नहि जानै, **पारख** दीन्हा छोरी हो । →कहरा (३) ६-६ ।

पारखी—सज्ञा पु० [स० परीक्षक] परिचय प्राप्त करने वाला, परख करने वाला । ~ कबीर जुलाहा भया **पारखी**, अनुभौ उतर्‍या पार । → सा० परचा० (५) ४७-२ ।

पारखी—सज्ञा पु० [सं० परीक्षक] विवेकी । ~ भूल मिटै गुरु मिलै **पारखी**, पारख देहि लखाई ।→ पद २६४-८ ।

पारधी—सज्ञा पु० [स०] शिकारी । ~पैली पार कै **पारधी** ताकी धनुही पनच नही रे ।→सव० १२१-५ ।

पारन—सज्ञा पु० [सं० पारण] व्रत के बाद का भोजन । ~ अन को त्यागै मन नहि हटकै, **पारन** करै सगोती । →पद ३०४-४ ।

पारस—सज्ञा पु० [स० स्पर्श] स्पर्श मणि, एक कल्पित पत्थर जिसके विषय मे प्रसिद्ध है कि यदि उससे लोहा छुवाया जाय तो वह सोना बन जाता है । ~ लोह हिरन्य होय धौं कैसे, जो नहि **पारस** परसै । → पद २७२-५ ।

पारस धनी—सज्ञा पु० [सं० स्पर्श (मणि) + धनी] पारस जैसा सौभाग्यदायक । ~ तेज पुज **पारस धनी**, नैननि रहा समाय । → सा० परचा० (५) ३८-२ ।

पारा—क्रि० [हि० पार] पार पाना । ~जिव दुर्मति डोलै ससारा, ते नहि सूझै वार न **पारा** ।→र० ६५-१० ।

पारिकै—क्रि० [स० पतन से] गिराकर, जीतकर । ~ पच पियादे **पारिकै**, दूरि करै सब दूज । → सा० सूरा० (४५) ३-२ ।

पारिखू—वि० [स० परीक्षक] पारखी । जब रे मिलैगा **पारिखू**, तब हीरां की साटि ।→पारिख (४६) ३-२ ।

पारिष—सज्ञा पु० [स० परीक्षण] परख, पहचान ।~लाधा है कछु लाधा है, ताकी **पारिष** को लहै । → पद २८०-१ ।

पारी—सज्ञा स्त्री० [हि०] हाथी का पैर बाँधने वाला रस्सा । ~ पाच किसाना भाजि गये हैं, जीव घर बाध्यो **पारी** हो राम । → सव० १०-१० ।

पारी वाट—[मुहा०] वाट पारना, विगाड दिया, नष्ट कर डाला। ~ पाँहनि वोई पिरथमी, पडित **पारी वाट**।→ सा० भ्रमवि० (२३) २-२।

पारै—क्रि० [स० पार] अत होना। ~गाउ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न **पारै**।→सव० १०-५।

पारै—क्रि० [हि० उपारना से] उपारता है, उखाडता है ~ खोटी महतौ विकट वलाही, सिर कसदम का **पारै**। →सव० १०-७।

पारो—क्रि० [हि० पार जाना], पार हो जाओ। ~ ज जा ई तन जियतहि जारो, जोवन जारि जुक्ति तन **पारो**। →ज्ञान चौं० (१) १७।

पालरै—सज्ञा पु० [सं० पटल] तराजू का पलडा, तुलापट। ~ विन डाँडी विन **पालरै**, तौलै सव ससार। → सा० सम्र० (३८) ८-२।

पालवै—क्रि० [स० पल्लव] पल्लवित होना, पनपना। ~ दावी देह न **पालवै**, सद्गुरु गया लगाइ।→सा० ग्यान वि० (४) ६-२।

पाला—सज्ञा पु० [स० प्रालेय] वर्फ, हिम, तुपार। ~ **पाला** गलि पानी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि।→ सा० पर० (५) १८-२, सा० भेप० (२४) १-२।

पालि—सज्ञा स्त्री० [स०] पानी रोकने वाला वाध। ~ सूखे सरवरि **पालि** वधावै लूनें खेति हठि वारि करै। →पद २३३-५।

पाव—वि० [हि०] चतुर्थांश।~अढ़ाई मैं जे **पाव** घटै तौ करकच करै घर-हाई।→पद २७१-६।

पावक—सज्ञा पु० [स०] अग्नि। ~ **पावक** रूपी राम है, घटि घटि रहा समाइ। → सा० साध० सा० (२६) १६-१, पद २५६-३, विप्र० (२) १०।

पावां—सज्ञा पु० [स० पाद] पैर, पाव। ~कवीर ऐसा ह्वै रहा, ज्यौं **पावां** तलि घास।→सा०जी० मृ० (४१) १३-२।

पावा—क्रि० [हि० पाना] प्राप्त किया। ~तुम जियरा वहुतै दुख **पावा**, जल विनु मीन कौन सचु पावा। → र० ६५-२।

पाखड—सज्ञा पु० [स०] झूठ, माया, छल।~**पाखड** रूप रचो इन तिरगुन, तेहि **पाखंड** भूलल ससारा। → पद ३२४-२।

पासग—सज्ञा पु० [फा०] पसघा, वह वोझ जिससे तराजू के पल्लो का वोझ वरावर करने के लिए हलके पल्ले मे रख देते हैं। ~ सीस काटि **पासग** किया, जीव सरभरि लीन्ह।→सा० सूरा० (४५) २२-१, पद २१४-४।

पास—संज्ञा पु० [स० पाश] वधन। ~ जे कछु चितवै राम विन, सोइ काल की **पास**।→सा० सुमि० (२) ६-२, सा० वेसा० (३५) १६-१, सा० चिता० (१२) ६१-२, सव० १५३-५।

पासा—संज्ञा पु० [स० पार्श्व] पास, निकट, समीप, ओर। दे० 'पासि'।

~ चातक जलहल भरे जो **पासा**। स्वाँग धरे भौसागर आसा। → र० ६५-३, ज्ञान चौ० (१) १५, र० ४४-३, सा० मन० (१३) २५-२, सा० विर० (३) ६-२, सब० १६६-३।

पासा—सज्ञा पु० [स० पाशक] हाथी-दाँत या हड्डी के उँगली के बराबर छ पहले टुकडे, जिनके पहलो पर बिन्दियाँ बनी होती हैं और जिन्हे चौसर के खेलने मे खिलाडी बारी-बारी फेंकते हैं। जिस बल ये पडते है उसी के अनुसार बिसात पर गोटियाँ चली जाती हैं और अत मे हार-जीत होती है। ~ **पासा** पकडा प्रेम का, सारी किया सरीर। → सा० गु० (१) ३२-१, सब० ६४-१३, पद ३१६-८।

पासारु—सज्ञा पु० [सं० प्रसार] प्रसार, फैलाव। दे० 'पसार'।~ जैसा रग कुसुम्भ का मन बउरा रे त्यौं पसरयौ **पासारु**।→सब० १६३ ६।

पासि—सज्ञा पु० [स० पाश] बधन। दे० 'पास'। ~सुर नर मुनि जन असुर सब, पडे काल की **पासि**। →सा० काल० (४६) २६-२।

पासि—सज्ञा पु० [स० पार्श्व] ओर। दे० 'पास'।~माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहुँ **पासि**। →पद २२६-६।

पासि—सज्ञा पु० दे० 'पासि'।

पासि—सज्ञा पु० दे० 'पासा'।

पासी—सज्ञा स्त्री० [सं० पाश] फाँसी, पाश, बंधन, फदा। दे० 'पास'।~ कोई जावै मक्का कोई जावै कासी, दोऊ कै गलि परि गई **पासी**। → सब० ३८-४, सब० ८४-७, सब० ११७-६, पद २६३-८, पद ३१६-८।

पासें—वि० [सं० पार्श्व] समीप, पास, नज़दीक। दे० 'पासा'। ~ चरन **पासें** निरति करि, जिभ्या बिना गुन गाइ।→सब० ४५-२।

पाहन—सज्ञा पु० [सं० पाषाण] पत्थर। ~ **पाहन** केरा पूतला, करि पूजै करतार। → सा० भ्रमवि० (२३) १-१, सा० निगु० (५५) २-२।

पाहनहुं—संज्ञा पु० [स०पाषाण+हि०हुं] पत्थर से भी।~तू मेरौ पुरिखा हौं तेरी नारी, तोहरि चाल **पाहनहु** तै भारी।→पद २४३-४।

पाहु—सज्ञा पु० [सं० प्राघूर्ण] दे० 'पाहुनाँ'। अतिथि, पाहुन। ~फिर हसा **पाहु** भयो हो रमैया राम। → बेलि० (६) १-११।

पाहुनाँ—सज्ञा पु० [स० प्राघूर्ण] दे० 'पाहुना'।

पाहुना—सज्ञा पु० [स० प्राघूर्ण] अतिथि, मेहमान, पति। ~ घरि परमेसुर **पाहुना**, सुनौ सनेही दास। → सा० निह० पति० (११) १८-१, सा० सुमि० (२) १८-२, चाँचर (५) २-२१, पद २०६-१।

पिंजर—सज्ञा पु० [स० पिञ्जर] पिंजडा, शरीर।~ पाडर **पिंजर** मन भँवर, अरथ अनूपम बास।→ सा० बेसा० (३५) १६-१।

पिंजरु—सज्ञा पु० [स० पञ्जर] पिंजडा। दे० 'पिंजर'। ~ तूं **पिंजरु** हउँ सुअटा तोर, जमु मजार कहा करै मोर।→पद २६१-४।

पिंड—सज्ञा पु० [स०] शरीर।~प्रान **पिंड** कौ तजि चलै, मुवा कहै सव कोइ। → सा० सूपि० ज० (१५) २-१, सव० ६-२, सा० वेसा० (३) १-१।

पिंड—सज्ञा पु० [सं०] पिण्डज।~ प्रगटे अण्ड **पिंड** ब्रह्मण्डा, प्रिथिमी प्रगट कीन्ह नौ खण्डा।→र० ३-४।

पिंड—सज्ञा पु० [स०] गोल-मटोल टुकडा, यहाँ तात्पर्य है व्यष्टि। ~ तिन्ह पुनि रचल **पिंड** ब्रह्मण्डा, छव दरसन छानवे पापडा।→र० २-५, र० ७-४, सा० पर० (५ २०-१, सा० हैरा० (६) २-१, सव० ६८-२, सव० १७५-३।

पिंड परांइन—[मु० पिंड पडना] पीछे पडी रहती है। ~ साकत कै यहु **पिंड परांइन**, हमरी दृष्टि परै त्रिखि डाइनि।→सव० ४६-८।

पिंडरोग—सज्ञा पु० [स० पाण्डुरोग] पाण्डु रोग, पीलिया।~पीलक दौडी साँइयाँ, लोग कहैं **पिंडरोग**।→सा० सा० सापी० (२६) १०-१।

पिंडु—सज्ञा पु० दे० 'पिंड'।

पिउ—सज्ञा पु० [सं० प्रिय] प्रियतम, परमात्मा। ~ मानि करै तौ **पिउ** नही, पीव तौ मानि निवारि। → सा० चिता० (१२) ४२-२, पद ३३६-१।

पिउरिया—संज्ञा स्त्री० [दे०] सूत पूरने वाली तकुली। ~ मन मोर रहँटा रसना **पिउरिया**।→पद २१५-१।

पिचकारी—सज्ञा स्त्री० [हि०] एक प्रकार का नलदार यन्त्र जिससे पानी या तरल पदार्थ जोर से फेंका जाता है। ~ध्यान जुगति की करि **पिचकारी** खिमा खेलावनहार। → पद ३०६-३, चाँचर (५) १-१६।

पिछाँड़त—क्रि० [हि० पहचानना] पहचानते है।~विधनाँ वचन **पिछाँड़त** नाही, कहु क्या काढि दिखाऊँ। → पद २८०-८।

पिछाँणन—सज्ञा स्त्री० [स० प्रत्यभिज्ञान] पहचान।→सा० पी० पिछाँ० (३६)। दे० 'पिछानी'।

पिछाँनि—अव्य० [हि० पीछा] पीछे, वाद मे, पश्चात्। ~ हथलेवा हौंसै लिया, मुसकल पडी **पिछाँनि**। → सा० भेष० (२४) २४-२।

पिछानि—क्रि० [हि० पहचानना] पहचान करके।~खसम **पिछानि** तरस करि जिय मैं माल मनी करि फीकी। →पद २२६-७।

पिछानि—क्रि० [स० प्रत्यभिज्ञान] पहचानो। ~ विन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति **पिछानि**।→ सा० साध सा० (२६) १५-२, सा० भ्र० विधौ० (२३) १०-२।

पिछाणं—क्रि० [स० प्रत्यभिज्ञान] पहचान करना।~आप **पिछाणं** वाहिरा, नेडा ही थैं दूर।→सा० कस्तू०(५३) ६-२।

पिछानि—सज्ञा स्त्री० [स० प्रत्यभिज्ञान] पहचान। दे० 'पिछानी'। ~ जहाँ नही तहाँ कछु जानि, जहाँ नही तहाँ लेहु **पिछानि**।→सव० ५०-३, सा० गु० सि० हे० (४३) २-१।

पिछानी—सज्ञा पु० [स० प्रत्यभिज्ञान] पहचान। दे० 'पिछानि'। ~तरवर एक अनत मूरति, सुरतां लेहु **पिछानी**। →सव० १२-३।

पिटारै—सज्ञा पु० [स० पिटक] बांस, वेंत आदि का बना ढक्कनदार पात्र। ~ सापिनि एक **पिटारै** जागै, अह-निसि सोवै ताकूं फिरि फिरि लागै। →सवद १४५-४।

पिपीलका—सज्ञा स्त्री० [स०] चीटी। ~ पाव न टिकै **पिपीलका**, लोगनि लादे वैल। → मा० सूपि० मा० (१४) ७-२।

पियरा—वि० [स० पीत] पीला। ~ सेत स्याह की राता **पियरा**, अवरन वरन की ताता सियरा। → विप्र० (२) २८।

पियरी—वि० [स० पीत] पीली, पियरं। ~ कारी **पियरी** दुहहू गाई, ताकर दूध देहु बिलगाई।→र० ६२-५।

पियारे—वि० [सं० प्रिय] प्रिय। ~ काल सिहांनै यौ खडा, जाग **पियारे** मीत।→ सा० काल० (४६) ३-१।

पियाला—सज्ञा पु० [फा० प्याला] छोटा कटोरा, प्याला। दे० 'पियालै'। ~ अव तौ एक अनूपम वात भई, पवन **पियाला** साजा। → सव० ११२-७।

पियालै—संज्ञा पु० [फा० प्याला] एक विशेप प्रकार का पात्र, प्याला। दे० 'पियाला'। ~वाझ **पियालै** अम्रित अँचवै, नदी नीर भरि राखै। → सव० ३२-१३।

पियास—सज्ञा स्त्री० [स० पिपासा] प्यास। ~ पानी मांही घर करै, ते भी मरै **पियास**। → मा० निह० पति० (११) ११-२।

पिरथमी—सज्ञा स्त्री० [स० पृथ्वी] पृथ्वी, धरती। दे० 'पिरथी' और 'पुहुमी'। ~ पांहनि वोई **पिरथमी**, पंडित पारी वाट।→ सा० भ्रमवि० (२३) २-२।

पिरथी—सज्ञा स्त्री० [सं० पृथ्वी] पृथ्वी। दे० 'पिरथमी' और 'पुहुमी'। ~**पिरथी** का गुन पानी सोखा पानी तेज मिलावहिंगे।→सव० १८४-३।

पिरीत—सज्ञा स्त्री० [स० प्रीति] प्रेम। ~ एक जु पीर **पिरीत** की, रही कलेजे छाइ। → सा० विर० (३) १३-२।

पीआ—क्रि० [हि० पीना] आस्वादन किया। ~ राम रसु **पीआ** रे।→ पद २६६-१।

पीठासन—सज्ञा पु० [हि०] ऊँचा पीढा। ~ ऐसी विधि सुर विप्र भनीजै, नाम लेत **पीठासन** दीजै।→ विप्र० (२) २०।

पीपर—सज्ञा पु० [स० पिप्पल] पीपल का वृक्ष।~**पीपर** पाथर पूजन लागे, तीरथ गर्व भुलाना।→पद २६७-८।

पीयरी—वि० [स० पीत] पीली। दे०

'पियरी'। ~ कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ। → सा० मधि० (३१) ६-१।

पीर—सज्ञा स्त्री० [स० पीडा] पीडा। ~ एक जु पीर पिरीन की, रही कलेजे छाइ। → सा० विर० (३) १३-२, सा० कथ० वि० क० (१६) ३-२, र० ६८-६, पद २६२-२।

पीर—सज्ञा पु० [फा०] धर्मगुरु। ~ कबीर पुगरा अलह राम का, सोइ गुर पीर हमारा।→सव० २३-१४, सव० ८४-३, सा०वी०(५६) ६-२।

पीर—संज्ञा पु० [फा०] गुरु, उस्ताद। ~ इकइस पीर लिखे तेहि ठामा, खतमा पढै पैगम्बर नामा। → र० ४८-३, कहरा (३) ८-३।

पीरा—सज्ञा स्त्री० [स० पीडा] कष्ट, व्यथा। दे० 'पीर'।~उपजि विनाँ कछु समुझि न परई, वाँझ न जानै पीरा।→सव० १६४-२।

पीरावती—वि० [स० पीडा से] पीडा देने वाली।~कबीर पीर पिरावनी, पजर पीर न जाइ। → सा० विर० (३) १३-१।

पीलक—सज्ञा स्त्री० [स० पीत] पीतिमा, पीलापन। ~ पीलक दौडी साँइयाँ, लोग कहैं पिड रोग। → सा० सा० सापी० (२६) १०-१।

पीव—सज्ञा पु० [सं० प्रिय] प्रियतम। एकै आखर पीव का, पढै सो पडित होइ।→सा० क० वि० कर०(१६) ४-२।

पीव—सज्ञा पु० [सं० प्रिय] प्रिय, ब्रह्म। ~औसर बीता अलप तन, पीव रहा परदेस।→सा० वी० (५६) ४-१।

पीव—सज्ञा पु० [सं० प्रिय] ईश्वर, भगवान्, परमात्मा। ~ लोहू सीचूँ तेल ज्यौ, कब मुख देखौं पीव। → सा०विर०(३) २३-२, पद २३४-२, सा० पी० पि० (३६)।

पीवत—क्रि० [स० पान] पीने मे। ~ राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।→सा० रम० (६) २-१।

पीवन—क्रि० [स० पान] पीना। ~ कबीर पीवन दुलभ है, माँगै सीस कलाल।→सा०रस० (६) २-२।

पीहर—संज्ञा पु० [स० पितृगृह] पिता का घर, मायका, नैहर। ~ पीहर जाउँ न रहूँ सासुरै, पुरखहिं सग न लाऊँ।→सव० २६ ७।

पुंगरा—सज्ञा पु० [स० पौगण्ड] ५ से १० वर्ष की आयु का वालक। ~ कबीर पुंगरा अलह राम का, सोइ गुर पीर हमारा।→सव० २३-१४।

पुंज—संज्ञा पु० [सं०] ढेर या समूह, राशि। ~ कबीर अन्तर प्रगट्यो, विरह अग्नि को पुज।→सा० विर० (३) १-२।

पुन—वि० [स० पुण्य] पवित्र, शुभ, अच्छा। दे० 'पुन्नि'। ~ पुहुप माँहि पावक परजरै, पाप पुन दोऊ भ्रम टरै।→सव० ४७-४।

पुजारा—संज्ञा पु० [स० पूजा+कारी] पुजारी।~ पूजि पुजारा लै गया दै मूरति कै मुहि छार।→पद २११-८।

पुड—सज्ञा पु० [सं० पुट] नासिका पुट-इडा-पिंगला नाडियाँ। ~ दोइ पुड़

जोरि चिगाई भाठी, चुआ महारस भारी।→सव० ३५-५।

पुड़ी—संज्ञा स्त्री० [स० पुटिका] पुड़िया, गठरी, पिंड।~कबीर धूलि सकेलि करि, **पुड़ी** ज बाँधी एह। → सा० चिता० (१२) २०-१।

पुन्नि—सज्ञा पु० [स० पुण्य] पुण्य।~ अनेक जुग जो **पुन्नि** करैं, नही राम विन ठाउँ। → सा० सुमि० (२) २०-२, सा०पर० (५) ४-२, हिंडोला (८) १-२।

पुन्नैं—सज्ञा पु० [स० पुण्य] पुण्य से। ~ **पुन्नैं** पाए द्यौहडे, ओछी ठौर न खोड।→सा०चिता० (१२) ५६-२।

पुरइन—सज्ञा स्त्री० [स० पुटकिनी] कमल दल। ~ **पुरइन** नाहि कवँल मँह वाट।→सव० १६७-८।

पुरई—क्रि० [स० पूर्ण] पूर्ण किया, पूरा किया। ~ अविनासी मोहि ले चला, **पुरई** मेरी आस।→सा०उप० (५०) २-२।

पुरई—क्रि० [हि० पूरना] निर्मित किया। ~ भवन चतुरदस भाठी **पुरई** ब्रह्म अगिनि परजारी।→पद ३४४-५।

पुरख—सज्ञा पु० [स० पुरुष] पुरुष। दे० 'पुरिस'।~काल **पुरख** का मरदै मानु, तिस मुल्ला को सदा सलाम। →पद ४६-४।

पुरखहि—सज्ञा पु० [स० पुरुष] पुरुष को। ~ पीहर जाउँ न रहूँ सासुरै, **पुरखहि** सग न लाऊँ। → सव० २६-७।

पुरजा—सज्ञा पु० [फा०] खण्ड, टुकड़ा। ~ **पुरजा** पुरजा होइ परै, तऊ न छाडै खेत। → सा० सूरा० (४५) ६-२।

पुरन्दर—संज्ञा पु० [स०] इन्द्र।~ब्रह्मा वरुन कुबेर **पुरन्दर**, पीपा औ प्रहलादा।→सव० ६४-६।

पुरव—वि० [स० पूर्व] पहले का। दे० 'पूरव'। ~ अब हम भयल वाहिरि जल मीना, **पुरव** जनम तप का मद कीना।→सव० १६-१।

पुरया—क्रि० [हि० पूरना] पूरा हो गया। ~ अँमृत कूंपी साँचा **पुरया**, मेरी त्रिष्णा भागी रे। → सव० ८७-६।

पुरवन—वि० [स० पूर्ण] पूर्ण।~तुम्ह कहियतु त्रिभुवनपति राजा, मन वछित सव **पुरवन** काजा। → सव० २-४।

पुरवन—क्रि० [सं० पूर्ण से] पूर्ण करना। ~भाँडा गढ़ि जिन मुख दिया, सोई **पुरवन** जोग।→सा० वेसा० (३५) २-२।

पुराना—संज्ञा पु० [स० पुराण] पुराण। ~अव सो दरपन वेद **पुराना**, दरवी कहा महारस जाना।→र० ३२-१।

पुरिख—सज्ञा पु० [स० पुरुष] पति। दे० 'पुरिस'। ~ कौन **पुरिख** को काकी नारी, अभिअतरि तुम्ह लेहु विचारी। → पद ३३५-३, पद २३८-७।

पुरिख—सज्ञा पु० [स० पुरुष] व्यक्ति। ~ कहै कवीर हम व्याहि चले है **पुरिख** एक अविनासी। → सव० १४६-८।

पुरिख—संज्ञा पु० [सं० पुरुष] मनुष्य। ~वेद कतेब दीन अरु दुनिया, कौंन पुरिख कौन नारी।→सव० ५५-२।

पुरिखा—संज्ञा पु० [स० पुरुष] आप्त पुरुष। ~ धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यह पुरिखा कै वानी।→सव० ३२-१२।

पुरिखा—संज्ञा पु० दे० 'पुरिस', 'पुरख', या 'पुरिख'।

पुरिस—संज्ञा पु० [सं० पुरुष] पुरुष, पति। दे० 'पुरिख'। ~ पतिवरता नांगी रहे, तौ उमहि पुरिस कौं लाज। → सा० निह० प० (११) १७-२, सव० १४३-४।

पुरिस—स० पु० [सं० पुरुष] चैतन्य। दे० 'पुरुष'।~ प्रान पुरिस काया पैं विछुरैं, राखि लेहु गुर चेला। →पद ३०५-१४।

पुरी—संज्ञा स्त्री० [स०] महल। ~ जाकी पुरी अतरिछ छाई, सो हरिचन्द देखल नहिं जाई।→र०५५-५।

पुरुष—संज्ञा पु० [स०] चैतन्य पुरुष परमात्मा। ~एकै पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा। →पद २६१-२।

पुर्षा—संज्ञा पु० [स० पुरुष] १ मनुष्य, २. आत्मा– 'पुरि शेते इति पुरुष' अर्थात् देह रूपी पुरी मे जो शयन करता है, वह पुरुष अर्थात् आत्मा है। ~ पुर्पहि पुर्षा जो रचै, सो विरला ससार।→र० ५०-६।

पुहुप—सज्ञा पु० [सं० पुष्प] फूल।~ तै अनेक पुहुप का लियो है भोग, सुख न भयो तन वढ्यो रोग। → सव० १०६-४, मा० पीव पि० (३६) ४-२, सव० १२-५, पद २११-६।

पुहमि—सज्ञा स्त्री० दे० 'पुहुमी'।

पुहुमी—संज्ञा स्त्री० [स० पृथिवी] पृथ्वी, भूमि। ~ ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मण्डा, सात दीप पुहुमी नव खण्डा।→ र० २७-१, सव० १४४-७, र० ६-५, सव० ८१-६, सव० १६६-४।

पूंगरा—सज्ञा पु० [स० पौगंड] पांच से दस वर्ष की अवस्था का वालक। दे० 'पुगरा'। ~ हमरै पाछैं पूंगरा तिन भी वांधा भार।→सा० काल० (४६) ३२-२।

पूगी—क्रि० [स० पूर्ण से] पूरी हुई। ~ तिहि घेनु तैं इछा पूगी, पाकरि खूंटै वांधी रे।→सव० २७-५।

पूजनहार—सज्ञा पु० [स० पूजन + हार (प्रत्य०)] पूजने वाला, साधक या भक्त। ~ मांहै पाती मांहि जल, मांहै पूजनहार।→सा० पर० (५) ४२-२।

पूजि—क्रि० [हिं०] पूरा होना। ~ कुवुजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की सरधा।→सव० १५७-७।

पूजी—क्रि० [हिं० पूजना] पूरी हुई। ~ साई सगि साध नहिं पूजी गयौ जोवन सुपिनैं की नाईं। → पद २३८-२।

पूठि—सज्ञा स्त्री० [स० पृष्ठ] पीठ, उपेक्षा।~ माया हमसौं यो कहै, तू मति दे रे पूठि। → मा० माया० (१६) २६-१।

पूठि—संज्ञा स्त्री० [स० पृष्ठ] पीठ पर। ~पथी ऊभा पथ सिरि, वगुचा वांधा पूठि।→सा०काल० (४६) २२-१।

पूत—सज्ञा पु० [स० पुत्र] वेटा, लडका, पुत्र। ~ इक लख पूत सवा लख नाती, तिहि रावन घर दिआ न वाती।→सव० ९२-३, पद ३३५-४, सा० वेली० (५८) ४-२।

पूतरा—सज्ञा पु० [स० पुत्रक] पुतला। ~ पानी केरा पूतरा, राखा पवन सचारि। → सा० विचा० (२३) ४-१।

पूतला—सज्ञा पु० [स० पुत्रक] मूर्ति। ~ पाहन केरा पूतला, करि पूजै करतार। → सा० भ्र० विधौं० (२३).१-१।

पूर—वि० [स० पूर्ण] पूरा।~ जनम जनम कौ मारा वनियाँ अजहूँ पूर न तोलै।→पद २१४-३।

पूरन—वि० [स० पूर्ण] पूर्ण। ~ कव मरिहूँ, कव देखिहूँ पूरन परमानद। →सा० सूरा० (४५) १३-२।

पूरनहारा—वि० [स० पूर्ण+हि० हारा प्रत्य०] पूर्ति करने वाला। ~कहत कवीर सुनहु मेरी माई, पूरनहारा त्रिभुवनराई।→सव० १३९-५।

पूरव—क्रि० वि० [स० पूर्व] पहले का, पूर्व का। ~ देखौ करम कवीर का, कछु पूरव जनम का लेख। → सा० पर० (५) १२-१।

पूरवला—वि० [स० पूर्व+ला] पूर्व जन्म का।~मन का चेता तव भया, कछू पूरवला लेख। → सा० पर० (५) १०-२, सा० कामी० (२०) २२-२।

पूरवला—वि० [सं० पूर्व+ला] पूर्व का, अनादि, नित्य।~ सतगुर गुर वतलाइया, पूरवला भरतार। → सा० पी० पि० (३६) ३-२।

पूरा—सज्ञा पु० [म० पूर्ण] ब्रह्म। ~ कहै कवीर मैं पूरा पाया, भया रांम परसादा।→सव० १५-८।

पूरि—वि० [स० पूर्ण] पूर्ण पूरा। ~ कायथ कागद काढिया, दरगह लेखा पूरि।→सा० सांच० (२२) ३-२।

पूरिन—क्रि० [हि० पूरना] पूर्ण किया, सम्पन्न किया। ~ सहस तार लै पूरिन पूरी, अजहुं विनव कठिन है दूरी।→र० २८-३।

पूरी—संज्ञा स्त्री० [दे०] भरनी, जिमके भीतर से ताने का तार जाता है। ~सहस तार लै पूरिन पूरी, अजहुँ विनव कठिन है दूरी।→र०२८-३।

पूरे—सज्ञा पु० [स० पूर्ण] पूर्ण, ब्रह्म। ~ पूरे सूं परचा भया, सव दुख मेल्या दूरि। → सा० गुरु० (१) ३५-१, ग्या० वि० (४) ७-२।

पृथिमी—सज्ञा स्त्री० दे० 'प्रिथिमी' और 'पुहुमी'।

पेखउँ—क्रि० [सं० प्रेक्षण] देखती हूँ। ~ सेजैं रमत नैन नहि पेखउँ यहु दुख कासौं कहउँ रे।→पद २३२-२।

पेखनौ—क्रि० [सं० प्रेक्षण] दे० 'पेखना'।

पेखनौ—संज्ञा पु० [सं० प्रेक्षण] दृश्यमान जगत्। ~ तीनि लोक पूरा

पेखनां, नांच नँचावै एकै जनां। → सव० १८५-४।

पेखनां—संज्ञा पु० [सं० प्रेक्षण] खेल। ~ नटवर पेखि **पेखनां** पेखै, अनहद वेन वजावै।→सव० ३२-१०।

पेखना'—क्रि० [स० प्रेक्षण] देखना, अनुभव करना। ~ गुणन विहूना **पेखना**, का कहि लीजै नाँव।→र० ७-७, सा० चिता० (१२) १६-२।

पेखनि—सज्ञा पु० [स० प्रेक्षण] दृश्य। ~नटवत वाजी **पेखनि** पेखै, वाजीगर की वाजी।→सव० ६०-१०।

पेखा—क्रि० [सं० प्रेक्षण] देखा, अनुभव किया। ~ कहै कवीर तासु मैं चेला, जिनि यहु विरवा **पेखा**। → सव० ११६-८, र० ८२-५, सव० १४३-५, पद २८४-३, र० ४२-४। सव० १२-८।

पेखि—क्रि० [स० प्र + √ईक्ष्] देखकर। ~नटवर **पेखि** पेखना पेखै, अनहद वेन वजावै।→सव० ३२-१०।

पेखै—क्रि० [स० प्रेक्षण] देखता है। ~ज्योतिहि देखि पतग हूलसै, पसू न **पेखै** आगी। → पद २२८-४, सव० ५१-२।

पेड़—सज्ञा पु० [हि०] वृक्ष का तना। ~वीज विनु अकुर **पेड़** विनु तरुवर, विनु साखा तरवर फलिया। → सव० ११६-५।

पेरा—संज्ञा पु० [हि० पेला] आक्रमण। ~ सिरि प्रगटा जम का **पेरा**। → पद २६०-२।

पेलना—सज्ञा स्त्री० [हि०] नाव खेने वाली छोटी चौड़ी लकडी। ~**पेलना** अछत पेलि चलु वौरे, तीर तीर का टोवहु हो।→कहरा (३) १-२०।

पेलि—क्रि० [स० प्रेरणा] फेंककर। ~ पाइ पदारथ **पेलि** करि, कंकर लीन्हा हाथि।→सा० अपा० (४८) १-१।

पेलि—क्रि० [स० प्रेरण] प्रवेश कर जाओ, पार कर जाओ। ~ पेलना अछत **पेलि** चलु वौरे, तीर तीर का टोवहु हो।→कहरा (३) १-२०।

पेलै—क्रि० [स० पीडन] कुचला जाता है। ~ और सवै सावन कै भुनगा, जनत पगा तलि **पेलै**। → सव० ६६-६।

पेलै—क्रि० [हि०] फेंक देता है; ढकेल देता है।~कोटि क्रम **पेलै** पलक मैं, जे रचक आवै नाउँ।→सा० सुमि० (२) २०-१।

पेषा—क्रि० दे० 'पेखा'।

पेषै—क्रि० दे० 'पेखै'।

पैंड—सज्ञा पु० दे० 'पैंडा'।

पैंड़ा—सज्ञा पु० [हि०] मार्ग, रास्ता, पथ।~सतगुरु मिलिया फगुवा दीया **पैंडा** दिया वताइ।→ पद ३०६-६, सा० माया० (१६) १४-२, सा० मधि० (३१) ५-१।

पैंड़े—सज्ञा पु० [हि०] रास्ते मे, मार्ग मे। ~ **पैंड़े** मोती वीखरे, अंधा निकसा आइ।→सा० अपा० (४८) ४-१।

पैंड़ै—सज्ञा पु० दे० 'पैंडा'।

पैंहैं—क्रि० [हि० पाना] पाएँगे, प्राप्त करेंगे। ~ ते दुख **पैंहैं** इह संसारा;

जौ चेतहु तौ होय उवारा। → र० ६७-४।

पैकम्वर—सज्ञा पु० दे० 'पैगम्वर'।

पैकाकार—सज्ञा पु० [फा० पैकार] सेवक। ~ स्वामी हूता संत का, **पैकाकार** पचास। → सा० चाँण० (१७) ४-१।

पैका-पैका—सज्ञा पु० [फा० पैकार] थोडी थोडी रकम, पैसा-पैसा। ~ **पैका-पैका** जोडता, जुडिसी लाख करोरि।→सा० उप० (३४) ७-२।

पैखड़ा—सज्ञा पु० [हि० पाँय+कडा] पैर की वेडी या वधन।~ मेरी पग का **पैखड़ा**, मेरी गाल की पास। → सा० चिता० (१२) ६१-२।

पैगम्बर—संज्ञा पु० [फा०] मनुष्यो के पास ईश्वर का सन्देश लेकर आने वाला, ईश-दूत। ~ असी सहस **पैगम्वर** नाही, सहस अठासी मूनी। → सव० ३१-५, सव० १४१-३, पद २६३-३, पद ३२६-३, र०४८-३।

पैठे—क्रि० [स० प्रवृष्टि] प्रवेश करना। ~ जो कोइ **पैठे** धायके, विनु सिर सैंतहि जाय।→र० २२-६।

पैमाल—वि० [फा० पायमाल] पाँव तले रौंदा हुआ, दुर्दशाग्रस्त। ~ देखे ही तै परजरै, परसां ह्वै **पैमाल**। → सा० कामी न० (२०) १२-२।

पैराऊँ—वि० [हि०] तैरने योग्य। ~ धरती "रसै वादर भीजै, भीट भए **पैराऊँ**।→पद ३२३-४।

पैली पार—वि० [हि०] श्रेष्ठ।~**पैली पार** के पारधी ताकी धनुही पनच नही रे।→सव० १२१-५।

पैसि—सज्ञा स्त्री० [स० प्रविष्टि] घुसने का भाव, पैठ।~भगति मुकति निज ग्यान मैं, **पैसि** न सकई कोइ। → सा० का० न० (२०) १०-२।

पैसि—क्रि० [स० प्रवेश] पैठकर, घुसकर। ~ विरह भुवंगम **पैसि** करि, किया कलेजै घाव। → सा० विर० (३) १६-१।

पैसिकै—क्रि० [स० प्रवेश] प्रवेश करके। ~ वलिहारी ता दास की, **पैसि कै** निकसनहार।→ सा० संग० (२६) ८-२, सा० वेसा० (३५) ३-२, सव० १७२-८।

पैसीले—क्रि० [स० प्रवेश] प्रवेश कर। ~ उलटीले सकति सहार, **पैसीले** गगन मझार।→सव० १७१-५।

पैसै—क्रि० [सं० प्रविश] प्रवेश करना, घुसना।~सीस उतारै हाथ सौं, तव **पैसै** घर माँहि।→सा०सूरा० (४५) १६-२।

पोई—क्रि० [स० प्रोत] पिरोई, गूँथी। ~ हरि मोतिन की माल है, **पोई** काचै तागि। → सा० विचा० (३३) ८-१।

पोखर—सज्ञा पु० [स० पुष्कर] तालाव। ~**पोखर** नहिं वांधल तहँ घाट।→ सव० १६७-७।

पोच—वि० [फा० पूच] निकृष्ट, नीच, क्षुद्र, वुरा।~संत सिघाये संत जहँ, मिलि रहा पोचहि **पोच**। → र० ६४-७, र० ६८-५, पद २०७-६।

पोट—सज्ञा स्त्री० [स०] पोटली, गठरी। दे० 'पोटली'।~पहिलै बुरा कमाइ करि, बांधी विप की **पोट**। → सा० सुमि० (२) १६-१, सा० चां० (१७) १७-२।

पोटली—सज्ञा स्त्री० [स० पोटलिका] गठरी। दे० 'पोट'।~ सीस चढाए **पोटली**, ले जात न देखा कोइ। → सा० माया० (१६) १३-२।

पोटि—सज्ञा स्त्री० [स० पोट] पोटली, गठरी। दे० 'पोटली' या 'पोट'। ~क्या अपराध सत है कीन्हा, बाँधि **पोटि** कुजर को दीन्हा। → सव० ४२-७।

पोतनहारी—संज्ञा स्त्री० [दे०] ठण्डक लाने के लिए गीला कपडा लगाने वाली भपके की नली।~मुद्रा मदन सहज धुनि लागी सुखमन **पोतनहारी**। →पद ३४४-६।

पोयौ—क्रि० [स० प्रोत] पिरोना, तागे आदि को छेद मे डालना। ~ उन मोतियन मैं नीर **पोयौ**, पवन अवर धोइ।→सव० ४५-४।

पौंड़ै—क्रि० [हि० पैरना] तैरती है। ~ थाड अटक मानै नही **पौंड़ै** जल-धारा।→पद ३४५-६।

पौन—सज्ञा पु० [स० पवन] पवन, प्राणायाम। ~ पनिया अदर धरे न कोय, **पौन** गहै कसमलिन धोय।→ वसत (४) १-३।

पौन—संज्ञा पु० [स० पवन] पवन, वायु। ~धरती कहै मोहि मिलि जाई, **पौन** कहै सँग लेहुँ उड़ाई।→र० ७८-७।

पौना—संज्ञा पु० [स० पवन] पवन, स्वास, प्राण। दे० 'पौन'।~रहिगौ पथ थकित भौ **पौना**, दसो दिसा उजारि भौ गौना।→र० ४५-४।

पौलि—सज्ञा पु० [स० पौल] द्वार, दरवाजा, डयोढी, मुख्य द्वार। ~ ममता मेरा क्या करै, प्रेम उघारी **पौलि**। →सा० पर० (५) ४८-१, सा० काल० (४६) १८-१, सव० १२८-६।

पौवा—सज्ञा पु० [सं० पाद] एक सेर का चौथाई भाग। ~ कानि तराजू सेर तिन **पौवा**, डहकै ढोल वजाई हो।→कहरा (३) ४-५।

प्रकासा—क्रि० [स० प्रकाश] प्रकाशित हुआ। ~ ग्यान **प्रकासा** गुरु मिला, सो जिनि बीसरि जाइ।→सा०गुरु० (१) १३-१।

प्रगास—सज्ञा पु० [स० प्रकाश] प्रकाश। ~ ब्रह्म अगिनि कियो **प्रगास**, अर्ध उर्ध तहँ वहै वतास।→ वसंत (४) २-३।

प्रगासा—सज्ञा पु० [सं० प्रकाश] प्रकाश। दे० 'प्रगास'। ~ कहै कवीर मनि भया **प्रगासा** उदै भानु जव चीना। →पद ३०२-६।

प्रजल्यौ—क्रि० [स० प्रज्वलन] प्रज्वलित होता है। ~ ज्वाला उठी अकास **प्रजल्यौ**, सीतल अधिक समाई। → पद ३०५-१२।

प्रजारी—क्रि० [स० प्रज्वलन] जला दिया। ~ जठर अगिनि मँह दीन्ह

प्रजारी, तामे आपु भया प्रतिपाली ।
→र० २६-३ ।

प्रतखि—वि० [स० प्रत्यक्ष] प्रत्यक्ष । दे० 'प्रतषि' । ~ तीन देव प्रतखि तोरहि करहि किसकी सेव ।→ पद २११-१० ।

प्रतषि—वि० [स० प्रत्यक्ष] प्रत्यक्ष । दे० 'प्रतखि' । ~ साधू प्रतषि देव है, नहिं पाथर सूं कांम ।→सा० भ्र० वि० (२३) ५-२ ।

प्रतिग्रह—सज्ञा पु० [स० प्रतिग्रह] यज्ञ मे प्राप्त दान ।~ब्राह्मन होयकै ब्रह्म न जानै, घर मँह जग्य प्रतिग्रह आनै । →विप्र० (२) २ ।

प्रतिपारा—संज्ञा पु० [स० प्रतिपालन] रक्षा । दे० 'प्रतिपाल' । ~ तीनि लोक जाकै हहि भारा, सो काहे न करै प्रतिपारा ।→सव० १६-४ ।

प्रतिपाल—सज्ञा पु० [सं० प्रतिपालक] रक्षक । ~ अविनासी दुलहा कव मिलिहौं, सभ सतन के प्रतिपाल । सव० २२-१, पद २६२-२, र० २६-३ ।

प्रतिपाल—सज्ञा पु० [स०] पालन, रक्षा ।~ कृसन कृपाल कवीर कहि, इम प्रतिपाल न क्यौं करै ।→ सा० वेसा० (३५) १-६ ।

प्रतिपाला—संज्ञा पु० [स० प्रतिपालन] प्रतिपालन, पालन-पोषण । ~ तात जननी कहै पुत्र हमारा, स्वारथ लागि कीन्ह प्रतिपाला । →र० ७८-२ ।

प्रतिपालि—क्रि० [स० प्रतिपालन] रक्षा करना, पालन करना ।~कहैं कवीर कछु अछलो न तहिया, हरि विरवा प्रतिपालि न जहिया । → सव० १९६-५ ।

प्रतिपाली—सज्ञा पु० [स०] प्रतिपालक, रक्षक । ~ जठर अगिनि मँह दीन्ह प्रजारी, तामे आपु भया प्रतिपाली । →र० २६-३ ।

प्रतिपालै—क्रि० [स० प्रतिपालन] रक्षा करते हैं ।~छीजै साह चोर प्रतिपालै, सत जना की कूटि करै । → पद २७६-८ ।

प्रतिमा—सज्ञा स्त्री० [स०] मूर्ति, छाया, प्रतिविम्व ।~ज्यो केहरि वपु निरखि कूपजल, प्रतिमा देखि पर्यो । → सव० ५-३ ।

प्रतिहार—सज्ञा पु० [स०] द्वारपाल । ~नवग्रह कोटि ठाढे दरवार, धरम-राइ पौली प्रतिहार । → सव० १२८-६ ।

प्रथम चरन—संज्ञा पु० [सं०] सत्युग । प्रथम चरन गुरु कीन्ह विचारा, करता गावै सिरजनहारा । → र० ४-१ ।

प्रपंच—सज्ञा पु० [स०] पाखण्ड, आडम्वर । ~ आपन आपन चाहैं मान, झूठ प्रपंच साँच करि जान । → वसत (४) १२-४ ।

प्रमोधि—क्रि० [सं० प्रवोध] उपदेश देना । ~ कुवुधि न जाई जीव की, भावै स्यभ प्रमोधि । → सा० कामी न० (२०) १९-२ ।

प्रलै—सज्ञा पु० [स० प्रलय] विनाश । ~काल अकाल प्रलै नही तहाँ संत

विरलै जाहिं। → हिंडोला (८) १-१५।

प्रलै—संज्ञा पु० [स० प्रलय] अवसान, अन्त। ~ जार्‌यौ जरै न काट्‌यौ सूखै, उतपति **प्रलै** न आवै।→ पद ३०५-७।

प्रवांनां—सज्ञा पु० [स० प्रमाण] दृढ धारणा। ~ जीवत कछू न किया **प्रवांनां**, मुए मरम को काकर जाना। →सव० १३२-४।

प्रसाद—संज्ञा पु० [स०] अनुग्रह।~ जा **प्रसाद** देवन कौ दुरलभ सत सदा ही पाही।→पद २०६-५।

प्रसूती—सज्ञा स्त्री० [स०] प्रसव, उत्पन्न।~नारी मोचित गर्भ **प्रसूती**, स्वांग धरै वहुतै करतूती। → र० २-७।

प्रिथिमी—सज्ञा स्त्री० [स० पृथ्वी] पृथ्वी। दे० 'पुहुमी'।~ प्रगटे अण्ड पिण्ड ब्रह्मण्डा, **प्रिथिमी** प्रगट कीन्ह नौ खण्डा।→र० ३-४, र० ७५-४, र० ३०-५; वसंत (४) ६-३।

प्रीतड़ी—सज्ञा स्त्री० दे० 'प्रीतिडी'।

प्रीतिड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० प्रीति+डी (प्रत्य०)] प्रेम।~ करि चिजारा सौं **प्रीतिड़ी**, ज्यूं ढहै न दूजी वार। →सा० चिता० (१२) १८-२, सा० निह० प० (११) १-१।

प्रेत-कनक—यौ० [स०] श्राद्ध का अन्न। ~ **प्रेत-कनक** मुख अतर वासा, आहुति सहित होम की आसा। → विप्र० (२) ५।

फ

फंद—सज्ञा पु० [सं० वध] फंदा, वधन। ~ कवीर माया पापिनी, **फंद** ले वैठी हाटि। →सा० माया० (२६) २-१, पद २६३-७, पद ३२४-८, सव० १३५-४, र० १७-४।

फंदा—सज्ञा पु० [सं० वध] वधन। दे० 'फद'। ~ रामहि जानि जुक्ति जौं चलई, जुक्तिहिं तें **फदा** [illegible]हि परई।→र० २१-२, पद ३३७-२।

फंध—सज्ञा पु० [स० वंध] वधन। दे० 'फद'। ~ वाडि चढती वेलि ज्यूं, उलझी आसा **फध**। →सा० माया० (१६) २६-१।

फकीरा—सज्ञा पु० [अ० फकीर] साधु-सन्त। ~कहै कवीरा दास **फकीरा**, अपनी रहि चलि भाई। →पद ३२६-६।

फगुवा—सज्ञा पु० [हि०] फाग के उपलक्ष मे दिया जाने वाला उप-हार। ~ सतगुरु मिलिया **फगुवा** दीया पैडा दिया वताइ। → पद ३०६-६, वसत (४) २-७।

फटिक—सज्ञा पु० [स० स्फटिक] एक प्रकार का पारदर्शी पत्थर, विल्लौर। ~ वैसे ही गज **फटिक** सिला पर, दसनन आनि अर्‌यो।→सव० ५-३, सा० विर्क० (३७) २।

फनिंद्र—संज्ञा पु० [स० फणीन्द्र] शेप नाग। ~ झूलै नारद सारदा झूलै व्यास **फनिंद्र**। →हिंडोला (८) १-७।

फरकि—क्रि [अ०] अलग होकर, फडक कर। ~भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पडे **फरकि**। →मा० गुरु० (१) २५-२।

फर—सज्ञा पु० [स० फल] फल। ~ यातैं लौगहिं **फर** नहि लागैं, चदन फूल न फूलैं। →सब० २८-३।

फरमाया—क्रि० [फा०] आदेश दिया। ~बकरी मुरगा किन **फरमाया**, किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।→ र० ४६-५।

फरु—सज्ञा पु० [स० फल] फल। ~ सोरह मंझै पवन झकोरैं, आकासैं **फरु** फरिया। →सब० ११६-६।

फाकै छारा—[मुहा०] धूल फाँकना। विद्या वेद पढि करैं हंकारा, अत काल मुख **फाकै छारा**। →पद २५८-३।

फांटि—सज्ञा पु० [दे०] कपडे का थान। ~ जोलहा तान बान नहिं जानै, **फांटि** विनै दस ठाँई हो। →कहरा (३) १०-६।

फांदिया—क्रि० [हि० फँसाना] फंसा लिया। ~ काग लंगर **फादिया** वटेरैं बाज जीता।→पद ३४३-४।

फांसि—सज्ञा स्त्री० [सं० पाश] दे० 'फासी'। फदा, वन्धन। ~तिरगुन **फासि** लिए कर डोलैं, वोलैं मधुरी वानी। पद २२७-२।

फांसी—सज्ञा स्त्री० [स० पाश] वधन। दे० 'फंद'। ~तातैं **फासी** काल की, करहु आपनो सोच। →र० ६४-६, सब० ६३-११।

फाटा—क्रि० [हि० फटना] फट गया। ~ **फाटा** फटिक पषान ज्यौ, मिला न दूजी बार। →सा० विर्क० (३७) १-२।

फाटिसी—क्रि० [हि० फटना] फट जाएगा। ~ जो पहिरा सो **फाटिसी** नाम धरा सो जाइ। →सा० काल० (४६) १२-१।

फाबी—क्रि० [स० प्रभवन] अच्छी लगी। ~ कहै कवीर **फाबी** मतिवारी, पियत राँम रस लगी खुमारी। →सब० १०८-५।

फारि—क्रि० [स० स्फाटन] फाडकर। **फारि** पटोरा धज करूँ, कामलिया पहिराउँ। →सा० विर० (३) ४१-१।

फिकरु—संज्ञा स्त्री० [अ० फिक्र] दे० 'फिकिर'। चिन्ता। ~ वेद कतेव इफतरा भाई दिल का **फिकरु** न जाई। →सब० १८१-३।

फिकिर—सज्ञा स्त्री० [अ० फिक्र] चिन्ता। ~ करि **फिकिर** दाइम लाइ चसमैं जहाँ तहाँ मौजूद। → सब० १८१-८।

फिटकी—वि० [दे०] सारहीन। ~ अनंत कोटि मन हीरा वेघो, **फिटकी** मोल न पाई हो। →कहरा (३) १०-११।

फिरल—क्रि० [हि०] वापस आना। ~ काको रोऊँ गल वहुतेरा, वहुतक मुअल **फिरल** नहिं फेरा। →सब० ७५-१।

फिरायाँ—क्रि० [हि० फिराना] घुमाना।

~ जाहि फिरायाँ हरि मिलै, सो भी काठ कठोर। →सा० भेष० (२४) २-२।

फिरै—क्रि० [हि० फिरना] चक्कर लगाते है। ~ रामहि गावै औरहि समुझावै, हरि जाने विनु सकल **फिरै**। →पद २७६-१।

फिल—क्रि० [स०√पिल्] फेंक देना, ढकेल देना। ~ कोटि करम **फिल** पलक मैं, (जब) आया हरि की ओट। →सा० सुमि० (२) १६-२।

फिल करौं—क्रि० [हि० फिरना] नष्ट कर दूं। ~ जोगी फेरी **फिल करौं** यौं विननाँ वै सूति। →सा० मन० (१३) ३-२।

फीको—वि० [स० अपक्व] मन्द, स्वादहीन, नीरस।~खसम पिछानि तरस करि जिय मैं माल मनी करि **फीको**। →पद २२६-७।

फुनि—अव्य० [स० पुन] पुन, फिर। ~जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, **फुनि** रसना नहिं राम। →सा० सुमि० (२) १७-१, सव० ६८-६, पद २१६-५।

फुनिगा—सज्ञा पु० [हि०] पतगा।~ **फुनिगा** कतहूँ गरुड भखत है। → पद ३४७-२।

फुर—वि० [हि०] सत्य, सच्चा। ~ **फुर** फुर कहत मार सब कोई, झूठहिं झूठा सगति होई। →र० ४२-३।

फुरमाई—क्रि० [फ़ा० फरमाना] आज्ञा दिया। ~तब नहिं होते गाय कसाई तब कहुं विसमिल किन **फुरमाई**। र० ४०-३, सा० सा० सा० (२६) २१-२, पद २२६-३।

फुरमाया—क्रि० दे० 'फरमाया'।

फुरे—वि० [हि० फुरना] सत्य, सच्चा। दे०'फुरो'। ~काहू के वचनहि **फुरे**, काहू के करामाती।→सव०१३५-७।

फुरो—वि०[हि० फुरना]सत्य। दे० 'फुर'। ~चारि अवस्था सपनै कहई, झूठी **फुरो** जानत रहई। →र० २४-२।

फुलल—क्रि० [भोज०] पुष्पित है। ~ फुल भल **फुलल** मलिनि भल गाथल, फुलवा विनसि गो भवँर निरासल। →पद २३६-४।

फूक—क्रि० [हि० फूंकना] फूंक कर। ~भावै त्यौं परमोधिए, ज्यूं घसि वजाई **फूक**। →सा० गु० (१) २१-२।

फूटिम फूटि—क्रि० [हि० फूटना] टूट-फूट गया। ~झल ऊठी झोली जली, खपरा **फूटिम फूटि**। →सा० ज्ञान० (४) ४-१।

फूलल—क्रि० [हि० फूलना] पुष्पित हो गया। ~फूल एक भल **फूलल** विर हुली, फूलि रहल सस.र विरहुली। →विरहुली (७) ७।

फूला—वि० [स० फुल्ल] प्रसन्न। ~ कवीर मन **फूला** फिरै, करता हूँ मैं धरंम। → सा० चाँण० (१७) २१-१।

फूला फूला—[मुहा०] प्रसन्न होना। ~कूर कपट की पासग डारै **फूला फूला** डोलै। →पद २१४-४।

फूले फूले—[मुहा०] इतराते हुए, गर्व मे ऐंठते हुए। ~ फिरहु का फूले फूले। →सब० १७६-१।

फूस—सज्ञा पु० [स० तुष] तृण, तिनका। ~फूस कजोडा दूरि करि, ज्यूं बहुरि न लागै लाइ।→सा० सूरा० (४५) ३६-२।

फेर—सज्ञा पु० [हिं० फेरना]। फेरा, चक्कर। ~ गगन मँडल मँह भौ उजियारा, उलटा फेर लगाया। → सब० १०६-६।

फेरा—सज्ञा पु० [हिं० फेरना] पुनरागमन।~अवकी वेर बकसि वदे कौ बहुरि न भौजलि फेरा। → सब० १०-१२, सब० १३४-५।

फेरि—अव्य० [हि० फेरना से] पुन, फिर से।~औसर चले बजाइ करि, है कोइ लावै फेरि। →सा० चिता० (१२) ३-२।

फेरि—क्रि० [हि० फेरना] वापस करो। ~जबही चालै पीठि दै, अकुस दे दे फेरि।→सा० मन० (१३) १६-२।

फेरी—सज्ञा स्त्री० [हि० फेरना] भाँवरी, चक्कर। ~ बारी फेरी वलि गई, जित देखौ तित तूं। →सा० सुमि० (२) ६-२।

फेरी—क्रि० [हि० फेरना] वापस कर दिया।~दास कबीर राम कै सरनै ज्यौं आई त्यौं फेरी।→पद २४४-८।

फेरी—वि० [हि० फिरना] चक्कर लगाने वाला। ~जोगी फेरी फिल करौ, यौं बिननाँ वै सूति। →सा० मन० (१३) ३-२।

ब

बंका—वि० [स० वक्र] टेढ़ा। ~ क्यौं लीजै गढ बंका भाई। →सब० ६३-१।

बंग—सज्ञा स्त्री० [अ० वाँग] नमाज की सूचना के शब्द, अज़ान। ~ बंग निमाज कलिमा नहिं होते, रामहु नाहिं खोदाई। →सब० ३१-८, पद २१०-६।

बंचै—क्रि० [हि० बचना] बच पाना। ~माँगन मरन समान है, विरला बचं कोइ। →सा० वेसा० (३५) १५-१।

बचै—क्रि० [हिं० बचना] बचते हैं। ~पर नारी पर सुन्दरी, विरला बचै कोइ। →सा० कामी न० (२०) ४-१।

बंच्या—क्रि० [हि० बचना] बचना। ~हिरदै कठोर मरै बानारसि, नरक न बच्या जाई। →पद ३०८-७।

बछित—वि० [स० वाछित] इच्छित। ~तुम्ह कहियतु त्रिभुवनपति राजा, मन बछित सब पुरवन काजा। → सब० २-४।

बंद—सज्ञा पु० [स० वन्ध] बन्धन।~ साधु सगति मिलि करि बसत, भौ बद न छूटै जुग जुगत। →पद ३३८-४।

बदगी—संज्ञा स्त्री०[फा०] वन्दना, प्रणाम, सलाम, सेवा। ~यह तो खून वह बदगी, क्यो कर खुसी खोदाय। → र० ४६-६।

बंदगी—सज्ञा स्त्री० [फा०] प्रणति। ~कै जागै विषई विष भरा, कै दास **बंदगी** होइ। →सा० साधसा० (२६) २०-२, सा० पर० (५) ४-२।

बदगी—सज्ञा० स्त्री० [फा०] वन्दना, पूजा। ~ यह सब झूठी **बंदगी**, त्रिरिया पाँच निवाज। → सा० साँच० (२२) ५-१।

बंदा—सज्ञा पु० [फा०] भक्त, सेवक, दास। ~माया मोह कठिन है फदा, होय विवेकी सो जन **बदा**। →र० ७६-२, पद ८५-८, पद २२७-८, सा० वेसा० (३५) ११-२।

बदि—संज्ञा पु० [फा० वन्दी] कारा-गृह। ~पूंजी वितडि **बंदि** लै दैहै, तब कहे कौन के छूटै। → पद २१७-६।

बदि—सज्ञा पु० [स० वदिन्] वन्धन। ~वाँधे देव तेंतीस करोरी, सुमिरत **बदि** लोह गै तोरी। →र० ६-३।

बदिगी—सज्ञा स्त्री० [फा०] प्रणति। दे० 'वदगी'। ~दीन गरीवी **बदिगी** करता होइ सु होइ। →सा० जी० मृ० (४१) ११-२।

बदे—संज्ञा पु० [फा० वन्दा] सेवक, दास। ~कहत कवीर भजन विनु **बदे**, जनम अकारथ जाइ' →सव० १०५-६, सव० १८१-१, पद २८१-३, सा० वीन० (५६) ७५-२, सव० १०-१२।

बध—सज्ञा पु० [सं०] वन्धन, ग्रन्थि। ~मत सुनु मानिक मत सुनु मानिक हिदया **बंध** निवारहु हो। →कहरा (३) २-१।

बंधसि—क्रि० [स० वन्धन] वाँध सकते हो। ~खंभा एक गयद दोइ क्यो करि **बंधसि** वारि। →सा० चिता० (१२) ४२-१।

बधाइ—सज्ञा स्त्री० [हि० वढाइ] वृद्धि। ~ कलि का स्वामी लोभिया, मनसा रहै **बँधाइ**। →सा० चाँण० (१७) ७-१।

बँधाइ—क्रि० [सं० वध] वनवाकर। ~ निन्दक नियरे राखिए, आँगनि कुटी **बँधाइ**। →सा० निन्द्या (निन्दा) (५४) ३-१।

बंधिप—सज्ञा पु० [सं० वन्धु] भाई-वन्धु। ~नाउँ मेरै **बंधिप** नाउँ मेरै भाई, अत की वेरिया नाउँ सहाई। →पद ४६-५।

बधी—क्रि० वि० [स० वंध] वँधे हुए। ~ गुन औगुन त्रिहुडैं नही, स्वारथ **बंधी** लोइ। →सा० अवि० (५६) २-२।

बब—संज्ञा स्त्री० [अनु०] रणनाद, यशोगान। ~ धधा ही मे मरि गया, वाहर हुई न **वब**। →सा० चिता० (१२) ३३-२।

बब—संज्ञा स्त्री० [हि०] नगाडा, दुदुभी। ~नारद कव वन्दूक चलाई, व्यास-देव कव **वब** वजाई। →र० ६६-५।

बँबूर—सज्ञा पु० [स० वव्बूर] एक काँटेदार वृक्ष। दे० 'ववूर'। ~ चन्दन की कुटकी भली, नां **वँबूर**

अबराँउँ। →सा० सा० म० (३०) १-१।

बंस—संज्ञा पु० [सं० वश] १ बाँस, २. कुल, खानदान। ~ ऊँचा कुल कै कारनैं, बंस बढा अधिकार।→ सा० निगु० (५५) ११-१।

बंस—संज्ञा पु० [स० वंश] १. कुल, खानदान, परिवार, २. बाँस। ~ बस आगि लगि बसैं जरिया, भर्म भूलि नर धधे परिया। → र० ५०-२।

बसा—संज्ञा पु० [स० वश] वश। दे० 'बस'। ~ हिरनाकुस रावन गौ कसा, कृस्न गए सुर नर मुनि बसा। →र० ४५-१।

बसि—सज्ञा स्त्री० [स० वंशी] वशी, मुरली, बाँसुरी। ~ भावैं त्यौं परमोधिए, ज्यूं बसि बजाई फूक। →सा० गुरु० (१) २१-२।

बउरे—वि० [स० वातुल] पागल, विक्षिप्त। ~ कहत कबीर राम भजु बउरे, जनम अकारथ जात। →सब० ७०-१०।

बक—संज्ञा पु० [स० वक] बगुला। ~ ऊपर उज्जर देखो बक अनुमान। →सब० ८५-३।

बकतैं-बकति—क्रि० [स० वचन] व्यर्थ मे कह कहकर। ~ मैं बकतैं बकति सुनावा, सुरतैं तहाँ कछू न पावा। →सब० १७१-६।

बकला—सज्ञा पु० [स० वल्कल] छाल। परिहरि बकला ग्रहि गुन डारि, निरखि देखि निधि वार न पार।→ सब० ५०-१०।

बकवादी—वि० [हि० बकवाद + ई (प्रत्य०)] प्रलापी, बहुत बोलने वाला। ~ ते सब तिरे राँम रस स्वादी, कहै कबीर बूड़े बकवादी। →पद २४७-५।

बकसहु—क्रि०[फा० बख्श + हु (प्रत्य०)] क्षमा करो। ~ काहे न अवगुन बकसहु मेरा। →पद ३३३-२।

बकसि—क्रि० [फा० बख्श] क्षमा करना। दे० 'बकसिहैं'। ~ अबकी बेर बकसि बंदै कौं, बहुरि न भौजलि फेरा। →सब० १०-१२।

बकसिहैं—क्रि० [फा० बख्श] क्षमा करना, माफ करना। ~और गुनह हरि बकसिहैं, काँमी डाल न मूल। →सा० का० न० (२०) १७-२।

बकि—क्रि० [स० वचन] व्यर्थ की बातें बढा-चढा कर करते हुए।~निरमल तन मन सब करैं, बकि बकि आँनहि आन। → सा० निन्द्या० (५४) ४-२।

बकिबो—क्रि० [स० वचन] आदेश दिया। ~ काजी बकिबो हस्ती तोर। →सब० ४२-२।

बखतर—सज्ञा पु० [फा०] कवच।~ र रा करि टोप म माँ करि बखतर ग्यान रतन करि पाग रे। →सब० ११८-३।

बखान—संज्ञा पु० [स० व्याख्यान] प्रशंसा, सराहना। ~ दिया महौला पीव कौं, (तब) मरहट करैं बखान।

→सा० सूरा० (४५) ३५-२।

बखान—सज्ञा पु० [स० व्याख्यान] वर्णन, प्रशसा। ~ बैठा पडित पढ़ै पुरान, बिनु देखे का करत **बखान**। →सव० १५२-५।

बग—सज्ञा पु० [सं० वक] बगुला।~ उज्जल देखि न धीजिए, **बग** ज्यौं माँडै ध्यान।→सा० असाधु० (२७) २-१।

बच्छ—सज्ञा पु० [स० वत्स] बछडा। हरि आदर आगै लिया, ज्यौं गऊ **बच्छ** की लार। →सा० जी० मृ० (४१) ३-२।

बछतलि—यौ० [वत्स्+तल] बछड़े के नीचे। ~सुरही चूपै **बछतलि**, बछा दूध उतारै। →सव० ५१-७।

बछरा—सज्ञा पु० [स० वत्स] बछडा। दे० 'बच्छ'। ~**बछरा** था सो मरि गया, ऊभी चाम चटाइ। →सा० अपा० (४८) ५-२।

बजगारी—सज्ञा स्त्री० [फा० बदकारी] अशिष्टता, बुरा काम। ~तुम दाते हम सदा भिखारी, देउँ जवाब होइ **बजगारी**। →सव० १४१-७।

बजरपरौ—[मुहा०] वज्र गिरना, दु ख-दायी स्थिति। ~ **बजरपरौ** इहि मथुरा नगरी कान्ह पियासा जाई रे। →पद २५५-६।

बटाऊ—सज्ञा पु० [हि० वाट+आऊ (प्रत्य०)] पथिक, राह चलने वाला। ~ हस **बटाऊ** चलि गया, काढौ घर की छोति।→सा० काल० (४६) १७-२।

बटाऊवा—सज्ञा पु० [हि० वाट+आऊ (प्रत्य०)] पथिक, वटोही। दे० 'वटाऊ'। ~ जन कबीर **बटाऊवा**, जिनि मारग लियो चाइ। →सव० ४५-१०।

बटोरा—क्रि० [हि० वटोरना] सग्रह किया। ~घोरा घोरी कीन्ह **बटोरा**, गाँव पाय जस चले करोरा। →र० ६९-८।

बड़—वि० [स० वर्द्धन] वडा। ~ पारब्रह्म **बड़** मोतियाँ, झडि बाँधी सिपराँह। →सा० निगु० (५५) ३-१।

बड़ाई—सज्ञा स्त्री० [हि० वडा + ई (प्रत्य०)] महत्ता। ~ काचै कुभ उदिक ज्यौं भरिया या तन की ढहै **बड़ाई**। →सव० १७९ ४।

बड़ापना—संज्ञा पु० [हि० वडा+पन] वडप्पन, विशालता। ~ जालौ इहै **बड़ापना**, सरलै पेड खजूरि।→सा० निगु० (५५) १०-१।

बढवत—क्रि० [हि० वढ़ाना] बढाने से, वृद्धि करने से। ~ **बढवत** बढी घटावत छोटी, परखत खर परखावत खोटी। →र० ७९-१।

बतास—सज्ञा स्त्री० [स० वातासह] वायु, हवा। ~ ब्रह्म अगिनि कियो प्रगास, अर्ध उर्ध तहँ बहै **बतास**।→ बसत (४) २-३।

बदउँगा—क्रि० [हि०] स्वीकार करूँगा। ~सकति सनेह पकरि करि सूनति, मै न **बदउँगा** भाई। → सव० ७६-३।

बदकर्मी—वि० [अ० बद + स० कर्मी] कुकर्मी। ~ऐसो जोगिया है बदमर्की, जाके गगन अकास न धरनी। → सब० ६०-१।

बदत—क्रि० [स० वदन] समझना। ~अति अभिमान **बदत** नहिं काहू, बहुत लोग पचिहारे। → सब० ११३-४।

बदन—संज्ञा पु० [स० वदन] मुख। ~नारद मुनि को **बदन** छिपायो, कीन्हो कपि को रूपा। →सब० ४-७, चाँचर (५) १-६।

बदि के—[मुहा०] [हि० बद कर] निश्चय करके, ललकार करके। ~एक नाम मैं **बदि के** लेखौ, कहै कबीर पुकारी। →पद २२२-६।

बदै—क्रि० [स० वद्] कहते हैं। ~ पडित बाद **बदै** सो झूठा। → सब० १६८-१।

बदौं—क्रि० [सं० वद्] समझूं, मानूं। ~जौ तूं कूदि जाउ भवसागर कला **बदौं** मैं तेरी। → सब० १६०-६।

बधल—क्रि० [सं० वध] वध किया। ~ नही बलिराज से मांडी रारी, नहिं हरिनाकुस **बधल** पछारी। → र० ७५-५।

बधावना—सज्ञा पु० [हि० बधावा] बधावा, उत्सव। दे० 'बधावा'। ~ जिहि घरि जिता **बधावना**, तिहि घरि तिता अँदोह। →सा० मा० (१६) २८-२।

बधावा—संज्ञा पु० [हि०] आनंद या मगल के अवसर का गाना, मगलाचार। ~सोग **बधावा** सम कै माना, ताकि बात इन्द्रहु नहिं जाना। → र० ७१-१।

बधिक—सज्ञा पु० [स० वधिक] वध करने वाला। ~ घर के खसम **बधिक** वै राजा, परजा का धौ करै बिचारा। →पद-३२४-३।

बधीर—संज्ञा पु० [स० वधिर] बहरापन, अनसुनी। ~ सुनहु हमारी दादि गुसांई, अब जिन करहु **बधीर**। →पद ३४६-५।

बधै—क्रि० [स० वृद्धि] बढ रही है। ~ कांची कारी जिनि करै, दिन दिन **बधै** बियाधि। →सा० चिता० (१२) ४०-१।

बधै—क्रि० [स० वृद्धि] बढता है। ~झूठे को झूठा मिलै, दूनां **बधै** सनेह। → सा० सांच० (२२) १७-१।

बन—संज्ञा पु० [स० वन] कपास। ~बालमीकि **बन** बोइया, चुनि लीन्ह सुखदेव। → पद २४८-२।

बन—सज्ञा पु० [स० वन] वन। दे० 'बनराइ'। ~यह तन तौ सब **बन** भया, करम जु भए कुहारि। →सा० चिता० (१२) ४४-१।

बनजिया—सज्ञा पु० [स० वाणिज्य] व्यापार। ~कबीर हीरा **बनजिया**, महँगे मोल अपार। →सा० सूरा० (४५) २८-१।

बनराइ—संज्ञा स्त्री० [स० वनराजि] बनराजि, वन। ~ अंतरि भीगी

आतमां, हरी भई **वनराइ**। →सा० गु० (१) ३४-२।

वनराइ—सज्ञा स्त्री० [स० वनराजि] वृक्ष। ~ सात समुद की मसि करौं, लेखनि सव **वनराइ**।→सा० सम्र० (३८) ५-१।

वनमाली—सज्ञा पु० [स०] कृष्ण, प्रभु। दे० 'वनवारी'। ~ **वनमाली** जानै वन कैं आदि। → सव० १८२-१।

वनवारी—सज्ञा पु० [स० वनमाली] कृष्ण। ~कहै कवीर सेवौ **वनवारी**, सीचौ पेड पिवै सव डारी।→सव० १६-५।

वनांनीं—स० स्त्री० [हि०] वणिक् की स्त्री। ~ जाकै घर मैं कुवुधि **वनांनीं** पल पल मैं चित चोरै।→ पद २१४-२।

वनि—सज्ञा पु०[स० वन + इ(प्रत्य०)] वन मे। ~इहि **वनि** वाजै मदल भेरि रे वहि **वनि** वाजै तूरा रे। → पद २५५-६, १०।

वनिज—सज्ञा पु० [स० वाणिज्य] व्यापार। ~ दूजा **वनिज** नही कछु वाषर, रांम नाम दोऊ तत आषर। →सव० १४-५, सव० १५६-२, वेलि (६) १-१६।

वनिजन—सज्ञा पु० [स० वाणिज्य] वाणिज्य के लिए, व्यापार के लिए। ~इत पर घर उत घर, **वनिजन** आए हाट। →सा० चिता० (१२) ५७-१।

वनिजारा—सज्ञा पु० [हि०] व्यापारी। ~ ओढन मेरा राम नाम, मैं रामहिं का **वनिजारा** हो। →कहरा (३) ४-१।

वनिजिया—संज्ञा पु० [स० वाणिज्य से] व्यापारी। दे० 'वनिज'। ~ कवीर हीरा **वनिजिया**, मानसरोवर तीर। → सा० गु० (१) २६-२, कहरा (३) ४-२।

वनिता—सज्ञा स्त्री० [स० वनिता] स्त्री। ~ मात पिता **वनिता** सुत सपति, अति न चले सगात। सव० ७०-६, पद २७५-३, सा० सग० (२६) ६-२।

वनौरी—सज्ञा पु० [दे०] विवाह के अवसर का मगल गीत। ~सव पडित मिलि धधे परिया, कविरा **वनौरी** गावै। →पद ३१८-७।

वन्दहिं—क्रि० [स० वन्दन] वन्दना करते है, पूजा करते है। ~सो फूल **वन्दहिं** भक्त विरहुली, डसि गैल वैतल सांप विरहुली। → विरहुली (७) ६।

वयाई—सज्ञा पु० [हि०] तौलाई, व्यापार। ~विना हाट हटवाई लावै, करै **वयाई** लेखा। →सव० ६०-३।

वपु—सज्ञा पु० [सं० वपु] शरीर। ~ **वपु** वारी आनद मीरगा, रुचि रुचि सर मेलै। → सव० ६५-२, सव० ५-३, सव० १००-२।

वपुरा—वि० [सं० वराक्] वेचारा। ~ तिनका **वपुरा** ऊवरा, गलि पूरे कैं लागि। → सा० ज्ञा० वि०(४) ७-२, सा० गु० (१) २१-१।

वपुरी—वि० [हि०] बेचारी। ~छौ मास तागा वरिस दिन कुकुरी, लोग वोलैं भल कातल **वपुरी**। →पद २१५-४, पद ३३१-६।

ववूर—सज्ञा पु० [स० वव्वूर] ववूल का वृक्ष। ~आव चढी अँवली रे अँवली **ववूर** चढी नगवेली रे। पद-२५५-३।

ववेक—संज्ञा पु० [स० विवेक] विवेक, ज्ञान। ~ वैसनौ भया तौ का भया, वूझा नही **ववेक**। →सा० भेष० (२४) १६-१, सव० ६७-६।

वमेक—सज्ञा पु० दे० 'ववेक'।

वर—१, सज्ञा पु० [स० वर] पति, २ वि० श्रेष्ठ, असग। ~ **वर** नहिं वरै व्याह नहिं करई, पूत जनावन हारी। → सव० १६८-४, पद ३१३-७।

वरकस—क्रि० वि० [सं० वल+वश] वलपूर्वक। ~ दिन की वेठ खसम सौं **वरकस** तापर लगी तिहाई। →पद २७१-७।

वरजतां—क्रि० [स० वर्जन] मना करने पर। ~गलका खाया **वरजतां**, अव क्यों आवै हाथि। → मा० मन० (१३) १६-२।

वरजि—क्रि० [स० वर्जन] रोकिये। ~वदे पर जोरा हुवै, जम कौ **वरजि** गुसाँइ।→सा० वीन०(५६) ५-२।

वरजि—क्रि० [स० वर्जन] विमुख करके।~वारवार **वरजि** विखया तै लै नर जौ मन तोलै। → पद २५४-४।

वरजेउँ—क्रि० [स० वर्जन] मना किया। ~मैं तोहि **वरजेउँ** वार वार, तै वन वन सोध्यो डार डार।→सव० १०६-३।

वरजौं—क्रि० [स० वर्जन] रोकता हूँ। ~झूठा कवहुं न करिहै काज, हौं **वरजौं** तोहि सुनु नीलाज। →वसत (४) १२-५।

वरण—सज्ञा पु० [स० वर्ण] वर्ण, जाति। ~सकल **वरण** एकत्र ह्वै सकति पूजि मिलि खाँहि। →मा० साँच० (२२) १४-१।

वरत—सज्ञा पु० [स० व्रत] उपवास। ~तीरथ **वरत** जपै तप करि करि, वहुत भाँति हरि सोधैं। →पद २५१-३,पद २७६-६, पद ३०४-३।

वरत—संज्ञा स्त्री० [हि० वटना>वरना से] मोटी रस्सी जिस पर नट चलता है। ~टूटै **वरत** अकास तै, कौन सकत है झेल।→सा० सूरा०(४५) ३२-१।

वरतिया—वि० [सं० व्रतिन्] व्रतधारी जैन साधु। ~केस लूचि लूचि मुए **वरतिया**, इनमैं किनहूं न पाई। → पद २६०-६।

वरतौं—क्रि० [सं० वर्त] विद्यमान होना। ~तिरविधि रहौ सभनि मा **वरतौं**, नाम मोर रमुराई हो। → कहरा (३) १०-७।

वरन—सज्ञा पु० [सं० वरुण] वरुण देव। ~जिनि व्रह्माण्ड रच्यौं वहु रचना, वाव **वरन** ससि सूरा। → सव० ८१-५।

वरन—वि० [स० वर्ण] सुन्दर । ~अवरन वरन कछू नहि वाके, खाद्य अखाद्यै खाई ।→पद २०६-१० ।

वरन—सज्ञा पु० [स० वर्ण] वर्ण, रग । ~नाना रूप वरन यक कीन्हा, चारि वरन उन्ह काहु न चीन्हा । →र० ६३-१, मा० मधि० (३१) ६-२, विप्र०(२)२८,सव०१४०-६ ।

वरन—सज्ञा पु० [स० वर्ण] १. वर्ण, जाति । २. रग ।~वाको नाम काह कहि लीजै, वाके वरन न रूपा ।→ सव० १६७-३, र० ६२-१, सव० १२६-१ ।

वरनहुँ—क्रि० [स० वर्णन] वर्णन करूँ । ~ वरनहुँ कौन रूप और रेखा, दोसर कौन आहि जो देखा । → र० ६-१ ।

वरनि—क्रि० [हि० वर्णन] वर्णन करना । ~ सोभा अदवुद रूप की, महिमा वरनि न जाय ।→चाँचर (५)१-३ ।

वरने वाहिरा—वि० [सं० वर्णन+वहि] वर्णन से परे, वर्णनातीत । ~अवरन वरने वाहिरा, करि करि थका उपाइ । →सा० सम्र० (३८) ६-२ ।

वर वर—यौ० [दे०] वकवास । ~ व वा वर वर कर सभ कोई, वर वर करै काज नहि होई । →ज्ञान चौं० (१) ४६ ।

वरवस—क्रि० वि० [स० वल+वश] वलपूर्वक, जवर्दस्ती । ~ वरवम आनि कै गाय पछारिन, गला काटि जिव आपु लिआ ।→पद २१०-२ ।

वरात—संज्ञा पु० [दे०] संचय, ढेर । ~वहुत प्रताप गाउ सौ पाए, दुइ लख टका वरात । →सव० ७०-३ ।

वराता—सज्ञा स्त्री० [स० वरयात्रा] वारात । → अवधू वैतत रावल राता, नाचै वाजन वाजु वराता । →सव० ३६-१ ।

वरि—क्रि० वि० [स० वत्] वरावर, के समान । ~समदहि तिनका वरि गिनै, स्वाँति वूंद की आस ।→सा० निह० पति० (११) ५-२ ।

वरिआई—क्रि० वि० [सं० वलात्] जवर्दस्ती । ~ म सा सरा रचो वरिआई, सर वेधे, सभ लोग तवाई । →ज्ञान चौं० (१) ६७ ।

वरियाँ—सज्ञा स्त्री० दे० 'वरिया' ।

वरिया—सज्ञा स्त्री० [स० वेला] वेला, ममय । ~वरिया वीती वल गया, केस पलटि भए और । →सा० काल० (४६) २५-१, सा० सापी भू० (५७) २-१ ।

वरियाई—क्रि० वि० [स० वलात्] वलपूर्वक । ~तीनि लोक के करता कहिए, वालि वधो वरियाई । → सव० ४-५ ।

वरियाई—क्रि० वि० [म० वलात्] हठ पूर्वक ।~इन्द्री सवल निवल मैं माधो, वहुत करै वरियाई ।→पद २६७-३ ।

वरी—सज्ञा स्त्री० [फा०] आजाद, अधिकारिणी । ~ देहरि लौं वरी नारि सग है आगै सजन सुहेला । →सव० १७६-७ ।

बरे—संज्ञा पु० [सं० वटी] उरद की पीसी हुई दाल का बना हुआ पक्वान्न। ~हरि के खारे **बरे** पकाए, जिनि जानें तिन खाए। →पद ३३१-१।

बरेंडै—सज्ञा स्त्री० [हि० वेडा] वल्ली। ~औलौती का चढा **बरेंडै** जिनि पीया तिनि जाना।→पद २१६-६।

बरै—क्रि० [हि० वरना] जलती है। ~ विनु दीपक **बरै** अखड जोति, तहा पाप पुन्नि नहिं लगै छोति। → पद २२५-७।

बरै—क्रि० [सं० वरण] वरण करना, विवाह करना। ~वर नहिं **बरै** व्याह नहिं करई, पूत जनावनहारी। →सव० १६८-४।

बरोह—संज्ञा स्त्री० [स० वट+रोह] वरगद की जटाएँ। ~वारह पखुरी चौविस पाता, घन **बरोह** लागे चहुँ पासा। →सव० १६६-३।

बलंती—वि० [स० ज्वलित] जलती हुई। ~ज्वाला तैं फिरि जल भया, वुझी **बलंती** लाइ। →सा० पर० (५) ३१-२।

बलकल—सज्ञा पु० [स० वल्कल] पेड की छाल।~**बलकल** वस्तर किता पहिरवा, क्या वन मद्धे वासा। → सव० १२२-३।

बलकवा—सज्ञा पु० [स० वालक] वालक, लडका। ~हमरे **बलकवा** के इहै ग्यान, तोहरा के समुझावै आन। →वसंत (४) ११-५।

बलकवै—सज्ञा पु० [स० वालक] वच्चो को ही। ~कहँहि कवीर यह जगत पियारि, अपन **बलकवै** रहलि मारि। →वसत (४) ५-५।

बलाइ—संज्ञा स्त्री० [अ० वला] आपत्ति, विपत्ति, दु ख, कष्ट, रोग। ~मैं मैं वडी **बलाइ** है, सकै तौ निकसो भागि। → सा० चिता० (१२) ६०-१, सा० साध० सा० (२६) ६-२।

बलाही—संज्ञा पु० [स० वलाधिकृत] लगान वसूल करने वाले कर्मचारी। ~खोटौ महतौ विकट **बलाही**, सिर कसदम का पारै। →सव० १०-७।

बलिहारी—सज्ञा स्त्री० [स० वलि+ √हार+ई (प्रत्य०)] न्यौछावर। 'वलि' शव्द 'देय' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, किन्तु विशेषत 'देवताओ के प्रति जो दिया जाय'—इस अर्थ मे 'वलि' का प्रयोग अधिक देखने मे आता है। 'वलि' के साथ 'हृ' धातु का प्रयोग सस्कृत मे भी मिलता है। इसका अर्थ होता है—ले जाना। 'वलिहारी' शव्द का सस्कृत मे अर्थ होता है—वलि को ले जाने वाला, वलि को देने वाला। हिन्दी मे यह शव्द भाव वाचक सज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है—वलि देने का भाव अर्थात् उत्सर्ग। ~**बलिहारी** गुरु आपकी, घरी घरी सौ वार। → सा० गुरु० (१) २-१।

बलीता—सज्ञा पु० [फा० फतील] पलीता, आग लगाने वाली वत्ती।

~काम क्रोध दोइ किया **बलीता,** छूटि गई संसारी ।→सव० ३५-६ ।

बलेंडा—सज्ञा पु० [सं० वडभि] छाजन में वीच का वेड़ा या वल्ली, वडेर । ~ दुचिते की दोइ थूंनि गिरानी मोह **बलेंडा** टूटा । →पद ३०२-३ ।

बलै—क्रि० [सं० ज्वलन] जलती है, दे० 'वरै' । ~ हिरदै भीतरि दौ **बलै,** धुवाँ न परगट होइ । →सा० ग्या० (४) ३-१ ।

बलैया—मुहा [हि०] न्यौछावर होना । ~हो **बलैया** कव देखौंगी तोहि ।→ पद ३४६-१ ।

बसन—सज्ञा पु० [स० वसन] वस्त्र । ~नैन नासिका जिनि हरि सिरजै, दसन **बसन** विधि काया । →सव० ८१-७ ।

बसहि—सज्ञा पु० [स० वश] वश में । ~कहैं कवीर सुनहु नर लोई, काल के **बसहि** परै मति कोई । →सव० ७५-४ ।

बसाइ—क्रि० [हि० वश] वश चलना । दे० 'वसाई' । ~ मेरी चपल वुद्धि सौं कहा **बसाइ** । →पद २२४-२ ।

बसाइगा—क्रि० [हि० वश] वश चलेगा । ~जव जम आइ केस गहि पटकै ता दिन कछु न **बसाइगा** । →पद २७४-५ ।

बसाई—क्रि० [स० वश] वश चलना । ~लै घरि जांहि तहाँ दुख पइए, वुधि वल कछु न **बसाई** । →पद २६७-४ ।

बसि—सज्ञा पु० [स० वश] वश में । ~और हमारे **बसि** पडे, गया कवीरा रूठि । →सा० माया० (१६) २६-२ ।

बसेरा—सज्ञा पु० [स० वास] निवास । ~ आजु **बसेरा** नियरे हो रमैया राम । →वेलि० (६) १-५ ।

बसेरी—वि० [हि०] निवासी । ~ मानिकपुरहि कवीर **बसेरी,** मद्दति सुनी सेख तकी केरी ।→र० ४८-१ ।

बस्त—संज्ञा स्त्री० [स० वस्तु] सामग्री । ~**बस्त** न वासन सूं खिसै, चोर न सकई लागि । →सा० उप० (३४) १०-२ ।

बस्त भाव—यौ० [हि० वस्तुभाव] सारभूत, कुण्डलिनी । ~षट चक्र की कनक कोठडी, **बस्त भाव** है सोई । →पद २१८-३ ।

बस्तर—सज्ञा पु० [स० वस्त्र] कपडा । ~वलकल **बस्तर** किता पहिरवा, क्या वन मद्धे वासा । → सव० १२२-३ ।

बस्ती—सज्ञा स्त्री० [सं० वसति] आवादी ।~विनु जिभ्या गुन गाइया, विनु **बस्ती** का गेह ।→पद २४८-६ ।

बस्तु—सज्ञा स्त्री० [स० वस्तु] पूंजी । ~गाफिल होइ **बस्तु** मति खोवै, चोर मुसै घर जाई ।→पद २१८-२, सा० माया० (१६) २४-२ ।

बहकि—क्रि० [हि० वहकना] वमककर वोलना, वढ-वढ कर वात करना । ~कायर वहुत पमांवही, **बहकि** न वोलै सूर । →सा० सूरा० (४५) १४-१ ।

बहनी—सज्ञा स्त्री [सं० वह्नि] अग्नि । ~ई **बहनी** कुल बहनि कहावैं, ई गृह जारै वा गृह मारै । → विप्र० (२) १८ ।

बहाइ—क्रि० [स० वाह से] फेंक देना । ~ कविरा पढिवा दूरि करि, पुस्तक देइ **बहाइ** । →सा० क० बि० क० (१६) २-१ ।

बहि बहि मरहु—[मुहा०] भटकता हुआ ।~**बहि बहि मरहु** पचहु निज स्वारथ, जम को दड सह्यो । →सब० ६४-३ ।

बही—क्रि० [हि० बहना] बहना, भटकना, कुमार्गी होना । ~राही लै पिपराही **बही**, करगी आवत काहु न कही । →र० १०-१ ।

बहीर—संज्ञा स्त्री० [हि० भीड] जन-समूह, भीड । ~ जिहिं पैडै पडित गए, दुनियां परी **बहीर** । →सा० मधि (३१) ५-१ ।

बहुरि—अव्य० [हि० बहुर] पुन , फिर। पूरा किया बिसाहना, **बहुरि** न आवौं हट्ट । → सा० गुरु (१) १२-२, पद ३१६-४, सब० १८४-१ ।

बहुरिया—सज्ञा स्त्री० [स० वधूटी] पत्नी । ~हरि मोरा पिउ मैं हरि की **बहुरिया** । →पद ३३६-१ ।

बहुरे—क्रि० [हि० बहुरना] वापस आए, लौट आए । ~गए ते **बहुरे** नही, कुसल कहै को आई । →सा० सू० मा० (१४) ६-२ ।

बहूता—वि० [सं० बहुतर] बहुत (लोग) । ~ बहुत खेल खेलै बहु बूता, जन भौंरा अस गये **बहूता** । →र० ८४-६ ।

बहोरि—अव्य० [हि० बहोर] पुन, फिर । ~काया हाडी काठ की, ना ऊँ चढै **बहोरि** । →सा० चिता० (१२) ३१-२, सा० मन० (१३) २४-२ ।

बहोरि—क्रि० [हि०] लौटा लो । ~ कबीर यहु तन जात है, सकै तो लेहु **बहोरि** । →सा० चिता० (१२) ३७-१ ।

बांका—वि० [स० वक] बिरला । कहै कबीर यहु वास विकट अति ग्यान गुरू लै **बाका** । → पद ३४४-८ ।

बांको—वि० [सं० वक्र] टेढा । ~ एकौ बार न होइहै **बांको**, बहुरि जन्म नहिं होइहै ताको । → र० ५८-४ ।

बांग—सज्ञा स्त्री० [फा०] नमाज की अजान । ~ कहु रे मुल्ला **बाग** निवाजा । → सब० ७२-१, पद ३०४-५ ।

बांचा—क्रि० [हि० बचना] बचा हुआ । सतो महतो सुमिरो सोई, काल फास जो **बाचा** होई । → पद २८६-१ ।

बांचनिहार—वि० [हि० बचना + हार] बचने वाले । ~ मरि गये ते मरि गये, बांचे **बांचनिहार** । → र० ६६-६ ।

बांचिहौ—क्रि० [हि० बचना] बचोगे ।

~सार सवद गहि **बांचिहौ** मानौ इतवारा। → पद ३१६-१।

बांचु—क्रि० [हि० वचना] वचो। ~विरवै **वांचु** हरि राचु समझु मन वउरा रे। →सव १६३-१।

बांचै—क्रि० [हि० वचना] सुरक्षित। ~अटपट कुभरा करै कुभरैया, चमरा गाँव न **बांचै** हो। →कहरा (३) २-२।

बांछा—सज्ञा स्त्री० [स० वाञ्छा] वाञ्छा, इच्छा। ~ सुनहि **बांछा** सुनहि गैऊ, हाथा छाडि वेहाथा भैऊ। →र० १६-३।

बांछिअै—क्रि० [स० वाञ्छा] कामना कीजिए। ~ सुरगवासु न **वाछिअै** डरिए न नरकि निवासु। → पद २४५-२।

बांझ—सज्ञा स्त्री० [स० वन्ध्या] स्त्री० जो सन्तानोत्पत्ति के लिए अक्षम हो। ~पारवती को **वाझ** न कहिए, ईस न कहिए भिखारी। →सव० ४-६, पद २७०-७, सव० १६४-२, सा० वेली (५८) ४-२, सव० ११६-३।

बाझ—सज्ञा स्त्री० [स० वन्ध्या] असमर्थ। ~ वैल वियाइ गाइ भई **वाझ**, वछरहि दूहै तीनिउ साझ। →सव० ८६-३।

बांधल—क्रि० वि० [स० वद्ध] वँधा हुआ। ~ निझरुहि नीरु जानि परिहरिया, करम क **बांधल** लालच करिया। →र० २६-२।

बांधल—क्रि० [भोज०] वाधा। ~ मूए चंद मुए रवि सेसा, मुए हनुमत जिन्हि **वाधल** सेता।→सव० ८६-४।

वान—सज्ञा पु० [स० वर्णक] वनावट, सजधज। ~जोलहै तनि वुनि **वांन** न पावल फारि विनै दस ठाई हो। →पद २३७-७।

वांनां—सज्ञा पु० [स० वर्णक] आकार। ~जव थैं इनमन उनमन जांनां, तव रूप न रेप तहाँ ले **बांनां**। → पद २१२-४।

वान—सज्ञा पु० [स० वाण] वाण, तीर। ~ काया कसौ कमान ज्यौ, पचतत्व करि **वांन**। →सा० मन० (१३) ३०-१।

वांन—सज्ञा पु० [हि०] दे० 'वानि'। स्वभाव। ~ इक तत मत ओपध **बांन**, इक सकल सिध राखैं अपान। →सव० ६१-६।

बांना—सज्ञा पु० [स० वर्णक] वेश। ~और सकल ए पेट भरन कौं, वहु विधि **वांनां** धारी। → सव० ६६-१२।

बांनि—सज्ञा स्त्री० [हि० वनना] स्वभाव, प्रकृति, आदत।~मन के मते न चालिये, छाँडि जीव की **वानि**। → सा० मन० (१३) १-१, पद २६६-५, पद २१४-१, सा० सूरा० (४५) ३१-१, सा० वेसा० (३५) ५-२, सव० ५६-४।

वानीं—सज्ञा स्त्री० [स० वर्ण] सजधज, रूप। ~ कुम्भरा एक कमाई माटी वहु विधि **बांनीं** लाई। →पद २१६-३।

बाँनी—सज्ञा स्त्री० [सं० वाणी] उपदेश । ~ मंझा जोति राँम परगासै, गुर गमि **बाँनी** । सव० १२-२ ।

बाँवि—सज्ञा स्त्री० [स० वल्मीक] साँप का बिल । दे० 'बावी' । ~ मूसा पैंठा **बाँवि** मैं, लारै साँपिनि धाई ।→सव० ५१-३ ।

बांबी—सज्ञा स्त्री० [स० वल्मीक] साँप का विल । ~**बावी** मैं विसहर बसै कोई पकरि न पावै । →पद-३४५-१३ ।

बाँम्हन—सज्ञा० पु० [स० ब्राह्मण] ब्रह्म का ज्ञाता । ~सुइ पीवै **बाँम्हन** मतवाला, फल लागा विन बाडी । →सव० ३०-४ ।

बाँवना—सज्ञा पु० [स० वामन] बौना, छोटा । ~ चदन होसी **बाँवना**, नीम न कहसी कोई । →सा० साधु० (२८) १-२ ।

बाँवरिया—वि० [सं० वातुल] बावला, पागल ।~**बाँवरिया** वन मैं फँद रोपै सग मैं फिरै निचीता रे । → पद २६३-७ ।

बांवै—वि० [स० वाम] बाएँ । ~ झल **बाँवै** झल दाँहिनै झलहि माहि व्योहार । → सा० सम्र० (३८) ७-१ ।

बाँहनहारा—वि० [स० वहन + हारा (प्रत्य०)] बाण चलाने वाला ~**बाँहनहारा** क्या करै, बान न लागै ताहि । →सा० निगु० (५५) ५-२, सा० सूरा० (४५) १५-२ ।

बाँहि—सज्ञा स्त्री० [स० बाहु] भुजा मे, हाथ मे । ~जे छाँडौं तौं बूडिहौं, गहौं त डसिहै **बाँहि** । →सा० विर० (३) ४३-२ ।

बांही—संज्ञा स्त्री० [स० बाहु] भुजा । ~लच्छ करोरि जोरि धन गाडिनि, चलत डोलावत **बांही** हो । → कहरा (३) ५-२ ।

बाइक[1]—क्रि० वि० [स० वार + इक] एक वार ।

बाइक[2]—संज्ञा पु० [स० वाक्य] वाक्य वचन । ~मन फाटा **बाइक** बुरै, मिटी सगाई साक । →सा० विर्क० (३७) २-१ ।

बाई—सज्ञा स्त्री० [स० वायु] वायु-दोष । ~झूठी अनभै विस्तरी, सव थोथी **बाई** । →सव० १-६ ।

बाउर—वि० [सं० वातुल] बावला, पागल । दे० 'बावरिया' । ~ आपुहि **बाउर** आपु सयाना, हिरदय वसे सो राम न जाना । →र० ४१-४ ।

बाकी—वि० [अ०] शेष, अवशिष्ट । ~धरमराइ जब लेखा माग्या, **बाकी** निकसी भारी । →सव० १०-६ ।

बाके—सर्व० [हि० वह से] उसके ।~ नारि एक ससारहि आई, माय न **बाके** वाप न जाई । →र० ७२-१ ।

बाग—सज्ञा स्त्री० [स० वल्गा] लगाम । ~नारी कुड नरक का, विरला थाँभै **बाग** । →सा० कामी० (२०) १५-१ ।

वागा—क्रि० [दे०] व्याप्त हुआ। ~साखा पत्र कछू नहिं वाकै, अष्ट गगन मुख **वागा**। →सव० ३७-४।

वागा—क्रि० [स० वाक्] गूंजता है। ~ दीपक विनु जोति जोति विनु दीपक, हद विन अनाहद सवद **वागा**। → सव० ११६-६।

वागा—क्रि० [सं० वाक्] वोला, गूंजा। ~कहै कवीर जिय संसा नाही, सवद अनाहद **वागा**। →सव० २६-६।

वागुल—सज्ञा पु० [स० वक] वगुला, सफेद रग का एक पक्षी विशेप। ~ते विधना **वागुल** रचे, रहे अरध मुखि झूलि। →सा० चिता० (१२) २८-२।

वागुलि—सज्ञा पु० [सं० वाग्जाल] वाग्जाल। ~नियरे न खोजै वतावै दूरि, चहुँ दिसि **वागुलि** रहलि पूरि। →वसन्त (४) ७-८।

वाचवंत—क्रि० [स० वाचन] वांचते हैं, वोलते हैं। ~सोई आखर सोइ वैन, जन जू जू **वाचवत**। → सा० विचा० (३३) ७-१।

वाचावंध—वि० [स० वाचा+वद्ध] वचन वद्ध। ~टूटै पर छूटै नही, भई जो **वाचावध**।→सा० माया० (१६) २६-२।

वाछ—सज्ञा पु० [दे०] वस्त्र का किनारा। ~विनै कवीरा चूनरी, वै नहिं वाँधल **वाछ**। →पद २४८-६।

वाछ—सज्ञा स्त्री० [स० वाछा] आकांक्षा, अभिलापा, इच्छा। दे० 'वाछा'। ~ कलिजुग हम सौं लडि पडा, मुहकम मेरा **वाछ**। → सा० गुरु० (१) ५-२।

वाजा—सज्ञा पु० [स० वाद्य] वाजा। ~विनु **वाजा** झनकार उठै जहँ समुझि परै जव ध्यान घरै।→ पद २४६-३।

वाजिया—संज्ञा पु० [फा० वाजी] खेल, तमाशा। ~ नटवत सारे साज साजिया, जो खेलै सो देख **वाजिया**। →र० ८२-४।

वाजी—सज्ञा पु० [फा०] जादूगर। ~**वाजी** झूंठ वाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी।→सव० १८-५।

वाजी—सज्ञा स्त्री० [फा० वाजी] जुएँ का खेल। ~**वाजी** है ससार कवीरा, चित्त चेति डारो पासा। → पद ३१६-८।

वाजी—संज्ञा स्त्री० [फा०] खेल, तमाशा। दे० 'वाजिया'। ~नटवत वाजी पेखनि पेखै, वाजीगर की **वाजी**।→ सव० ६०-१०।

वाजीगरी—सज्ञा पु० [फा० वाजीगर] जादूगरी। ~ **वाजीगरी** ससार कवीरा, चेति ढारि पासा। →सव० १७५-८।

वाझ—अव्य० [स० वर्ज] विना, वाज, सिवाय। ~ भिस्त न मेरे चाहिए, **वाझ** पियारे तुज्झ।→ सा० निह० पति० (११) ७-२, सव० ३२-१३, सव० ८-५।

वाझी—क्रि० [हि० वँधना] फँसेगी, वंधेगी। ~मुकुति की डोरि गाढ़ि,

जनि खैंचहु, तब **बाझी** बड रोहू हो। →कहरा (३) १-५।

बाट—सज्ञा पु० [स० बाट] मार्ग। ~अघटि चले सो नगरि पहूँते, **बाट** चले ते लूटे। →सब० २५-३, सब० १२६-३, सब० १६७-८, पद २०२-१०, पद ३१२-७, सा० जी० मृ० (४१)१४-१, सा० लै० (१०)३-२, सा० चिता० (१२) ५७-२, सा० बिर० (३) ६-१, सा० सूषि० मा० (१४) ७-१, सा० पर०(५) ६-२।

बाटा—सज्ञा पु० [स० बाट] मार्ग। दे० 'बाट'। ~ कहाँ लै कहीँ जुगन की बाता, भूला ब्रह्म न चीन्है **बाटा**। →र० ५-१।

बाटी—सज्ञा पु० [सं० बाट+ई] मार्ग, रास्ता। दे० 'बाट'। ~चहुँ जुग भक्तन बाँधल **बाटी**, समुझि न परी मोटरी फाटी। → र० ५-६, पद २२१-२।

बाटै—सज्ञा पु० [स० बाट] गतिशील। ~घाटे **बाटै** सब जग दुखिया, क्या गिरही वैरागी हो। → सब० १३८-३।

बाँड़—सज्ञा पु० [स० बाट] बाड पर, फसल की रक्षा के लिए काँटे-बाँस आदि के बनाए हुए घेरे को बाड कहते है। ~**बाड़ि** चढती बेलि ज्यूं, उलझी आसा फध। →सा० माया० (१६) २६-१।

बाड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० वारी] वाटिका। ~यह अम्रित की **बाड़ी** है रे, तिनि हरि पूरी करिया। →सब० ११६-४, पद २५३-५, सब० ३०-४।

बाढ़ि—संज्ञा स्त्री० [स० वृद्धि, हि० बढना] वृद्धि, प्रभाव। ~चले लोग सब मूल गँवाई, जम की **बाढि** काटि नहिं जाई। → र० १३-३।

बाढी—सज्ञा पु० [स० वर्द्धकि, प्रा० बढ्ढइ] बढई। ~ जैसे **बाढ़ी** काष्ट ही काटै अगिनि न काटै कोई। → पद ३२५-५।

बाढु—क्रि० [हि०] स्वच्छ करना। ~बडे भोर उठि आँगनु **बाढु**, बडे खाँच लै गोबर काढु। → वसन्त (४) ६-२।

बाती—संज्ञा स्त्री० [सं० वर्तिका] बत्ती। ~या तन का दिवला करूँ, **बाती** मेलो जीव। → सा० विरह० (३) २३-१।

बाद—सज्ञा पु० [स० वाद] वाक्य, ज्ञान, तर्क-वितर्क। ~पडित **बाद** बदै सो झूठा। → सब० १६८-१, पद ३०६-३, पद २१६-१, पद ३२१-३।

बादर—संज्ञा पु० [स० वारिद] मेघ, बादल। ~ उपजत बिनसत बार न लागै, ज्यौं **बादर** की छाँही हो। → कहरा (३) ५-६।

बादि—क्रि० वि० [स० वादि] निरर्थक, व्यर्थ। ~ कहै कबीर रमता सौं रमना, देहि **बादि** न खोई। →सब० ३३-१०, सब० १८२-२, पद २३६-८, सा० कामी० (२०) १८-२, सा० परचा० (५) ३३-२।

वादु—सज्ञा स्त्री० [फा०-वाद] शराव, मदिरा। ~ दरोगु पढि पढि खुसी होइ वेखवरु वादु वकाहि। →सव० १८१-५।

वाना—संज्ञा पु० [स० वाण] वाण। ~ससय मिरगा तन वन घेरे, पारथ वाना मेलै। →पद १६६-७।

वाना—संज्ञा पु० [स० वर्णक] वेश-विन्यास। ~मैं तोहिं पूछौं मूसल-माना, लाल जरद की नाना वाना। →र० ४६-३।

वाना—सज्ञा पु० [स० वर्णक] वेश, पहनावा। ~ भये विरक्त लोभ मन ठाना, सोना पहिरि लजावै वाना। →र० ६६-७।

वानारसि—संज्ञा पु० [स० वाराणसी] वाराणसी नगर। ~ हिरदै कठोर मरै वानारसि, नरक न वच्या जाई। →पद ३०८-७।

वानि—सज्ञा स्त्री० [हि०] आदत, स्वभाव। ~ तू राम कहन की छाटि वानि, तुझ तुरत छुडाऊँ मेरो कह्यो मानि। → सव० १५६-६।

वानि—सज्ञा स्त्री० [हि० वान] १. सजधज, आभा। २. रहस्य, मर्म। ~परदे परदे चलि गए, समुझि परी नहिं वानि। →र० ८२-६।

वानि—सज्ञा स्त्री० [स० वाणी] वाणी, उपदेश ~गहनी वंधन वानि नहिं सूझा, थाकि परे तव किछवो न वूझा। →र० १६-३।

वानिज—सज्ञा पु० [सं० वाणिज्य] व्यापार। दे० 'वनिज'। ~वानिज एक सभन मिलि ठाना, नेम धरम संजम भगवाना। →र० ३६-३।

वानियाँ—सज्ञा पु० [स० वणिक्] वनिया, व्यापारी। ~साँई मेरा वानियाँ, सहजि करे व्योपार। → सा० सम्र० (३८) ८-१, पद २१४-१।

वानी—सज्ञा पु० [हि० वनिया] वैश्य। दे० 'वानिया'। ~ ब्राह्मन छत्री वानी, तिनहु कहल नहिं मानी। →पद ३४८-३।

वानी—सज्ञा स्त्री० [स० वाणी] वाणी, ग्रन्थ। ~खानी वानी खोजि देखहु फिर न कोउ रहाय। →हिंडोला (८) १-११।

वानी—सज्ञा स्त्री० [स० वर्णक] स्वभाव। दे० 'वानि'। ~ फूलै न फलै वाकी है वानी, रैनि दिवस विकार चुवै पानी। →सव १६६-४।

वानी—संज्ञा स्त्री० [स० वाणी] उप-देश। ~ वानी सलिल राम घन उनयाँ, वरिपै अमृतधारा। →सव० ६७-३।

वाप—सज्ञा पु० [स०] पिता, जनक। ~माँइ विड़ाणी वाप विड, हम भी मझि विडाँह। → सा० चिता० (१२) ५६-१।

वापुरा—वि० [स० वराक ?] वेचारा, दीन। दे० 'वपुरा'। ~ऐसा घाई वापुरा, जीवहिं मारै झारि। →र० १८-६।

वापुरे—वि० [सं० वराक ?] वेचारा दे० 'वापुरा'। ~पार न पावहिं

बापुरे, भरमत फिरहिं उदास। → र० ८०-६, सा० विचार० (३३) ५-२।

बाव—सज्ञा स्त्री० [स० वायु] वायु, हवा। दे० 'बाव'। ~बाजे **बाव** विकार की, भी मूदा जीवै। → सा० मन० (१३) २३-२।

बाम—वि० [स० वाम] कुटिल, दुष्ट। ~गाँव बसत है गरब भारती, **बाम** काम हंकारा हो। →कहरा (३) ७-४।

बार—सज्ञा स्त्री [स० वार] समय, काल, विलम्ब, देर।~धूंवां केरा धौलहर, जात न लागै **बार**। → सा० चिता० (१२) २७-२, सब० १४८-६, पद २१८-४, कहरा (३) ५-६, सा० काल० (४६) १३-२, पद २०३-५, र० ५५-२।

बार—सज्ञा पु० [स० बाल] बालक। दे० 'बारा'। ~ना हम **बार** वूढ नाही हम ना हमरै चिलकाई हो। →पद २३७-४।

बार—सज्ञा पु० [हि० बाल] बाल, केश। ~एको **बार** न होइहै बाँको, वहुरि जन्म नहिं होइहै ताको। → र० ५८-४।

बार—सज्ञा स्त्री० [स० बार] १ दफा, मरतवा। २. द्वार, दरवाजा। ३. विलम्ब, देर। ~ बलिहारी गुरु आपकी, घरी घरी सौ **बार**। मानुष तै देवता किया, करत न लागी **बार**। → सा० गुरु (१) २-१, २।

बारहु—सज्ञा पु० [स० बालक] बालक से। ~**बारहु** ते पुनि वृद्ध हुआ जब, होनिहार सो होया। →पद ३१६-५।

बारा—क्रि० [हि०] जला दिया, नष्ट कर दिया। ~घसि चदन वनखडि **बारा**, बिनु नैंननि रूप निहारा। →सब० ८-७।

बारा—सज्ञा पु० [स० बालक] दे० बालक। 'बारो'।~हिन्दू तुरुक की वूढो **बारा**, नारि पुरुष का करहु बिचारा।→विप्र० (२) २६।

बारा[१]—क्रि० वि० [स० वारम्] वारम्वार, पुन: पुन।

बारा[२]—सज्ञा स्त्री० [सं० वार] विलम्ब, देर। ~ नाँन्ही मैदा पीसि लई है, छाँनि लई है **बारा**। कहैं कबीर तेल जब मेल्हा, बुनत न लागी **बारा**॥ →सब० १५४-१, २, र० १३-१०, पद २६८-३, र० ५५-२, र० ४३-२।

बारा—सज्ञा पु० [स० वारि] जल, अमृत। ~पुहुप वास भँवरा एक राता, **बारा** ले उर धरिया। → सब० १२-५।

बारा—सज्ञा पु० [स० वाट] बाडा, पशुशाला। ~गगन मंडल रोकि **बारा** तहाँ दिवस न राती।→ सब० १००-७।

बारा—पु० दे० 'बार'।

बारि—सज्ञा पु० [स० द्वार] द्वार, दरवाजा। ~बाँध्यो **बारि** खटीक कै, ता पसु केतिक आय। →सा० काल० (४६) २७-२, पद १६३-७।

बारि—सज्ञा स्त्री० [स० वारि] जल।

सूखे सरवरि पालि बधावै लूने खेति हठि बारि करै। →पद २३३-५।

बारि—संज्ञा स्त्री० [सं० बाला] युवती। ~बुढिया हँसि बोलै मैं नितहिं बारि, मोहि अस तरुनि कहौ कौन नारि। →बसत (४) ४-१।

बारि—सज्ञा पु० [सं० द्वारि] द्वार पर, दरवाजे पर। ~खभा एक गयंद दोइ, क्यो करि बधसि बारि। सा० चिता० (१२) ४२-१, सा० विचार० (३३) ५-१, सा० चिता० (१२) २-१।

बारिक—सज्ञा पु० [सं० बालक] लडका। ~मुसि मुसि रोवै कबीर की माई, ए बारिक कैसे जीवहिं खुदाई। → सब० १३६-३, सब० १७५-५।

बारी—संज्ञा स्त्री० [सं० वाटिका] वाटिका, बगीचा। ~नाऊँ मेरै खेती नाऊँ मेरै बारी, भगति करउँ जन सरनि तुम्हारी।→सब० ४६-३, सा० सूरा० (४५) २१-१, सब० ६५-२, सब० १००-२।

बारी—संज्ञा स्त्री० [सं० वार] अवसर, पारी। ~तेरी बारी जीयरा, नेरी आवै नित। → सा० काल० (४६) ६-२।

बारी—सज्ञा स्त्री० [सं० बाला] किशोरी, नवयुवती। →हौं बारी मुख फेरि पियारे।→पद ३५०-१।

बारी—सज्ञा पु० [सं० वारि] जल। दे० 'वारि'। ~सरग पताल भूमि लै बारी, एकै राम सकल रखवारी। →र० ५६-३।

बारै—क्रि० [हिं० बारना] जलाती है। ~साँझ सकार दिया लै बारै, खसम छोडि सुमिरै लगवारे। →र० ७३-४।

बारो—सज्ञा पु० [सं० बालक] बालक। ~तन के बिरध कहा भौ बौरे, मनुआ अजहूँ बारो हो। → कहरा (३) ३-४।

बालन—वि० [सं० बाल] बाल बुद्धि वाले, नासमझ। ~हरि अस ठाकुर तजा न जाई, बालन भिस्त गाव दुलहाई।→र० ३६-४।

बालम—सज्ञा पु० [सं० वल्लभ] प्रिय। ~बालम आउ हमारे गेह रे।→ सब० १८६-१।

बालि—सज्ञा स्त्री० [हिं० बाल] जौ, गेहूँ आदि पौधो की बाल, अन्न। ~बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढै खेत। →सा० चाँणक० (१७) ६-२।

बाव—सज्ञा पु० [सं० वायु] हवा। ~जिनि ब्रह्मण्ड रच्यौ बहु रचना, बाव बरन ससि सूरा। → सब० ८१-५।

बावन—सज्ञा पु० [सं० वामन] वामनावतार।~बावन रूप न बलि की जाँचो, जो जाँचै सो माया। →पद २६२-६।

बावरिया—वि० [सं० वातुल प्रा० बाउल] दे० 'बावरी'।

बावरी—वि० [सं० वातुल] पागल।

~पिता के सगहि भई **बावरी,** कन्या रहलि कुँवारी। →पद २६०-२।

बावलिया—वि० [सं० वातुल] पागल। दे० 'बावरी'। ~कहै कबीर एक ही ध्यावो, **बावलिया** ससारा। → पद ३०८-१०, सब० १७७-१०।

बावें—वि० [सं० वाम] बायाँ। ~ तजि **बावें** दाहिनै बिकारा हरि पद दिढ़ करि गहिए।→पद ३३७-७।

बाषर—सज्ञा पु० [सं० प्राकार] घर, वखरी। ~ दूजा वनिज नही कछु **बाषर,** राँम नाम दोऊ तत आपर। →सब० १४-५।

बास—सज्ञा स्त्री० [स० वास] सुगध। ~पुहुप **बास** भंवरा एक राता,वारा ले उर धरिया। → सब० १२-५, सब० २८-५; १८२-४, पद ३४४-८, वसत० (४) १-४, सा० बेली० (५८) ६-१, सा० बेसास० (३५) १६-१।

बास—सज्ञा पु० [स० वास] निवास। ~ कबीर मन मधुकर भया, करै निरन्तर **बास**। → सा० परचा० (५) ६-१।

बास—क्रि० [स० वास] निवास करना। ~जल मैं उतपति जल मैं **बास,** जल मैं नलिनी तोर निवास। → सब० ८३-३।

बास—वि० [स० वास] शक्ति। ~प्रगटी **बास** वासना धोइ, कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ। → सब० ४७-५।

बासन—सज्ञा पु० [सं० वासन] वर्तन, थैली। ~ आपुहि करता भया कुलाला, बहुविधि **बासन** गढै कुमारा। → र० २६-१, सा० उप० (३४) १०-२, सब० १६६-५।

बासर—सज्ञा पु० [स० वासर] दिन। ~ निसु **बासर** नहिं होत विरहुली, पौंन पानी नहिं मूल बिरहुली। → विरहुली (७) २।

बासनां—सज्ञा स्त्री० [स० वासना] इच्छा।~एक निगंध **बासनाँ** प्रगटै; जग थैं रहै अकेला।→पद ३०५-१३।

बासा—सज्ञा स्त्री० दे० 'वास'।

बासा—सज्ञा पु० [सं० वास] निवास, आवास। ~जाका **बासा** गोर मैं, सो क्यौ सोवै सुक्ख। →सा० सुमि० (२) १३-२।

बासिग—सज्ञा पु० [स० वासुकि] वासुकि नाग। ~ पवन कोटि चउवारे फिरहिं, **बासिग** कोटि सेज विसतरहिं। →सब० १२८-७।

बासी—वि० [स० वास] देर का, जो ताजा न हो। ~ **बासी** पावस पडि मुए, दिषै बिलवे जीव। →सा० उपजणि० (५०) ५-२, वसत (४) ६-३।

बासुरि—संज्ञा [स० वासर] दिन। 'दे० वासर'। ~**बासुरि** सुख नाँ रैनि सुख, ना सुख सुपिनै माँह। → सा० बिरह० (३) ४-१, सब० ६१-२, सब० ११३-२, सा० मधि० (३१) ४-१, सा० परचा० (५) ३०-२।

बासै—संज्ञा पु० [सं० वास] मजिल, ठहराव। ~विच कै **बासै** रमि

रहा, काल रहा सिर पूरि । →सा० काल० (४६) २३-२ ।

वाहन—क्रि० [स० वहन] फेकना, चलाना । ~सतगुरु शब्द कमान ले, **वाहन** लागे तीर । → सा० गुरु० (१) ६-१ ।

वाहनो—सज्ञा पु० [स० वाहन] सवारी । ~हाथी घोडा वैल **वाहनो**, सग्रह किया घनेरा । →सव० १३४-३ ।

वाहा—क्रि० [स० वहन] फेका, चलाया । ~एक जु **वाहा** प्रीति सो, भीतर विधा शरीर । →सा० गुरु० (१) ६-२ ।

वाहिरा—अव्य० [स० वाह्य] विना, वगैर । ~सतगुर परखै **वाहिरा**, अतरि रहा अलेप । →सा० भेप० (२४) १६-२ ।

वाहिरा—क्रि० वि० [स० वाह्य] वाहर, वचित । ~सेख सवूरी **वाहिरा**, क्या हज कावै जाइ । →सा० साँच० (२२) ११-१ ।

वाहिरा—क्रि० वि० [स० वाह्य] वाहर ही वाहर । ~राखनहारे **वाहिरा**, चिड़ियै खाया खेत ।→सा० चिता० (१२) १५-१ ।

वाहिरा—अव्य० [स० वहि] विना, पराङ्मुख । ~राँम सनेही **वाहिरा**, (तूं) क्यो सोवै निहचिंत । →सा० काल० (४६) ३-२ ।

वाहिरा—क्रि० वि० [स० वाह्य] रहित, विना । ~ राँम सनेही **वाहिरा**, ऊजड़ मेरे भाव । सा० साधुम० (३०) २-२, सा० अपा० (४८) २-२, मा० चांण० (१७) ११-२ ।

वाहुड़ो—क्रि० [सं० प्रघूर्णन] लौट आता हूँ, वापस आता हूँ । ~तो तो करै त **वाहुडो**, दुर दुर करै तो जाऊँ । → मा० निह० पति० (११) १५-१ ।

वाही—क्रि० [स० वहन] जोत कर उत्पन्न किया । ~मन कुंजर जाइ वाडी विलवा, सतगुर **वाही** वेली । →पद २५३-५ ।

वाहुला—सज्ञा पु० [स० √वह्] वहाव, नाला । ~कवीर मन का **वाहुला**, ऊँडा वहै असोम । → सा० सापी० (५७) ३-१ ।

वाहुड़ै—क्रि० [स० प्रघूर्णन] वहुरना, लौटना, वापस आना । ~विगडी वात न **वाहुड़ै**, कर छूटै नहिं ठौर । →सा० काल० (४६) २५-२ ।

वाहू—सर्व० [हि० वह से] उन्हे भी । ~पहुँची वात विद्या के पेटा, **वाहू** के भर्म भया सकेता ।→र० ५७-३ ।

वाहीं—क्रि० [स० भरग] भरे । ~ जव लगि तागा **वाहीं** वेही, तव लगि, विसरै राम सनेही । → सव० १३६-४ ।

वाहीं—क्रि० [स० वहन] खोजते हो । ~भूलै भरम दुनी कत **वाहीं** । → पद ३४१-२ ।

वाह्या—वि० [स० वहन] फेका, चलाया । ~सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सवद जु **वाह्या** एक । →सा० गुरु० (१) ७-१ ।

बिंजना—सज्ञा पु० [स० व्यन्जन] भोजन। ~षड रस भोजन बिंजना वहु पाक मिठाई। →पद ३४५-११।

बिंद—सज्ञा पु० दे० 'बिंदु'।

बिंदत—क्रि० [स० वेधन] खोजते हुए। ~मन बिंदत बिंदहि पावा, गुरमुख तै अगम बतावा।→सव० १७१-३।

बिंदा—सज्ञा पु० [स० विन्दु] वीर्य। दे० 'विन्दु'। ~नहिं तारागन नहिं रवि चन्दा, नहिं कुछ होत पिता के बिंदा। →र० ६-३, र० ३०-६।

बिंदु—सज्ञा पु० [स० विन्दु] वीर्य। ~बिंदु राखि जौ तरिऐ भाई, तौ खुसरै क्यूं न परम गति पाई। → सव ७७-५, सव० १६६-३, र० ४०-२।

बिंदू—सज्ञा पु० दे० 'बिंदु'।

बिंधा—क्रि० [सं० वेधन] बिंध गया, फँस गया, छिद्र कर दिया। ~एक जु वाहा प्रीति सो, भीतर बिंधा शरीर। →सा० गुरु० (१) ६-२।

बिंधा—क्रि० [स० विद्ध] फँसा हुआ। ~हंस उडाने ताल सुखाने, चहले बिंधा पाऊं। →पद ३२३-५।

बिंब—सज्ञा पु० [स० विम्व] चैतन्य। ~नव ग्रह मारि योगिया वैठे, जल महिं बिंब प्रकासै। →सव० ३२-४।

बिआय—क्रि० [स० व्ययन] वच्चा देना (पशुओं के सन्दर्भ मे)। ~ वाप पूत की एकै नारी, ओ एकै माय बिआय। →र० १-६।

बिआपै—क्रि० [हिं० व्यापना] व्याप्त होना। ~काम क्रोध हकार बिआपै ना छूटै माया। →पद २२३-२।

बिआस—सज्ञा पु० [सं० व्यास] व्यास या वेदव्यास।~नारद वचन बिआस कहत है सुक कौं पूछहु जाई। → सव० १६४-६।

बिकरारा—वि०[सं० विकराल] भयङ्कर। ~गुर गारडू मित्यौ नहिं कवहू पसर्‍यौ विख बिकरारा। → पद २२३-६।

बिकरै—सज्ञा [स० विकार] विकार। दे० बिकारा'। ~कवीर मन बिकरै पडा, गया स्वादि के साथ। →सा० मन० (१३) १६-१।

बिकांनीं—क्रि० [हिं० विकना] विक गई। ~दास कवीर साहव का वदा, जाकै हाथ बिकानीं। →पद २२७-८।

बिकाइ—क्रि० [स० विक्रय] विकता है, वेचा जाता है। ~प्रेम न वारी ऊपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ। → सा० सूरा० (४५) २१-१।

बिकारा—सज्ञा पु० [स० विकार] दोष, अवगुण, विकार, वुराई। ~ कहै कवीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहिं बिकारा। → सव० ७१-८, पद २००-३।

बिख—सज्ञा पु० [स० विष] विष, जहर। ~कामी अमी न भावई, बिख ही कौं ले सोधि। →सा० कामी० (२०) १६-१, सव० १३१-४।

बिखया—सज्ञा पु० दे० 'विखिया'।

बिखिया—संज्ञा पु० [सं० विषय] विषय। ~विख **बिखिया** की वासना, तजौं तजी न जाई। → सव० ६६-५, सव० १५६-७।

बिखिया—सज्ञा पु० [सं० विषय] विषय-भोग। ~ **बिखिया** अजहूँ सुरति सुख आसा। → सव० १६२-१।

बिखिया—सज्ञा पु० [स० विष] विष। दे० 'विख'।~मन जीतें जग जीतिऐ जौं **बिखिया** तैं रहै उदास। → पद ३१७-६।

बिखै—सज्ञा पु० [सं० विषय] इन्द्रिय सुख।~ **बिखै** वाचु हरि राचु समझु मन वउरा रे।→सव० १६३-१।

बिगतह—वि० [स० विगत] पृथक्, अलग।~खडित मूल विनास, कहौ किम **बिगतह** कीजै।→सा० विचार० (३३) ६-३।

बिगरांनां—क्रि० [स० विगलित] नष्ट होना। ~ ज्यौं विंवहि प्रतिविंव समाना उदकि कुंभ **बिगरांना**।→ सव० १५३-६।

बिगर्‌यौ—क्रि० [हि०] विगड गया। ~कवीरा **बिगर्‌यौ** राम दुहाई।→ सव० ६६-१।

बिगसित—क्रि० [स० विकसित] विकसित हो जाती है। ~क का कमल किरन मह पावै, ससि **बिगसित** सपुट नहिं आवै।→ज्ञान० चौं०(१) ३।

बिगाड़ियां—क्रि० [हि० विगाडना] विगाड डाला, नष्ट कर डाला। ~ ~कवीर भूलि **बिगाड़ियां**, (तूं) नाँ करि मैला चित्त।→सा० वीन० (५६) २-१।

बिगासा—क्रि० [स० विकास] विकसित हो गया।~गुरु किरपाल कृपा जव कीन्ही, हिरदै कँवल **बिगासा**। →सव० १३-३।

बिगुरचनि—संज्ञा पु० [सं० विकुचन] विनाश। ~काया **बिगुरचनि** अनवनि वाटी, कोई जारै कोइ गाडै माटी।→पद २२१-२।

बिगूचनि—सज्ञा स्त्री० [स० विकुंचन] असमजस या अडचन मे पडना। दे० 'विगूचा'।~खरी **बिगूचनि** होइगी, लेखा देती वार। → सा० साँच० (२२) १-२।

बिगूचनि—सज्ञा स्त्री० [स० विकुचन] अडचन, विघ्न, वाधा। ~ऐसा भेद **बिगूचनि** भारी।→सव० ५५-१।

बिगूचा—संज्ञा स्त्री० [सं० विकुचन] असमजस, किंकर्त्तव्यविमूढता। ~ ताकर हाल होय अधकूचा, छव दरसन मँह जैनि **बिगूचा**। → र० ३०-७।

बिगूचे—क्रि० [स० विकुचित] असमजस मे पड जाना। ~हरि विन भरमि **बिगूचे** गंदा।→ पद ३३७-१।

बिगूचै—सज्ञा स्त्री० [स० विकुंचन] उलझन, सशय, किंकर्तव्यविमूढता। दे० 'विगूचा'। ~अजहूँ वेरा समुद मैं, वोलि **बिगूचै** कांइ। → सा० जर० (८) ५-२।

बिगूचै—क्रि० [स० विकुचन] उलझन मे डाल दिया, दवोचा।~मैं अनाय

प्रभु कहउँ काहि, को को न **विगूचे** मैं को आहि ।→पद २२४-४ ।

विगूता—क्रि० [स० विगोपन] नष्ट हो गए, समाप्त हो गए । ~मोर-तोर मैं सवै **विगूता**, जननी उदर गर्भ महँ सूता ।→र० ८४-५ ।

विगूते—क्रि० [स० विगोपन] नष्ट होते हैं । ~ मैं मेरी करि वहुत **विगूते**, विपैं वाघ जग खाया । → पद २६७-८ ।

विगूते—क्रि० [स० विगोपन] ठगे जाते हैं । ~ वांधे ज्यूं अरहट टीडरि, आवत जात **विगूते** । → सव० १८६-६ ।

विगोई—क्रि० [सं० विगोपन] नष्ट होना ।~मिथ्या वात न जानै कोई, यहि विधि सव गैल **विगोई** । →र० २४-३, र० १७-७ ।

विगोई—क्रि० [स० विगोपन] नष्ट कर देना, खो देना । ~पँचये सयान न जानै कोई, छठवे मा सभ गैल **विगोई** ।→र० ३७-३ ।

विगोय—क्रि० [स० विगोपन] नष्ट हो गया । ~ सोवत गैल **विगोय** हो रमैया राम ।→ वेलि (६) १-४ ।

विच—सज्ञा पु० [हि० वीच] मध्य । ~विच कै वासै रमि रहा, काल रहा सिर पूरि । → सा० काल० (४६) २३-२ ।

विचारिया—क्रि० [स० विचारण] विचार किया, निश्चय किया । ~ हरि जी यहै **विचारिया**, साखी कहौ कवीर ।→सा० उप० (३४)१-१ ।

विचि—सज्ञा पु० [स० विच] वीच मे । दे० 'विच' । ~ अरध उरध **विचि** लाइ ले अकास, तहँवा जोति करै परकास । →सव० १४०-७ ।

विछुवा—संज्ञा पु० [हि०] पैर का आभूपण । ~ का चूरा पाइल झम-काए, कहा भयो **विछुवा** ठमकाए । →सव० १३०-३ ।

विछोह—संज्ञा पु० [हि० विछुडना] वियोग । दे० 'विजोग' ।~इक दिन ऐसा होइगा, सव सौं परै **विछोह** । →सा० चिता० (१२) ६-१ ।

विछोहा—वि० [हि०] वियुक्त, पृथक् । ~सिद्ध नाम तव पाइए, जे वेलि **विछोहा** होइ । → सा० वेली० (५८) ५-२ ।

विछोहिया—क्रि० [हि० विछोह] वियुक्त हो गया । ~ रैंना दूर **विछोहिया**, रहु रे सखम झूरि । →सा० विर० (३) ४४-१ ।

विजुरी—सज्ञा स्त्री० [स० विद्युत] विजली । ~ चमकै **विजुरी** तार अनत, तहाँ प्रभू वैठे कवलाकत । →सव० १४०-४ ।

विजोग—सज्ञा पु० [सं० वियोग] वियोग । दे० 'वियोग' । ~ पूरी किनहुँ न भोगई, इनका इहै **विजोग** । →सा० माया० (१६) ३-२, र० ४०-६ ।

विझुका—सज्ञा पु० [दे०] खेत मे जतुओ को डराने के लिए खडा किया गया पुतला । ~वुधि मेरी किरषी गुर मेरो **विझुका**, अक्खिर दोइ रखवारे । →सव० ११३-५ ।

बिटमाया—क्रि० [दे०] सुरक्षित किया। ~केतेहि रामचन्द्र तपसी से, जिन यह जग **बिटमाया**।→पद २५२-३।

बिटालिया—क्रि० [हि०] गदा कर दिया। ~ वगुली नीर **बिटालिया**, सायर चढा कलक।→सा० माया० (१६) ३०-१।

विड—वि० [?] पराया, वेगाना। दे० 'विडांणी'। ~ मांइ विडांणी वाप विड़, हम भी मंझि विडांह।→सा० चिता० (१२) ५६-१।

बिडरत—क्रि० [सं० वट्] भागते।~ टारे टरत नही निस वासुरि, **बिडरत** नाहिं विडारे।→सव० ११३-२।

बिड़ांणीं—वि० [?] वेगाना, पराया, गैर। ~ मांइ **बिड़ांणी** वाप विड, हम भी मझि विडांह। → सा० चिता० (१२) ५६-१।

विड़ांह—वि० [?] पराये लोग। दे० 'विड'। ~मांइ विडाणी वाप विड, हम भी मझि **बिड़ांह**। →सा० चिता० (१२) ५६-१।

बिड़ा—सज्ञा पु० [सं० विटप] वृक्ष। ~कवीर चंदन का **बिड़ा**, वेढ्या आक पलास।→सा० साधु० (२८) ७-१।

विडारत—क्रि० [हि०] फाडता है, विदीर्ण कर देता है। ~ जो सिर रचि रचि वांध्यो पागा, सो सिर रतन **बिडारत** कागा। → सव० ६-३।

बिडारे—क्रि० [स० वट्] भगाने से। ~ टारे टरत नही निस वासुरि, बिडरत नाहिं **बिडारे**। → सव० ११३-२।

बिड़ांहि—क्रि० [हि० वहना—प्रवाहित होना] वाहर निकलता है, व्यक्त होता है। ~ सोई आंसू साजना, सोई लोक **बिड़ांहि**। →सा० विर० (३) २६-१।

बिढता—संज्ञा पु० [स० वृढ] कमाई, लाभ।~परनारी राता फिरैं, चोरी **बिढता** खांहि। → सा० कामी० (२०) ३-१।

बित—क्रि० [हि० वीतना] नष्ट हो गए। ~ सव चकवे **बित** धरनि समाना, एको जीव परतीत न माना। →र० ४७-५।

बित—सज्ञा पु० [स० वित्त] धन।~ वहि सुत वहि **बित** वहि पुर पाटन, वहुरि न देखै आइ।→सव० १०५-५।

बितडि—क्रि० [स० वितरण] वितरण करके, वांट करके। ~पूंजी **बितड़ि** वदि लै दैहै, तव कहे कौन के छूटै। →पद २१७-६।

बिथा—सज्ञा स्त्री० [स० व्यथा] कष्ट। ~या वड **बिथा** सोई भल जांनै, रांम विरह सर मारी।→सव० १६४-३।

बिदारा—क्रि० [स० विदारण] फाड डालते हैं। ~चहूं दिसि गीध मुए तन लूटै, जवुक उदर **बिदारा** हो। →कहरा (३) ६-६।

बिदारा—क्रि० [सं० विदारण] चीरा, फाडा, नष्ट कर दिया।~हिरनाकुस नख उदर **बिदारा**, तिनहूं को काल न राखा। →सव० ६४-१०।

बिदारि—क्रि० [सं० बिदीर्ण] फाडकर। ~खभा तैं प्रगट्यौं गिलारि, हिरनाकुस मार्यौ नख **बिदारि**। → सब १५६-१०।

बिदारे—क्रि० [स० विदीर्ण] फाड डाला। ~हिरनाकुस नख उदर **बिदारे**, सो कर्त्ता नहिं होई। → पद २६२-८।

बिदेही—सज्ञा पु० [वि+देह+ई० (प्रत्य०)] विगत हो गया है देह का भाव जिसमे से, अर्थात् केवली। ~अंकुर बीज नसाय कै, भए **बिदेही** थान। → र० ३५-८।

बिधनाँ—सज्ञा पु० दे० 'बिधना'।

बिधना—सज्ञा पु० [स० विधि] स्रष्टा, कर्त्ता, ब्रह्मा। ~ते **बिधना** वागुल रचे, रहे अरध मुखि झूलि। → सा० चिता० (१२) २८-२, पद २८०-८।

बिधि—सज्ञा स्त्री० [स० विधि] उपाय। ~सवही करि अलगा रही, सो **बिधि** देहु वताइ। →सा० साषीभू० १-२।

बिधि—सज्ञा स्त्री० [स० विधि] विहित। ~तजि भरम करम **बिधि** निखेध राम नामु लेही। →पद २७५-६।

बिधि-बिधि—वि० [स० विविध] विविध, भिन्न-भिन्न। ~**बिधि-बिधि** बाँणी वोलता, सो कत गया बिलाइ। → सा० उपदेश० (३४) ३-२।

बिनंठा—क्रि० [स० विनष्ट] विनष्ट हुआ। दे० 'बिनसि'। ~पासि **बिनंठा** कापडा, कदे सुरंग न होइ। →सा० विर्क० (३७) ४-१।

बिनंठी—क्रि० [स० विनष्ट से] विनष्ट हो गई, विगड गई। दे० 'बिनसि' ~राम नाम जाना नही, वात **बिनठी**, मूलि। →सा० चिता० (१२) ३२-१।

बिनठे—क्रि० [स० वि+नष्ट] विनष्ट हो गए। दे० 'बिनसि'। ते नर **बिनठे** मूलि, जिनि धंधै मै ध्याया नही। →सा० चिता० (१२) २१-२।

बिनब—क्रि० [हिं० बुनना] बुनना, वीनना (कपडा)। ~सहस तार लै पूरिन पूरी, अजहुँ **बिनब** कठिन है दूरी। →र० २८-३।

बिनर—अव्य० [सं० विना] विना। ~**बिनर** जानि परनऊँ परसोतम, कहि कवीर रँगि राता। सब० ११२-६।

बिनसत—क्रि० [सं० वि+नाश] विनष्ट हो जाता है। ~यहु तन जल का बुदबुदा, **बिनसत** नाही बार। →सा० काल० (४६) १३-२।

बिनसनिहारा—वि० [हि०] विनाश होने वाला। द दा देखहु **बिनसनिहारा**, जस देखहु तस करहु विचारा। → ज्ञान चौं० (१) ३६।

बिनसि—वि० [स० विनष्ट] नष्ट हो गई। ~फटि गया कुवा **बिनसि** गई बारी। →सव० ५७-५।

बिनसि—वि० [स० विनष्ट], विनष्ट, समाप्त। ~**बिनसि** गया तै का नाव

धरिहौ, पढ़ि गुनि मरम न जाना।
→सव० ५५-६।

बिनसे—क्रि० [स० विनष्ट] नाश होने पर। ~घ घा घट **बिनसे** घट होई, घट ही मे घट राखु समोई। →ज्ञान चौं० (१) ६।

बिनसे—क्रि० [सं० विनाश से] नष्ट हो जाता है। ~आतम राम पलक में **बिनसे**, रुधिर कि नदी बहाई। →पद २६६-४।

बिनसे—क्रि० [स० विनाश] विनष्ट हो गए। ~जव तै उलटि भया है राम, दुख **बिनसे** सुख किया बिसराम। →सव० २०-४, र० ४६-१, २, ३, ४।

बिनांवन—क्रि० [हि० वुनना] वुनने के लिए। ~रामुराय चली **बिनांवन** माहो। →पद २७१-१।

बिनै—क्रि० [हि० वीनना] वीनता है। ~**बिनै** कवीरा चूनरी, बै नहि वांधल वाछ। →पद २४८-६, कहरा (३) १०-६।

बिनौला—सज्ञा पु० [दे०] कपास का वीज। ~करम **बिनौला** होय रहा, सुत काते जैदेव। →पद २४८-३।

बिन्द्रावन—सज्ञा पु० [सं० वृन्दावन] वृन्दावन। ~ निर्गुन ब्रह्म माते **बिन्द्रावन**, अजहूँ लागि खुमारी। →पद ३०३-१०।

बिपति—सज्ञा स्त्री० [स० विपत्ति] दुख, कष्ट। ~ सपै देखि न हरखिऐ **बिपति** देखि ना रोइ। →पद २४५-६, ७।

बिबाहल—क्रि० [स० विवाह से] विवाह किया। ~ मडए के चारन समधी दीन्हा, पुत्र **बिवाहल** माता। → सव० ३६-३।

बिबि—वि० [स० द्वि] दो। ~**बिबि** अक्षर का कीन्ह वधाना, अनहद सव्द जोति परमाना। →र० ५-३।

बिबिचार—वि० [स० वि+विचार] विचारहीन। ~गुरु द्रोही औ मनमुखी, नारि पुरुष **बिबिचार**। → र० ४३-६।

बिबिचारी—वि० [स० व्यभिचारी] व्यभिचारी। ~भाव तो भुवँग देखो, अति **बिबिचारी**। →सव० ८५-४।

बिबेका—सज्ञा पु० [स० विवेक] विचार। ~उदै अस्त की वात कहतु हौं, सवका किया **बिबेका** हो। →सव० १३८-२।

बिभिचार—सज्ञा पु० [स० व्यभिचार] व्यभिचार। ~भोलै भूली खसम कै, वहुत किया **बिभिचार**। →सा०पीव० (३६) ३-१, सा० सुन्द० (५२) २-१।

बिभूति—संज्ञा स्त्री० [स० विभूति[राख, भस्म। ~इक जगम इक जटाधार, इक अग **बिभूति** करै अपार। → पद ३३२-३।

बियाइ—क्रि० [स० विजनन] जन्म देना। ~वैल **बियाइ** गाइ भई वाझ, वछरहिं दूहै तीनिउँ साझ। →सव० ८६-३।

बियाधि—सज्ञा स्त्री० [स० व्याधि] त्रिताप, आधिभौतिक—आधिदैविक, आध्यात्मिक। ~कहै कवीर भया

भट निरमल सकल **बियाधि** टरी। →पद ३२७-६।

बियाधि—संज्ञा स्त्री० [सं० व्याधि] रोग। ~ कांची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै **बियाधि**। → सा० चिता० (१२) ४०-१।

बियाने—क्रि० [सं० विजनन] पैदा हुए। ~ मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया। →सब० १७४-६।

बियाहल—क्रि० [भोज०] विवाह किया गया। ~ तुम बूझहु पंडित कवनि नारि, काहु न **बियाहल** है कुँवारि। →वसत (४) ५-१।

बियाही—क्रि० [सं० विवाह+हि० (ई) प्रत्य०] व्याही गई। ~ मेढक सर्प रहत एक सगे, बिलिया स्वान **बियाही**। →पद १९९-५।

बिरंचि—संज्ञा पु० [सं० विरचि] ब्रह्मा। ~सिव **बिरंचि** नारद मुनि ग्यानी, मन की गति उनहूँ नहिं जानी। → सब० १४३-४, सब० १९२-४, हिंडोला (८) १-८।

बिरकत—वि० [सं० विरक्त] विरक्त। ~काँमिनि अंग **बिरकत** भया, रत भया हरि नांह। →सा० साधसा० (२९) १२-१, सा० उप० (३४) ६-१, सा० मधि० (३१) ३-२।

बिरचाया—क्रि० [सं० विरचन्] रचना किया। ~ लख चौरासी भूल ते कहिये, भूल ते जग **बिरचाया**। → पद २९४-६।

बिरछा—संज्ञा पु० [सं० वृक्ष] पेड। दे० 'बिरवा'। ~बिना पवन जहँ पर्वत उडै, जीव जंतु सब **बिरछा** बूडै। →सब० १५२-३।

बिरथा—वि० [सं० व्यर्थ] निरर्थक। ~**बिरथा** जनमु गवाया। →सब० १९०-२।

बिरध—क्रि० [सं० वृद्धि] वढती है। ~ नाति सरूप न छाया जाकै, **बिरध** करै विन पानी। → पद २५३-२।

बिरध—वि० [सं० वृद्ध] वृद्ध। ~ तन के **बिरध** कहा भौ बौरे, मनुआ अजहूँ बारो हो। →कहरा (३) ३-४।

बिरला—वि० [सं० विरल] कोई-कोई ही। ~परनारी पर सुन्दरी, **बिरला** बचै कोई। →सा० कामी० (२०) ४-१; सब० ७८-८।

बिरलै—वि० [सं० विरल] अत्यल्प, एकाध। ~ भाई रे **बिरलै** दोस्त कबीर के यहु तत बार बार कासों कहिए। →पद २०८-१।

बिरवा—संज्ञा पु० [सं० वीरुध्] वृक्ष, पौधा। ~जन जो चोरी भिच्छा खाही, सो **बिरवा** पलुहावन जाही। →र० ६०-२, र० २५५-११, सब० ११९-८।

बिरषा—संज्ञा पु० [सं० वृक्ष] वृक्ष। दे० 'बिरवा'। ~पंखी चले दिसावराँ, **बिरषा** सुफल फलत। →सा० सजी० (४७) ७-२।

बिरही—संज्ञा पु० [सं० व्रीहि] अन्न। ~ सातो **बिरही** मेरे नीपजै, पंचू मोर किसानां। →सब० १७-४।

बिराजी—क्रि० सं० [वि + √राज्] स्थापित है, विराजमान है। ~ कहै कबीर सुनो हो संतो, भई सो राज **बिराजी**। →सव० ६०-११।

बिराने—वि० [फा० वेगाना] पराया, दूसरा। ~जैहो **बिराने** देस हो रमैया राम। →वेलि (६) १-७।

बिरिख—सज्ञा पु० [स० वृक्ष] वृक्ष, पेड़। दे० 'बिरवा'। ~ चदन कै ढिग **बिरिख** जु भैला, विगरि विगरि सो चंदन ह्वैला। →सव० ६६-३, सा० निद्या० (५४) ७-२।

बिरिध—वि० [स० वृद्ध] बूढा, वृद्ध। दे० 'विरध'। ~तीस वरस तैं राम न सुमिर्‌यौ फिरि पछितांना **बिरिध** भयौ। →पद २३३-४, सव० १७५-५।

बिरिया—सज्ञा पु० [सं० वार] वार। ~यह सब झूठी वदगी, **बिरिया** पाँच निवाज। →सा० साँच० (२२) ५-१, सा० माया० (१६) ३१-१।

बिर्कताई—सज्ञा स्त्री० [स० विरक्त + आई (प्रत्य०)] विरक्ति। →सा० विर्क० (३७)।

बिलबा—क्रि० [स० विलम्बन] रम गया। →मन कुजर जाइ वाडी **बिलंबा**, सतगुर वाही वेली। → पद २५३-५।

बिलबिया—क्रि० [सं० विलम्बन] मंडरा रहा है। ~देव विनु देहुरा पत्र विनु पूजा, विनु पखा भंवरा विलविया। →सव० ११६-७।

बिलंबिया—क्रि० [स० विलम्ब से] विलम्ब (देर) तक रुका हुआ है, ठहरा हुआ है, रमा हुआ है। ~ कबीर तहाँ **बिलविया**, करैं अलख की सेव। →सा० परचा० (५) ४१-२।

बिलविए—क्रि० [स० विलम्बन] ठहरिए, रुकिए, अवलम्ब लीजिए। ~ तरवर तासु **बिलविए**, बारह मास फलत। → सा० सजी० (४७) ६-१।

बिलवे—क्रि० [स० वि + लम्बन] लगे हुए। ~बासी पावस पडि मुए, विषै **बिलवे** जीव। → सा० उपजणि० (५०) ५-२।

बिलंब्बा—क्रि० [स० वि + लम्बन] सहारा लेता रहता है, रमा रहता है। ~ जीव **बिलंब्बा** जीव सौं, अलख न लखिया जाइ। → सा० चाँण० (१७) १-१।

बिलग—वि० [हि०] पृथक्। ~ हौ सभहिन मे, हो ना हो मोहि, **बिलग** विलग विलगाई हो। →कहरा (३) १०-१।

बिलगाई—क्रि० [स० वि + लग] अलग करना, पृथक करना। ~ कारी पियरी दुहहु गाई, ताकर दूध देहु **बिलगाई**। → र० ६२-५, कहरा (३) १०-१, पद २३७-२।

बिलगि बिलगि—वि० [हि० विलगना] अलग-अलग। ~मेरी **बिलगि बिलगि** विलगाई हो। →पद २३७-२।

बिललाई—क्रि० [हि० विलखना] विल-

खते है। ~ एक खडे ही ना लहै, और खडे बिललाई। →सा० सम्र० (३८) ४-१।

बिलाइ—वि० [स० विलय] विलीन हो जाना। ~ विधि-विधि वाँणी वोलता, सो कत गया **बिलाइ**।→ सा० उपदे० (३४) ३-२।

बिलाइ—क्रि० [स० विलय] विलीन हो गया। ~पानी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया **बिलाइ**। → सा० परचा० (५) १७-१।

बिलात—क्रि० [स० विलयन] नष्ट हो गए। ~ रावन हूं तैं अधिक छत्र-पति, खिन महिं गए **बिलात**। → सव० ७०-६।

बिलानीं—क्रि० [सं० विलयन] नष्ट हो गई। ~ सोइ रावन की साहिवी छिन माहिं **बिलानीं** रे। → पद २७३-६।

बिलायत—सज्ञा पु० [अ०] देश, राज्य। ~ दावा किसही का नही, विना **बिलायत** राज। → सा० वेसा० (३५) १३-२।

बिलारि—सज्ञा स्त्री० [स० विडाल] बिल्ली। ~ माया के रस लेन न पाया, अतर जम **बिलारि** होय घाया। → सब० ६-६, चाँचर (५) २-२०।

बिलैया—सज्ञा स्त्री० दे० 'बिलारि'।

बिलोइ—क्रि० [स० विलोडन] मथो। ~हरि का विलोवना **बिलोइ** मेरी माई। →पद ३३०-१, २, ३, ४।

बिलोवसि—क्रि० [स० विलोडन] मथता है। ~ह्रिदै कपटमुखि ग्यानी, झूठै कहा **बिलोवसि** पांनी। → सव० ७६-३।

बिवरजित—वि० [स० विवर्जित] रहित। ~धधा वधा किन्ह वेवहारा, करम **बिवरजित** वसै निआरा। → र० २२-३।

बिवोग—सज्ञा पु० [सं० वियोग] वियोग। ~गुन गाए, गुन ना कटै, रटै न, राम **बिवोग**। →सा० सुमि० (२) २८-१।

बिषम—वि० [स० विषम] वक्र, टेढी। ~कहै कबीर कछु समुझि न परई, **बिषम** तुम्हारी माया। → पद २६७-१०।

बिषै—सज्ञा पु० [स० विषय] राज्य, विस्तार। ~वारह योजन कै **बिषै** चले छत्र की छहियां रे। →पद २७३-७।

बिसंभर—सज्ञा पु० [स० विश्वम्भर] प्रभु, ईश्वर। ~ बिसमिल मेटि **बिसंभर** एकै, और न दूजा कोई। →पद ३२६-२।

बिसतरहिं—क्रि० [सं० विस्तरण] विछाते हैं। ~पवन कोटि चउवारे फिरहिं, वासिग कोटि सेष **बिसतरहिं**। → सब० १२८-७।

बिसनूं—संज्ञा पु० [स० विष्णु] विष्णु। ~पाती व्रह्मा पुहुप **बिसनूं** मूल फल महादेव। →पद २११-६।

बिसमल—वि० [फा० विस्मिल] आहत, क्षत, घायल। ~ इस मन कौं **बिसमल** करौ, दीठा करौं अदीठ।

→सा० मन० (१३) ६-१, पद ३०४-५, सव० ७२-४ ।

विसमिल—वि० दे० 'विसमल' ।

विसमिल—सज्ञा पु० [अ० विस्मिल्लाह] ईश्वर । ~**विसमिल** मेटि विसभर एकै; और न दूजा कोई । →पद ३२६-२ ।

विसमिल—क्रि० [फा० विसमिल] वलि देना । ~सरजी आँनैं देह विनासैं माटी **विसमिल** कीआ । → पद २३०-३ ।

बिसमिल—सज्ञा पु० [फा० विस्मिल] घायल करना, काटना । ~तव नहि होते गाय कसाई, तव कहु **बिसमिल** किन फुरमाई । →र० ४०-३ ।

विसरा—क्रि० [स० विस्मृत] भुला दिया । ~जहँ ते उपजे तहँई समाने हरि पद **विसरा** जवही । →पद ३३७-६ ।

विसराम—सज्ञा पु० [स० विश्राम] शाति का अनुभव । ~ सहज समाधें सुख मे रहिवो, कोटि कलप **विसराम** । →सव० १३-२ ।

बिसराम—सज्ञा पु० [स० विश्राम] विश्राम, आराम । ~ जिव तरसै तुझ मिलन को, मन नाही **बिसराम** । → सा० विर० (३) ६-२, पद ३४२-२ ।

विसरि—क्रि० [स० विस्मरण] विस्मृत हो गए । भुला गए । ~तातै **विसरि** गए रस और । → पद २६६-२ ।

बिसरु—क्रि० [सं० विस्मरण] भूल जाना । ~ जिहि मुख वेदु गाइत्री उचरै, सो क्यूं व्राह्मन **विसरु** करै । → सव० ८२-३ ।

विसरै—क्रि० [स० विस्मरण] भुला देना । ~ऐसी कला अनत है जाकै, सो हँम कौं क्यूं **विसरै** । → सव० ८१-४, ८ ।

बिस्तरी—क्रि० [स० विस्तार] विखर गई । ~झूठी अनभै **बिस्तरी**, सव थोथी वाई । → सव० १-६ ।

विसर्यो—क्रि० [स० विस्मरण] भुला दिया ।~ अपुनपौ आपुहि **विसर्यो** । → सव० ५-१ ।

निसवास—सज्ञा पु० [सं० विश्वास] विश्वास । ~धोखे कियहु **विसवास** हो रमैया राम ।→वेलि (६) २-२ ।

विसवासा—संज्ञा पु० [स० विश्वास] निष्ठा । ~ कहै कवीर छूटी सव आसा, मिल्यौ राम उपज्यौं **विस-वासा** । →सव० २१-६ ।

विसहर—सज्ञा पु० [स० विषधर] सर्प । ~कउवा कहा कपूर खवाए, का **विसहर** कौ दूघ पिआए । →पद २६६-४, पद ३४५-६ ।

विसारि—क्रि० [सं० विस्मरण] भुला-कर । ~जिनहि निवाज साज सव कीन्हे तिनहि **विसारि** और लगरी । → पद २४६-४ ।

बिसारिया—क्रि० [स० विस्मरण] विस्मृत कर दिया, भुला दिया । ~दिल तैं दीन **विसारिया**, करद लई जव हाथि ।→सा० साँच० (२२) ७-२ ।

विसारौं—क्रि० [स० विस्मरण] विस्मृत करना, भूलना । ~घट मूली सिर

कंगुरै, तऊ न **बिसारौं** तुज्झ । → सा० सूरा० (४५) २६-२ ।

बिसास—सज्ञा पु० [स० विश्वास] विश्वास । दे० 'बिसवासा' ।~मेरि मिटी मुकता भया,पाया ब्रह्म **बिसास**। →सा० बेसा० (३५) १७-१ ।

बिसास—वि० [स० अविश्वास] अविश्वसनीय, कपटी, छली । ~ हरि विचि घालै अन्तरा, माया बड़ी **बिसास** । →सा० माया० (१६) ५-२ ।

बिसाहना—क्रि० [हि०] क्रय-विक्रय करना । ~पूरा किया **बिसाहना**, बहुरि न आंवौं हट्ट । → सा० गु० (१) १२-२ ।

बिसुवा—सज्ञा स्त्री० [स० वेश्या] वेश्या । ~अध कहै अंधा पतियाय, जस **बिसुवा** के लगन धराय । → वसत (४) १२-२ ।

बिसूरनां—क्रि० [सं० विसूरण] सिसककिसक कर भीतर ही भीतर दुख का अनुभव करना । ~मनही माँहि **बिसूरनां**, ज्यूं घुन काठहि खाइ । →सा० बिर० (३) २८-२ ।

बिसूरी—क्रि० [स० विसूरण] शोक करना, चिंता करना । ~ माया मोह रहा जग पूरी, माया मोहहिं लखहु **बिसूरी** । → ज्ञान चौं० (१) ५४ ।

बिहड़ै—क्रि० [स० विघटन, प्रा० विहंडन] अन्तर करना, अलग करना । ~ गुन औगुन **बिहड़ै** नही, स्वारथ बंधी लोइ । →सा० अवि० (५६) २-२ ।

बिहने—संज्ञा पु० [सं० विभात या वि+ अहन्] प्रात काल, सबेरा । दे० 'बिहान' । ~लावरि **बिहने** लावरि संझा, इक लावरि बस हिरदया मंझा । → र० ६१-२ ।

बिहांनी—क्रि० [स० वि+√हा] बीत गई । ~सोइ सोइ सब रैनि **बिहांनी**, भोर भयो तव जागे । → सब० १८६-२ ।

बिहाइ—क्रि० [दे०] व्यतीत होती है; बीतता है । ~सेजरिया बैरिनि भई मोकौं, जागत रैनि **बिहाइ** । →सब० २२-७, सा० साध सा० (२६) ५-२, ६-१ ।

बिहाइ—क्रि० [सं० वि०+√हा] बीत गया । ~कबीर टुक-टुक चोघतां, पल-पल गई **बिहाइ** । →सा० काल० (४६) ७-१ ।

बिहाइ—क्रि० [स० वि० + √हा] व्यतीत हो जाती है । ~तातै जियरै डर गह्या, जागत रैनि **बिहाइ** । →सा० काल० (४६) २८-२ ।

बिहान—सज्ञा पु० [स० विभात या वि+ अहन्] प्रात काल, सुबह । ~माई मोर मनुसा अति सुजान, धधा कुटिकुटि करै **बिहान** । →वसंत (४) ६-१ ।

बिहानीं—क्रि० [स० वि + √हा] व्यतीत हो गई । ~जाकौ भाव होत हरि ऊपरि, जागत रैनि **बिहानीं** । →सब० ४४-२ ।

बिहुरै—क्रि० [हि० बिछुडना] छोड़ना । ~ज्यौ माखी सहतैं नहिं **बिहुरै**

जोरि-जोरि धन कीन्हा। →सब० १७६-५।

विहुरं—क्रि० [सं० छोरण] छोडता है। ~मरकट मूंठी स्वाद न **विहुरं**, घर-घर नटत फिर्यो। →सब० ५-५।

विहूंनां—वि० दे० 'विहूना'।

विहूना—वि० [सं० विहीन] विहीन, विना, रहित। ~ गुणन **विहूना** पेखना, का कहि लीजै नांव। →र० ७-७, सब० १५३-७, सा० परचा० (५) ४१-१, सा० परचा० (५) १५-२, सब० १२१-२, पद २७०-४।

बींद—सज्ञा पु० [फा० खाविंद] वर, दूल्हा। ~काल खड़ा सिर ऊपरैं, ज्यो तोरन आया **बींद**। →सा० काल० (४६) ४-२।

बी—अव्य० [सं० अपि] भी।~मृतक कूं धी जौ नही, मेरा मन **बी** है। →सा० मन० (१३) २३-१।

बीका—क्रि० [हि० विकना] विक गया। ~यहु हीरा निरमोलिया, कौडी लगि **बीका**। → सब० ६६-८।

बीखरी—क्रि० [स० विकीर्ण] विखर गया, नष्ट हो गया। ~कवीर गुदरी **बीखरी**, सौदा गया विकाइ।→सा० अपा० (४८) ३-१।

बीच—सज्ञा पु० [स० √विच्] अन्तर। ~जोरू जूठनि जगत की, भले बुरे का **बीच**। →सा० कामी० (२०) १४-१, सब० २-१।

बीछड़ियां—क्रि० [हि० विछुडना] विछुड़ने पर, अलग हो जाने पर।~**बीछड़ियां** मिलिवो नही, ज्यो कांचली भुवग। → सा० चिता० (१२) ६-२।

बीछुटे—क्रि० [हि० विछुडना] वियुक्त हो गए, दूर हो गए, अलग हो गए। ~जिन ते गोविंद **बीछुटे**, तिनकी कौन हवाल। → सा० विर० (३) २-२।

बीछुरा—क्रि० [स० विच्छेद] विछुड गया, वियुक्त हो गया। ~जाका सँग तै **बीछुरा**, ताही के सग लागि। →सा० सुमि० (२) १२-२।

बीजक—सज्ञा पु० [स० वीजक] १. गुप्त धन वताने वाली सूची, २ परमार्थ का रहस्य वताने वाला। ~**बीजक** विन वतावई, जो वित गुप्ता होय। →र० ३७-५।

बीझ—वि० [स० विजन] एकात, निर्जन। ~भील लुका वन **बीझ** मैं, ससा सर मारै। →सब० ५१-६।

बीठुला—संज्ञा पु० [स० विट्ठल] विष्णु का एक नाम, कृष्ण, गोविंद। ~ राखि-राखि मेरे **बीठुला**, जन सरनि तुम्हारी। →सब० ६६-२।

बीडरि—क्रि० [स० √विट्] पशुओ का विदक जाना। ~कौली घाल्या **बीडरि** चालै, ज्यूं घेरौं त्यू दरवै। →सब० २७-४।

बीती—क्रि० [स० व्यतीत] व्यतीत हो गया। ~वड छली रावन सो गौ **बीती**, लका रहल कचन की भीती। →र० ४७-२।

बीन—सज्ञा स्त्री० [सं० वीणा] जगत, ससार। ~रजगुन सतगुन तमगुन

तीन, पंच तत्त से साजा **बीन**। → सब० १८५-३।

बीनती—सज्ञा स्त्री० [स० विनति] विनय, प्रार्थना। ~कबीर करत है **बीनती**, भौसागर के ताँइ। →सा० बीन० (५६) ५-१।

बीनहु—क्रि० [हि० बुनना] बुनो। ~जोलहा **बीनहु** हो हरिनामा, जाके सुर नर मुनि धरै ध्याना। →सब० १२७-१।

बीनि—क्रि० [स० विनयन] चुन लो। ~कबीर औगुन नाँ गहै, गुन ही कौ ले **बीनि**। →सा० सार० (३२) ३-१।

बीर—सज्ञा पु० [स० वीर] शैव साधु। ~मौनी **बीर** डिगम्बर मारे जतन करता जोगी। →पद २४४-३।

बीरज—संज्ञा पु० [स० वीर्य] वीर्य। ~रज **बीरज** की कली, तापर साजा रूप। → सा० माया० (१६) १६-१।

बीरा—वि० [स० वीर] वीर। ~ राम नाम को सेवहु **बीरा**। दूरि नाहि, दुरि आसा हो। →कहरा (३) ३-१।

बीरा—वि० [स० वीर] जितेन्द्रिय। ~सकल कबीरा बोलै **बीरा**, अजहूँ हो हुसियारा। →सब० ६४-१६।

बीरू—वि० [स० वीर] वीर। दे० 'बीरा'। ~बाँधे पौन पावक नभ नीरू, चाँद सुरुज बाँधे दोउ **बीरू**। →र० १०-५।

बीसरा—क्रि० [स० विस्मरण] भूल गया। ~तत पाया तन **बीसरा**, जब मनि धरिया ध्यान। → सा० पर० (५) ३२-१।

बीसरिं—क्रि० [सं० विस्मरण] भूलना। दे० 'बीसरै'। ~ग्यान प्रकासा गुरु मिला, सो जिनि **बीसरिं** जाइ। → सा० गु० (१) १३-१।

बीसरै—क्रि० [सं० विस्मृति, विस्मरण] भूलना, विस्मृत करना। ~हरि सागर जिनि **बीसरै**, छीलर देखि अनंत। → सा० सुमि० (२) ६०-२।

बीसारै—क्रि० [स० विस्मरण] भुलाने से। ~**बीसारै** नहिं बीसरै, जौ गुन होइ सरीर। → सा० हे० प्री० (४४) २-२।

बीहर—वि० [हि० बीहड] अचर, जड। ~रवि के उदै तार भौ छीना, चर **बीहर** दोनो मँह लीना। → र० २६-५।

बीहो—क्रि० [दे०] डरते हो। ~काहे **बीहो** मेरे साथी, हूँ हाथी हरि केरा। →सब० ८१-१।

बुदका—सज्ञा स्त्री० [हि०] टिकुली, बिंदी। ~ चन्द्रबदनि मृगलोचनि माया, **बुदका** दियो उघार।→ चाँचर (५) १-४।

बुत—सज्ञा पु० [फा] मूर्ति। ~**बुत** पूजि पूजि हिन्दू मुए, तुरुक मुए हज जाई। →पद २६०-३।

बुताइ—क्रि० [हि० बुझाना] बुझाकर। ~चूल्है अगिनि **बुताइ** करि चरखा दियो दिढाइ। →पद २३५-८।

बुदबुदा—सज्ञा पु० [स० बुद्बुद] बुलबुला, पानी का बुलला। ~यहु तन

जल का बुदबुदा, विनसत नाही वार। → सा० काल० (४६) १३-२ ।

बुध—वि० [स०] ज्ञानी। ~ दिना सात लौ वाकी सही, बुध अदवुध अचरज का कही।→र० ७२-३ ।

बुधि—सज्ञा स्त्री० [स० बुद्धि] उपाय, मार्ग। ~कहै कवीर गुर एक बुधि वताई, सहज सुभाइ मिलै राम राई। →पद ३११-५ ।

बुरहा—वि० [हि० बुरा + हा (प्रत्य०)] बुरा, खराव, असुन्दर। ~विरहा बुरहा जिनि कहौ, विरहा है सुलतान। सा० विर० (३) २१-१ ।

बुहारा—क्रि० [सं० वहुकरण] झाड़ू से साफ करना। ~खेत बुहारा सूरिवाँ, मुझ मरने का चाव। → सा० सूरा० (४५) ६-२ ।

बूंद—सज्ञा स्त्री० [स० विंदु] वीर्य। ~एक बूंद तै सृष्टि रची है, कौन वाँह्मन कौंन सूदा। →सव० ५५-४, सव० १७५-३ ।

बूझनिहारा—वि० [हि० वूझना + हारा (प्रत्य०)] समझने वाला। ~चोर एक मूसै ससारा, विरला जन कोइ बूझनिहारा। →र० ५६-२ ।

बूझा—क्रि० [हि० वूझना] समझ मे आया। ~ गहनी वधन वानि नहिं सूझा, थाकि परे तव किछवो न बूझा। →र० १६-३ ।

बूटी—सज्ञा स्त्री० [हि०] औषध, दवा। ~सो बूटी पाऊँ नही, जातै जीवन होइ। →सा० विर० (३) ४०-२ ।

बूठा—वि० [सं० वृष्टि] वरसा, वरसा हुआ। ~डूँगरि वूठा मेह ज्यूं, गया निवाँणा चालि। → सा० मन० (१३) २२-२, मा० निगु० (५५) १-२ ।

बूडता—क्रि० [हि० डूवना] डूवता। ~जिहि सरि घडा न बूड़ता, मैंगल मलि-मलि नहाइ। → सा० रस० (६) ७-१ ।

बूड़सी—क्रि० [हि० डूवना] डूव जाएगी, नष्ट हो जाएगी। ~कूर वडाई बूड़सी, भारी पडसी कालि। → सा० चिता० (१२) ५२-२ ।

बूडहुगे—क्रि० [हि० डूवना] डूव जाओगे। ~बूड़हुगे परिवार सकल सिउँ राम न जपहु अभागे। →सव० १६४-२ ।

बूडा—क्रि० [हि० डूवना] नष्ट हो गया। ~बूड़ा वाँस वडाइया, यौं जनि वूडे कोइ। → सा० निगु० (५५) १२-२ ।

बूड़ि—क्रि० [हि० वूड़ना = डूवना] डूव कर। ~हरि कि भगति जाने विना, भव वूड़ि मुवा ससार। → र० ७४-६ ।

बूड़िहौं—क्रि० [प्रा० वुड्डण] डूव जाऊँगा, डूव जाता हूँ। ~जे छाँडौं तौ बूड़िहौं, गहौं त डसिहै वाँहि। → सा० विर० (३) ४३-२ ।

बूता—सज्ञा पु० [हि०] शक्ति, सामर्थ्य, ला० स्वाँग। ~ आई करगी भौ अजगूता, जन्म जन्म जम पहिरे वूता। →र० १०-२, र० ८४-६, सव० १५१-४ ।

बे—अव्य० [फा०] बिना । ~आब बे आब मुझे हरि को नाम, और सकल तजु कौने काम । →सब० ४०-१ ।

बे—अव्य० [फ़ा०] छोटो के लिए तिरस्कार सूचक सम्वोधन । ~भूले बे अहमक नादाना, तुम हरदम रामहिं ना जाना ।→पद २१०-१ ।

बेकाम—वि० [फा० वे+हिं० काम] व्यर्थ, निरर्थक ।~ते नर इस ससार मे, उपजि षये **बेकाम** । →सा० सुमि० (२) १७-२ ।

बेखबरु—वि० [फा०] निश्चिन्त, वेसुध । ~दरोगु पढि पढि खुसी होइ **बेखबरु** बादु बकाहिं । →सब० १८१-५ ।

बेगांना—वि० [फा० बेगाना] पराया । ~गुर परसादि अकिलि भई अवरैं नातरु था **बेगाना** ।→पद २१६-२ ।

बेठ—सज्ञा पु० [स० वेष्टि] कामकाज । ~दिन की **बेठ** खसम सौं वरकस तापर लगी तिहाई ।→पद २७१-७ ।

बेढ़ई—सज्ञा स्त्री० [दे०] एक प्रकार की रोटी या कचौडी जिसके भीतर पोस्ता का दाना अथवा पीठी और अन्य गरम मसाले भरे जाते है, यह स्वादिष्ट, किन्तु अपकारक होती है । कचौडी ।→कलह बिना मोहि रहल न जाई, **बेढ़ई** लै लै कूकुर खाई । →र० ७६-३ ।

बेढ़िया—क्रि० [स० वेष्टित] वेष्टित रहना, लिपटे हुए होना । ~चँदन भुवगम **बेढिया**, तउ सीतलता न तजत । →सा० साधसा० (२६) २-२ ।

बेढ्या—वि० [स० वेष्टित] घिरा हुआ । ~ कबीर चदन का बिडा, **बेढ्या** आक पलास । →सा० साधु० (२८) ७-१ ।

बेढ़े—सज्ञा पु० [हिं० वेढना] घिरा हुआ स्थान । ~नऊँ दुवार नरक धरि मूंदे दुरगंधि ही के **वेढ़े** । → सब० १०२-२ ।

बेधिया—वि० [स० विद्ध] विद्ध जिसे वेधा गया हो । ~हरि रस जे जन **वेधिया**, सर गुण सीगणि नांहिं । → सा० सव० (४०) ५-१ ।

बेधी—क्रि० [सं० वेधन] विद्ध हो गया । ~प्रेम प्रीति **बेधी** अतरगति, कहूँ काहि को मानै । →पद २५१-८ ।

बेधीले—क्रि० [हिं० वेधना] वेधकर । ~**बेधीले** चक्र भुअंगा, भेटीले राइ निसगा । →सब० १७१-६ ।

बेध्यौ—क्रि० [स० वेधन] आहत होना । ~ ज्यूं मृग नादै **बेध्यौ** जाइ, पिंड परे वाको ध्यान न जाइ । →सब० ५६-३ ।

बेन—सज्ञा पु० [स० वेणु] वशी । ~ नटवर पेखि पेखना पेखै, अनहद **बेन** वजावै । → सब० ३२-१०, पद २२५-४ ।

बेपरवाँही—वि० [वे+फा० परवाह+ई] निश्चिन्त ।~साहिब सेवा माहि है, **बेपरवाँही** दास । →सा० पर० (५) २-२ ।

बेरहिं बेरा—क्रि० वि० [सं० बारबार] बार-बार, कई बार । ~ नित उठि नौवा नाव चढतु है, **बेरहि बेरा** बोरै हो । →कहरा (३) २-४ ।

बेरा—सज्ञा पु० [हि० वेडा] नाव ।~ अजहूँ **बेरा** समुँद मैं वोलि विगूचै कांइ ।→सा० जर० (८) ५-२ ।

बेरा—सज्ञा पु० [स० वेडा] वेडा, जहाज ।~राम नाम लै **बेरा** धारा, सो तौ लै ससारहि पारा । →र० ७६-३ ।

बेरियां—सज्ञा पु० [सं० वेला] समय, वक्त ।~नाउँ मेरै बधिप नाउँ मेरै भाई, अत की **बेरियां** नाउँ सहाई । →सव० ४६-५ ।

बेरियां—सज्ञा पु० [स० वेला] वेला, अवसर ।~कहै कवीर अव चरन न देइहौं, **वेरियां** भली सभारे ।→ सव० ११३-६ ।

बेरी—सज्ञा स्त्री० [स० वटी] वेड़ी, वधन। ~जेहि घरको घर कहै गँवारा, सो **बेरी** है गले तुम्हारा। → र० ७८-८ ।

बेलंत—क्रि० [स० वलन ?] छटपटाते हुए। ~ ज्यौ जल टूटै माछरी यूं **बेलत** विहाइ। → सा० सापी० (२९) ५-२ ।

बेलड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० वल्लरि] लता । दे० 'वेली' । ~ तीरथ व्रत विप **वेलड़ी**, सव जग मेल्या छाइ । → सा० भ्र० वि० (२३) ६-१, सा० वेली० ५८-१, पद २५३-१ ।

बेली—सज्ञा स्त्री० [स० वेलि] लता । ~कहै कवीर स्वामी तुम्हरै मिलन कौं **बेली** है पर पात नही रे ।→ सव० १२१-८ ।

बेसबानां—पुं० [हि०] वेशभूषा । ~आदि की उदेस जानै तासु **बेस बानां** ।→पद ३४३-६ ।

बेसां—सज्ञा स्त्री० [सं० वेश्या] वेश्या । ~जग हटवारा स्वाद ठग, माया **बेसां** लाइ । →सा० माया० (१६) १-१ ।

बेसास—संज्ञा पु० [स० विश्वास] विश्वास, प्रतीति । दे० 'विस्वास' । ~जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत **बेसास** । →सा० भ्र० वि० (२३) ८-१, सा० चिता० (१२) ५५-२ ।

बेसूधा—वि०[हि० बे(विना) + स० शुद्ध] १ अशुद्ध, २. नीच । ~कहा भये नर सुव **वेसूधा**, विनु परचै जग बूड़ न बूझा ।→र० ११-६ ।

बिस्वास—सज्ञा पु० [स० विश्वास] विश्वास, यकीन । ~जिनि गाया **बिस्वास** सौ, तिन राम रहा भरपूरि । →सा० बेसा० (३५) २१-२, १६-२, १६-२ ।

बेह—सज्ञा पु० [स० वेध] छिद्र, छेद । ~पाहन टाँकि न तोलिए, हाड़ि न कीजै **बेह** । →सा० संग० (२६) ५-१ ।

बेहद—वि० [फा०] असीम, अपरिच्छिन्न । ~हद्द छाडि **बेहद** गया, किया सुन्नि असनान ।→सा० पर० (५) ११-१, सा० पर० (५) ५-१ ।

बेहाथा—वि० [स० वि० + हस्त] १. हाथ मे प्राप्त वस्तु को खो देने वाला, २ निराश्रय ।~सुनहि वाद्या सुनहि गैऊ, हाथा छाड़ि **बेहाथा** भैऊ । →र० १६-३ ।

बेहाल—वि० [फा०] बेचैन। ~अब तौ बेहाल कबीर भए हैं बिनु देखें जिउ जाइ रे। →सब० १८६-८।

बेही—संज्ञा पु० [सं० वेध] छिद्र। ~जब लगि तागा बाहौं बेही, तब लगि बिसरै राम सनेही। → सब० १३६-४।

बैसिकरि—क्रि० [हिं० बैठना] बैठकर। ~चेतनि चौकी बैसिकरि, सतगुरु दीन्ही धीर। → सा० गुरु० (१) २३-१, सा० चाँण० (१७) १६-१।

बैं—संज्ञा स्त्री० [सं० वाय] कघी। ~बिन कबीरा चूनरी, बैं नहिं बाँधल बाछ।→पद २४८-६।

बै—संज्ञा स्त्री० [सं० वाय] जुलाहो के करघे मे सूत का एक जाल। ~पाई करि जब भरना लीन्हो, बै बाँधन की रामा। →सब० १२७-८।

बैकुंठ—संज्ञा पु० [सं० वैकुंठ] स्वर्ग, विलास का लोक। ~चलु रे बैकुंठ तुझहि लै तारउ हिचहि त प्रेम ताजनै मारउ।→सब० ३-४, सब० १०३-२, पद २६४-२।

बैठावन—संज्ञा पु० [हिं०] लकडी का वह औजार जिससे बाना बैठाया जाता है।~आदि पुरुष **बैठावन** बैठे, कबिरा जोति समाना। → सब० १२७-११।

बैतल—वि० [दे०] विष को धारण करने वाला। ~सो फूल बन्दहिं भक्त बिरहुली, डसि गैल **बैतल** साँप बिरहुली। →बिरहुली (७) ६।

बैंता—संज्ञा पु० [फा० बैत] कविता, शायरी। ~ दरद न जानहु पीर कहावहु, बैंता पढि पढि जग भरमावहु। →र० ४६-६।

बैद—संज्ञा पु० [सं० वैद्य] वैद्य। ~ बैद मुवा रोगी मुवा, मुवा सकल ससार। →सा० जी० मृ० (४१) ६-१।

बैन—संज्ञा पु० [सं० वाणी] वाणी, वचन। ~ माया मिलै महोवती, कूडे आखै बैन। → मा० गु० सि० हे० (४३) १०-१।

बैपार—संज्ञा पु०[सं० व्यापार] व्यापार। ~सहज कियहु बैपार हो रमैया राम। →वेलि (६) १-१८।

बैराग—वि० [सं० विरक्त] विरक्त। कहै कबीर जग्या ही चाहिए, क्या गृह क्या बैराग रे। → सब० ११८-६।

बैरागी—संज्ञा पु० [सं० वैरागी] साधक, तपस्वी। ~आवै न जाइ मरै नहिं जीवै ताहि खोजि बैरागी। →पद २१६-४।

बैरिनि—वि० [सं० वैरिणी] शत्रु, दुश्मन (स्त्री)।~सेजरिया **बैरिनि** भई मोकों, जागत रैनि बिहाइ। → सब० २२-७।

बैरी—वि० [सं० वैरी] शत्रु, दुश्मन। ~**बैरी** उलटि भए हैं मीता, साकत उलटि सजन भए चीता। →सब० २०-५, सा० सूरा० (४५) २६-१।

बैसदर—संज्ञा पु० [सं० वैश्वानर] अग्नि। ~जिहि **बैसंदर** जग जलै, सो मेरे उदक समान। → सा० कुस० (३६) ४-२।

बैस—सज्ञा स्त्री० [सं० वयम्] उम्र, यहाँ अर्थ है युवावस्था । ~नैन गैल मोर कजरा देत, बैस गैल पर पुरुष लेत । →वमत (४) ४-३ ।

बैसनौं—सज्ञा पु० [सं० वैष्णव] विष्णु का भक्त, वैष्णव । ~वैसनौं भया तौ का भया, वूझा नही ववेक । → सा० भेप० (२४) १६-१, सा० चित्तक० (४२) २-२ ।

बैसा—क्रि० [हि० वैठना] वैठा । ~ है कछु रहनि गहनि की वाता, **बैसा** रहे चला पुनि जाता । → र० ५१-३ ।

बैसि—क्रि० [सं० वेशन] वैठ कर ।~ अगिनि भी जूठी पानी जूठा, जूठै **वैसि** पकाया । →सव० ७१-५, पद ३२१-८, सव० १-५, सा० साँच० (२२) १३-१ ।

बैसे—क्रि० [स० वेशन] वैठे हुए । ~ वालू के घरवा मर्हि **बैसे** चेतत नाहि अयाना । →सव० १०२-६ ।

वोहडा—सज्ञा पु० [दे०] वीज । ~ रांम नांम करि **वोंहड़ा**, वोहौ वीज अघाइ । →सा० वेमा० (३५) ४-१ ।

बोइनि—क्रि० [स० वपन] वो दिया । ~मास असाढे सीतल विरहुली, **बोइनि** सातो वीज विरहुली । → विरहुली (७) ४ ।

वोइया—क्रि० [स० वपन] वोया ।~ मासु मछरिया तव तुम खइयो, जो खेतन मे **वोइया** जी । → सव० ११५-४ ।

बोइये—क्रि० [सं० वपन] वोने; वोना । ~जोतिये न वोइये सिंचिये न सोई, डार पात विनु फुल एक होई । → पद २३६-३ ।

वोई—वि० [स० वपन] विछाई, फैलाई हुई । ~ पाँहनि **वोई** पिरथमी, पडित पारी वाट । →सा० भ्रमवि० (२३) २-२ ।

वोई—क्रि० [स० वपन] फँस जाना, समा जाना । ~ताली पीटै सिरि धुनै, मीठै **वोई** माइ । →सा० कुस० (२५) ६-२ ।

वोकला—सज्ञा स्त्री० [स० वल्कल] छिलका, आवरण । ~फल अलकृत वीज नर्हि **वोकला**, सुख पछी रस खायो । →सव० ८८-२ ।

वोध—संज्ञा पु० [स०] चतुर लोग, ज्ञान । ~ विख अम्रित फर फरे अनेक, वेद अरु **वोध** कहैं तरु एक । →सव० १३१-४ ।

वोय—सज्ञा स्त्री० [फा० वू] गन्ध, वास । दे० 'वास' । ~सनकादिक भूले भँवर **वोय**, लख चौरासी जोनिन जोय । →वसत (४) १-५ ।

वोरै—क्रि० [हि० डुवोना] डुवोना ।~ नित उठि नौवा नाव चढतु है, वेर्राह वेरा **वोरै** हो । →कहरा (३) २-४ ।

वोल—सज्ञा पु० [हि० वोलना] वचन, वाणी, नाम मात्र । ~सपन सनेही जग भया, सहिदानी रहि **वोल** । → र० ११-१२ ।

वोलनहारु—सज्ञा पु० [हि० वोलना + हारु(प्रत्य०)] वोलने वाला, चेतन ।

न भखै सियारा जी। →सब० ११५-२, पद ३१८-१।

भक्खिन—सज्ञा पु० [स० भक्षण] भोजन। ~सूकर स्वाँन काग की **भक्खिन** तामैं कहा भलाई। → सब० १०२-४।

भग—सज्ञा स्त्री० [स०] स्त्री। ~ कबीर **भग** की प्रीतडी, केते गए गडत। → सा० कामी० (२०) १३-१।

भगत—सज्ञा पु० [स० भक्त] शिष्य। ~जाति पाति न लखै कोई **भगत** भौ भंगी।→पद ३२८-४।

भगतबछल—वि० [स० भक्तवत्सल] भक्तो पर कृपा या स्नेह करने वाला। ~दीनदयाल क्रिपाल दमोदर, **भगत-बछल** भौ हारी। → सब० ६८-६, पद २०६-६।

भगतां—सज्ञा पु० [स० भक्त] भक्त। दे० 'भगत'। ~**भगतां** कै भगतिनि होइ बैठी, तुरका कै तुरकानी।→ पद २२७-७।

भजई—क्रि० [स०√भज्] भजता है। उपासना करता है। ~सो झूठा जो सत कहँ तजई, गुर की दया राम को **भजई**।→र० ६६-३।

भजाऊ—क्रि० [हि० भागना] भागो। ~नहिं देखिए, नहिं आपु **भजाऊ**, जहाँ नहो तहँ तन मन लाऊँ।→ ज्ञान चौ० (१) २३।

भजिगौ—क्रि० [स० भग्न] नष्ट हो गया। ~जरि गौ कंथा धजा गयौ टूटी, **भजिगौ** डड खपर गयौ फूटी। →सब० १२६-४।

भज्यौ—क्रि० [सं० भजन] उपासना की। ~ (तैं) **भज्यौ** न जगपति राजा।→पद २२०-२।

भटका—क्रि० [हि०] भटकना। ~ लखि नहि परै नाम साहेब का फिरि फिरि **भटका** खाया हो। → पद २८७-६।

भट्ठी—सज्ञा स्त्री० [स० भ्राष्ट्र प्रा० भट्ठ] भट्ठी। ~अरध उरध ले **भट्ठी** रोपिनि, ब्रह्म अगिनि परजारी।→ पद ३०३-३।

भठछार—सज्ञा पु० [स० भ्राष्ट्र+ क्षार] भट्ठे की राख। ~मूल बिनठा माँनवी, बिनु सगति **भठ-छार**।→सा० कुस० (२५) १-२।

भतार—सज्ञा पु० [सं० भर्तार] पति। दे० 'भरतार'।~कहहि कबीर सब नारि के अविचल पुरुष **भतार**। → र० २७-६।

भनीजै—क्रि० [स० भणन्] कहते हैं। ~ऐसी बिधि सुर बिप्र **भनीजै**, नाम लेत पीठासन दीजै। →विप्र० (२) २०।

भभूका—सज्ञा पु० [दे०] लपट, चिन-गारी।~पानी महँ पखान की रेखा, ठोकत उठै **भभूका**।→सब० १६१-३।

भमरि—क्रि० [स० भ्रम] भयभीत होना, भ्रम मे पडना। ~भ भा **भमरि** रहा भरपूरी, भभरे ते है नियरे दूरी।→ज्ञान चौ० (१) ५१।

भया—क्रि० [स०√भू] हो गया। ~यह तन तो सब बन **भया**, करम जु भए कुहारि। → सा० चिता० (१२) ४४-१।

भया—सज्ञा पु० [स० भय] भय । ~पहुँची बात विद्या के पेटा, वाहू के भर्मे **भया** सकेता । →र० ५७-३ ।

भर—वि० [स० वर] श्रेष्ठ । ~ई **भर** जुवती वै बार नाह, अति रे तेज त्रिय रैनि ताहि । → वसत (४) ५-४ ।

भरतार—संज्ञा पु० [स० भर्त्तार] पति । ~ताहि न कवहूँ आदरै, परम पुरुष **भरतार** । →सा० सुन्दरि० (५२) २-२, सब० २२-८, सब० १४६-२ ।

भरतारा—सज्ञा पु० [स० भर्ता] भरण पोषण करने वाला । दे० 'भरतार' । ~तीनि लोक ब्रह्मड मैं, सब के **भरतारा** । →सब० ६५-२ ।

भरना—संज्ञा स्त्री० [हि०] करघे की ढरकी । →पाई करि जब **भरना** लीन्हो, वै बांधन की रामा । → सब० १२७-८ ।

भरपूरा—वि० [हि० भरा+पूरा] परिपूर्ण, व्याप्त । दे० 'भरपूर' ।~ हंम नाही तुम नाही रे भाई, रहै राम **भरपूरा** रे । →सब० ८४-६ ।

भरपूरी—वि० [हि० भरा+पूरा] परिपूर्ण, व्यापक । ~जोगिया ने एक ठाठ कियो है, राम रहा **भरपूरी** । सब० ६०-८ ।

भरम—सज्ञा पु० [स० भ्रम] भ्रम, धोखा । ~बिसमिल तामसु **भरम** कदूरी, भखि लै पचै होइ सबूरी । →सब० ७२-४, सा० चांण० (१७) २१-२, सा० उप० (३४) ४-१; सा० सूरा० (४५) १-२, सब० ५०-८ ।

भरमत—क्रि० [स० भ्रमण] भटकते हुए ।~जौ पै रसना रामुं न कहिवौ, तौ उपजत विनसत **भरमत** रहिवौ । →सब० १३२-१ ।

भरमै—क्रि० [स० भ्रम] भ्रमित होना । ~जो कछु खोजौ सो तुमही महिं, काहे को **भरमैं** बाहरि । →सब० ३३-२ ।

भरल—वि० [हि० भरना] भरा हुआ, परिपूर्ण । ~कवहुँ **भरल** बहै कवहुँ सुखाय । →सब० १६७-२ ।

भराति—संज्ञा स्त्री० [सं० भ्राति] भ्रम । दे० 'भरम' । ~वाहर भीतर रमि रहा, तातै छूटि **भरांति** । → सा० सब० (४०) १-२ ।

भरिष्ट—वि० [स० भ्रष्ट] भ्रष्ट ।~ करम असौच उचिष्टा खाही, मति **भरिष्ट** जम लोकहिं जाही । → विप्र० (२) ८ ।

भर्म—सज्ञा पु० [स० भ्रम] । दे० 'भरम' । ~**भर्म** के बांधल ई जग, यहि विधि आवै जाय । →र० २३-६, र० ५७-३ ।

भर्म—सज्ञा पु० [स० भ्रम] १ अधर्म को धर्म समझना । २. भ्रम । ~ कहैं कवीर सुनो हो सतो, **भर्म** भुली दुनियाई । →सब० १६५-७ ।

भर्मा—सज्ञा पु० [स० भ्रम] धोखा । दे० 'भरम ।' ~वेद कितेव छांडि देहु पांडे, ई सब मन के **भर्मा** । →सब० १७४-१० ।

भंमित—वि० [सं० भ्रमित] भ्रम मे पडा हुआ। ~जैसे स्वान काच मंदिर मे, **भंमित** भूंकि पर्‌यो। → सब० ५-२।

भल—वि० [सं० भद्र, प्रा० भल्ल] अच्छी तरह। ~**भल** सुम्रिति जहडा-यहु हो रमैया राम। →वेलि० (६) २-१।

भल—१. वि० [स० भद्र, प्रा० भल्ल] अच्छा, श्रेष्ठ। २. अव्य० [स० भद्र प्रा० भल्ल] भले ही, चाहे। ~राँम नाँम सू प्रीति करि, **भल** भल नीदौ लोग। सा० क० बि० क० (१६) १-२, पद २३६-४।

भलका—सज्ञा पु० [दे०] वाण या भाले का फलक। दे० 'भलाका'। ~ साँठी साँठी झडि पडी, **भलका** रहा सरीर। →सा० सव० (४०) ६-२।

भलाका—सज्ञा पु० [हि०] तीर का फलक, गाँसी। दे० 'भलका'। ~ भरम **भलाका** दूरि करि, सुमिरन सेल सँवाहि। →सा० सूरा० (४५) १-२।

भलो—वि० [हि० भला] ठीक, उचित। ~धीगा धीगी **भलो** न माना, जो काहू मोहि हिरदय न जाना। → र० ६७-२।

भवंगम—सज्ञा पु० [स० भुजगम] सर्प। ~ससार **भवंगम** डसिले काया, अरु दुखदारन व्यापै तेरी माया। → सब० १४५-३।

भवगहि—संज्ञा पु० [स० भुजंग+हि० हि] सर्प। दे० 'भवंगम'। ~सुरही तिन चरि अमृत सरबै, लेर **भवंगहि** पाई। →पद २६८-५।

भव—संज्ञा पु० [सं०] संसार, जगत्। ~गुड करि ग्यांन ध्यांन कर महुवा, **भव** भाठी करि भारा। → सव० ३५-३, र० ३६-३।

भव—संज्ञा पु० [सं०] संसरण, आवा-गमन। ~**भव** अस गरुआ दुःख अतिभारी, करु जिन जतन जे देसु विचारी। →र० २०-४।

भवन—संज्ञा पु० [सं०] मकान। ~ केसव कै कवला होइ वैठी, सिव के **भवन** भवांनी। →पद २२७-३।

भवांनीं—सज्ञा स्त्री० [स० भवानी] पार्वती। ~केसव कै कंवला होइ वैठी, सिव के भवन **भवांनीं**। → पद २२७-३।

भसम—सज्ञा पु० [स० भस्मन्] भस्म, राख। ~जे जारै तौ होइ **भसम** तन गाडे क्रिमि कीट खाई। → सव० १०२-३, पद ३१७-५, सव० १६३-३।

भाँजै—क्रि० [सं० भजन] तोडना, विनष्ट करना। ~मैवासा **भाँजै** नही, होन चहै निज दास। →सा० भेप० (२४) २५-२।

भांड़—संज्ञा पु० [स० भण्ड] विनाश, बरवादी। ~सतगुर की किरपा भई, नही तौ करती **भांड़**। →सा० माया० (१६) ७-२।

भांड़ा—सज्ञा पु० [स० भाण्ड] वर्तन, पात्र। ~दुनियाँ **भांड़ा** दुख का,

भरी मुहांमुह भूष। →सा० चिता० (१२) ४७-१, पद ३०२-४।

भांड़े—संज्ञा पु० [स० भाण्ड] वर्तन दे० 'भांड़ा'। ~तेहि मटिया के भांड़े पाडे, वूझि पियहु तुम पानी। →सव १७४-५, कहरा (३) ५-३।

भांड़ै—संज्ञा पु० [स० भाण्ड] वर्तन। दे० 'भांडा'। ~एकै खाक गढे सव भांड़ै एकै कोहरा साना। →पद ३२५-४, पद ३४६-६।

भांनन—क्रि० [स० भञ्जन] विनाश करना। ~भानन गढन सवारन सम्रथ ज्यौ राखै त्यौं रहिए। → पद २०८-२।

भांमिनीं—सज्ञा स्त्री० [सं० भामिनि] स्त्री। ~तन मन डस्यौ भुजग भांमिनीं लहरइ वार न पारा। → पद २२३-५।

भांवता—वि० [हि० भावन] अच्छा लगने वाला, प्रिय। ~कवीर हरि का भांवता, दूरै तैं दीसत। →सा० साधसा० (२६) ३-१।

भांवनीं—सज्ञा स्त्री० [स० भामिनी] स्त्री। दे० 'भाँमिनी'। ~सात सूत मिलि वनिज कीन, करम भांवनीं सगि लीन। →पद २३६-५।

भांवरि—सज्ञा स्त्री० [स० भ्रमण] विवाह के समय परिक्रमा करना। ~राम देव सगि भांवरि लेइहौ धंनि धनि भाग हमारा।→सव० १४६-६, पद ३१२-५।

भाइ—सज्ञा पु० [सं० भाव] भाव। ~ ~साँई सेती साँच चलि, औरो सौं सुध भाइ। →सा० भेष० (२४) ११-१, पद ३२१-१, सा० चित्त (४२) ३-१, सव० १७-६, सा० कस्तू० (५३) ७-१, सा० हे० प्री० (४४) ४-२।

भाइ—संज्ञा पु० [सं० भाव] प्रकार, ढग। ~कवीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ। →सा० मधि० (३१) ६-१।

भाइ—सज्ञा पु० [स० भाग] भाग, हिस्सा, अश। ~भगति दुवारा साँकरा, राई दसएँ भाइ। →सा० मन० (१३) २६-१।

भाइ—सज्ञा पु० [स० भाव] परिणाम। ~कदली सीप भुवंग मुख, एक वूंद तिहुँ भाइ। → सा० कुस० (२५) २-२।

भाइ—सज्ञा पु० [स० भाव] समान, भाति, तरह। ~एक भाइ दीसै सव नारी, ना जांनौं को पियहि पियारी। → पद २६२-४, सा० चित० (४२) २-१।

भाई—१ सज्ञा पु० [स० भ्रातृ] वन्धु। २ [हि० भाना] प्रिय लगी। ~ नाना रूप परी मन भांवरि, गांठि जोरि भाई पतिआई। → पद ३१२-५।

भाई—क्रि० [स० भान] अच्छा लगा, पसद आया। ~ हरिहर ब्रह्मा के मन भाई, विवि अच्छर ले जुक्ति वनाई। →र० ५-२।

भाए—क्रि० [सं० भान], प्रिय लगे। ~राम चरन मनि भाए रे। → पद २५५-१।

भाए—क्रि० [स० भान] अच्छा लगना, प्रिय लगना। ~जौ पै पिय के मनि नाही भाए। →सव० १३०-१।

भाखि—क्रि० [स० भाषण] वोलकर। ~कहै कबीर अक्खर दुइ भाखि, होइगा राम त लेइगा राखि। → पद २५६-५।

भाखो—संज्ञा पु० [हि० भासना] ज्ञान। ~गुर-परताप जिन्हें जस भाखो, जन बिरले सुधि पाई हो। → कहरा (३) १०-१०।

भाग—सज्ञा पु० [स० भाग्य] भाग्य। ~मोटे भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ। →सा० सू० मा० (१४) १०-२।

भाग—सज्ञा पु० [सं० भाग्य] प्रारब्ध। ~मानुख तन पायौ वडें भाग। → पद २२५-१, सव० १४६-६, पद २०६-१।

भागां—क्रि० वि० [सं० भग्न] टूटने पर, अलग होने पर। ~चदन भागां गुन करै, जैसे चोली पन। →सा० बिर्क० (३७) ३-१।

भाजई—क्रि० [हि० भागना] भागती है, दूर होती है, चली जाती है। ~ओसो प्यास न भाजई, जव लगि घसै न आभ। →सा० सुमि० (२) २१-२।

भाजन—क्रि० [सं० भाज्] भागना। ~पग तो पाला मैं गिला, भाजन लागी सूल। → सा० भेप० (२४) १-२।

भाजिसी—क्रि० [हि० भागना] भाग सकती है। ~अँदेसो नहि भाजिसी, सदेसो कहियाँ। ↦ सा० विर० (३) ६-१, २।

भाठी—सज्ञा स्त्री० [स० भ्राष्ट्र] भट्ठी। ~गुड करि ग्यान ध्यान कर महुवा, भव भाठी करि भारा। → सव० ३५-३, पद ३४४-५; पद २५०-५, पद २०१-३, सव० ११२-५, सव० ८७-५।

भाठी—सज्ञा स्त्री० [सं० भ्राष्ट्र] शराव की भट्ठी। ~कवीर भाठी कलाल की, वहुतक वैठे आइ। → सा० रस० (६) ३-१।

भातै—सज्ञा पु० [सं० भक्त] पकाया हुआ चावल, ओदन। ~भातै उलटि वरातै खायो, भली वनी कुसलाता। →सव० ३६-५।

भानु—सज्ञा पु० [स०] सूर्य। ~कहै कवीर मनि भया प्रगासा उदै भानु जव चीना। →पद ३०२-६।

भानौं—क्रि० [स० भंजन] दूर कर दो, नष्ट कर दो, भंजन करो। →कलक उतारौ साँइयाँ, भानौं भरम अँदेस। →सा० वीन० (५६) ४-२।

भाय—क्रि० [सं० भास] भासता है, प्रतीत होता है। ~अगम अपार रूप बहु, औ अरूप वहु भाय। → र० ७७-५।

भार—संज्ञा पु० [हि०] वजन। वह बोझ जो बहँगी के दोनो ओर लाद

कर ले जाया जाता है। ~समुद कोटि जाके पनिहार, रोमावलि कोटि अठारह भार। ↦सब० १२८-८।

भारती—सज्ञा पु० [स०] सन्यासियो के दस भेदो मे एक। ~गाँव वसत है गरव भारती वाम काम हकारा हो। →कहरा (३) ७-४।

भारी—वि० [हि० भार] कठोर। ~ तू मेरी पुरिखा हौं तेरी नारी, तोहरि चाल पाहनहुँ तै भारी। ~ पद २४३-४।

भालि—सज्ञा स्त्री० [स० भल्ल] भाला। ~मारा है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि। →सा० ज्ञान वि० (४) १-१।

भाव—सज्ञा पु० [स०] प्रेम।~जाको भाव होत हरि ऊपरि, जागत रैंनि विहानी। →सब० ४४-२, सब० १६०-६।

भाव—क्रि० [हि० भाना] अच्छे लगते हैं, प्रिय लगते हैं।~कहहिं कबीर जो रामहिं जानै, सो मोहि नीके भाव। →र० ६७-७।

भाव—संज्ञा पु० [सं०] विचार, दृष्टि। ~राँम सनेही बाहिरा, ऊजँड मेरे भाव। ↦सा० साधुम० (३०) २-२।

भावई—क्रि० [स० भावन] प्रिय लगना, अच्छा लगना। ~ कामी अमी न भावई, बिख ही कौं ले सोधि। →सा० कामी न० (२०) १६-१।

भावता—वि० [हि०] प्रिय। ~जो जाही का भावता, सो ताही कै पास। →सा० हे० प्री० स० (४४) १-१, ३-१।

भावै—क्रि० [स० भावन] (जैसा) चाहे, (जैसा) अच्छा लगे। ~ भावै त्यौं परमोधिए, ज्यू बंसि बजाई फूक। →सा० गुरु० (१) २१-२।

भावै—अव्य० [हि०] भले ही, चाहे। ~कुबुधि न जाई जीव की, भावै स्यंभ प्रमोधि। ~सा० कामी० (२०) १६-२, सा० भेष० (२४) ११-२, पद २०२-१२।

भावै—क्रि० [हि० भाना] प्रिय लगे, अच्छा लगे। ~रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै। →पद २७७-१।

भिख्या—सज्ञा स्त्री० [स० भिक्षा] भीख। दे० 'भीख'। ~ता सुख तै भिख्या भली, हरि सुमिरत दिन जाइ। →साधुम० (३०) ४-२।

भिच्छा—सज्ञा स्त्री० [स० भिक्षा] जीवनयापन का साधन, अन्न। ~ जन जो चोरी भिच्छा खाही, सो बिरवा पलुहावन जाही। → र० ६०-२।

भितियन—सज्ञा स्त्री० [स० भित्ति] दीवार, फलक। ~पाहन होयके सब गये, विनु भितियन को चित्र। → र० ५६-४।

भित्ति—सज्ञा स्त्री [स०] दीवार। → जैसी भित्ति तैसि है नारी, राजपाट सब गनै उजारी। →र० ७१-४।

भिदै—क्रि० [स० भेदन] बिंध जाते है। ~सुधबुध कै हिरदै **भिदै**, उपज विवेक विचार। →सा० निगु० (५५) ७-२।

भिद्या—क्रि० [स०√भिद्] घुस गया, प्रविष्ट कर गया। ~भीतरि **भिद्या** सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नाँहि। →सा० बिर० (३) १५-२।

भिधा—क्रि० [स० वेधन] बिंध गया। ~कहै कबीर भीतरि **भिधा**, सतगुरु कै हथियार। →सा० गुरु० (१) ६-२।

भिरै—क्रि० [हि० भिडना] लडता है। ~सो मुल्ला जो मन सौं लरै, अह-निसि काल चक्र सौं **भिरै**। →पद ३४६-३।

भिस्त—सज्ञा पु० [फा० विहिश्त] स्वर्ग; शान्ति का प्रतीक। ~होय **भिस्त** जौ चित न डोलावै, खसमहिं छोड़ि दोजख को धावै। → र० ५-८, सा० निह० प० (११) ७-२, सव० ४०-६, पद ३०४-६, र० ३६-४, र० ४०-४।

भिस्ति—सज्ञा पु०[फा० विहिश्त] स्वर्ग। दे० 'भिस्त'। ~दिल महिं खोजि देखि खोजा दे, **भिस्ति** कहाँ तै आई। →सव० ७६-१०, सव० १४१-८, सव० २२६-५, ८, १०।

भींगी—वि० [हि० भीगना] भीगी हुई, जर्जर। ~**भींगी** पुरिया घर ही छाडो चला जुलाह रिसाई। →पद २७१-८।

भींना—क्रि० [हि० भींगना] भीग गया। दे० 'भीनौं'। ~आषी पाछै जो जल बरसै तिहिं तेरा जन **भींनां**। →पद ३०२-५।

भीख—संज्ञा स्त्री० [स० भिक्षा] भिक्षा। ~स्वाँग जती का पहिरि करि, घरि घरि माँगै **भीख**।→सा० गुरु० (१) २७-२।

भीजे—क्रि० [स० अभ्यजन] मर कर लीन हो गए। ~छपन कोटि जादव जंह **भीजे**, मुनि जन सहस अठासी। →सब० १७४-३।

भीति—सज्ञा स्त्री० [स० भित्ति] दीवाल। दे० 'भित्ति'। ~काहे कू **भीति** बनाऊँ टाटी, का जानू कहाँ परिहै माटी। →सव० ८०-१।

भीती—सज्ञा स्त्री० [स० भित्ति] दीवार। दे० 'भित्ति'। ~बड छली रावन सो गौ बीती, लंका रहल कचन की **भीती**। →र० ४७-२।

भीनौं—क्रि० [हि० भीगना] भीग गया। ~ प्रेम भगति मेरो मन **भीनौं**। →सब० २१-२।

भीरि—संज्ञा स्त्री० [हि० भीड़]। ~ भीड, पुज, समूह। ~भगवत **भीरि** सकति सुमिरन की काटि काल की फासी। →सव० ६३-११।

भुंइ—सज्ञा स्त्री० [स० भूमि] जमीन, पृथ्वी। ~कहै कबीर नर गरब न कीजे, जेता तन तेती **भुंइ** लीजै। →सब० ८०-४, सव० २३-३, कहरा (३) ५-३, सव० १७८-६।

भुंई—संज्ञा स्त्री० दे० 'भुंइ'।

भुइं—सज्ञा स्त्री० दे० 'भुंइ'।

भुक्ती—संज्ञा पु० [स० भुक्ति] भोग्य पदार्थ। ~सीगी पात्र कछू नहि वाके, काहे को मांगै **भुक्ती**। → सव० ६०-५।

भुगतें—क्रि० [स० भोग] भोग करने से। ~नारि पराई आपनी, **भुगतें** नरकहि जाइ। →सा० कामी० (२०) २४-१।

भुगुति—सज्ञा स्त्री० [स० भुक्ति] आसक्ति।~भोगी भोग **भुगुति** जनि भूलहु, जोग जुगुति तन साधहु हो। →कहरा (३) १-८।

भुगुति—सज्ञा स्त्री० [स० भुक्ति] भोग। ~ कहै कबीर ससा नही, **भुगुति** मुकुति गति पाइ रे। → सव० ६७-१६।

भुतवा—सज्ञा पु० [स० भूत] प्रेत। ~**भुतवा** के पूजे भुतवै होई। → पद २४२-८।

भुनगा—सज्ञा पु० [अनु०] पतिंगा। ~और सवै सावन कै **भुनगा**, जगत पगा तलि पेलै। →सव० ६६-६।

भुवंग—संज्ञा पु० [स० भुजंग] सर्प, साँप। ~भाव तो **भुवंग** देखो, अति विविचारी। →सव० ८५-४, सा० चिंता० (१२) ६-२, सा० कुसं० (२५) २-२।

भुवगम—सज्ञा पु० [स० भुजगम] सर्प, साँप। दे० 'भुवग'। ~विरह **भुवं-गम** तन वसै, मन्त्र न लागै कोइ। →सा० विर० (३) १८-१, सा० साधसा० (२६) २-२।

भुसै—क्रि० [हि० भौंकना] भौंकना, कुत्तो का बोलना। ~हस्ती चढि नहि डोलिए, कूकुर **भुसै** जु लाख। →सा० वेसा० (३५) १२-२।

भूंकि—क्रि० [हि० भौंकना] भौंक कर। ~जैसे स्वान काच मदिर मे, भर्मित **भूकि** मर्‌यो। →सव० ५-२।

भूंजै—क्रि० [सं० भोग] भोगता है। ~इन्द्री केरे वसि पडा, **भूंजै** विखै निसक। →सा० कामी० (२०) २६-२।

भूंभुरि—सज्ञा स्त्री० [दे०] गर्म रेत। ~ऊपर के घाम तरे कै **भूंभुरि**, छाँह कतहुँ नहि पायहु हो।→कहरा (३) १-२२।

भू—सज्ञा स्त्री० [स०] पृथ्वी। दे० 'भुंइ'। ~ऐस भगत भया **भू** ऊपरि गुरु पै राज छुडाया। → पद ३१४-६।

भूखन—सज्ञा पु० [स० भूषण] आभूपण, गहना। ~जैसे वहु कचन के **भूखन** एकहि घालि तवावहिंगे। →सव० १८४-५।

भूत—सज्ञा पु० [स०] प्रेतात्मा। ~ते घट मरहट सारिखे, **भूत** वसैं ता माँहि। → सा० साधु म० (३०) ३-२।

भूप—सज्ञा पु० [सं०] श्रेष्ठ। ~उदधि **भूप** ते तरुवर डाहै, मच्छ अहेरा खेलै। →पद १६६-८।

भूभुरि—सज्ञा स्त्री० [सं० भू+भुर्ज] पृथ्वी का मल। ~पानी माँहि तलफि गौ **भूभुरि**, घूरि हिलोरा देई। →पद ३२३-३।

भूमि—संज्ञा स्त्री० [स०] मिट्टी। ~ पूरब जन्म भूमि के कारन, बीज काहे को वोयो। →पद ३१६-२।

भूलल—क्रि० [हि० भूलना] भूल गया। ~पापड रूप रचो इन तिरगुन, तेहि पापड भूलल ससारा। → पद ३२४-२।

भूलि—क्रि० [प्रा० भुल्ल] भूल करके, अज्ञानवश। ~कवीर भूलि विगाडियाँ, (तू) नाँ करि मैला चित्त। →सा० वीनती० (५६) २-१।

भूष—संज्ञा स्त्री० [स० वुभुक्षा] भूख, तृष्णा, चाह। ~दुनियाँ भाडा दुख का, भरी मुहाँमुह भूष। →सा० चिता० (१२) ४७-१।

भृगी—सज्ञा पु० [स० भृग + ई (प्रत्य०)] एक प्रकार का भौंरा। ~रामनाम लौ लाय सो लीन्हा, भृगी कीट समुझि मन दीन्हा। → र० २०-३।

भेउ—सज्ञा पु० [स० भेद] भेद, रहस्य। ~अव हम इसका पाया भेउ, हुए क्रिपाल मिले गुर देव। →सव० ४६-६, सव० १४३-६, र० ३६-४।

भेऊ—संज्ञा पु० दे० 'भेउ'।

भेख—संज्ञा पु० [स० वेष] रुप, रूपात्मक योनियाँ। ~माटी एक भेख धरि नाना तामें व्रह्म समाना। → पद २२६-६।

भेख—सज्ञा पु० [सं० वेप] वाहरी ठाट वाट वाह्याडम्वर। ~कवीर माला मनहि की, और ससारी भेख। →सा० भेप० (२४) ६-१, सव० ३१४-१।

भेटीले—क्रि० [हि०] भेट कर ले, मिल जाय। ~ वेधीले चक्र भुअगा, भेटीले राइ निसगा। → सव० १७१-६।

भेद—संज्ञा पु० [स०] रहस्य, मर्म। दे० 'भेउ'। ~नष्ट गए जिन्ह वेद वखाना, वेद पढै पै भेद न जाना। →र० ६३-३, सव० ६५-६; र० ३५-१।

भेदा—संज्ञा पु० दे० 'भेद'।

भेदै—क्रि० [स० भेदन] वेधना, सुगंध समाना। ~चंदन वास भेदै नही, जारा सव परिवार।→सा० निगुर्णा० (५५) ११-२।

भेरा—संज्ञा पु० [सं० वेड़ा] एक प्रकार की नाव, वेडा, भेला। ~ भेरा देख्या जरजरा, (तव) ऊतरि पडे फरकि। →सा० गुरु० (१) २५-२, सा० विर० (३) ४३-१, पद २३१-१०, सव० १०-११।

भेरि—सज्ञा स्त्री० [स०] यह मृदग जाति की लगभग दो हाथ लम्वी, हाथ से वनी हुई दो मुख वाली होती है, जिसका एक मुख एक हाथ लम्बे व्यास का वना होता है। ये मुख चमडे से मढे और डोरियो से कसे रहते हैं जिनमे काँसे के कडे पड़े रहते है। इसे दाहिनी ओर लकड़ी से और वांयी ओर हाथ से बजाते है, डका। ~ढोल दमामा डुगडुगी, सहनाई औ भेरि। →सा० चिता० (१२) ३-१, पद २५५-६।

भेरै—सज्ञा पु० [स० वेडा] वेड़ा, नौका। दे० 'भेरा'। ~भेरै चढ़े

सो अधधर डूबे, निराधार भए पार। →सब० २५-२।

भेला—सज्ञा स्त्री० [हि० भेंट] भेट। ~भुजा बाँधि भेला करि डार्यो, हस्ती कोपि मूड महि मार्यो। → सब० ४२-३।

भेलिसी—क्रि० [राज०] नष्ट कर देगा, भेदेगा। ~जम राना गढ भेलिसी, सुमिरि लेहु करतार। → सा० चिता० (१२) ७-१।

भेव—संज्ञा पु० [स० भेद] रहस्य। दे० 'भेद'। ~तपसी माते तप के भेव, सन्यासी माते करि हमेव। → वसत (४) १०-३।

भेव—संज्ञा पु० [स० वेप] रूप, आकार। ~परम पुरख देवाधि देव, भगति हेत नरसिंघ भेव। →सव० १५६-११।

भेवा—वि० [स० भेद] भिन्न-भिन्न। ~खोजहि गन गंधर्व मुनि देवा, अमित लोक खोजहि वहु भेवा। → र० २५-४।

भेषां—संज्ञा पु० [सं० वेश] वेश मे। जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेप कराऊँ। →सा० विर० (३) ४१-२।

भेसा—सज्ञा पु० [स० वेश] वेश; स्वरूप। ~दर की वात कहौ दरवेसा, पातसाह है कौने भेसा। → र० ४६-१।

भै—सज्ञा स्त्री० [स० भू] भूमि, मिट्टी। ~लागत ही भैं ।मलि गया, पड्या कलेजै छेक। →सा० गुरु० (१) ७-२।

भै-भै—अव्य० [उद्‌गार वाचक शब्द] व्याकुल होकर। ~भै-भै प्रिथिमी दहूँ दिसि धावै, अस्थिर होय न औषध पावै। →र० ५-७।

भै—सज्ञा पु० [स० भेद, प्रा० भेव] भिन्न। ~सभ घटि एक एक करि लेखै भै दूजा करि मारै। →पद २३०-६।

भै—सज्ञा पु० [सं० भय] भय, डर, आतंक। ~जव लग मोर तोर करि लीन्हा, भै भै जनमि जनमि दुख दीन्हा। →सव० ७-३।

भै पड्या—क्रि० [सं०√भू + हि० पडना] हो गया। ~भली भई जु भै पड्या गई दसा सव भूलि। →सा० पर० (५) १८-१।

भै हारी—वि० [स० भव + हि० हारी] भव सागर का हरण करने वाले, आवागमन से छुटकारा देने वाले। ~दीनदयाल क्रिपाल दमोदर, भगत वछल भै हारी। →सव ६८-६।

भोजन—संज्ञा पु० [हि०] विपय। ~न्यारो न्यारो भोजन चाहैं, पाचौ अधिक सवादी। →पद २६६-३।

भौती—संज्ञा पु० [सं० भौतिक] सासारिक। ~व्यापी एक सकल मे जोती, नाम धरे का कहिए भौती। → विप्र० (२) २५।

भोर—सज्ञा पु० [हि०] प्रात.काल। ~सोइ सोइ सव रैनि विहानी, भोर भयो तव जागे। →सव० १८६-२।

भोरा—वि० [हि० भोला] भोले, सरल।

~लोगा तुम ही मीत के **भोरा**।→ पद २८५-१।

भोरै—वि० [हि० भोला] भोले, सरल, सीधे। ~कहै कवीर जो रहै सुभाइ **भोरै** भाइ मिलै रघुराइ। →सव० १०१-६।

भोल—सज्ञा स्त्री० [प्रा० भुल्ल] भूल। ~सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी **भोल**। →सा० गुरु० (१) २४-१।

भोलै—भाव० [हि० भूलना] भोलेपन मे, अज्ञान मे। ~**भोलै** भूली खसम कै, वहुत किया विभिचार। →सा० पीवपि० (३६) ३-१।

भौ—संज्ञा पु० [स० भव] भवसागर। ~मन ग्यान जानि कै करि विचार, राम रमत **भौ** तिरिवौ पार। → पद २२४-८।

भौ—क्रि० [स० √भू] उत्पन्न हुआ। ~**भौ** वालक भग द्वारे आया, भग भोगे ते पुरुष कहाया। → र० २-१०।

भौ—क्रि० [सं० √भू] हो गया। ~ रहिगौ पथ थकित **भौ** पौना, दसो दिसा उजारि **भौ** गौना। →र० ४५-४, ५, पद २३६-२।

भौ—संज्ञा पु० [स० भय] डर। ~ वालापन गयौ जौवन जासी; जरा मरन **भौ** संकट आसी। →सव० ११७-३।

भौ—क्रि० [स० भू धातु] हुआ। ~ गगन मँडल मँह **भौ** उजियारा, उलटा फेर लगाया। →सव० १०६-६।

भौ—सज्ञा पु० [सं० भव] ससार। ~कुसलहि कुसल करत जग खीना, पड़ै काल **भौ** पासी रे। सव० ८४-७, पद ३३८-४, सा० उपज० (५०) ६-१, सा० माया० (१६) १६-१।

भौजलि—संज्ञा पु० [सं० भवजल] ससार सागर, भवसागर। ~**भौजलि** अध-धर थाकि रहे हैं, वूडे वहुत अपार। सव० ७३-६, सव० १०-१२।

भौ भगी—यौ० [हि० भवभगी] ससार का भजन करने वाला। ~जाति पाति न लखै कोई भगत **भौ भगी**। →पद ३२८-४।

भौसागर—संज्ञा पु० [स० भव+सागर] ससार-सागर। ~भेरा पाया सरप का, **भौसागर** के माँहि। →सा० विर० (३) ४३-१, र० ६५-३।

भ्रमंत—क्रि० [सं० भ्रम] भटकते हुए, चक्कर काटते हुए। ~लख चौरासी जीअ जोनि महि **भ्रमंत** भ्रमत नद थाकी रे। →पद २८२-३।

भ्रमाय—वि० [स० भ्रम] भ्रमित, भ्रम मे पड़े हुए। ~गुनातीत के गावते, आपुहि गये **भ्रमाय**। →र० ६१-५।

भ्रमि—सज्ञा पु० [स० भ्रम] धोखे मे। ~ चितामणि प्रभु निकटि छाड़ि करि, **भ्रमि** भ्रमि मति वुधि खोई। →पद २५१-२।

भ्रमि भ्रमि—क्रि० [सं० भ्रम] भ्रमित होकर, मँडराकर। ~माया दीपक

नर पतग, भ्रमि भ्रमि इवै पडंत। →सा० गुरु० (१) २०-१।

भ्रम्यौ—क्रि० [स० भ्रमण] भ्रमण करना, चक्कर लगाना। ~सो साँई तन मैं वसै, **भ्रम्यौ** न जानै तास। →सा० कस्तू० (५३) ३-१।

भ्रिग—सज्ञा पु० [सं० भृङ्ग] एक प्रकार का कीडा जो दूसरे कीडो को भी अपने समान वना लेता है। दे० 'भृगी'। ~मोहिं तोहिं कीट **भ्रिग** की नाइं, जैसे सलिता सिंधु समाई। →पद २४०-५, पद ३२८-१।

भ्रिगी—संज्ञा स्त्री० [स० भृङ्गी] विलनी नामक कीडा, जो और कीडो को भी अपने समान वना लेता है। दे० 'भृगी'। ~ **भ्रिगी** कीट रहे ल्यौ लाइ, ह्वै लौलीन भ्रिग ह्वै जाइ। →सव० ५६-५, पद ३२८-१।

म

मगल—सज्ञा पु० [स०] विवाह के गीत। ~सखी सहेली **मगल** गावैं, दुख सुख माथे हलदी चढावैं। → पद ३१२-४, पद २३८-४।

मगलचार—सज्ञा पु० [सं० मगलाचरण] मागलिक कृत्य के समय गाया जाने वाला गान। ~दुलहिनी गावहु **मगलचार**। →सव० १४६-१।

मछर—संज्ञा पु० [स० मत्सर] ईर्ष्या। ~काम क्रोध माया मद **मंछर**, ए सतति मो माही। →सव० ६८-७।

मंजन—सज्ञा पु० [सं० मञ्जन] स्नान। ~क्या ऊजू जप **मजन** कीए, क्या मसीति सिरु नाए। →सव० २३-५, पद ३०८-३।

मजन करै—क्रि० [स० मञ्जन + हिं० करना] सफाई करना, धोना, स्नान करना। ~काया **मंजन** क्या **करै**, कपडा धोइम धोइ। →सा० चिता० (१२) ५३-१।

मंजार—सज्ञा पु० [स० मार्जार] विलाव। ~तूं पिंजरु हउं सुअटा तोर, जमु **मंजार** कहा करै मोर। → पद २६१-४।

मँजारी—सज्ञा स्त्री० [सं० मार्जारी] विल्ली। ~सुरति सचान तेरी मति तौ **मँजारी**। →सव० ८५-५।

मजूसा—सज्ञा स्त्री० [स०मजूषा] पिटारी, गुफा। ~मूड मुडाय फूलि का वैठे, मुद्रा पहिरि **मजूसा** हो। →कहरा (३) ७-२।

मजूसा—सज्ञा पु० [स० मजूषा] मुद्रा, शीशे की वालियाँ। ~मूड मुडाइ फूलि का वैठे, काननि पहिरि **मजूसा**। →सव० १०४-३।

मझन—सज्ञा पु० [दे०] मांजा, मादक-फेन। ~वगुला **मझन** जानई, हसा चुनि चुनि खाइ। →सा० पारि० (४६) २-२।

मंझरिया—सज्ञा पु० [हिं०] भीतर विद्यमान सच्चिदानन्द आत्मा। ~ माझ **मझरिया** वसै जो जानै, जन होइहैं सो थीरा हो। →कहरा (३) ७-६।

मंझा—क्रि० वि० [सं० मध्य] मध्य मे। ~लावरि बिहने लावरि सझा, इक लावरि वस हिरदया **मंझा**। → ६१-२, पद ३३६-३।

मँझारि—क्रि० वि० [स० मध्य] मध्य मे, वीच मे। साथ मे। दे० 'मझा'। ~कामिनि काली नागिनी, तीनो लोक **मँझारि**। →सा० कामी० (२०) १-१, पद २४५-८।

मझि—कारक चिह्न [सं०] मे। ~ माँइ विडांणी वाप विड, हम भी **मंझि** विडांह। →सा० चिता० (१२) ५६-१।

मंझै—क्रि० वि० [स० मध्य] वीच मे। दे० 'मँझा'। ~सोरह **मंझै** पवन झकोरै, आकासै फरु फरिया। → सव० ११६-६।

मंड—सज्ञा पु० [सं० मण्डप] मण्डप। दे० 'मडप'। ~अखड मडल मडित **मंड**, त्रि स्नान करै त्रीखण्ड। → सव० १४०-५।

मडन—सज्ञा पु० [स०] वंधन। ~ पानी ग्रहन भयो भव **मंडन**, सुखमनि सुरति समानी। →सव० ३६-६।

मडप—संज्ञा पु० [स०] मण्डप। ~ पाच जना मिलि **मंडप** छायौ चारि जना मिलि लगन लिखाई। →पद २३८-३।

मंडल-मंडित—यौ० [स०] मडलो से सुसज्जित। ~अखड **मडल-मडित** मंड, त्रि स्नान करै त्रीखण्ड। → सव० १४०-५।

मडलिक—सज्ञा पु० [स० माण्डलिक] मण्डलाधीश; राजा। ~छत्र चकवै **मंडलिक** झारि, अजहू हो नर देख विचारि। →वसत (४) ६-४।

मडान—वि० [स० मडन] विस्तार, फैलाव। ~झूठहि की **मंडान** है, धरती असमाना।→सव० १३५-३।

मँड़ान—सज्ञा पु० [स० मड] मडप, साज-सज्जा के आयोजन। ~कवीर थोडा जीवना, माडै वहुत **मँड़ान**। →सा० चिता० (१२) ५-१।

मंत—सज्ञा पु० [स० मन्त्र] मन्त्र। दे० 'मतर'। ~कवीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौ करि **मंत**।→सा० सुमि० (२) ३०-१, सा० बिर्क० ५-१, सव० ४३-१०।

मंतर—सज्ञा पु० [स० मन्त्र] मन्त्र। ~घर घर **मतर** देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना। → पद २९७-१३।

मंत्र—संज्ञा पु० [सं०] मननात् त्रायते इति मन्त्र —मनन करने से जो त्राण करे। ~ सांच **मंत्र** बांधिनि सव झारी, अमृत वस्तु न जानै नारी। →र० १०-६।

मद—वि० [स०] मूर्ख, वेवकूफ। ~ अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं **मंद**। →सा० गुरु० (१) १८-२।

मदर—सज्ञा पु० [स० मद्र] गभीर ध्वनि। ~तुम यहि विधि समुझहु लोई, गोरी मुख **मंदर** वाजै। → सव० १४४-१।

मंदल—संज्ञा पु० [स० मर्दल] मृदग जाति का एक वाद्य। ~कबीर सव

जग हेरिया, **मंदल** कंधि चढ़ाइ ।→ सा० बिर्क० (३७) १०-१ ।

मंदला—सज्ञा पु० [स० मर्दल] एक विशेप प्रकार का वाद्य, मर्दल । दे० 'मदल' । ~सुनि मडल मैं **मंदला** वाजै, तहा मेरा मन नाचै ।→सव० ३५-७, १५-२ ।

मंदलिया—सज्ञा पु० [स० मर्दल से] मर्दल वजाने वाला । ~घौल **मंदलिया** वैल रवावी कउवा ताल वजावै । →पद ३३१-३ ।

मदिर—सज्ञा पु० [स०] घर, मकान । ~ते **मदिर** खाली पडे, वैठन लागे काग । → सा० चिता० (१२) ४-२, ज्ञानचौं० (१) ३८, कहरा (३) ११-८ ।

मंदिल—सज्ञा पु० दे० 'मदिर' ।

मदे—वि० [स० मन्द] तुच्छ । ~एक नूर तै सव जग कीआ कौन भले कौन **मंदे** । →पद २८१-४ ।

मंन—सज्ञा पु० [सं० मनस्] मन ।~ दोइ जो भागा ना मिलै, मुकताहल अरु **मंन** । →सा० विर्क० (३७) ३-२ ।

मकसूद—सज्ञा पु० [अ० मकसद] उद्देश्य । ~क्या **मकसूद** मच्छ कछ होना, सखासुर न सहारा । →पद २६२-३ ।

मका—सज्ञा पु० [अ० मक्का] अरव का एक प्रसिद्ध नगर, जो मुसलमानो का तीर्थ-स्थान है । ~ मनु करि **मका** किबला करि देही, वोलनहारु परम गुर एही । →सव० ७२-३ ।

मग—सज्ञा पु० [सं० मार्ग] मार्ग, रास्ता, पथ । ~मै विरहिनि ठाढ़ी **मग** जोऊँ, राम तुम्हारी आस । → सव० २२-३ ।

मगन—वि० [स० मग्न] मग्न, आनंद-युक्त, प्रसन्न । ~ उनमनि चढा **मगन** रस पीवै, त्रिभुवन भया उजिआरा । →सव० ३५-२ ।

मगन—वि० [स० मग्न] लीन, डूवा हुआ, निमज्जित । ~ कहै कवीर स्वामी सुख सागर, राम **मगन** सो पावै । →सव० ८८-७ ।

मगन—वि० [स० मग्न] आनन्दित, प्रसन्न । ~होइ निसक **मगन** होइ नाचै, लोभ मोह भ्रम छांडै । → सव० १३७-३ ।

मचाइ—क्रि० [सं० मच] सजाकर । ~दरिया पार हिंडोलना, मेल्या कत **मचाइ** । → सा० सुन्द० (५२) ५-१ ।

मच्छ—सज्ञा पु० [स० मत्स्य, प्रा० मच्छ] मत्स्यावतार । ~सूर्य चन्द्र तारागन नाही, **मच्छ** कच्छ नहिं दूनी । →सव० ३१-६, पद २६२-३ ।

मच्छ—संज्ञा पु० [स० मत्स्य, प्रा० मच्छ] मछली । ~**मच्छ** रूप माया भई, जवरहिं खेले अहेर । → र० ४६-५, सव० १७४-६ ।

मछ—सज्ञा पु० [स० मत्स्य] मछली, मत्स्यावतार । दे० 'मच्छ' । ~ गण्डक सालिगराम न सीला, **मछ** कछ होय जल नही हील। । →र० ७५-८ ।

मछरिया—संज्ञा पु० [सं० मत्स्य] मछली। दे० 'मच्छ'। ~मासु **मछरिया** तब तुम खइयो, जो खेतन मे बोइया जी। →सब० ११५-४।

मजकण—संज्ञा पु० [सं० मध्यकण] दाने के बीच का सार। ~विषै विलबी आतमाँ, ताका **मजकण** खाया सोधि। → सा० कामी० (२०) २०-१।

मजलिसि—सज्ञा स्त्री० [अ० मजलिस] सभा। ~**मजलिसि** दूरि महल को पावै। →सब० १४१-२।

मज्जनु—सज्ञा पु० [स० मज्जन] लय। ~जब नख सिख यहु मन चीन्हा, तब अतरि **मज्जनु** कीन्हा। →सब० १७१-४।

मझारं—क्रि० वि० दे० 'मझार'।

मझार—क्रि० वि० [हि०] मध्य मे, बीच मे। ~आतम ब्रह्म जो खेलन लागे काया नग्र **मझार**। → पद ३०६-४, सब० १७१-५।

मझारी—क्रि० वि० [हि० मज्झ+आरी (प्रत्य०)] मध्य मे। दे० 'मझार'। ~जोगिया फिरि गयौ गगन **मझारी**। →सब० १२६-१।

मझूरि—क्रि० [म+दे० झूरि] चिंतित मत हो, सतप्त मत हो। ~रैना दूर बिछोहिया, रहु रे संख **मझूरि**। →सा० बिर० (३) ४४-१।

मटकावै—क्रि० [हि० मटकाना] मटकाती है। ~कागज टीकि चसम **मटकावै** कसि कसि बांधै गाढी। → पद ३१३-३।

मटिया—संज्ञा स्त्री० [हि० मिट्टी] मिट्टी मे। ~उतानै खटिया गडिले **मटिया**, सगि न कछु लै जाइ। →सब० १०५-२।

मटिया—सज्ञा स्त्री० [स० मृत्तिका] मिट्टी। ~जेहि **मटिया** के घर मँह बैठै, तामे सृष्टि समानी। →सब० १७४-२।

मटुकी—सज्ञा स्त्री० [हि० मटकी] मिट्टी का घडा। ~तनु करि **मटुकी** मनहिं विलोइ, ता मटुकी महिं सबद सजोइ। →पद ३३०-३।

मडए—सज्ञा पु० [स० मण्डप] मण्डप। दे० 'मंडप'। ~ **मड़ए** के चारन समधी दीन्हा, पुत्र बिबाहल माता। →सब० ३६-३।

मड़हट—सज्ञा पु० [हि० मरघट] मरघट, श्मशान। ~**मड़हट** देखें डरपती, चौडै दीया जालि। →सा० काल० (४६) १६-२।

मतवाली—वि० [स० मत्त+हि० वाली] मस्ती। ~बाँधि मारि डांडि सभ लैहैं, छुटि है सभ **मतवाली** हो। → कहरा (३) १-११।

मतसर—सज्ञा पु० [स० मत्सर] ईर्ष्या। ~त्रिसर्ना काम क्रोध मद **मतसर** काटि काटि कस दीन्हा। →पद ३४४-४।

मता—सज्ञा स्त्री० [स० माता] माता। दे० 'माँइ'। ~जब दस मास **मता** के गर्भे, बहुरि के लागल माया। → पद ३१६-४।

मति—क्रि० वि० [स० मा] नही,

मत। ~मैं विगर्‌यौ विगरै मति औरा। →पद ३०६-२, ५।

मति—अव्य० [सं०] ऐसा न हो कि। ~तव हरि सेवा आपै करै, मति दुख पावै दास। →सा० जी० मृ० (४१) १-१।

मति—संज्ञा स्त्री० [सं०] अपरोक्ष अनुभूति। ~लोग वोलै दूरि गए कवीर, या मति कोइ कोइ जानै धीर। →पद २८४-१।

मति—सज्ञा स्त्री० [स०] मत, सिद्धात। ~रामहुँ केर मरमु नहिं जाना, लै मति ठानिन्हि वेद पुराना। →र० ६१-३।

मति—संज्ञा स्त्री० [सं०] इच्छा। ~जे वन जलै त जल कूं धावै, मति जल सीतल होई। →सव० ६६-५।

मति—अव्य० [सं०] मकु, शायद, सभव है।~मति वै राम दया करैं, वरसि वुझावै अग्गि। →सा० विर० (३) ११-२।

मति धीर—वि० [सं०] स्थितप्रज्ञ, वस्तु-तत्व, निश्चयवती, वुद्धि मे स्थित। ~जाति जुलाहा मति का धीर, सहजि सहजि गुन रमै कवीर। → सव० १६३-५।

मतिवारा—वि० [हि० मतवाला] मत-वाला, मदमस्त। ~छाकि पर्‌यो आतम मतिवारा।→सव० १०८-१, सव० ३५-१।

मते—संज्ञा पु० [स० मत] नाना प्रकार के मतो मे। ~संतो मते मातु जन रंगी। →पद ३०३-१।

मते—अव्य० [स० मत से] अनुमार। ~मन के मते न चालिये, छाँडि जीव की वानि। → सा० मन० (१३) १-१।

मथन—क्रि० [हि० मथना] मथन करना। ~नाम मथन दधि मथन कियो हो रमैया राम। →वेलि० (६) ६।

मथिआ—क्रि० [स० मंथन] मथ डाला, मर्दन किया। ~सहसवाहु कै हरे परान, जरजोधन का मथिआ मान। →सव० १२८-१६।

मद—सज्ञा पु० [स०] मदिरा, शराव। ~पापी पूजा वैसि करि, भखै मांस मद दोइ। →सा० सांच० (२२) १३-१।

मद—सज्ञा पु० [स०] गर्व, अहकार। ~अव हम भयल वाहिरि जल मीना, पुरव जनम तप का मद कीना। → सव० १६-१, सव० ६८-७, पद ३४४-७।

मदन—संज्ञा पु० [स०] १. प्रेम, २. मोम। ~मुद्रा मदन सहज धुनि लागी सुखमन पोतनहारी। →पद ३४४-६।

मदन—संज्ञा पु० [सं०] कामदेव। दे० 'मनमथ'। ~इसु तन मन मद्धे मदन चोर, जिनि ग्यान रतन हरि लीन मोर। →पद २२४-३, पद ३०३-४।

मदपी—वि० [स० मद्यपी] शरावी। ~जैसे मदपी गाठि अरथ दै, घरहु

कै अकिल गवाँई हो। →कहरा (३) ६-३।

मदमाते—वि० [सं० मदमत्त] उन्मत्त, मतवाले। ~सबै **मदमाते** कोइ न जाग, सँगहि चोर घर मूसन लाग। →वसंत (४) १०-१।

मदल—सज्ञा पु० [स० मर्दल] वाद्य-विशेष। दे० 'मदल'। ~इहि वनि वाजै **मदल** भेरि रे वहि वनि वाजै तूरा रे। →पद २५५-६।

मदु—सज्ञा पु० [स० मद्य] शराव, मदिरा। ~एक वूंद भरि देइ राम रस ज्यूं **मदु** देइ कलाली। →पद ३४४-२।

मद्दति—सज्ञा स्त्री० [अ० मद] प्रशसा। ~मानिकपुरहि कवीर वसेरी, **मद्दति** सुनी सेख तकी केरी।→र० ४८-१।

मद्धिम—वि० [स० मध्यम] नीच, छोटा।~कहै कवीर **मद्धिम** नहिं कोई, सो मद्धिम जा मुखि राम न होई। →सव० १२६-५।

मद्धे—अव्य० [स० मध्य] मध्य मे, भीतर। →इसु तन मन **मद्धे** मदन चोर, जिनि ग्यान रतनु हरि लीन मोर। →पद २२४-३।

मधि—सज्ञा पु० [स० मध्य] १ द्वन्द्वातीत, सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो से परे—इसी अवस्था को नाथ सम्प्रदाय और कवीर ने सहजावस्था कहा है। इसी को सामरस्य की अवस्था भी कहते हैं। २. इडा और पिंगला के मध्य सुषुम्ना का मार्ग—मध्य मार्ग।~कबीर **मधि** अग जे को रहै, तौ तिरत न लागै वार।→सा० मधि० (३१) १-१।

मधिम—वि० [सं० मध्यम] क्षुद्र, नीच। ~कुल उत्तिम जग माहि कहावै, फिरि फिरि **मधिम** करम करावै।~ विप्र० (२) ६।

मधुकर—सज्ञा पु० [सं०] भ्रमर। ~ कवीर मन **मधुकर** भया, करै निरन्तर वास। → सा० परचा० (५) ६-१।

मधुप—संज्ञा स्त्री० [सं०] मधु का पान करने वाली, मधुमक्षिका, मधुमक्खी। ~घट-घट महुँ के **मधुप** ज्यो, परमातम ले चीन्हि। →सा० सार० (३२) ३-२।

मधूकरी—सज्ञा स्त्री० [स० मधुकर] भिक्षान्न। ~मीठा खाँड़ **मधूकरी**, भाँति भाँति को नाज। →सा० वेसास० (३५) १३-१।

मन करि—क्रि० [स० मन+√कृ] मन लगाकर, दत्तचित्त होकर। ~ मन नहिं मारा **मन करि**, सकै न पच प्रहारि। →सा० मन० (१३) १५-१।

मनमथ—सज्ञा पु० [स० मन्मथ] 'मनः मथ्नाति इति मन्मथ', मन को मथने वाला, काम, कामदेव।~हालै करै निसाने घाऊ, जूझि परे तहँ **मनमथ** राऊ। →र० ८३-५, सव० ६४-४, र० ३०-६।

मनमुखी—वि० [सं० मन+मुखिन्] मन के सकेत पर चलने वाला, स्वेच्छाचारी। ~माला फेरै **मन-**

सुखी, तातैं कछू न होइ। →सा० भेष० (२४) ३-१, र० ४३-६।

मनवाँ—संज्ञा पु० [सं० मनस्] संकल्प-विकल्पात्मक मन। ~आगम निगम एक करि जानाँ, ते **मनवाँ** मन माँहि समाना। →सव० ७-४।

मनसा—संज्ञा स्त्री० [अ० मनशा] कामना, अभिलाषा, वासनायुक्त मन, इच्छा। →कलि का स्वामी लोभिया, **मनसा** रहै वधाइ। →सा० चाँणक० (१७) ८-१, सा० मन० (१३) ३-१।

मनसा—संज्ञा पु० [सं० मनस्] मन। ~चलत **मनसा** अचल कीन्ही माहि मन पंगी। →पद ३२८-७।

मनसा—संज्ञा पु० [सं०] मन से, मन द्वारा। ~ **मनसा** वाचा कर्मना, कवीर सुमिरन सार। →सा० सुमि० (२) ४-२।

मनहूं—संज्ञा पु० [सं० मन + हिं० हूं] मन मे। ~द्वै थर चढि गयौ राड को करहा **मनहूं** पाट की सैली रे। →पद २५५-४।

मना—संज्ञा पु० [सं० मन] मन से। ~**मना** उतारी झूठ करि, (तव) लागी डोलै साथि। →सा० माया० (१६) ६-२।

मनि—संज्ञा पु० [सं० मनस्] मन मे। →तत पाया तन वीसरा, जव **मनि** धरिया ध्यान। → सा० पर० (५) ३२-१, पद ३०२-६, सा० माया० (१६) ५-१।

मनि—संज्ञा स्त्री० [सं० मणि] प्रकाश। ~भ्रम विनु गंजन **मनि** विनु निरखन, रूप विना वहु रूपा। →पद २०४-५।

मनिषा—संज्ञा पु० [सं० मनुष्य] मानव, मनुष्य। ~वार वार नहिं पाइए, **मनिषा** जन्म की मौज। →सा० चिता० (१२) ३५-२, पद २०२-२।

मनीं—संज्ञा स्त्री० [सं० मणि] मणि। दे० 'मनि'। ~खसम पिछानि तरस करि जिय मै माल **मनीं** करि फीकी। →पद २२६-७, सव ५४-८।

मनुसा—संज्ञा पु० [सं० मनुष्य] मनुष्य, पति। दे० 'मनिषा'। ~माई मोर **मनुसा** अति सुजान, धधा कुटि कुटि करै विहान। →वसंत (४) ६-१।

ममिता—संज्ञा स्त्री० [सं० ममता] ममत्व, अहंभाव। ~मन मार्‌या **ममिता** मुई, अहं गई सव छूटि। → सा० जी० मृ० (४१) ७-१।

ममिता—संज्ञा स्त्री० [सं० ममता] ममत्व, मोह। ~स्वाद सनाह टोप **ममिता** को कुवुद्धि कमान चढाई। →सव० ६३-५।

मरकट—संज्ञा पु० [सं० मर्कट] वन्दर। ~**मरकट** मूंठी स्वाद न विहुरै, घर घर नटत फिर्‌यो। →सव० ५-५, सव० १६३-६, चाँचर (५) २-११।

मरजाद—संज्ञा स्त्री० [सं० मर्यादा] मर्यादा, प्रतिष्ठा, मान, गौरव। ~भौ **मरजाद** वहुत सुख लागा, यहि लेखे सब ससय भागा। →र० १३-६, पद ३४०-७, सव० १३७-५।

मरद—संज्ञा पु० [फा० मर्द] आदमी।

~जैते औरति **मरद** उपानें, सो सभ रूप तुम्हारा। →सब० २३-१३।

मरदन—क्रि० [सं० मर्दन] मसलना। ~जंह की उपजी तहँ रची पीवत-**मरदन** लाग। →पद २६६-७।

मरदन—क्रि० [सं० मर्दन] लगाते हैं। ~चोआ चंदन **मरदन** अंगा, सो तन जलै काठ कै सगा। →पद २७६-५।

मरदनु—क्रि० [स० मर्दन] मर्दन करती है, दमन करती है। ~दुरगा कोटि जाकै **मरदनु** करैं, ब्रह्मा कोटि बेद ऊचरैं। →सब० १२८-४।

मरदै—क्रि० [स० मर्दन] नष्ट करता है। ~काल पुरख का **मरदै** मानु, तिस मुल्ला को सदा सलाम। →पद ३४ .-४।

मरना—सज्ञा पु० [हि०] मृत्यु। ~**मरना** मुंह आगै खडा, जीवन का सब झूठ। →सा० काल० (४६) २२-२।

मरम—सज्ञा पु० [स० मर्मन्] रहस्य, तत्व। ~उलटि पवन कहा राखिए, कोई **मरम** बिचारै। →सब० ५२-३, पद २८४-२, र० ३६-२।

मरम्म—सज्ञा पु० [स० मर्मन्] मर्म। दे० 'मरम'। ~लागी चोट **मरम्म** की, गई कलेजे छाँनि। →सा० बिर० (३) १६-२।

मरहट—सज्ञा पु० [हि० मरघट] मर-घट, श्मशान। दे० 'मसान'। ~ते घट **मरहट** सारिखे, भूत बसै ता माँहि। →सा० साधुम० (३०) ३-२, सब० १०५-४, सा० जी० मृ० (४१) ३-१, सा० सूरा० (४५) ३५-२, सब० १७६-८।

मरुआ—सज्ञा पु० [स० मरुव] बन-तुलसी। ~दौना **मरुआ** चपा कै फूला, मानहुँ जीव कोटि सम तूला। →र० ३०-४।

मरुवा—सज्ञा पु० [स० मेरु] वह लकडी जिसमे हिंडोला लटकाया जाता है। ~लोभ **मरुवा** विषै भँवरा काम कीला ठानि। →हिंडोला (८) १-३।

मरोरिया—क्रि० [देश०] दो तागो को आपस मे जोडने की क्रिया, जिसमे गाठ का प्रयोग नही होता, केवल दोनो सिरो को मिलाकर मरोड देते है। ~त्रिभुवन नाथ जो माँजन लागे स्याम **मरोरिया** दीन्हा। →सब० १२७-७।

मरोरी—क्रि० [हि० मरोडना] मरोड दिया, ऐंठ दिया। ~सीगी रिखि औ गुर कनफूका बाधिनि सभै **मरोरी**। →पद ३१३-६।

मलनां—वि० [स० मलिन] गदगी; अपवित्रता। ~ घट भीतरि है **मलनां**। →सब० ७६-२।

मलनि—क्रि० [हि० मलना] मिलाना, गूँथना, रौंदना। ~माटी **मलनि** कुँभार की, घनी सहै सिरि लात। →सा० चिता० (१२) २६-१।

मलयागिरि—सज्ञा पु० [सं० मलय+गिरि] मलयगिरि मे उत्पन्न चदन। ~एरड रुख करै **मलयागिरि**, चहुँ दिसि फूटै बासा। →सब० २८-५।

मसकला—संज्ञा पु० [अ०] धातुओं को रगड़कर चमकाने वाला एक औजार। ~सवद मसकला फेरि करि, देह दर्पन करै सोइ। ->सा० सव० (४०) ३-२।

मसकीन—वि० [अ० मिसकीन] दीन, असहाय। ~हम मसकीन खुदाई वदे तुम्हरा जस मनि भावै। -> पद २२६-२।

मसखरा—संज्ञा पु० [फा०] भोडी वातो से दूसरो का विनोद करने वाला। ~कामी लोभी मसखरा, तिनका आदर होइ। -> सा० चाँणक० (१७) ८-२।

मसखरी—सज्ञा स्त्री० [फा०] उपहास, हँसी-मजाक।~कंध न देइ मसखरी करई, कहु धौं कौनि भाँति निस्तरई। ->र० ५६-२।

मसले—सज्ञा पु० [अ०] विचारणीय विषय। ~मन मसले की खवरि न जानै, मति भुलान दुइ दीन वखानै। ->र० ४०-५।

मसांनां—सज्ञा पु० [स० श्मशान] श्मशान, मरघट। दे० 'मसान'। ~ काल्हि जु वैठा माडिया, आज मसांना दीठ। -> सा० काल० (४६) १५-२।

मसानि—संज्ञा पु० [स० श्मशान] श्मशान पर। ~तव कुल किसका लाजसी, जव ले धरहि मसांनि। -> सा० चिता० (१२) ४६-२।

मसान—संज्ञा पु० [स० श्मशान] श्मशान।~जा घट विरह न सचरै, सो घट सदा मसान।->सा० विरह० (३) २१-२।

मसि—संज्ञा स्त्री० [स० मसि] स्याही, कालिमा, कालुष्य, पाप। ~थाकी सौंज सग के विछुरे, राम नाम मसि धोई। ->सव० १५-६।

मसि—संज्ञा स्त्री० [स० मसि] स्याही, भस्म। ~यह तन जारौं मसि करो, ज्यूं धूवाँ जाइ सरगि। ~सा० विरह० (३) ११-१ पद २७०-८, सा० सम्र० (३८) ५-१, पद २८८-४, सा० भ्रमवि० (२३) २-१।

मसीति—संज्ञा स्त्री० [फा० मस्जिद] मस्जिद। ~एक मसीति दसो दरवाजा। -> सव० ७२-२, सव० ४०-४, सव० २३-५, सा० सांच० (२२) ६-२; पद ३२६-५, ६।

मस्टि—सज्ञा पु० [हि०] मौन। ~ सत मिलहि कछु सुनिए कहिए; मिलहिं असत मस्टि करि रहिए।-> पद २००-४।

महँगे—वि० [सं० माहार्घ] महँगा, अधिक मूल्य पर विकने वाला। -> वहुत मोलि महँगे गुड पावा, लै कसाव रस रांम चुवावा। ->सव० १०८-३, सा० सूरा० (४५) २८-१।

महत—सज्ञा पु० [स० महत्] गद्दीधारी साधु, मठाधीश। ~महादेव को पथ चलावै, ऐसो वडो महत कहावै। ->र० ६६-२।

महतारी—संज्ञा स्त्री० [सं० माता]

माता। ~ पार परोसिनि करौं कलेवा, सगहि बुधि महतारी। → पद २२२-५, सब० १२४-३।

महतो—वि० [स० महत्] महान्, श्रेष्ठ। ~हरिहर ब्रह्मा महतो नाऊँ, तिन्ह पुनि तीनि वसावल गाऊँ। →र० २-४, पद २८६-१।

महमहीं—क्रि० [हि०] सुगंध करने लगी। ~ मुखि कस्तूरी महमहीं, वानी फूटी बास। →सा० परचा० (५) १४-२।

महरा—सज्ञा पु० [हि०] १. श्रेष्ठ, प्रधान। २ कहार नामक जाति। ~दास कवीर कीन्ह यह कहरा, महरा माहिं समाना हो। →कहरा (३) २-१५।

महल—सज्ञा पु० [अ०] भवन, घर। ~गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल महल दिवाना। →सब० ६४-२।

महल—सज्ञा पु० [अ०] स्थान। ~ मुनि जन महल न पावही, तहाँ किया विसराम। → सा० पर० (५) ११-२।

महातम—सज्ञा पु० [स० माहात्म्य] माहात्म्य। ~माँनि महातम प्रेम रस, गरवातन गुण नेह। →सा० वेमा० (३५) १४-१।

महादेव को पथ—सज्ञा पु० [स०] शैव मत। ~महादेव को पथ चलावै, ऐसो वडो महत कहावै। →र० ६६-२।

माँहि—अव्य० [सं० मध्य] मे। ~ पनिआँ माँहि पावक जरै अंधै आँखिन सूझै। →पद ३४३-२।

महिमा—संज्ञा स्त्री० [स० महिमन्] महत्व, वडाई, गौरव। ~घर घर मन्तर देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना। →पद २६७-१३।

महियाँ—अव्य० [स० मध्य] मे। दे० 'माँहि'। ~सोइ जिरजोधन कँह गए मिलि माटी महियाँ रे। पद→ २७३-८।

महिषी—संज्ञा स्त्री० [स०] भैंस। ~ और सकल ए भार लदाऊ, महिषी सुत कै गोती। →सब० ९६-४।

महुँ—सज्ञा पु० [स० मधु] शहद। ~ घट घट महुँ के मधुप ज्यौं, परमातम ले चीन्हि। →सा० सार० (३२) ३-२।

महुवा—सज्ञा पु० [स० मधूक] एक विशेष प्रकार का वृक्ष तथा उसका फल। ~गुड करि ग्यान ध्यान करि महुवा; भव भाठी करि भारा। →सब० ३५-३।

महेसर—सज्ञा पु० [स० महेश्वर] शिव। ~ब्रह्मा विष्णु महेसर दुखिया, जिन यहु राह चलाई हो। → सब० १३८-८।

महोबंती—सज्ञा पु० [अ० मोहव्वत + ई] प्रेमी। ~माया मिलै महोबंती कूडे आखै वैन। →सा० गु० सि० हे० (४३) १०-१।

महोला—सज्ञा पु० [दे०] रस, सार-तत्व। ~ दिया महोला पीव कौं,

(तव) मरहट करै वखान। → सा० सूरा० (४५) ३५-२।

माँइ—सज्ञा स्त्री० [सं० माता] माता, माँ, जननी। ~**माँइ** विडाँणी वाप विड, हम भी मझि त्रिडाँह। →सा० चिता० (१२) ५६-१।

मांखी—सज्ञा स्त्री० [स० मच्छिका] मधुमक्खी। ~ ज्यौं **माखी** सहतैं नहि विहुरै जोरि जोरि धन कीन्हाँ। →सव० १७६-५।

माँग—सज्ञा स्त्री० [हि०] सिर के वीच की रेखा जो वालो को विभक्त करती है। ~जारौं **माँग** मैं तासु नारि की जिन सरवर रचल धमारी। →पद २२२-३।

मांजत—क्रि० [स० मज्जन] साफ करना, स्वच्छ रखना। ~जौ दरसन देखा चहिए, तौ दरपन **माजत** रहिए। →पद ३६६-७।

मांजसि—क्रि० [स० मज्जन] साफ करना, स्वच्छ करना, मल-मल कर धोना। दे० 'माजत'। ~काया **मांजसि** कौन गुना। →सव० ७६-१।

मांझ—अव्य० [स० मध्य] भीतर। ~**मांझ** मंझरिया वसै जो जानै, जन होइहैं सो थीरा हो। →कहरा (३) ७-६।

माँझहि—अव्य० [स० मध्य] वीच मे। ~भगता भगतनि कीन्ह सिंगारा, वूडि गैल सव **माँझहि** धारा। → र० ५-१०।

माँझा—सज्ञा पु० [दे०] एक प्रकार का ढांचा जो गोडई के वीच मे रहता है और पाई को जमीन पर गिरने से रोकता है। ~चाँद सुरुज दुइ गोडा कीन्हा, माँझदीप **माँझा** कीन्हा। →सव० १२७-६।

माँझी—अव्य० [स० मध्य] मध्य। ~मानुप जन्म चूके जग **माँझी**, एहि तन केर वहुत हैं साँझी। → र० ७८-१।

माँड—सज्ञा पु० [म + स०अण्ड] व्रह्माण्ड। ~सकल **माँड** मैं रमि रहा, साहिव कहिए सोइ। →सा० पीव पि० (३६) १-२।

माँड़ा—क्रि० [सं० मण्डन] लगाया, रचा। ~भौंर जाल मँह आसन **माँड़ा**, चाहत सुख, दुख सग न छाँडा। → र० ४१-२।

माडि के—क्रिया [स० मण्डन] रचकर, सजाकर। ~नारद को मुख **माड़ि के** लीन्हो वदन छिनाय। →चाँचर (५) १-६।

माडिय—क्रि० [स० मण्डित] मडित करना, सजाना। ~हरि हीरा जन जौहरी, ले ले **माडिय** हाटि। → सा० पारि० (४६) ३-१।

मांडी—क्रि० [स० मडन] मडित किया, सजाया। दे० 'माडै' ~ चौपडि **माँडी** चौहटे, अरध उरध वाजार। →सा० गुरु० (१) ३१-१।

मांडी—क्रि० [स० मडन] मची हुई है। ~अवधू ग्यान लहरि धुनि **मांडी** रे। →सव० ३०-१।

मांड़ी—क्रि० [हि० माडना] ठानी,

मचाई। ~नही बलिराज से मांड़ी रारी, नहि हरिनाकुस बधल पछारी। →र० ७५-५।

मांड़े—क्रि० [स० मर्दन] प्रहार करना। ~जासो हिरदा की कहूँ, सो फिरि मांड़े कक। → सा० गु० सि० हे० (४३) ६-२।

मांडै—क्रि० [स० मडन] लगाता है, केन्द्रित करता है। ~उज्जल देखि न धीजिए, बग ज्यों मांडै ध्यान। सा० असाधु० (२७) २-१।

मांड़ै—क्रि० [स० मण्डन] ठाने, ठान ले। ~कबीर सोई सूरिवां, मन सो मांड़ै जूझ। →सा० सूरा० (४५) ३-१।

मांन—सज्ञा पु० [स० मान] सम्मान, प्रतिष्ठा। ~मानि बडे मुनिवर गिले, मांन सबनि को खाइ। → सा० माया० (१६) १७-२।

मांनवी—संज्ञा पु० [स० मानव] मनुष्य।~माया राता मांनवी, तिन सो किसा सनेह। →सा० संग० (२६) ५-२; सा० कुस० (२५) १-२।

मांनि—सज्ञा पु० [स० मान] सम्मान दे० 'मान'। ~मांनि महातम प्रेम रस, गरवातन गुण नेह। →सा० बेसास० (३५) १४-१।

मानै—क्रि० [हि०] आदर करना। ~यहु मन बडा कि जेहि मन मानै, राम बडा कि रामहि जानै। → सब० १३३-४।

मांसु—संज्ञा पु० [स० मास] गोश्त। मास। ~जस मांसु पसु की तस मांसु नर की, रुधिर रुधिर एक सारा जी। →सब० ११५-१, २।

मांह—अधि० चिह्न [हि० मे] मे। ~ऐसी विधि जो मो कहँ ध्यावै, छठये मांह दरस सो पावै। →र० ५२-३।

माह—सज्ञा पु० [स० मास] महीना। ~ब्राह्मन ग्यारसि करै चौबीसौ, काजी माह रमजाना। →सब० २३-७।

मांहि—अव्य०[स०मध्ये>मांझ>मांहि] भीतर, अदर। ~कर कमान सर सांधि करि, खैंचि जु मारा मांहि। →सा० विर० (३) १५-१।

मांही—अव्य० [स० मध्य] मध्य मे। ~उतर कि दच्छिन पुरुब कि पच्छिम, सरग पताल कि मांही। → सब० १७०-३।

मांहै—अव्य० [हि० मे ही] में ही। ~सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषही मांहै चूक। →सा० गुरु० (१) २१-१।

मांहै—अव्य० [सं० मध्य] भीतर। ~मांहै पाती मांहि जल, मांहै पूजनहार। →सा० परचा (५) ४२-२।

माहै—अव्य० [सं० मध्य] भीतर। ~बाहरि दीसै साधु गति, मांहै महा असाध। →सा० असाधु० (२७) १-२।

माइ—अव्य० [स० मध्य] भीतर, अंदर। ~बिरहिन पिउ पावै नही,

जियरा तलपै माइ । →सा० विरह (३) ३४-२ ।

माइ—सज्ञा स्त्री० [स० मातृ] माता, माँ । दे० 'माइ' । ~साईं माइ सास पुनि साईं, साईं याकी नारी । → सव० २७-७, सा० सम्र० (३८) ११-१, सव० ६७-२ ।

माइ—सज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] सखी । ~ताली पीटै सिरि धुनै, मीठै वोई माइ । →सा० कुसग० (२५) ६-२ ।

माखा—सज्ञा पु० [सं० मक्षिका से] पति । ~ वहि माखी को माखा नाही, गर्भ रहा विनु पानी । → →पद ३०१-६ ।

माचा—क्रि० [हि०] आरम्भ होता है, सचालित होता है । ~एक सगुन पट चक्रहि वेधै, विन वृपभ कोल्हू माचा । →सव० १४४-२ ।

माटिक—वि० [स० मृत्तिका से] मिट्टी का, पार्थिव । ~माटिक तन माटी मिलै, पवनहि पवन समाय । →र० ६१-६, र० १२-१ ।

माटी—सज्ञा स्त्री० [हि० मिट्टी] शरीर की मिट्टी ।~काहे कूँ भीति वनाऊँ टाटी, का जानूँ कहाँ परिहै माटी । →सव० ८०-१ ।

माटी—सज्ञा स्त्री० [हि० मिट्टी] मिट्टी, उपादान कारण । ~माटी एक भेख धरि नाना तामैं ब्रह्म समाना । →पद २२६-६ ।

माटी—सज्ञा स्त्री० [हि० मिट्टी] मिट्टी का शरीर । ~सरजी आनै देह विनासै माटी विसमिल कीआ । →पद २३०-३ ।

माटी—सज्ञा स्त्री० [हि० मिट्टी] मिट्टी । ~माटी का पिंड सहज उतपना, नाद अरु विंद समाना । →सव० ५५-५, सा० चिता० (१२) २६-१ ।

माड़ि—क्रि० [सं० मंडन] सुसज्जित करना, मडित करना । ~माडी का तन माड़ि रहो है, माडी विरलै जाना । →सव० १२७-५ ।

माड़िया—सज्ञा पु० [स० मडप] मडप मे, उत्सव । ~काल्हि जु वंठा माड़िया, आज मसाना दीठ । →सा० काल० (४६) १५-२ ।

माड़ै—क्रि० [स० मडित] मंडित किया, सुसज्जित किया । ~कवीर थोडा जीवना, माड़ै वहुत मँडान ।→सा० चिता० (१२) ५-१ ।

माता—क्रि० [स० मत्त] मस्त हो गया । ~अउर दुनी सभ भरमि भुलानी मैं राम रसाइन माता । →पद २५०-१० ।

माता—वि० [स० मत्त] मस्त, उन्मत्त । ~राँम अमलि माता रहै, गिनै इन्द्र को रंक । →सा० विर्क० (३७) ८-२ ।

माता—वि० [स० मत्त] मद मे मस्त । ~राम अमलि माता रहै, जीवन मुकुति अतीति । →सा० रस० (६) ६-२ ।

माता—क्रि० [सं० मत्त] मस्त हुआ । ~अवहि न माता सु कवहूँ न माता,

कह कबीर रामैं रगि राता। →पद ३०६-७, सव० १४५-१।

मातु—क्रि० [स० मत्ता] मस्त रहते हैं। ~संतो मते मातु जन रगी। →पद ३०३-१।

माते—वि० [स० मत्ता] उन्मत्ता। ~जोगी माते धरि जोग ध्यान, पडित माते पढि पुरान। →वसत (४) १०-२, ३, ४, ५, ६, ७।

माते—[सज्ञा मत्त] मस्त, मतवाले। ~रामानद रामरस माते, कहैं कबीर हम कहि कहि थाके। → सव० ३६-४।

माथौ—सज्ञा पु० [स० मस्तक] सिर। ~माथौ मुछ मुडाइ करि, चला जगत के साथि। → सा० भेष० (२४) १०-२।

माधौ—सज्ञा पु० [स० माधव] ईश्वर, परमात्मा। ~माधौ दारुन दुख सह्यौ न जाइ। →पद २२४-१, पद ३४६-७।

मानि—सज्ञा पु० [स० मान] सम्मान, प्रतिष्ठा, अहभाव। दे० 'मान'।~ मांनि वडे मुनिवर गिले, मान सवनि कौं खाइ। →सा० माया० (१६) १७-२।

मानि—सज्ञा पु० [स० मान] अह भाव। ~मानि करैं तौ पिउ नही, पीव तौ मानि निवारि। →सा० चिता० (१२) ४२-२।

मानिक—सज्ञा पु० [स० माणिक्य] माणिक्य।~जहँ जहँ देखौं, तँह तँह सोई, मन मानिक वेध्यो हीरा। → पद २६५-६।

मानियाँ—क्रि० [हि० मानना] मान गया, स्वीकार कर लिया। ~तन भीतरि मन मानियाँ, वाहरि कहा न जाइ। → सा० पर० (५) ३१-१।

मानु—सज्ञा पु० [स० मन] मन। ~कविरा तेरो वन कंदला मे, मानु अहेरा खेलै। →सव० ६५-१।

मानुख—सज्ञा पु० [सं० मनुष्य] मनुष्य, मानव।~मानुख नही ते स्वान गति, वाँधे जमपुर जांहि। →सा० क० वि० क० (१८) ३-२।

माप—सज्ञा स्त्री० [स०] नाप। ~ तोल न मोल माप कछु नाही, गिनती ग्यांन न होई। →पद २८०-३।

मामा—सज्ञा स्त्री० [अ०] स्त्री०।~ आदम आदि सुद्धि नहिं पाई, मामा हौवा कहाँ ते आई।→र० ४०-१।

माय—सज्ञा स्त्री० [स० मातृ] माता, माँ, जननी। ~वाप पूत की एकै नारी, ओ एकै माय विआय। → र० १-६, र० ७२-१।

माया—संज्ञा स्त्री० [स०] वैभव। ~ यह माया कहो कौन की काकै सग लागी रे। →पद २७३-३।

माया—सज्ञा स्त्री० [सं०] सामान्यतया माया आवरण और विक्षेप करने वाली शक्ति मानी गयी है। किन्तु कवीर ने माया को विशेष रूप से मोहक और आकर्पक शक्ति के रूप मे लिया है, जिससे वह जीव को सासारिक विपयो की ओर आकृष्ट करके उन्ही मे फँसाए रहती है। →सा०

माया (१६) १-१, २-१, ३-१, ४-१, ५-२, ६-१, ७-१, ८-१, ६-१, १०-१, ११-१, १७-१, १८ २, २०-१, २१-१, २४-१ २५-१, २८-१, २६-१, ३१-१, ३२-१ ।

मार—सज्ञा पु० [हिं०] वटमार, डाकू, लुटेरा । ~लवा मारग दूरि घर, विकट पथ वहु **मार** । →सा० सुमि० (२) २७-१ ।

मारग—सज्ञा पु० [स० मार्ग] ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग । ~ओहु **मारग** पावै नही, भूलि परे एहि माँहि ।→सा० सू० मा० (१४) १-२ ।

मारगि—सज्ञा पु० [स० मार्ग] मार्ग मे, राह मे । ~नाव न जानै गाँव का, भूला **मारगि** जाइ । →सा० उपजणि० (५०) १-१, सा० काल० (४६) २-१ ।

मारनहारा—वि० [हि० मारना+हारा] मारने वाला । ~**मारनहारा** जानिहै, कै जिहि लागी सोइ । → सा० विरह (३) १४-२ ।

मार्‌या—क्रि० [हि० मारना] मारा या मारने पर । ~ मन **मार्‌या** ममिता मुई, अह गई सव छूटि । →सा० जी० मृ० (४१) ७-१ ।

मालिम—वि० [अ० मुअल्लिम] ज्ञान देने वाला । ~ मन मसीति मैं किनहूँ न जाना, पच पीर **मालिम** भगवाना । →सव० २४-४ ।

माल्हताह—क्रि० [?] झपट पडता है, मार डालता है । ~ आजि कि कान्हि कि निसहि मैं, मारगि **माल्हताह** । →सा० काल० (४६) २-१ ।

मावासी—संज्ञा स्त्री० [स० मवास से] दुर्ग, किला । ~कव दत्त **मावासी** तोरी, कव सुखदेव तोपची जोरी । →र० ६६-४ ।

माषी—सज्ञा स्त्री० [स० मक्षिका] मक्खी । ~**माषी** गुड मैं मडि रही, पंष रही लपटाइ । →सा० कुसग० (२५) ६-१ ।

मासा—सज्ञा पु० [सं० माश] आठ रत्ती के वरावर का एक वाट या मान और १२ माशे का एक तोला होता है, किंचित् । ~ **मासा** घटै न तिल वढै, जौ कोटिक करै उपाइ । →सा० वेसा० (३५) ७-२, सव० १७३-३ ।

मिताई—सज्ञा स्त्री० [स० मित्रता] मित्रता, दोस्ती, मित्र का धर्म । ~जासो कियहु **मिताई**, सो धन भया न हित्त । →र० ५६-५ ।

मितैयो—संज्ञा स्त्री० [हि० मित्रता] मित्रता । ~मानू मीत **मितैयो** न छोड़ै, कवहुँ गाँठि न खोलै हो । →कहरा (३) १-७ ।

मित्त—संज्ञा पु० [स० मित्र] मित्र । ~विन रोए क्यो पाइए, प्रेम पियारा **मित्त** ।→सा० विरह० (३) २७-२ ।

मिथ्या—वि० [स०] झूठा, व्यर्थ । ~राम नाम विनु राम नाम विनु, **मिथ्या** जनम गवाँई हो । →कहरा (३) ६-१ ।

मिनिऐ—क्रि० [दे०] गज से नापना ।

~गजै न मिनिऐ तौलि न तुलिऐ पहजन सेर अढाई। →पद २७१-५।

मियाना—वि० [फा०] मध्यम आकार का। ~वहि जोगिया के उल्टा ज्ञाना, कारा चोला नाहिं **मियाना**। →सब० १२५-२।

मिरगा—संज्ञा पु० [स० मृग] पशु। ~बपु वारी अनगु **मिरगा** रुचि रुचि सर मेलै। →सब० १००-२, सब० ६५-२; पद १६६-७।

मिरतक—वि० [स० मृत] मरा हुआ। ~**मिरतक** पीर न जानई, जानैगी वह आगि। →सा० विर० (३) ३८-२, सब० १३-५; सा० जी० मृ० (४१) १-१।

मिरिग—संज्ञा पु० [स० मृग] मृग, हिरण। दे० 'मिरगा'। ~मारौं तो मन **मिरिग** कौं, नही तो मिथ्या जान। →सा० मन० (१३) ३०-२, सा० गु० सि० हे० (४३) ३-२, पद १६६-७।

मिवाँणाँ—सज्ञा पु० [स० निम्न से] नीची जमीन, पहाड की तलहटी। ~नीर **मिवाणां** ठाहरै, नाँ कछु छापरडाँह।→सा० निगुणाँ० (५५) ४-२।

मिसकीन—वि० [अ०] दीन, विनम्र, असहाय। ~खून करै **मिसकीन** कहावै, अवगुन रहै छिपाएं। → सब० २३-४, पद २७२-२।

मिसिर—सज्ञा पु० [स० मिश्र] पण्डित, ब्राह्मण। ~अरथ करता **मिसिर** पछाड़ा गल मँहि घालि लगानी। →पद २४४-६।

मिहर—सज्ञा स्त्री० [फा०] दया करुणा। ~मीराँ मुझसूँ **मिहर** करि, इव मिलौ न काहू साथि। →सा० परचा० (५) १६-२।

मिहिरबांना—वि० [फा० मेहरबान] कृपालु। ~जब बस कियौ पाचौ थाना, तब राम भया **मिहरबांना**। →पद २०५-६।

मिहरि—सज्ञा स्त्री० [फा० मिह्र] दया, कृपा। दे० 'मिहर'। ~वदै ऊपरि **मिहरि** करौ मेरे साई। →सब० २३-२।

मींनु—सज्ञा पु० [स० मीन] मछली। दे० 'मीना'। ~ तूं जलनिधि हउँ जल का **मींनु**, जल मँहि रहउँ जलहि विनु खीनु। →पद २६१-३।

मीच—संज्ञा स्त्री [हि०मृत्यु] मौत,मृत्यु। ~कै विरहिन कौं **मीच** दे, कै आपा दिखलाइ। →सा० विरह० (३) ३५-१, सा० सजी० (४७) १-१, सा० कुसंग० (२५) ५-१।

मीचौं—क्रि० [स० मिष्] वन्द करना। ~आँखि न **मीचौं** डरपता, मत सपना ह्वै जाइ। → सा० उप० (५०) ६-२।

मीजै हाथ—[मु०] हाथ मीजना, पछ-ताना। ~रहु रहु मुगध गहेलडी, अब क्यो **मीजै हाथ**। →सा० विरह (३) ३६-२।

मीठ—वि० [सं० मिष्ट] मीठा, सुख। ~कवीर यहु जग कुछ नही, खिन

मुकता—क्रि० वि० [स० मुक्त] मुक्त होकर, स्वच्छद होकर, छूट कर। ~मुकताहल **मुकता** चुगै, अब उडि अनत न जाहि। → सा० पर० (५) ३६-२।

मुकताहल—सज्ञा पु० [स० मुक्ताफल] मोती।~दोइ जो भागा ना मिलै, **मुकताहल** अरु मन। →सा० विकं० (३७) ३-२, पद ३३४-४, पद २१६-४।

मुकरबा—सज्ञा पु० [फा०] कब्र या समाधि। ~सुनत बोल मोहि रहा न जाई, देखि **मुकरबा** रहा भुलाई। →र० ४८-४।

मुकांमा—सज्ञा पु० दे० 'मुकामा'।

मुकामा—संज्ञा पु० [अ० मुकाम] पडाव, स्थान। ~कहाँ कूच कहँ करै **मुकामा**, कवन सुरति के करहु सलामा। →र० ४६-२, सब २३-११।

मुकुता—वि० [स० मुक्त] मुक्त (पुरुष)। ~पगुला मेर सुमेर उलघै, त्रिभुवन **मुकुता** डोलै। →सब० २८-७।

मुकुति—सज्ञा स्त्री० [स० मुक्ति] मोक्ष। ~नरक माँहि जन्मै मरै, **मुकुति** न कवहूँ होइ। →सा० निन्द्या० (५४) ५-२, सब० ७७-३ र० ३४-१।

मुकुती—सज्ञा स्त्री० दे० 'मुकुति'।

मुकुन्दा—सज्ञा पु० [स० मुकुन्द] विष्णु, भगवान्। ~जम दुवार जब लेखा मागै तब का कहसि **मुकुन्दा**। →पद २३१-२।

मुक्ति—स्त्री० दे० 'मकुति'।

मुख में पड़िया रेत—[मुहा०] मुंह मे धूल पड़ना, अपमानित होना, विनाश को प्राप्त होना। ~औरो को परमोधता, **मुख मे पड़िया रेत**। → सा० चाँण० (१७) १५-२।

मुखां—संज्ञा पु० [स० मुख] मुख से। ~कबीर हद के जीव सौं हित करि **मुखां** न बोलि। →सा० चिता० (१२) ५०-१, पद ३४०-३, सा० वीनती (५६) ६-२।

मुखि—सज्ञा पु० [सं० मुख] मुख मे। ~**मुखि** कस्तूरी महमही, वानी फूटी वास।→सा० पर० (५) १४-२।

मुगदर—सज्ञा पु० [सं० मुद्गर] गदा। दे० 'मुदगर'। ~कहै कबीर नर अजहुँ न जागा, जम का **मुगदर** सिर बिच लागा। →सब० ६-७।

मुगध—वि० [स० मुग्ध] मुग्धा, मूर्ख, अनजान, अबोध। दे० 'मुग्ध'। ~ रहु रहु **मुगध** गहेलडी, अब क्यो मीजै हाथ। →सा० बिर० (३) ८६-२, पद २१६-७, सब० १२२-४, सब० १८७-६, पद २८३ ५, पद २७६-७।

मुगधा—वि० दे० 'मुग्धा'।

मुगुध—वि० दे० 'मुग्ध'।

मुग्ध—वि० [स०] मूर्ख, अविवेकी। दे० 'मुग्ध'। ~ काल फास नर **मुग्ध** न चेतै, कनक कामिनी लागी। →पद २२८-५।

मुचि—क्रि० [स० मोचन] गिराकर

~मुचि मुचि गरभ भई किन वाझ, सूकर रूप फिरैं कलि माझ। →सव० १२४-४।

मुज्झ—सर्वं० [स० अस्मद्] मुझे। ~नाँ तूँ मिलै न मैं सुखी, ऐसी वेदन मुज्झ। →सा० विर० (३) ४२-२।

मुदगर—संज्ञा पु० [स० मुद्गर] मुगदर, गदा। दे० 'मुगदर'। ~धीर गभीर खडग लिए मुदगर माया कै कोट ढहाऊँ जी। →पद ३०७-५, सव० ११७-६।

मुदिगर—संज्ञा पु० दे० 'मुदगर'।

मुद्दति—संज्ञा स्त्री० [अ०] अवधि, आयु। ~वात व्यौंते असमान की मुद्दति नियरानी। → सव० १३५-६।

मुद्रा—संज्ञा स्त्री० [स०] योगियो द्वारा धारण किया जाने वाला कान का कुण्डल। ~मन मुद्रा जाके गुर कौ ग्यांन, त्रिकुट कोट मैं धरत ध्यान। →पद ३२१-४, कहरा (३) ७-२, पद ३१४-५।

मुद्रा—क्रि० [हि० मूदना] वंद कर दिया। →मुद्रा मदन सहज धुनि लागी सुखमन पोतनहारी। →पद ३४४-६।

मुद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] कुण्डल, कान की वालियाँ। ~का सीगी मुद्रा चमकाए, का विभूति सव अंग लगाए। →सव० ४१-३।

मुद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] चिह्न, प्रतीक। ~जन्मत सूद्र मुए पुनि सूद्रा, कृतम जनेऊ डारि जग मुद्रा। → र० ६२-२।

मुनियर—वि० [स० मुनिवर] मुनि; मौन रहने वाले साधु। ~इक मुनियर इक मनहुँ लीन, ऐसैं होत होत जग जात खीन। → पद ३३२-४।

मुनियर—संज्ञा वि० [स० मुनिवर] श्रेष्ठ मुनि, सन्त। ~कवीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ। →सा० चाण० (१७) ८-१।

मुनिस—संज्ञा पु० [स० मुनीश] मुनीश। ~न्यौति जियाउँ अपनौ करहा छार मुनिस की दाढ़ी रे। → पद २५५-८।

मुरदन—संज्ञा पु० [फा० मुर्द] मरण-शील। ~संतौ ई मुरदन कै गाउँ। →पद २६३-१।

मुरसिद—संज्ञा पु० [अ० मुर्शिद] गुरु, पथ प्रदर्शक। ~मुरसिद पीर तुम्हारै है को कहौ कहाँ तै आया। →पद २२६-४।

मुराड़ा—संज्ञा पु० [दे०] जलती हुई लकडी, लुकाठी। ~हम घर जारा आपना, लिया मुराडा हाथि। →सा० गु० सि० हे० (४३) १३-१।

मुरादी—वि० [फा०] अभिलाषी। ~कोई काहु को हटा न मानै, आपुहि आप मुरादी। → पद २६६-४।

मुरारि—संज्ञा पु० [स०] मुर नामक दैत्य को मारने वाले कृष्ण अर्थात् भगवान्। ~कवीर सूता क्या करै;

जागि न जपै मुरारि । →सा० सुमि० (२) ११-१ ।

मुरीद—सज्ञा पु० [अ०] शिष्य । ~कै मुरीद तदबीर बतावैं, उनमे उहै जो ज्ञाना । →पद २६७-६ ।

मुर्दा—सज्ञा पु० [फा० मुरदा] मृत । ~जियत जीव मुर्दा करि डारा, तिसको कहत हलाल हुआ । →पद २१०-३ ।

मुलकिया—क्रि० [सं० पुलकित] पुलकित होकर हँसे । ~आगैं तैं हरि मुलकिया, आवत देखा दास । →सा० सूरा० (४५) २३-२ ।

मुलां—संज्ञा पु० [अ० मुल्ला] मस्जिद मे अजान देने वाला, मौलवी । दे० 'मौलवी' । ~इनके काजी मुलां पीर पैगबर, रोजा पछिम निवाजा । →पद ३२६-३ ।

मुल्लाँ—सज्ञा पु० दे० 'मुल्ला' ।

मुल्ला—सज्ञा पु० [अ०] मस्जिद मे अजान देने वाला, मौलवी । ~कहु रे मुल्ला वाग निवाजा । →सब० ७२-१, पद ३४६-३, सा० साँच० (२२) ७-१ ।

मुलुक—सज्ञा पु० [अ० मुल्क] ससार, देश, प्रदेश, स्थान । ~जौ रे खुदाइ मसीति बसतु है, और मुलुक किस केरा । →सब० २३-६ ।

मुवलि—क्रि० [भोज०] मर गई । ~अपने मुवलि और लै मुवली, लोग कुटुम सग साथी जे । →कहरा (३) ११-६ ।

मुवली—क्रि० दे० 'मुवलि' ।

मुवा—क्रि० [सं० मरण] मर गया । दे० 'मूवा' । ~दुनियाँ के धोखैं मुवा, चलै जु कुल की कानि । →सा० चिता० (१२) ४६-१; सब० ८६-१, पद २६३-३, सा० जी० मृ० (४१) ५-२ ।

मुवा—वि० [स० मृत] मरा हुआ, मृत । ~प्रान पिंड कौ तजि चलै, मुवा कहै सब कोइ । →सा० सू० ज० (१५) २-१ ।

मुसकल—वि० [अ० मुश्किल] कठिन, दुष्कर । ~हथलेवा हौसैं लिया, मुसकल पड़ी पिछाँनि । →सा० भेष० (२४) २४-२ ।

मुसवन—सज्ञा पु० [स० मूषक] चूहा । ~मछरी मुख जस केंचुवा, मुसवन मुख गिरदान । →र० ४५-७ ।

मुसहि—क्रि० [सं० मूषण] चोरी करना । दे० 'मूसन' । ~वैठे ते घर साहु कहावै, भितर भेद मन मुसहि लखावै । →विप्र० (२) १६ ।

मुसाफ—संज्ञा पु० [अ० मुसहफ] कुरान शरीफ । ~मोलना माते पढि मुसाफ, काजी माते दै निसाफ । →वसंत (४) १०-४ ।

मुसि गए—क्रि० [स० मूषण] लुट गए । ~जे सूते ते मुसि गए, रहे बस्तु कौ रोइ । →सा० माया० (१६) २४-२ ।

मुसि-मुसि—क्रि० वि० [स० मुषित] ठगी-सी । ~मुसि मुसि रोवै कबीर की माई, ए बारिक कैसे जीवहिं खुदाई । →सब० १३६-३ ।

मुसि-मुसि—वि० [सं० मुषण] धीरे धीरे, चुपके से। ~कहै कबीर मैं भया दिवाना, मुसि-मुसि मनुवा सहजि समाना। →सब० ७२-५।

मुसियत—क्रि० [स० मुषण] लूटते हैं। ~चोर तुम्हारा तुम्हरी अग्या, मुसियत नगर तुम्हारा। →सब० १७२-५।

मुसै—क्रि० [स० मूषण] चुरा ले जाना है। ~गाफिल होइ वस्तु मति खोवै, चोर मुसै घर जाई। →पद २१८-२।

मुसै—क्रि० [स० मूषण] चुरा कर उठा ले जाता है। ~गाफिल होइ कै जनमु गवायौ, चोर मुसै घरु जाई। →सब ११-२।

मुहकम—वि० [अ०] दृढ, मजबूत, टिकाऊ। ~कलिजुग हम सौ लडि पडा, मुहकम मेरा वाछ (वांच)। →सा० गुरु० (१) ५-२, पद ३३६-४।

मुहर—संज्ञा स्त्री० [फा० मोहर] मुद्रा, अशर्फी। ~मन की मुहर धरी गुरु आगै ग्यान कै घोडा लाऊँ जी। →पद ३०७-२।

मुहरकाँ—भाव० [अ० मुहरिक] नेतागिरी, अगुआगिरी। ~औरा कौं परमोधता, गया मुहरकां मांहि। → सा० चांण० (१७) १३-२।

मुहरा—सज्ञा पु० [हि० मुंह+रा (प्रत्य०)] घोडे के मुख पर पहनाया जाने वाला साज। ~दै मुहरा लगाम पहिरावउं, सिकली जीन गगन दौरावउ। →सब० ३-३।

मुहांमुह—क्रि० वि० [सं० मुख से] मुंह तक, लबालब। ~दुनियाँ भांड़ा दुख का, भरी मुहांमुह भूप। →सा० चिता० (१२) ४७-१।

मूंठी—सज्ञा स्त्री दे० 'मूठी'।

मूंड—सज्ञा पु० [स० मुण्ड] मस्तक, शिर। ~भुजा बांधि भेला करि डार्‌यौ, हस्ती कोपि मूड मंहि मार्‌यौ। → सब० ४२-३, पद २१६-८, सब० १३६-६, र० ३१-३, र० ७२-२।

मूंड—वि० [स० मूढ] मूर्ख, अज्ञानी। ~कारे मूंड को एक न छाड्यौ, अजहूँ अकन कुवारी। →सब० २६-४।

मूंदे—क्रि० [सं० मुद्रण] मुद्रित कर दिया, छिपा लिया। ~नऊँ दुवार नरक धरि मूंदे दुरगंधि ही के वेढे। →सब० १०२-२।

मूंएँ—क्रि० [स० मृत्यु] मरना, मृत्यु को प्राप्त होना। ~सो जीवन भला कहाही, विनु मूंएँ जीवन नाही। →सब० ८-६।

मूका—सज्ञा स्त्री० [स० मुष्टिका] मुट्ठी। दे० 'मूठी'। ~कोई ले भरि सकै न मूका, औरन पहि जाना चूका। →सब० ८-४।

मूठी—सज्ञा स्त्री० [सं० मुष्टि] मुट्ठी। ~मरकट मूठी स्वाद की मन बौरा हो। → चांचर (५) २-११, सब० ५-५।

मूड़—संज्ञा पु० दे० 'मूंड'।

मूड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० मुण्ड] सिर। दे० 'मूड'। ~क्या लै मूडी भुइ सौं मारे, क्या जल देह न्हवाएँ। →सव० २३-३।

मढक—वि० [स० मूढ] विवेकहीन, मोहाध। ~कवीर मूढक करमियाँ, नख सिख पाखर आहि। →सा० निगुर्णा (५५) ५-१।

मूतर—सज्ञा पु० [सं० मूत्र] पेशाव। ~एक रुधिर एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा। →सव० ५५-३।

मूदा—सज्ञा पु० [फा० मुरदा] मृत। दे० 'मुर्दा'। ~वाजै वाव विकार की, भी मूदा जीवै। →सा० मन० (१३) २३-२।

मूनी—सज्ञा पु० [स० मुनि] ऋषि। ~असी सहस पैगम्वर नाही, सहस अठासी मूनी। →सव० ३१-५।

मूर—संज्ञा पु० [स० मूल] जडी, वूटी। ~तनु माँहि खोजौं चोट न पावौ, ओपद मूर कहाँ घसि लावौं। →पद २६२-३।

मूरति—सज्ञा स्त्री० [स० मूर्ति] मूर्ति। ~पडा कै मूरति होइ वैठी, तीरथ हू मैं पानी। →पद २२७-४।

मूरिष—वि० दे० 'मूरख'।

मूरख—वि० [स० मूर्ख] अज्ञानी, वेवकूफ। ~पण्डित सो वोलिये हितकारी, मूरख ते रहिये झख मारी। →र० ७०-४, सा० कुस० (२५) २-१।

मूल—सज्ञा पु० [सं०] मूल धन, पूंजी। ~लोभ वडाई कारनै, अछता मूल न खोइ। →सा० चिता० (१२) ४१-२, पद २३९-२।

मूल—संज्ञा पु० [स०] सार, परमार्थ, सत्य, आत्मा। ~चले लोग सव मूल गँवाई, जम की वाढि काटि नहि जाई। →र० १३-३, ५।

मूल—सज्ञा पु० [सं०] जड। ~चित्त तरउवा पवन खेदा सहज मूल वाँधा। →सव० १००-३, पद २३६-२।

मूलहि—सज्ञा पु० [स० मूल+हिं० हि] मूलाधार चक्र। ~चेतत रावल पावन खेडा, सहजै मूलहि वाँधै। →सव० ६५-३।

मूला—सज्ञा पु० [स० मूल] उत्पत्ति का हेतु। ~तहिया होत कली नहिं फूला, तहिया होत गभ नहिं मूला। →र० ७-२।

मूला—सज्ञा पु० दे० 'मूल'।

मूलि—सज्ञा पु० [स० मूल] मूल से, जड से। ~ते नर विनठे मूलि, जिनि धधै मैं ध्याया नही। →सा० चिता० (१२) २१-२, ३२-१।

मूवाँ—क्रि० [स० मृत्यु से] मर जाने के उपरान्त। ~मूवाँ पीछै देहुगे, सो दरसन किहि काम। →सा० विरह (३) ७-२।

मूवा—क्रि० [स० मृत्यु] मर गया। ~अव मन उलटि सनातन हूवा, तव जाना जव जीवत मूवा। → सव० २०-७।

मूसन—क्रि० [स० मूषण] चोरी करना। ~सवै मदमाते कोइ न जाग,

सँगहि चोर घर मूसन लाग। → वसत (४) १०-१।

मूसल—क्रि० [सं० मूषण] चुरा लिया। ~जागत चोर घर मूसल हो रमैया राम। →वेलि (६) १-२।

मूसा—क्रि० [स० मूषण] चोरी की। ~तेहि ऊपर कछु छार लपेटे, भितर भितर घर मूसा हो। →कहरा (३) ७-३।

मूसा—क्रि० [स० मूषण] चुराया, अपहृत। ~वाहरि देह खेह लपटानी, भीतरि तौ घर मूसा। → सव० १०४-४।

मूसिन—क्रि० [सं० मूषण] चुरा लिया। ~नाग फास लीये घट भीतर, मूसिन सव जग झारी। →पद २६१-६।

मूसैं—क्रि० [सं० मूषण] चोरी करता है। ~चोर एक मूसैं ससारा, विरला जन कोइ वूझनिहारा। → र० ५६-२।

मेंडुक—सज्ञा पु० [स० मडूक] मेढक। ~जल कैं मज्जनि तें गति होवैं नित नित मेडुक न्हावैं। → सव० १७७-५, ६।

मेखुली—सज्ञा स्त्री० [स० मेखला] मेखला, कटिवन्ध, करधनी। ~सुर नर गण गध्रव जिनि मोहे त्रिभुवन मेखुली लाई। →पद २५०-४।

मेघ—सज्ञा पु० [स०] वादल। ~ चातिक जलहल आसहि पासा, मेघ न वरसै चलै उदासा। →र० ६५-४।

मेदनीं—सज्ञा स्त्री० दे० 'मेदिमी'।

मेदिनी—सज्ञा स्त्री० [स०] पृथ्वी। ~व्रह्म कुलाल मेदिनी भइया, उपजि विनसि कित गइया जी। → सव० ११५-३, सा० सूरा० (४५) ४१-१।

मेर—भाव० [हि० मेरा] मेरापन, आपा। ~ऊंचा चढि असमान कू, मेर ऊलंघे ऊडि। →सा० उपज० (५०) ४-१।

मेर—सज्ञा पु० [स० मेरु]सुमेरु। दे० 'मेरु'। ~पगुला मेर सुमेर उलघै, त्रिभुवन मुकुता डोलै। → सव० २८-७।

मेर—सज्ञा पु० [हि० मेरा] मेरापन, ममत्व, अहभाव। ~मेर निसानी मीच की, कुसगति ही है काल।→ सा० कुसग० (२५) ५-१।

मेर डड—सज्ञा पु० [स० मेरुदण्ड] सुषुम्ना नाडी। ~उलटे पवन चक्र षट वेधा, मेर डंड सरपूरा। → सव० १५८-५।

मेरि—सज्ञा स्त्री० [हि० मेरा] मेरापन, अहन्ता। ~मेरि मिटी मुकता भया, पाया व्रह्म विसास। →सा० वेसा० (३५) १७-१।

मेरी-मेरी—यौ० [हि०] ममत्व। ~ मेरी-मेरी करतां जनम गयौ। → पद २३३-१।

मेरु—संज्ञा पु० [स० मेरु] सुमेरु पर्वत। ~ए उपमां हरि किती एक ओपैं, अनेक मेरु नख ऊपरि रोपैं। →पद २८३-४।

मेरु—सज्ञा पु० [सं०] हिंडोले के दोनो खम्भो के बीच की लकडी । ~पाप पुन्नि के खभा दोऊ मेरु मायां मानि →हिंडोला (८) १-२ ।

मेरुदंड—सज्ञा पु० [सं०] पीठ के बीच की हड्डी-रीढ, यहाँ तात्पर्य है सुषुम्ना नाडी । ~मेरुदंड पर डक दीन्ह, अष्ट कवँल परजारि दीन्ह । →वसत (४) २-२ ।

मेलि—क्रि० [हि० मेलना] पनपते हुए । ~जालन आनी लाकडी, ऊठी कूँपल मेलि । →सा० वेली० (५८) १-२ ।

मेली—वि० [हि० मिली हुई] मिली हुई, विकार युक्त । ~मेली सिष्टि चराचित राखहु, रहहु दिस्टि लौ लाई हो । →कहरा (३) १-२ ।

मेलैं—क्रि० [हि० मेलना] फेंकता है, चलाता है । ~संसय मिरगा तन बन घेरे, पारथ बाना मेलैं । →पद १६६-७ ।

मेलै—क्रि० [हि० मेल्हना] चला रहा है । ~बपु बारी अनगु मिरगा रुचि रुचि सर मेलै । →सब० १००-२ ।

मेलै—क्रि० [हि०] मेल्हना । ~बपु बारी आनन्द मीरगा, रुचि रुचि सर मेलै । →सब० ६५-२ ।

मेल्या—क्रि० [हि० मेलना] डाल रखा है । ~दरिया पार हिंडोलना, मेल्या कंत मचाइ । → सा० सुन्द० (५२) ५-१ ।

मेल्या—क्रि० [हि० मेलना] फेंक दिया, निकाल दिया । ~पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि । →सा० गुरु० (१) ३५-१ ।

मेल्या छाइ—क्रि० [हि०] आच्छादित कर डाला है, छा गया है ।~तीरथ व्रत विष वेलडी, सब जग मेल्या छाइ । →सा० भ्र० वि० (२३) ६-१ ।

मेल्ह्या—क्रि० [दे० मेल्हना] बेचैन कर दिया । ~हँसै न बोलै उन्मनी चचल मेल्ह्या मारि । →सा० गुरु० (१) ६-१ ।

मेल्हि गया—क्रि० [दे०] मिट गया, नष्ट हो गया । ~सबही ऊभा मेल्हि गया, राव रक सुलतान । →सा० चिता० (१२) ५-२ ।

मेल्ही—क्रि० [हि० मेल्हना] पनपी, निकली । ~सहज वेलि जब फूलन लागी, डाली कूपल मेल्ही । →पद २५३-४ ।

मेल्हे—क्रि० [हि०] फेंक दिया । ~ सदा अनंदी रांम के, जिनि सुख-दुख मेल्हे दूरि । →सा० मधि० (३१) ८-२ ।

मेषली—सज्ञा स्त्री० [स० मेखला] करधनी । दे० 'मेखुली' । ~ग्यांन मेषली सहज भाइ, बंकनालि को रस खाइ । →पद ३२०-६ ।

मेह—सज्ञा पु० [स० मेघ] बादल । ~सूखा काठ न जानई, कबहूं वूठा मेह । → सा० निगु० (५५) १-१; २-१, पद २०३-४ ।

मेंहतर—संज्ञा पु० [स० महत्तर] १ श्रेष्ठ पुरुष, सद्गुरु । २. [फा०] बुजुर्ग । ~मैं आयो मेंहतर मिलन

तोहिं, रितु वसत पहिरावहु मोहि ।
→वसत (४) ३-१ ।

मेहर—संज्ञा स्त्री० [फा०] दया । ~ हिन्दु कि दया मेहर तुरकन की, दूनो घट मे त्यागी ।→पद ३०४-७ ।

मेंहरवान—वि० [फा०] कृपालु, दयालु । ~मेंहरवान सवहिन को साहव, ना जीता ना हारा ।→पद २६२-१६ ।

मेहररुआ—संज्ञा स्त्री० [स० मेहना] स्त्री, पत्नी । ~मोरे वाप के दुइ मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे । →कहरा (३) ११-३ ।

मेहरिहि—संज्ञा स्त्री० [सं० मेहना] स्त्री को । ~घालि जनेऊ ब्राह्मन होता, मेहरिहि का पहिराया । → सव० ७६-७ ।

मेहरी—संज्ञा स्त्री० [स० मेहना] स्त्री, औरत । ~देहरी वैठी मेहरी रोवै, द्वारै लगि सगी माइ । →सव० १०५-३ ।

मेहाँ—संज्ञा स्त्री० [स० मेघ] वृष्टि । ~जावासा के रूप ज्यू, घन मेहाँ कुम्हिलाइ । →सा० माया० (१६) १५-२ ।

मैं—भाव० [स० आत्मन्] आपा, अह-भाव । ~जव मैं था तव हरि नही, अव हरि हैं मैं नाँहि । →सा० पर० (५) ३५-१ ।

मैं—संज्ञा स्त्री० [अ०] शराव । ~ तन पाटन मैं कीन्ह पसारा, माँगि माँगि रस पिऐ विचारा । →सव० १०८-४ ।

मैंगल—संज्ञा पु० [स० मदकल] मत-वाला हाथी । ~ जिनके नौवति वाजती, मैंगल वँधते वारि ।→सा० चिता० (१२) २-१, सा० रस० (६) ७-१ ।

मैंमाती—वि० दे० 'मैमता' ।

मैं मै—भाव० [हि०] अह भाव या वुद्धि । ~मै मै वडी वलाइ है, सकै तो निकसो भागि । → सा० चिता० (१२) ६०-१ ।

मैंगर—संज्ञा पु० [सं० मदकल] जिसमे मद का अश हो, हाथी । दे० 'मैंगल' । ~अलप सुख दुख आदि औ अता, मन भुलान मैंगर मैमता । →र० २३-१ ।

मैदा—संज्ञा पु० [फा०] वहुत महीन आटा । ~इस मन कौं मैदा करौं, नान्हाँ करि करि पीस । →सा० सुन्द० (५२) ४-१, सा० मधि० (३१) १०-२ ।

मैमंता—वि० [सं० मदमत्त] मदमत्त, मतवाला । ~मैमता घूमत फिरै, नाही तन की सार । →सा० रस (६) ४-२, सा० मन० (१३) १६-१, सव० १४६-४ ।

मैमंता—वि० [स० मदमस्त] अहकारी । अलप सुख दुख आदि औ अता, मन भुलान मैगर मैमता ।→र० २३-१ ।

मैवासा—संज्ञा पु० [सं० मवास] १. दुर्ग, किला । २ स्वामित्व, अहभाव । ~ मैवासा भाँजै नही, होन चहै निज दास । →सा० भेष० (२४) २५-२ ।

मैवासी—संज्ञा पु० [सं० मवास+ई

(प्रत्व०)] गढ़पति, किलेदार, नायक। ~मन मैवासी मूडि ले, केसहिं मूडे कांइ। →सा० भेष० (२४) १३-१, सब० ६३-४, पद ३०७-६।

मोई—वि० [दे०] विनष्ट। ~मैवासा **मोई** किया, दुरजन काढे दूरि। → सा० भेष० (२४) २६-१।

मोचित—वि० [सं०√मुच्] मुक्त किया गया, पैदा किया गया। ~ नारी **मोचित** गर्भ प्रसूती, स्वाँग धरै बहुतै करतूती। →र० २-७।

मोट—संज्ञा पु० [हि०] चमडे का वह थैला जिससे पानी फेंका जाता है। ~सगति छोडि करै असरारा, उबहै **मोट** नर्क कर धारा।→र० ४३-५।

मोटरी—संज्ञा स्त्री० [?] गठरी। ~ चहुँ जुग भक्तन बाँधल बाटी, समुझि न परी **मोटरी** फाटी।→र० ५-६।

मोटी—वि० [स० मुष्ट] स्थूल। ~ समुझि न परै पातरी **मोटी**, ओछी गाँठि सबै भी खोटी।→र० ८०-३।

मोटे—वि० [हि०] बडे। ~**मोटे** भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ। → सा० सू० मा० (१४) १०-२।

मोड़हीं—क्रि० [हि० मोडना] मोडता है, हटाता है। ~साधू अग न **मोड़हीं**, ज्यौ भावै त्यौ खाव। → सा० विर० (३) १६-२।

मोतियाँ—संज्ञा पु० [स० मौक्तिक] मोती, पानी की बूंद। ~पारब्रह्म बड **मोतियाँ**, झडि बाँधी सिषराँह। →सा० निगु० (५५) ३-१।

मोद—संज्ञा पु० [स०] प्रसन्नता, आनद, सुख। ~झूठे सुख कौं सुख कहैं, मानत हैं मन **मोद**। →सा० काल० (४६) १-१।

मोनि—वि० [स० मौनिन्] मौन धारण करने वाले, मौनी।~लुचित मुडित **मोनि** जटाधर एहि कहहिं सिधि पाई। → पद ३३७-४, सब० १४२-८।

मोम—संज्ञा पु० [फा०] मोम। ~ जिभ्या तार नासिका चरई, माया **मोम** लगाया। → सब० १०६-५।

मोर—संज्ञा पु० [हि० मेरा] ममत्व। ~ननद भौज परपच रच्यौ है, **मोर** नाम कहि लीन्हा। →पद २६०-५।

मोलना—संज्ञा पु० [अ० मौलाना] मौलाना, मुल्ला। ~**मोलना** माते माया के धार, राजा माते करि हकार। →वसत (४) १०-४।

मोहड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि० मुँह+डी] घोडे के मुख पर पहनाया जाने वाला साज। ~आयौ चोर तुरगहि लै गयौ **मोहड़ी** राखत मुगध फिरै। → पद २३३-६।

मोहन—संज्ञा पु० [हि०] आसक्ति युक्त मन। ~**मोहन** जहाँ तहाँ लै जइहै, नहिं पति रहै तोहरा हो।→ कहरा (३) ७-५।

मोहम्मद—संज्ञा पु० [अ० मुहम्मद] इस्लाम धर्म के प्रवर्तक, पैगम्बर। ~नही महादेव नही **मोहम्मद**, हरि हजरत तब नाही। → सब० ३१-३।

मोहित—वि० [सं०] मुग्ध, आसक्त । ~माया मोहे **मोहित** कीन्हा, ताते ज्ञान रतन हरि लीन्हा । →पद २२८-१ ।

मोहे—सर्व० [स० मह्यम] मुझको । ~माया **मोहे** मोहित कीन्हा, ताते ज्ञान रतन हरि लीन्हा । →पद २२८-१ ।

मौंज—सज्ञा स्त्री० [अ०] आनन्द ।~ चरन कँवल की **मौंज** मैं, रहौं अति अरु आदि । →सा० मधि० (३१) ६-२ ।

मौंनी—संज्ञा पु० [स० मुनि] तपस्वी, साधु । ~**मौंनी** वीर डिगम्बर मारे जतन करंता जोगी ।→पद २४४-३ ।

मौना—वि० [स० मौन] मौन, शान्त । ~जीव सीव का आहि नसौना, चारिउ वेद चतुर गुन **मौना** । → र० ३०-२ ।

मौर—सज्ञा पु० [सं० मुकुट] विवाह के अवसर पर वर के शिर पर वांधा जाने वाला मुकुट । ~**मौर** के माथे दुलहा दीन्हा, अकथा जोरि कहाता । →सव० ३६-२ ।

म्यंत—सप्तमी कारक चिह्न (मे),वीच मे । ~द्वादस दल अभिअंतरि **म्यंत**, तहाँ प्रभू पाइसि करिलै च्यत । → सव० १४०-१२ ।

म्यानै—अव्य० [स० मध्य] मध्य मे, वीच मे । ~असमान **म्यानै** लहग दरिया गुसल करद. वूद । →सव० १८१-७ ।

म्रिग—संज्ञा पु० [स० मृग] हिरण । दे० 'मिरगा' । ~कस्तूरी कुण्डलि वसै, **म्रिग** ढूढै वन माँहि । →सा० कस्तू० (५३) १-१ ।

य

यक—वि० [स०] एक, अखण्ड, देश-काल भेद से रहित । ~जीव रूप **यक** अन्तर-वासा, अन्तर ज्योति कीन्ह परगासा । →र० १-१ ।

यतनी—वि [हि० इतनी] इतनी । ~ स सा के घर सुनगुन होई, **यतनी** वात न जानै कोई । →ज्ञान चौं० (१) ६८ ।

र

रंक—वि० [स०] दरिद्र । ~तब सनकादिक तत्तु विचारा, ज्यौं धन पावहिं **रंक** अपारा । →र० १३-८, पद ३२०-४, सव० १४८-४, सा० विर्क० (३७) ८-२ ।

रंक—वि० [स०] तुच्छ । ~आपनपौ न सराहिए, और न कहिए **रंक** । →सा० निन्द्या० (५४) ७-१ ।

रंग—सज्ञा पु० [सं०] रति । ~ नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती **रंग** । →सा० कामी० (२०) ६-१ ।

रंग—सज्ञा पु० [स०] अनुराग प्रेम । ~हरि **रंग** लागा हरि **रंग** लागा । → पद ३४०-१, पद २५६-१, २, ३, ४ ।

रंग—संज्ञा पु० [सं०] रुचि । ~अपने-

अपने रंग के राजा; मौनत नाही कोइ। →सब० ७३-३।

रंग—सज्ञा पु० [स०] उल्लास, आनद, उत्सव। ~क्या जानू उस पीव सो, कैसे रहसी रग। →सा० निह० पति० (११) १९-२।

रगी—वि० [स०रग+हि० ई (प्रत्य०)] अनुरागी। ~सतो मते मातु जन रंगी। →पद ३०३-१।

रचक—वि० [स० न्यच] रच मात्र, थोड़ा भी। ~कोटि क्रम पेलै पलक मैं, जे रंचक आवै नाउँ। →सा० सुमि० (२) २०-१।

रजित—वि० [स०] अनुरक्त, आसक्त। ~तन रंजित तब देखियत दोई, प्रगट्यो ग्यान जहाँ तहँ सोई। →पद २७७-४।

रइयत—सज्ञा स्त्री०[अ०रअय्यत] प्रजा। ~राजा देस बड़ो परपची रइयत रहत उजारी। →सब० १५९-४।

रउरा—सर्व० [हि०] आप। ~आसन पवन दूरि करि रउरा। →सब० ४१-१।

रखवारा—संज्ञा पु० [रख + वाला (प्रत्य०)] रक्षक, रखने वाला। ~खसम मरै तौ नारि न रोवै, उस रखवारा अउरो होवै। →सब० ४९-३।

रखवारी—सज्ञा स्त्री० [स० रक्षण] रखवाली, रक्षा। ~सरग पताल भूमि लै वारी, एकै राम सकल रखवारी। →र० ५९-३।

रखियौ—क्रि० [स० रक्षण] रक्षा किया। ~उरध पाव अरध सीस, बीस पषा इम रखियौ। →सा० बेसा० (३५) १-३।

रखवारे—सज्ञा० पु० [हि० रखवाला] रक्षक, पहरेदार। ~हम गोरू तुम गुआर गुसाईं जनम-जनम रखवारे। →पद २३१-७।

रग—सज्ञा स्त्री० [फा०] नस या नाडी। ~सब रग तत रबाव तन, बिरह बजावै नित्त। →सा० बिर० (३) २०-१।

रगत—सज्ञा पु० [स० रक्त] खून। ~सो सावज किन मारै कता जाकै रगत मास ना होई रे। →सब० १२१-४।

रचते—क्रि० [सं० रजन] अनुरक्त होना। ~नारि रचते पुरुषा, पुरुष रचते नार। →र० ५०-५।

रचनहार—वि० [हि०] रचने वाला, कर्त्ता, अहकारी जीव। ~नही ग्रिह द्वार कछू नहिं तहिया रचनहार पुनि नाही। →पद २९८-५।

रचनहार—सज्ञा पु० [स० रचना + हार] रचयिता, स्रष्टा। ~रचनहार कौं चीन्हि लै, खावे कौं क्या रोइ। →सा० बेसा० (३५) ३-१।

रचि—क्रि० [सं० रचन] बनाकर। ~माई मोर मुअल पिता के सगे, सरा रचि मुअल सघाती गे। → कहरा (३) ११-५।

रची—क्रि० [स० रत]अनुरक्त होना। ~जँह की उपजी तहँ रची पीवत मरदन लाग। →पद २९६-७।

रचै—क्रि० [स० रचना] अनुरक्त हो, प्रेम करे। ~पुर्पहि पुर्पा जो रचै, सो विरला ससार। →र० ५०-६।

रच्यौ—क्रि० [स० रचन] वनाया है। ~करन कोटि की ग्रेह रच्यौ रे, नेह गए की आस रे। →सव० ६७-३।

रज गति—सज्ञा स्त्री० [सं०] रजोगुण। ~रज गति त्रिविध कीन्ह परगासा, कर्म धर्म वुधि केर विनासा। →र० २६-४।

रजु—सज्ञा स्त्री [स० रज्जु] रस्सी। ~जेहि जिव जानि परा जस लेखा, रजु को कहे उरग सम पेखा। → पद २८४-३।

रतंन—संज्ञा पु० [सं० रत्न [रत्न, मोती, मुक्ता। ~आई सूति कवीर की, पाया राम रतन। →सा० सुमि० (२) ७-२।

रत—वि० [सं०] अनुरक्त। ~कांमिनि अग विरकत भया, रत भया हरि नाँइ। →सा० साध सा० (२६) १२-१।

रतड़ियाँ—क्रि० [स० रक्त] रक्त वर्ण या लाल वर्ण हो गई है। ~राम सनेही कारने, रोइ-रोइ रतड़ियाँ। →सा० विर० (३) २५-२।

रतनाई—सज्ञा स्त्री० [हि०] लालिमा। ~ड डा निरखत निसु दिन जाई, निरखत रहा नैन रतनाई। →ज्ञान चौं० (१) ११।

रता—क्रि० [स० रत] अनुरक्त रहता है। ~मैंमता अविगत रता, अकलप आसा जीति। →सा० रस० (६) ६-१।

रती—संज्ञा स्त्री० [सं० रत्तिका] एक मासे का आठवाँ भाग। दे० 'रत्ती' ~मासा माँगै रती न देऊँ, घटे मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊँ। →सव० १७३-३।

रती—वि० [हि० रत्ती] रच-मात्र। ~नैन हमारे तुम्ह कू चाहैं, रती न मानै हारि। →पद ३४६-३।

रत्ती—संज्ञा स्त्री० [सं० रत्तिका] आठ रत्ती का एक माशा होता है, थोडा, अल्प। ~रत्ती घटै न तिल वढै, जौ सिर कूटै कोई। →सा० वेसा० (३५) ८-२।

रन—सज्ञा पु० [सं० रण] रण-क्षेत्र, युद्ध-भूमि। ~कविरा रन मे पैठिकै पीछैं रहै न सूर। →सा० सूरा० (४५) ५-१।

रन—सज्ञा पु० [स० अरण्य] वन। ~हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ। →सा० भ्र० वि० (२३) ४-१।

रपटि—क्रि० [हि०] फिसलकर। ~रपटि पाव गिरि परे अधर तैं आइ परे भुइ माही। →सव० १७८-६।

रवाव—सज्ञा पु० [फ़ा०] वाद्य विशेष—आधुनिक सरोद और सारगी के मध्य का वाजा, जिसमे प्रायः चार तार होते हैं। यह दो प्रकार का होता है—एक तो सारंगी के समान गज से वजाया जाता है, दूसरा जवा या त्रिकोण से वजाया जाता है।

यह बाजा भारत मे मुसलमानी काल मे ईरान से आया। ~सब रग तत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त। → सा० बिर० (३) २०-१।

रबावी—वि० [अ० रबाब + ई (प्रत्य०)] रबाब बजाने वाला। ~धौल मदलिया बैल **रबावी** कउवा ताल बजावै। →पद ३३१-३।

रमइया—संज्ञा पु० [स० राम] प्रभु। ~**रमइया** गुन गाइऐ रे जातै पाइऐ परम निधानु। →पद २४५-१।

रमइया—संज्ञा पु० [स०√रम् + इया (प्रत्य०)] रमण करने वाला, प्रियतम। ~नैननि **रमइया** रमि रहा, दूजा कहाँ समाइ। →सा० निह० पति० (११) ४-२।

रमजांना—सज्ञा पु० [अ० रमजान] मुसलमानी नवाँ महीना, जिसमे मुसलमान दिन भर रोजा रखते हैं और रात को तसबीह (नमाज) पढ़ते है। इस महीने मे वे पूरा कुरान सुनते हैं। ~ब्राह्मन ग्यारसि करै चौबीसौ, काजी माह **रमजांना**। →सब० २३-७।

रमता—सज्ञा पु० [स० रमण] तत्व जो सबमे रमण कर रहा है, अर्थात् आत्मा। ~कहै कबीर **रमता** सौ रमना, देही बादि न खोई। →सब० ३३-१०।

रमसि—क्रि० [हि० रमना] रमता है। ~राम न **रमसि** कौन डड लागा, मरि जैबे का करिबे अभागा। → पद २५८-१।

रमि—क्रि० [स० √रम्] १. रमण करना, २ व्याप्त होना। ~राम तौ भीतरि **रमि** रह्या, जो आवै परतीत। →सा० कस्तू० (५३) ४-२।

रमि—क्रि० [सं० रमण] तन्मय होकर ~रसनाँ राम गुन **रमि** रस पीजै। →पद २४७-१।

रमि गया—क्रि० [स० √रम्] रम गया, ब्रह्म मे मिल गया। ~जोगी था सो **रमि गया**, आसनि रही विभूति। →सा० ग्या० वि० (४) ४-२।

रमुराई—संज्ञा पु० [स० रमण] सर्वव्यापी, रमने वाला, आत्माराम। ~तिरबिधि रहौ सभनि मा बरतौं, नाम मोर **रमुराई** हो। →कहरा (३) १०-७।

रमैनी—सज्ञा स्त्री० [स० √रम् + ऐनी] गुणानुवाद, कथा। ~जाकर नाम अकहुआ रे भाई, ताकर काह **रमैनी** गाई। →र० ५१-१।

रमैनी—सज्ञा स्त्री० [राम + अइनि] १. वह जिसमे ससार मे जीवो के रमण का विवेचन हुआ है, २. एक छद विशेष जिसके चरण मे सोलह मात्राएँ होती हैं, ३. वेद-शास्त्र के विचारो मे रमण कराने वाली। ~अद्‌बुद रूप जाति की बानी, उपजी प्रीति **रमैनी** ठानी। →र० ४-३।

रलि गया—क्रि० [स० ललन + √गम्] मिल गया। ~कबीर गुर

गरवा मिल्या, रलि गया आटै लौन →सा० गुरु० (१) १४-१।

रवन—सज्ञा पु० [स० रमण] रमण, विहार। ~प्रिथिमी **रवन** दवन नही करिया, पैठि पताल नही वलि छलिया। →र० ७५-४।

रविसुत—संज्ञा पु०[स०]यमराज।~लख चौरासी जीव झूलहि **रविसुत** धरिया ध्यान। →हिंडोला (८) ३-५।

रवैं—संज्ञा स्त्री० [फा० रवां] गति, प्रसार, वृद्धि। ~सयोगे का गुन **रवै**, विजोगे का गुन जाय। →र० ४०-६।

रस—सज्ञा पु० [सं०] ब्रह्मानन्द का स्वाद। ~कवीर हरि **रस** यौं पिया, वाकी रही न छाकि। →सा० रस० (६) १-१।

रसन—सज्ञा पु० [स० रस] रस से। ~कहा कहीं कछु कहत न आवै अम्रित **रसन** भरी।→पद ३२७-२।

रसनां—सज्ञा स्त्री० दे० 'रसना'।

रसना—सज्ञा स्त्री० [स०] रस लेने वाली इंद्रिय अर्थात् जिह्वा। ~जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि **रसना** नहिं राम। →सा० सुमि० (२) १७-१, सव० १३२-१, वसत (४) २-१, पद २४७-१, सव० १०-४।

रसनू—सज्ञा स्त्री० दे० 'रसना'।

रसरिया—सज्ञा स्त्री० [स० रज्जु] रस्सी, डोरी। ~घालि **रसरिया** जव जम खैंचै, तव का पति रहै तुम्हारी। →सव० १०४-६।

रसाइन—संज्ञा पु० [सं० रसायन] वह औषध जो जरावस्था को युवावस्था मे परिणत कर देता है। ~राम **रसाइन** प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल। →सा० रस० (६) २-१।

रसातल—संज्ञा पु० [स०] पुराणानुसार पृथ्वी के नीचे के सात लोको मे छठा लोक। ~लिंग रूप तव सकर कीन्हा, धरती कीलि **रसातल** दीन्हा। →र० २७-३।

रसाल—वि० [स०] रसयुक्त, मधुर। ~राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक **रसाल**। → सा० रस० (६) २-१, पद २२५-३, सा० चिता० (१२) ४६-२।

रसिक—स० पु० [स०] प्रेमी। ~भाई रे नयन **रसिक** जो जागै। →पद २०७-१।

रसिक—सज्ञा पु० [स०] विषयी।~जव हम अइली **रसिक** के जग मे, तवहिं वात जग जानी गे। →कहरा (३) ११-४।

रहँटा—सज्ञा पु० [हि० रहँट] सूत कातने का चरखा। ~मन मोर **रहँटा** रसना पिउरिया। →पद २१५-१।

रह—सज्ञा स्त्री० [फा० राह] मार्ग। ~हिन्दू तुरुक दोऊ **रह** तूटी, फूटी अरु कनराई। →पद ३२६-७।

रहट—सज्ञा पु० [स० आरहट्ट] कुएँ से पानी निकालने का यन्त्र, जिसमे वाल्टियो की एक माला पडी रहती है। ज्यो-ज्यो चरखी घूमती है, क्रमश.

एक-एक बाल्टी से जल भर कर आता रहता है। ~जैसा नीझर लाइया, रहट बहै निस धाम। → सा० बिर० (३) २४-१।

रहनि—सज्ञा स्त्री० [हि० रहना से] आचरण, रहने का ढंग। ~है कछु रहनि गहनि की बाता, बैसा रहे चला पुनि जाता। →र० ५१-३, सा० सू० मा० (१४) ३-१, २।

रहनि रहउँ—यौ० [हि०] जीवन यापन करना। ~मेरी मति बउरी मैं राम बिसार्‌यौ केहि बिधि रहनि रहउँ रे। →पद २३२-१।

रहनी—सज्ञा स्त्री० [हि० रहना से] स्थिति। ~कोई कहै मैं जुगती जानौं कोई कहै मैं रहनी। →पद ३१५-६।

रहनु—क्रि० [हि०] स्थित हो जाना, ठहरना। ~पवनपति उनमनि रहनु खरा। →सब० १७१-१।

रहमाँन—वि० दे० 'रहिमाना'।

रहलीं—क्रि० [भोज०] थी। ~जब हम रहलीं हठिल दिवानी तब पिय मुखा न बोला। →पद ३४०-३।

रहस—सज्ञा पु० [स० रहस्] आमोद-प्रमोद, आनन्दमय लीला। ~थिति बिनु सुरति रहस बिनु आनंद, ऐसो चरित अनूपा। →पद २०४-६।

रहसी—क्रि० [हि० रहना] रहेगा। ~क्या जानूं उस पीव सो, कैसे रहसी रग। →सा० निह० पति० (११] १६-२।

रहसै—क्रि० [स० रहस्य] रहस्य का अनुभव करता है। →सैन करै मनही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई। →सब० १३-८।

रहाईले—क्रि० [हि० रहना] रहता है। ~आकासि गगनु पातालि गगनु है दह दिसि गगनु रहाईले। →पद २४१-३।

रहिते—वि० [सं० रहित] बिना। ~वह बिरवा चीन्है जो कोई, जरा मरन रहिते तन होई। → पद २८६-१।

रहिमांना—वि० दे० 'रहमाँन'।

रहिमाना—वि० [अ० रहीम] कृपालु, दयालु। ~हिन्दु कहै मोहि राम पियारा, तुर्क कहै रहिमाना। → पद २६७-११, सब० १४१-८, सा० लांबि० (७) २-२, पद ३२६-१; सब० २३-१२।

रहीम—वि० दे० 'रहिमाना'।

रहीमां—सज्ञा पु० [अ० रहीम] ईश्वर, प्रभु। ~दिल मंहि खोजि, दिलै दिलि खोजहु, इहई रहीमां रामा। →सब० २३-१२।

रांचु—क्रि० [स० रजन] रग जा, अनुरक्त हो जा। ~बिरवै बाचु हरि रांचु समझु मन बउरा रे। → सब० १६३-१।

राँड—वि० [सं० रण्डा] विधवा। ~ अरघा दे लै चली सुआसिनि, चौके राँड भई सग साँई।→पद ३१२-६, पद २३८-६।

राइ—सज्ञा पु० [स० राजा] स्वामी, राम, प्रभु। ~कबीर पूछै राँम सो,

सकल भुवनपति राइ। → सा० सापीभू० (५७) १-१, सव० १२-१।

राइ—संज्ञा पु० [स० राजन्] राजा। ~अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ। →सा० पर० (५) २६-२, पद ३२६-८।

राई—सज्ञा स्त्री० [स० राजिका] एक प्रकार की वहुत छोटी सरसो। ~भगति दुवारा साँकरा, राई दसएँ भाइ। → सा० मन० (१३) २६-१।

राई—संज्ञा पु० दे० 'राइ'।

राउर—वि० [हि०] आप, आत्मतत्व। ~राउर की कछु खवरि न जानहु, कैसे क झगरा निवेरहु हो। → कहरा (३) २-५।

राऊ—सज्ञा पु० [स० राजन्] राजा। दे० 'राइ'। ~हालै करै निसाने घाऊ, जूझि परे तँह मनमथ राऊ। →र० ८३-५।

राखताँ—क्रि० [स० रक्षण] रक्षा या रखवाली करते हुए। ~रासि पराई राखताँ, खाया घर का खेत। → सा० चाँण० (१७) १५-१।

राखनहारे—संज्ञा पु० [स० रक्षण> राखन+हारा (प्रत्य०)] रक्षक, रक्षा करने वाला। ~राखनहारे वाहिरा, चिड़ियै खाया खेत। → सा० चिता० (१२) १५-१।

राखनहारौ—सज्ञा पु० [सं० रक्षण+हार] रखवाला, रक्षक। दे० 'राखनहारे'। ~तव काढि खडग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारौ मोहि वताइ। →सव० १५६-६।

राखि—वि० [स० रक्षित से] सुरक्षित। ~काम मिलावै राम कौं, जो कोई जानै राखि। → सा० साग्र सा० (२६) ११-१।

राखि—क्रि० [हि० रखना] निरोध-कर। ~गोरख पवन राखि नहिं जाना, जोग जुक्ति अनुमाना। → पद २८६-४।

राचनै—क्रि० [स० रजन] अनुरक्त होना। ~परनारी कै राचनै, औगुन ह गुन नाँहि। →सा० कामी० (२०) ५-१।

राचिया—क्रि० [स० रजन] अनुरक्त हो गया।~जे हरि चरणाँ राचिया तिनके निकट न जाइ। →सा० कामी० (२०) २-२।

राचे—क्रि० [स० रजन] अनुरक्त हो गए। ~जे राचे वेहद्द सौं, तिन सौं अतर खोलि। →सा० चिता० (१२) ५०-२।

राछ—सज्ञा पु० [स० रक्ष] जुलाहो के करघे का एक औजार, जिसमें ताने का तागा ऊपर-नीचे उठता-गिरता रहता है।~चारि वेद कैंडा कियो, निराकार कियो राछ। → पद २४८-८।

राजठगौरी—सज्ञा स्त्री० [हि० राज+ठगना] मुख्य या प्रधान ठगिनी। राजठगौरी विस्नुहि परी, चौदह भुवन केर चौधरी।→र० ११-३।

राजा—सज्ञा पु० [सं० राजन्] राज-

योगी ।~राजा सँवरै तुरिया चढ़ी, पथी सँवरै नाम लै बढी । →र० ६-४ ।

राजा—संज्ञा पु० [स० राजन्] श्रेष्ठ । ~राजा राम अनहद किंगरी बाजै । →पद २५०-१ ।

राजेसुर—संज्ञा पु० [स० राजेश्वर] सम्राट् ।~रक निवाज करै राजेसुर भूपति करै भिखारी । → सब० २८-२ ।

राजै—क्रि० [स०√रज्] सुखपूर्वक रहता है, सुशोभित होता है । ~बाँधि अकास पतालि पठावै, सेस सरग पर राजै । →सब० २८-६ ।

राता—वि० [सं०√रत] अनुरक्त, लीन । दे० 'रत' । ~पुहुप बास भवरा इक राता, बारह लै उर धरिया । →सब० ११६-५, सा० कामी० (२०) ३-१, सब० १२-५, सब० २५०-६, सा० सग० (२६) ५-२, सा० चिता० (१२) २६-१, सा० निन्द्या० (५४) १-२ ।

राता—वि० [स० रक्त] लाल (रग) । ~जालू कली कनीर की, तन राता मन सेत ।→सा० चित्त क० (४२) १-२, विप्र० (२) २८ ।

राता—क्रि० [स० रत] अनुरक्त हुआ । ~अबहिं न माता सु कबहुँ न माता, कह कबीर रामै रगि राता । →पद ३०६-७ ।

राता—क्रि० [स० रत से] अनुरक्त हो गया । ~अवधू बैतत रावल राता; नाचै बाजन बाजु बराता । →सब० ३६-१ ।

राती—क्रि० [स० रत] अनुरक्त होना । ~पुरता मे राती है गइया, स्वेत सीग है भाई । →पद २०६-६ ।

राती—सज्ञा स्त्री० [स० रात्रि] रात भर । ~राती रूनी विरहिनी, ज्यौं बच्चो को कुज । →सा० विर० (३) १-१ ।

राते—क्रि० [सं० रत] अनुरक्त हुए । ~खसमहि छाँडि विषय रग राते, पाप के बीज बयो । →सब० ६४-५ ।

रानां—सज्ञा पु० [सं० राणा] राजा । ~रानां राव रक कौं व्यापै, करि करि प्रीति सवाई । →पद ३२०-४ ।

रामकहानी—संज्ञा स्त्री० [स०] आत्मा की जीवन-यात्रा । ~समुझि परी नहिं रामकहानी, निरवक दूध कि सरवक पानी । →र० ४५-३ ।

रामरसु—यौ० [स०] परमात्मा के साक्षात्कार का आनन्द, तुरीया-वस्था, उन्मनी अवस्था, सहजा-वस्था ।~रामरसु पीआ रे । →पद २६६-१ ।

रामानंद—सज्ञा पु० [स०] राम नाम मे आनंद लेने वाले, रामानद स्वामी । ~रामानद रामरस माते, कहै कबीर हम कहि कहि थाके । →सब० ३६-४ ।

रामुरा—सज्ञा पु० [हि०] राम जिसके राजा हैं, अर्थात् जीव । ~रामुरा झी झी जंतर बाजै, कर चरन बिहूना नाचै । →पद २७०-१ ।

रारि—सज्ञा पु० [सं० राटि, प्रा० राडि] सघर्ष, झगडा, विवाद ।~ घरहि मे वावू वढलि **रारि**, उठि उठि लागै चपल नारि । → वसंत (४) ७-१, पद २६६-६, पद २३६-६, ज्ञान चौ० (१) ५७ ।

रारी—सज्ञा स्त्री० [सं० राटि] झगडा, युद्ध, सघर्ष । दे० 'रारि' । ~ नही वलिराज से माँडी **रारी**, नहिं हरिना-कुस वधल पछारी । → र० ७५-५ ।

राव—सज्ञा पु० [सं० राजा] राजा । ~ दशरथ कुल अवतरि नही आया, नहिं लका के **राव** सताया । → र० ७५-२, कहरा (३) ६-८ ।

रावल—सज्ञा पु० [सं० राजकुल] राजा, जीव । ~ अवधू वैतत **रावल** माता, नाचै वाजन वाजु वराता । → सव० ३६-१, सव० ६५-३ ।

रास—सज्ञा स्त्री० [सं०] गोपियो की एक क्रीडा जिसमे घेरा वाँधकर कृष्ण के साथ सभी नाचती थी । ~ वहु विधि चित्र वनाय के हरि रच्यौ क्रीडा **रास** ।→हिंडोला (८) २-१ ।

रासि—सज्ञा स्त्री० [स० राशि] समूह, ढेर । ~ अवु कि **रासि** समुद्र की खांई, रवि ससि कोटि तैतिसो भाई । → र० ४१-१, सा० काल० (४६) २६-१ ।

रासि—सज्ञा स्त्री० [स० राशि] अन्न का ढेर । ~ **रासि** पराई राखतां, खाया घर का खेत । → सा० चांण० (१७) १५-१ ।

राह—सज्ञा स्त्री० [फा०] रास्ता, मार्ग । ~ जो तुह ब्राह्मन ब्रह्मनी के जाया, और **राह** ते काहे न आया । → र० ६२-३, पद ३०४-१ ।

राह—संज्ञा पु० [फा०] मार्ग, सम्प्र-दाय । ~ अच्छर पढ़ि गुनि **राह** चलाई, सनक सनदन के मन भाई । →र० ५-४ ।

राही— सज्ञा पु० [फा० राह + ई] यात्री, पथिक, कर्मपंथी । ~ **राही** लै पिपराही वही, करगी आवत काहु न कही । → र० १०-१ ।

राही—सज्ञा स्त्री० [हि० राधिका] राधा । ~ इहि वनि खेलै **राही** रुकमिनि वहि वनि कान्ह अहीरा रे । → पद २५५-१० ।

रिदा—सज्ञा पु० [स० हृदय] हृदय । ~ कदली पुहुप दीप परकास, **रिदा** पकज मैं लिया निवास । → सव० १४०-११ ।

रिदै—सज्ञा पु० [स० हृदय] हृदय । दे० 'रिदा' । ~ परम गुर देखो **रिदै** विचारी । → सव० १७२-१ ।

रिधि—सज्ञा स्त्री० [स० ऋद्धि] समृद्धि । ~ **रिधि** सिधि सगम वहु-तेरा, पार ब्रह्म नहि जाना । → पद २८६-५ ।

रिपु—संज्ञा पु० [स०] शत्रु । ~ **रिपु** कै दल मैं सहजहि रौंदौं अनहद तवल घुराऊ जी । → पद ३०७-७ ।

रिसाइ—क्रि० [स० रोष] रुष्ट होते हैं, खिन्न होते हैं । ~ जो रोऊँ तो

बल घटै, हंसौं तो राम रिसाइ। → सा० विर० (३) २८-१।

रिसाई—क्रि० [हि० रीसना] क्रुद्ध होकर। ~ भीगी पुरिया घर ही छांडी, चला जुलाह रिसाई। →पद २७१-८।

रिसाल—संज्ञा पु० [सं० रसाल] आम। ~ निगम रिसाल चारि फल लागे, तामे तीन समाई। → सव० ८८-४।

रिसियाना—क्रि० [हि० रिसि से ना० धा०] क्रुद्ध होना, रुष्ट होना, खीझना। ~ चलत चलत अति चरन पिराना, हारि परे तहाँ अति रिसियाना। → र० १६-१।

रीझि करि—क्रि० [स० रजन] प्रसन्न होकर। ~ सतगुर हम सू रीझि करि, कहा एक परसग। → सा० गुरु० (१) ३३-१।

रीता—वि० [स० रिक्त], खाली। ~दुहुँ चूका रीता पडै, ताको वार न पार। →सा० उपदे० (३४) ६-२, पद २६३-६।

रुकमिनि—सज्ञा स्त्री० [स० रुक्मिणी] रुक्मिणी, श्रीकृष्ण की पत्नी। ~ इहि वनि खेलै राही रुकमिनि वहि वनि कान्ह अहीरा रे। →पद २५५-१०।

रुत—सज्ञा स्त्री० [स० ऋतु] ऋतु। ~फूल जु फूले रुत वसत, जामै मोहि रहे सव जीव जत। →सव० १८२-३।

रुधिर—सज्ञा पु० [स० रक्त] खून, रक्त। ~जस मास पसु की तस मासु नर की, रुधिर रुधिर एक सारा जो। →सव० ११५-१, पद २६६-४, सव० ५५-३।

रुधिर—सज्ञा पु० [स०] स्त्री का रज। ~नादे विंदु रुधिर के संगे, घटही मे घट सपचै। → सव० १६६-३, र० ४०-२।

रुसवा—वि० [सं० रुष्ट] नाराज, क्रुद्ध। ~ आपु आपु चेतै नही, कहौं तौ रुसवा होय। →र० ८४-१०।

रूँड—सज्ञा पु० [स० रुण्ड] धड, स्कंध। ~जानै वूझै कछु नही, यो ही अंधा रूँड। →मा० क० वि० क० (१८) ५-२।

रूँधै—क्रि० [स० रुद्ध] घेरती है, त्रस्त करती है। ~तीनि वार रूँधै इक दिन मैं, कवहुँक खता खवाई। → पद ३२०-२।

रूँधै—क्रि० [सं० रुद्ध] अवरुद्ध करना, वद करना। ~काल कठ तै गहेगा, रूँधै दसो दुवार। →सा० सुमि० (२) २६-२।

रूख—सज्ञा पु० [सं० रुक्ष] वृक्ष, पेड़। ~एरंड रूख करै मलयागिरि, चहुँ दिस फूटै वासा। →सव २८-५, सा० माया (१६) १५-२।

रूखा—वि० [सं० रुक्ष] रूखा, विना घी चुपडे। ~पानी मैं घी नीकसै, तौ रूखा खाइ न कोइ। →सा० मन० (१३) २६-२।

रूखड़ा—सज्ञा पु० [सं० रुक्ष + डा (प्रत्य०)] वृक्ष। दे० 'रूख'। ~

जानै हरिअर रूखड़ा, उस पानी का नेह । →सा० निगु० (५५) १-१ ।

रूठि—वि० [स० रुष्ट] रुष्ट, विमुख । ~और हमारे वसि पडे, गया कबीरा रूठि । →सा० माया० (१६) २६-२ ।

रूठड़ा—वि० [स० रुष्ट] रुष्ट, विरक्त । ~तन खीना मन उनमना, जग रूठड़ा फिरंत । →सा० साध सा० (२६) ३-२ ।

रूनी—क्रि० [स० रुदन] रोती रही । ~राती रूनी विरहिनी, ज्यौं बच्चो को कुज ।→सा० विर०(३) १-१ ।

रूप—सज्ञा पु० [सं०] साकार (ब्रह्म) । ~रूप अरूप जाय नहिं बोली, हलुका गरुआ जाय न तोली । → र० ७७-३ ।

रूम—संज्ञा पु० [फा०] टर्की का एक नगर । ~चारि दिग महि मड रचो है, रूम साम विच डिल्ली । →सव० ६४-१५ ।

रूष—सज्ञा पु० [स० रुक्ष] दे० 'रूख' ।

रेख—सज्ञा स्त्री० [स० रेखा] चिह्न । ~बिछुरे तत फिरि सहजि समाना रेख रही नहिं आसा । →सव० ६१-४ ।

रेख—सज्ञा स्त्री० [स० रेखा] भेद, अतर । ~तन मन सौंपा पीव कौं, (तव) अतर रही न रेख । →सा० सूरा० (४५) ३७-२ ।

रेष—सज्ञा स्त्री० [सं० रेखा] रेखा । ~जब थै इनमन उनमन जांनां, तव रूप न रेष तहां ले वांनां । → पद २१२-४ ।

रैंना—सज्ञा स्त्री० दे० 'रैंनि' ।

रैंनि—सज्ञा स्त्री० [सं० रजनि] रात, रात्रि । ~दिवस न भूख रैंनि नहिं निद्रा, घर अगना न सुहाइ । → सव० २२-६, कहरा (३) १०-५, सा० काल० (४६) २८-२, र० ३६-२, सा० सूरा० (४५) २६-१, सा० मधि० (३१) ४-१, सा० साध सा० (२६) ४-२, सा० चिता० (१२) २२-१, सा० विर० (३) ४-१, र० १६-६, सा० विर० (३) ४४-१ ।

रैंनां—सज्ञा स्त्री० [स० रेणु] धूलि । ~अष्ट कुली परवत जाके पग की रैंनां, सातौ सायर अजन नैंना ।→ पद २८३-३ ।

रोपिया—क्रि० [स० रोपण] रोप दिया । ~ग्यान गाड लै रोपिया, त्रिगुन लियो है हाथ । →चांचर (५) १-१८ ।

रोजा—सज्ञा पु० [फा०] व्रत, उपवास, महीने भर का उपवास, जो मुसलमानो द्वारा रमजान के महीने मे किया जाता है । ~ जिन दुनिया मे रची मसीद, झूठा रोजा झूठी ईद । →सव० ४०-४, पद २२६-५, पद २१०-६, पद ३२६-३, र० ४६-८ ।

रोझ—सज्ञा स्त्री० [दे०] नील गाय । ~हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ । → सा० भ्र० वि० (२३) ४-१, वसत (४) १२-७ ।

लछनि—संज्ञा पु० [सं० लक्षण] लक्षण, तौर-तरीका। ~सहज **लछनि** ले तजो उपाधि, आसन दिढ मुद्रा पुनि साधि। →सब० ५४-७।

लछि—संज्ञा स्त्री० [सं० लक्ष्मी] धन। ~**लछि** बिनु सुख दरिद विनु दुख है, नीद बिना सुख सोवै। →पद २०४-३।

लट—संज्ञा स्त्री० [सं० लट्वा] बालो का गुच्छा, केशपाश। ~**लट** छूटी खेलैं बिकराल, अनत कला नटवर गोपाल। →सब० १२८-१२।

लटापटि—क्रि० [दे०] मिलकर। ~रही **लटापटि** जुटि जेहि माही, होहि अटल ते कतहू न जाही। →ज्ञान-चौं० (१) २६।

लदाऊ—संज्ञा पु० [दे०] लादने वाले। ~और सकल ए भार **लदाऊ**, महिषी सुत कै गोती। →सब० ८६-४।

लपटाई—क्रि० [हि० लिपटाना] लिपटे हुए हैं। ~वे भूले षट दरसन भाई, पाषड भेष रहा **लपटाई**। → र० ३०-१।

लपसी—संज्ञा स्त्री० [सं० लप्सिका] हलुवे के ढग की गीली गाढी वस्तु (व्यजन)। ~**लपसी** लौंग गनै एक सारा, परिहरि खाँड मुख फाँकै छारा। →र० ७१-६, सब० ८०-४।

लबराई—भाव० [सं० लपन + आई (प्रत्य०)] झूठापन। ~छाँडहु पति छाँडहु **लबराई**, मन अभिमान छूटि तब जाई। →र० ६०-१।

लबरी—वि० [सं० लपन] झूठ, मिथ्या। ~धर्म कथा जो कहतै रहई, **लबरी** नित उठि प्रातै कहई। →र० ६१-१, २।

लबार—वि० [सं० लपन] झूठा, मिथ्या-वादी, प्रपची। ~अब तोर होय नरक महँ बासा, निसु दिन बसेउ **लबार** क पासा। →र० ४४-३।

लयऊ—वि० [सं० लय] लय होनेवाला; नाशवान्। ~कहहिं कवीर पुकारि के, ई **लयऊ** व्योहार। →र० २-१३।

लरतु—क्रि० [हि०] लडता है। ~ऐसो हरि सो जगत **लरतु** है, पाडुर कतहूँ गरुड धरतु है। →सब० ६२-१।

लरिका—संज्ञा पु० [हि० लडका] लडका। ~माया जोरि जोरि करै इकठी, हम खैहैं **लरिका** व्योसाई। →सब० १२०-३।

लरिके—क्रि० [हि० लडना] लडकर के। ~पाँचउ **लरिके** पटकि कै, रहै राँम लौ लाइ। →सा० गु०सि०हे० (४३) ४-२।

ललनी—संज्ञा स्त्री० [सं० नलिनी] बाँस की नली। ~ज्यो **ललनी** सुअटा गह्यो मन बउरा रे माया यहु व्योहार। →सब० १८३-८, सब० ५-६।

ललनी—संज्ञा स्त्री० [सं० नलिनी] नलिनी। ~कहे कबीर नर आपु बधायो ज्यो **ललनी** भ्रमि सूवा। → सब० १७८-१०।

लवनि—संज्ञा पु० [सं० लवण] नमक। ~कोई एक मेलै **लवनि**, अमी रसा-इंन हंत। →सा० बिचा० (३३) ७-२।

लवा—सज्ञा पु० [स० अलावुक] लौकी का तुम्वा । ~लवा नालि तति एक सँमि करि, जंत्र एक भल साजा । → सव० १७२-३ ।

लसकरु—संज्ञा पु० [फा० लश्कर] भीड, सेना । ~गगन मडल महि लसकरु करै, सो सुरतानु छत्र सिरि धरै । →पद ३४६-८ ।

लहंग—वि० [हि०] लहराता हुआ । ~ असमान म्यानै लहग दरिया गुसल करद वूद । →सव० १८१-७ ।

लहरइं—सज्ञा स्त्री० [स० लहरी] विष के प्रभाव का झोका । ~तन मन डस्यौ भुजग भांमिनी लहरइं वार न पारा । →पद २२३-५ ।

लहरि—सज्ञा स्त्री० [स० लहरी] ज्ञान की तरंग या लहर । ~वूडा था पै ऊवरा, गुरु की लहरि चमकि । → सा० गुरु० (१) २५-१, पद ३०५-१८ ।

लहा—क्रि० [सं०√लभ्] प्राप्त किया, पाया । ~ निस वासुरि सुखनिधि लहा, (जव) अतरि प्रगटा आप । →सा० पर० (५) ३०-२ ।

लहिऐ—क्रि० [हि० लहना से] प्राप्त कीजिए । ~अँधियारे दीपक चहिऐ, तव वस्तु अगोचर लहिऐ । →पद ३३६-५ ।

लहुरिया—वि० [सं० लघु] छोटी । ~ राम वडे मैं तनक लहुरिया । →पद ३३६-२ ।

लहै—क्रि० [सं० √लभ्] प्राप्त करता है । ~ लाधा है कछु लाधा है, ताकि पारिष को न लहै । →पद २८०-१ ।

लांबि—भाव० [स० लम्ब+ई (प्रत्य०)] लम्बाई, प्रभु जीव से साधारणत. इतना दूर रहता है कि मन को उसकी गहराई की थाह नही मिलती । → सा० लांवि० (७) ।

लाइ—क्रि० [हि०] लगाओ । ~इहि विधि रांम सू लौ लाइ । →सव० ४५-१, सा० भ्र०वि० (२३) ११-२ ।

लाइ—क्रि० [हि० 'लगाना' से] लगाकर । ~जग हटबारा स्वाद ठग; माया वेसां लाइ । →सा० माया० (१६) १-१ ।

लाइ—संज्ञा स्त्री० [स० अलात] आग, अग्नि । ~कवीर चित्त चमंकिया; चहूँ दिस लागी लाइ । →सा० सुमि० (२) ३२-१, सा० भ्र०वि० (२३) ६-२, सा० पर० (५) ३१-२ ।

लाइया—क्रि० [हि० लगाना] लगा दिया । ~अहेडी दौ लाइया, मिरग पुकारे रोइ । →सा० ग्या० वि० (४) ८-१ ।

लाइलै—क्रि० [हि०] लीन कर दे ।~ ऐसै मन लाइलै राम रसना । → सव० ५६-१ ।

लाई—क्रि० [हि० लगाना] लगाना (ध्यानादि) । ~मन थिर वैसि विचारिया, रामहि लौ लाई । → सव० १-५ ।

लाई—क्रि० [हि०] उत्पन्न की गई ।~ कै सो जांनै जिनि यहु लाई,कैं जिनि चोट सहारी । →सव० १६४-४ ।

लाई—क्रि० [हि० लगाना] लगाई। ~जाके लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ। →सा० ग्या० वि० (४) ३-२।

लाख—सज्ञा स्त्री० [स० लाक्षा] लाह ~कवीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरै लाल।→सा० चिता० (१२) १६-१।

लाग—क्रि० [हि० लगना] लग कर, आसक्त होकर। ~कोइ साधू जन ऊवरै, सव जग मूवा लाग। →सा० कामी० (२०) १५-२।

लागल—क्रि० [हि० लगना] लग गई। ~जव दस मास मता के गर्भे, वहुरि के लागल माया। →पद ३१६-४।

लागि—क्रि० [सं० लग्न] लगकर, आसक्त होने से। ~माया की झलि जग जरै, कनक कामिनी लागि।→ सा० माया० (१६) ३२-१।

लागी—सज्ञा स्त्री० [हि० लगना] लगन, प्रेम। ~मोहि तोहि लागी कैसे छूटै। →पद २४०-१।

लाजसी—क्रि० [स० लज्जा] लज्जित होगा। ~तव कुल किसका लाजसी जव ले धरहि मसानि। →सा० चिता० (१२) ४६-२।

लाडू—सज्ञा पु० [हि० लड्डू] लड्डू। ~लाडू लावन लापसी पूजा चढै अपार। →पद २११-७।

लात—सज्ञा स्त्री० [दे०] १. पैर, पाँव, पद। २. पैर से किया हुआ आघात या प्रहार। ~माटी मलनि कुँभार की, घनी सहै सिरि लात। →सा० चिता० (१२) २६-१।

लातौं छड़ी—[मुहा०] ठुकरा दी गई, लात मार कर दूर कर दी गई। ~ विलसी अरु लातौं छड़ी सुमरि सुमरि जगदीस। →सा० माया० (१६) १०-२।

लादि—सज्ञा स्त्री० [हि० लाद] वोझा। ~कहै कवीर यहु जनम वादि, सहजि समानौ रही लादि। → पद २३६-८।

लाधा—क्रि० [सं० लव्ध] प्राप्त किया। ~लाधा है कछु लाधा है, ताकी पारिष को न लहै।→पद २८०-१।

लापसी—सज्ञा स्त्री० [स० लप्सिरा] लप्सी। दे० 'लपसी'।~लाडू लावन लापसी पूजा चढै अपार। →पद २११-७।

लावरि—वि० [स० लपन] झूठ, मिथ्या। लावरि विहने लावरि संझा, इक लावरि वस हिरदया मझा। →र० ६१-२।

लार—क्रि० वि० [राज० लैर] साथ-साथ, पीछे।~सो प्राणी काहे चलै, झूठे जग की लार। →सा० साँच० (२२) १६-२, सा० जी० मृ० (४१) ३-२, सव० ५१-३।

लार—सज्ञा स्त्री० [स० लाला] परम्परा, लीक। ~पष ले वूडी पिरथवी, झूठी कुल की लार। →सा० भेप० (२४) २१-१।

लारै—क्रि० वि० दे० 'लार'।

लालै—सज्ञा स्त्री० [सं० लालसा] लालसा या तृष्णा मे। ~ कवीर माया पापिनी, लालै लाया लोग। →सा० माया० (१६) ३-१।

लावन—सञ्ज्ञा पु० [सं० लावण्य] शृंगार। ~कंद्रप कोटि जाके लावन करैं, घट घट भीतरि मनसा हरैं। →सव० १२८-१७।

लावन—वि० [सं० लावण्य] लावण्य, नमकीन। ~लाडू लावन लापसी पूजा चढ़ै अपार। →पद २११-७।

लावैं—क्रि० [हि० लाना] ले आता है। ~सोई हित वधु मोहि मन भावै, जात कुमारग मारग लावैं। →र० ६६-१।

लावौं—क्रि० [हि० लगाना] लगाऊँ। ~तनु महिं खोजौं चोट न पावौं, ओषद मूर कहाँ घसि लावौं। → पद २६२-३।

लाहनि—सञ्ज्ञा पु० [दे०] लाहन, वह पदार्थ जिससे खमीर उठाकर मदिरा बनाई जाती है। ~काया कलाली लाहनि मेलेउँ गुरु का सबद गुड कीन्हा। →पद ३४४-३।

लाहा—सञ्ज्ञा पु० [स० लाभ] लाभ, फायदा। ~छाड़ि कपूर गाठि विख बाधा, मूल हुवा नहिं लाहा। → सव० १०४-७, सव० ४१-६, पद २०२-२।

लाहु—सञ्ज्ञा पु० दे० 'लाहा'।

लिखल—वि० [स० √ लिख्] लिखा हुआ, लेखा। ~करमक लिखल मिटै धौं कैसे, जो जुग कोटि सिराई। →सव० ४-२।

लखेन—संज्ञा पु० [सं० लेखेन] लेख के अनुसार। ~जलही माहैं जलि मुई, पूरब जनम लिखेन। →सा० मा० (१६) २२-२।

लिपैं—क्रि० [स० लिप्त] लिप्त होना, लगना। ~सोह हसा ताकी जाप, ताहि न लिपैं पुन्नि अरु पाप। → सव० ४३-१४।

लिपैं—क्रि० [स० √ लिप] व्याप्त होना। ~ सोह हसा ताको जाप, ताहि न लिपैं पुन्य न पाप। → सव० १४०-१६।

लिव—सञ्ज्ञा पु० [सं० लौ] ध्यान। ~इह जिउ राम नाम लिव लागै।→सव० ४३-१,सव० ५३-८, पद २५०-२।

लिव लीना—वि० [हि० लवलीन] प्रेम-पूर्ण ध्यान। ~उदै अस्त की मति बुधि नासी तउ सदा सहजि लिव लीना। →सव० १५३-८।

लिहाला—वि० [दे०] डाला हुआ, पडा हुआ। ~लोह लिहाला अगनि मैं, जरि वरि कोइला होइ। →सा० कामी० (२०) १६-२।

लीना—वि० [स० लीन] व्याप्त।~रवि के उदै तार भी छीना, चर वीहर दोनो महँ लीना।→र० २६-५।

लीपि—क्रि० [स० √ लिप् या लेपन] लीपकर, पोतकर। ~दुलहिन लीपि चौक बठारे, निरभय पद परगाता। →सव० ३६-४।

लीर—सञ्ज्ञा स्त्री० [दे०] चिथडा। ~लीर लीर लोई भई, तऊ न छाड़ै रग। →सा० सग० (२६) ३-२।

लीला—सञ्ज्ञा स्त्री० [सं०] विश्व मे परम-तत्त्व की अभिव्यक्ति। ~कहे

कबीर गुंनी अरु पडित, मिलि लीला जस गावे। →सब० ११४-८।

लुंचित—सज्ञा पु० [सं० लुञ्चन से] केशो को नोचने वाले श्रावक, जैन साधु। ~लुचित मुडित मोनि जटाधर अंति तऊ मरनां। →पद १४२-८, पद ३३७-४।

लुका—क्रि० [स० √लुक्] छिप गया। ~भील लुका बन वीझ मैं, ससा सर मारै। →सब० ५१-६।

लुकाई—क्रि० [स० √ लुक् = लोप] छिप जाता है। ~तासे सेषहु जाइ लुकाई, काहू कै परतीति न आई। →र० १३-२।

लुकाय—क्रि० [सं० √ लुक्] छिपकर। ~ ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाय। →सा० जर० (८) ३-१।

लुचरी—सज्ञा स्त्री० [स० रुचि] पूडी। ~ लुचरी लपसी आप सँघारै, द्वारै ठाढा राम पुकारै। →सब० ६०-४।

लुनत—क्रि० [सं० लवन] काटते हुए। ~विष की क्यारी वोइ करि, लुनत कहा पछिताइ। →सा० मन० (१३) ५-२।

लुनता—क्रि० [स० लवन] काटना। ~अनवोवै लुनता नही, वोवै लुनता होइ। →सा० उपदे० (३४) २-२।

लुबधिया—क्रि० [स० लुब्ध] लुब्ध हो गया। ~मन भँवरा तहँ लुबधिया जानंगा जन कोइ। →सा० पर० (५) ७-२।

लुभुकी लुभुकि—यौ० [दे०] लपककर। ~लुभुकी लुभुकि चरै अभिअंतर खात करेजा काढ़ी। →पद ३१३-४।

लूँचि लूँचि—क्रि० [स० लुञ्चन] नोच नोच कर। ~केस लूँचि लूँचि मुए बरतिया, इनमैं किनहुँ न पाई। → पद २६०-६।

लूनें—वि० [सं०√लुञ्] कटा हुआ। ~ सूखे सरवरि पालि वधावै लूनें खेति हठि बारि करै। →पद २३३-५।

लेख—संज्ञा पु० [स०] वह जो लिखा हुआ हो। ~मन का चेता तव भया, कछू पूरवला लेख। →सा० पर० (५) १०-२।

लेख—संज्ञा पु० [सं०] वह जो देखा जा सके, प्रत्यक्ष, साकार। ~लेख समाना अलेख मैं, यौं आपा माँहै आप। →सा० पर० (५) २३-२।

लेखनि—सज्ञा स्त्री० [स० लेखनी] लेखनी, कलम। ~ लेखनि करौ करक की, लिखि लिखि राम पठाउँ। →सा० बिर० (३) १२-२।

लेखा—सज्ञा पु० [स० लेख] हिसाव-किताव, आय-व्यय का विवरण। ~देवै पैसा व्याज कौ, लेखा करता जाइ। → सा० चाँण० (१७) ७-२ सा० साँच० (२२) २-१।

लेखा—सज्ञा पु० [स०] गणना। ~ उहै जु खेलै सब घट माही, दूसर के लेखा कछु नाही। →र० ६८-४।

लेखा—क्रि० [हि०] हिसाव किताब करना। ~ऐसा एक अचभौ देखा, जवुक करै केहरि सौ लेखा। → पद ३४७-४।

लेज—संज्ञा स्त्री० [स० रज्जु] रस्सी। ~सुरति ढीकुली लेज लौ, मन नित ढोलनहार। →सा० लै० (१०) २-१।

लेपन—क्रि० [सं०] लगाना। ~का जटा भसम लेपन किए कहा गुफा मे वास। →पद ३१७-५।

लेर—सज्ञा पु० [दे०] वछडा, वच्चा। ~सुरही तिन चरि अमृत सरवै, लेर भवगहि पाई।→पद २६८-५।

लेस—वि० [स० लेश] रच, थोडा, अल्प, लेशमात्र। ~उपजै खपै जोनि फिरि आवै, सुख का लेस सपने नहि पावै। →र० ८४-३, पद ३४५-१२।

लेसी—क्रि० [हि० लेना] ले सकता है। ~सीस उतारै हाथि सौं, (तव) लेसी हरि का नाम। →सा० सूरा० (४५) २४-२।

लै—क्रि० [सं० लय] लय, लीन होना। →सा० लै० (१०)।

लैलाइ—क्रि० [स० लय+हि० लीन] लौ लगाकर, ध्यान लगाकर। ~ऐसा ग्यान विचारि लै, लैलाइ, लै ध्याना। →सव० ५२-१।

लैलीन—वि० [स० लय+हि० लीन] तल्लीन, लौलीन। ~लैलीन भये जे उतरे पार। →पद ३३२-२।

लोइ—सज्ञा पु० [स० लोक] लोग, जन, मनुष्य। ~तेरा सगी कोइ नही, सव स्वारथ वँधी लोइ। → सा० चिता० (१२) ५५-१, सा० माया० (१६) २४-१, सा० अवि० (५६) २-३।

लोइन—संज्ञा पु० [स० लोचन] नेत्र, आँख। दे० 'लोचन'। ~जो लोइन लोही चुवै, तौ जाँनौ हेत हियाँहि। →सा० विर० (३) २६-२।

लोई—समू० [स० लोक] लोग। दे० 'लोइ'। ~माया मोह वँधे सव लोई, अलपै लाभ मूल गो खोई। →र० ८४-२, र० ३६-१, सव० ३८-५; सव० १४४-१।

लोई—सज्ञा स्त्री० [स० लोमीय] एक प्रकार का कम्वल। ~लीर लीर लोई भई, तऊ न छाडै रग।→सा० सग० (२६) ३-२।

लोकदे—सज्ञा स्त्री० [दे०] वधू के साथ जाने वाली स्त्रियाँ। ~वन के रोझ धरि दाइज दीन्हो, गोह लोकदे जाई →सव० १५५-७।

लोक—सज्ञा पु०[स०] लोग। दे० 'लोइ' और 'लोई'। ~खोजहि ब्रह्मा विस्नु सिव सक्ती, अमित लोक खोजहि वहु भक्ती। खोजहि गन गधर्व मुनि देवा, अमित लोक खोजहि वहु भेवा। →र० २५-३, ४।

लोका—सज्ञा पु० [स० लोक] लोग। दे० 'लोक'। ~ लोका जानि न भूलहु भाई। →पद २८१-१।

लोकाचारु—यौ० [स० लोक+आचार] लोक व्यवहार, वाह्याचार। ~परिहरु लोभ अरु लोकाचारु, परिहरु काम, क्रोध, हंकारु। →सव० १०१-४।

लोचन—संज्ञा पु० [सं०] नेत्र। ~लोचन अछत सवै अँधियारा, विन लोचन जग सूझै। →पद ३०५-६।

लोचैं—क्रि० [हि० ललचना] तरसते हैं, चाहते हैं। ~या देही को लोचैं देवा, सो देही करि हरि की सेवा। →पद २०२-४।

लोढ़त—क्रि० [हि० लोढना] काटना। चुनना, तोडना। ~विष की कियारी वोयहु विरहुली, लोढ़त का पछिताहु विरहुली।→विरहुली (७) ११।

लोन—संज्ञा पु० [सं० लवण] नमक। ~ह्वैसी आटा लोन ज्यों, सोना सवा सरीर।→सा० चिता० (१२) ४८-२।

लोय—सज्ञा पु० [सं० लोक] लोग, जन। दे० 'लोक' या 'लोका'। ~ अमृत वस्तु जानै नही, मगन भये सव लोय। →र० १०-७।

लोरैं—क्रि० [स० लोल] लपकते हैं, उत्सुक होते हैं।~नैन हमारे वावरे, छिन-छिन लोरैं तुज्झ। →सा० विर० (३) ४२-१।

लोरैं—क्रि० [स० लोल] चुनना, तोडना। ~सो फूल लोरैं सत जना विरहुली, वंदि के राउर जाँहि विरहुली। →विरहुली (७) ८।

लोह—सज्ञा पु० [स० लौह] लोहा। ~वाँधे देव तेतीस करारी, सुमिरत वंदि लोह गै तोरी। →र० ६-३।

लोहि—सज्ञा पु० [स० लौह] लोहे को। ~सतगुर साँचा सूरिवाँ, तातै लोहि लुहार।→सा० गुरु० (१) २८-१।

लोहीं—वि० [स० लोहित] रक्त दे० 'लोहू'।~जो लोइन लोहीं चुवै, तौ जाँनौ हेत हियाँहि। → सा० विर० (३) २६-२।

लोहू—सज्ञा पु० [स० लोहित] रक्त, खून। ~लोहू सीचूं तेल ज्यौं, कव मुख देखौ पीव। → सा० विर० (३) २३-२, र० २-८।

लौंग—सज्ञा स्त्री० [सं० लवङ्ग] लौंग। ~लपसी लौंग गनै एक सारा, परिहरि खाँड मुख फांकै छारा। → र० ७१-६।

लौंगहि—सज्ञा पु० [स० लवग] लौंग मे। ~यातै लौंगहि फर नहि लागै, चदन फूल न फूलै।→सव० २८-३।

लौंन—संज्ञा पु० [स० लवण] नमक। ~कवीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लौंन।→सा० गुरु० (१), १४-१, मा० पर० (५) १६-२, सा० साँच० (२२) १२-१।

लौंलीन—यौ० [हि०] ज्योति मे लीन (होकर), प्रभु मे लीन (होकर)। ~पद गावैं लौंलीन ह्वै, कटी न ससै पास। →सा० वेसा० (३५) १६-१।

लौ—सज्ञा स्त्री० [सं०] प्रेमपूर्ण ध्यान; निवात, निष्कम्प, दीपशिखा की भाँति सत्यनाम मे चित्तवृत्ति का लगा रहना। ~ रामनाम लौ लाय सो लीन्हा,भृंगी कीट समुझि मन दीन्हा। →र० २०-३, सा० भ्र०वि०(२३) ११-२, सव० १-५।

लौ—सज्ञा स्त्री० [दे०] प्रेम की लगन, चित्तवृत्ति का लीन होना। ~रैनि दिवस की गमि नही, तहाँ कवीर

रहा लौ लाइ ।→सा० लै० (१०) १-२ ।

लौ—संज्ञा स्त्री० [स०] आशा, कामना, ध्यान । ~पुत्र कलत्र रहैं लौ लाए, जम्बुक नित्य रहै मुँह बाए । →र० ७८-४, सब० २४-१ ।

लौकै—क्रि० [स० अवलोकन] दिखाई पड़ता है । ~लौकै रतन अवेध अमोलिक, नहि गाहक नहि साँई । →पद २६५-२ ।

लौलीन—वि० [स०] अनुरक्त, ध्यान-मग्न । ~छाड्यौ गेह नेह लगि तुमसे, भई चरन लौलीन । →सब० २२-४ ।

व

वक्ता—सज्ञा पु० [स०] बोलने वाला, उपदेशक ।~तन मन भजि रहु मोरे भक्ता, सत्त कवीर सत्त है वक्ता । →र० १४-६ ।

वर्मन—सज्ञा पु० [स० वर्मन्] वर्मा, क्षत्रिय । ~सर्मन वर्मन देव औ दासा, रज सत तमगुन धरति अकासा । →र० २७-७ ।

वसुधा—सज्ञा स्त्री० [स०] पृथ्वी ।~ वसुधा व्योम विरकत रहै, विना ठौर विस्वास । →सा० मधि० (३१) ३-२ ।

वाका—सर्व० [हि० उसका] उसका । दे० 'वाको' । ~मध्य कि डार चारि फल लागा, साखा पत्र गिनै को वाका । →पद २८६-३ ।

वाको—सर्व० [हि० वह] उसका । ~ऐसो वाको मासु रे भाई, पल-पल मासु विकाई । →पद ३५८-४ ।

वाचा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वाणी से, वाणी द्वारा ।~मनसा वाचा कर्मना, कवीर सुमिरन सार । सा० सुमि० (२) ४-२ ।

वार—सज्ञा पु० [सं० पार] किनारा । ~अबरो आगम करै विचारा, ते नहि सूझै वार न पारा । →र० २२-६ ।

वारि—सज्ञा पु० [स० द्वारि] द्वार पर, दरवाजे पर । ~वारि जु बाँधा प्रेम कै, डारि रहा सिरि खेह । → सा० रस० (६) ५-२ ।

वारी—क्रि० [हि० वारना] बलिहारी जाना । ~वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तू । →सा० सुमि० (२) ६-२ ।

वाहन—सज्ञा पु० [सं०] सवारी । ~है गै वाहन सघन घन, छत्र धुजा फहराइ । →सा० साधुम० (३०) ४-१ ।

विकट—वि० [सं०] तीक्ष्ण । ~कहै कबीर यहु बास विकट अति ग्यान गुरू लै बाका । →पद ३४४-८ ।

विकट—वि० [सं०] दुर्गम, दुस्तर । ~लबा मारग दूरि घर, विकट पथ बहु मार । →सा० सुमि० (२) २७-१ ।

विचच्छन—वि० [स० विचक्षण] बारीकी छाँटने वाला । ~ग्यानी

चतुर विचच्छन लोई, एक सयान सयान न होई। →र० ३६-१।

विचार—संज्ञा पु० [स०] भेद, अंतर। ~राम राम सब कोइ कहै, कहिबे बहुत विचार। → सा० विचा० (३३) १-१।

विचारा—क्रि० [स० विचार] विचार कर के। ~तब हरि हरि के जन हते, कहै कबीर विचारा। →सा० पर० (५) २७-२।

वित—सज्ञा पु० [स० वित्त] सम्पत्ति। ~सहजै-सहजै सब गए, सुत वित कामिनि काम। →सा० सह० (२१) ३-१।

विधाता—सज्ञा पु० [स०] भगवान्, ईश्वर। ~चलि कबीर तेहि देस कौं, जहँ बैद विधाता होइ। →सा० सजी० (४७) १-२।

विधिना—सज्ञा पु० [स० विधि + ना (प्रत्य०)] ब्रह्मा। ~विधिना सभै कीन्ह एक ठाँऊँ, जतन अनेक के बने बनाऊँ। →र० २६-२।

विधौंसण—सज्ञा पु० [स० विध्वस] विध्वस, निवारण। →सा० भ्र०वि० (२३)।

विनंठा—क्रि० [स० विनष्ट] नष्ट हो गया। ~पासि विनंठा कप्पडा, क्या करै विचारी चोल। →सा० गुरु० (१) २४-२।

विभूति—संज्ञा स्त्री० [स०] भस्म, राख, खाक। ~जोगी था सो रमि गया, आसनि रही विभूति। →सा० गया० वि० (४) ४-२, र० ५२-१, सव० ३३-७, सा० जी० मृ० (४१) ७-२, सा० मन० (१३) ३-१।

विमन—वि० [स० वि + मन] दुखी। ~हार हिरांनी जन विमन कीन्ह, मेरो आहि परोसिनि हार लीन्ह। → पद २३४-७।

विमलख—सज्ञा पु० [स० विमलाक्ष] नेत्रो को निर्मल करने वाला, अजन। ~विमलख करै नैन नहि सूझा, भया अयान तब कछुवौ न बूझा। →र० ६३-४।

विलगा—क्रि० [दे०]। मिलकर, लगकर, विलीन हो गया। ~लौंन विलगा पानियाँ, पानी लौंन विलग। →सा० पर० (५) १६-२।

विलबिया—क्रि० [स० विलम्ब से] स्थित हो गया। ~कबीर तहाँ विलबिया, जहाँ छाँह नहि घम। → सा० मधि० (३१) ४-२।

विलबी—क्रि० [सं० विलम्बन] रमी हुयी है। ~ विषै विलबी आतमाँ, ताका मजकण खाया सोधि। → सा० कामी० (२०) २०-१।

विलबे—क्रि० [सं० वि + लम्बन] लिपटता है। ~सीतलता कै कारनै, नाग विलबे आइ। →सा० निगु० (५५) ८-१।

विलग—क्रि० [स०] विशेष रूप से लग गया अर्थात् भली प्रकार लग गया। ~मन लागा उनमन्न सो, उनमन मनहि विलग। →सा० पर० (५) १६-१, २।

विलोवनां—सज्ञा पु० [स० विलोडना] वह पदार्थ जिसे मथा जाता है। ~हरि का विलोवनां विलोइ मेरी माई। →पद ३३०-१।

विवरजित—वि० [स० विवर्जित] रहित, मुक्त । ~काम क्रोध लोभ मोह विवरजित, हरि पद चीन्हे सोई।→सव० १४६-२, ३, सव० १६६-८।

विवेकी—वि० [सं० विवेकिन्] ज्ञानी।~माया मोह कठिन है फदा, होय विवेकी सो जन वंदा।→र० ७६-२।

विशेखा—सज्ञा स्त्री० [स० विशेषता] विशेषता। ~चौंतिस अच्छर का इहै विशेखा, सहसो नाम इहै मँह देखा। →र० २५-१।

विषम—वि० [स०] दूषित । ~मिष्ट सुवास कवीर गहि, विषम गहै नहिं साध।→सा० सार० (३२) ४-२।

विषय—संज्ञा पु० [सं०] १ विस् धातु—विषिनोति (आकृष्ट करना) मन इति विषय'। २. शी धातु = पदार्थ। ~सो तन तुम आपन करि जानी, विषय रूप भूले अग्यानी। →र० ७८-६।

विषहर—वि० [स०] विष का हरण करने वाला। ~विषहर मत्र न मानै, तौ गारुडि काह कराय। →र० २९-८, विरहुली (७) १०।

वीसवै—क्रि० [स० विश्राम] विश्राम करना या पाना। ~पछी छांह न वीसवै, फल लागै ते दूरि। →सा० निगु० (५५) १०-२।

वृषभ—सज्ञा पु० [स०] वैल। ~एक सगुन पट चक्रहि वेधै, विन वृषभ कोल्हू माचा। →सव० १४४-२।

वेदन—सज्ञा पु० [स० वेदना] वेदना, पीडा, व्यथा। ~ना तूँ मिलै न मैं सुखी, ऐसी वेदन मुज्झ। →सा० विर० (३) ४२-२।

वेद मुख—यौ० [स०] श्रेष्ठ मुख। ~सुरभी भच्छन करत वेद मुख, घन वरिसै तन छीजै।→सव० १४४-५।

वैतत—संज्ञा पु० [हिं० वे (वै) = वह, स० = तत्त्व = वैतत्त्व]। ~अवधू वैतत रावल राता, नाचै वाजन वाजु वराता। →सव० ३६-१।

वैश्नौं—सज्ञा पु० [स० वैष्णव] विष्णु का भक्त। ~वैश्नौं की छपरी भली, ना साकत वड गाँउँ। →सा० साधुम० (३०) १-२।

वोढ़ै—क्रि० [प्रा० ओड्ढण] पहनना, धारण करना।~वोढ़ै काला कापडा, नाँव धरावैं सेत। →सा० भ्र०वि० (२३) ७-२।

वोहित—सज्ञा पु० [स० वोहित्य] वडी नाव, जहाज। ~इच्छा करि भौ सागरे, वोहित नाम अधार। →र० २०-६।

व्योम—सज्ञा पु० [सं०] आकाश, अतरिक्ष। ~वसुधा व्योम विरकत रहै, विना ठौर विस्वास। →सा० मधि० (३१) ३-२।

व्योपार—सज्ञा पु० [स० व्यापार] व्यापार। ~साँई मेरा वानियाँ, सहजि करै व्योपार। →सा० सम्र० (३८) ८-१।

व्यौहार—सज्ञा पु० [स०] व्यवहार, सासारिक प्रपच। ~कहहिं कवीर पुकारि के, ई लयऊ **व्यौहार**। → र० २-१३।

श

श्रवण—सज्ञा पु० [स०] कान। ~सिरजे **श्रवण** कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयी। →सा० वेसा० (३५) १-२, सव० १०-४।

श्रवनूं—सज्ञा पु० दे० 'श्रवण'।

श्री वसंत—सज्ञा पु० [स०] परम पद। ~रसना पढि लेहु **श्री वसत**, पुनि जाय परिही जम के फद। →वसत (४) २-१।

ष

षंडे—सज्ञा पु० दे० 'षडै'।

षडै—सज्ञा पु० [स० खड्ग] तलवार। ~अस विनु पाखर गज विनु गुडिया, बिनु **षडै** संग्रामहि जुडिया। → सब० ११६-४, पद ३४१-७, सव० ११८-३।

षये—क्रि० [स० क्षय] नष्ट हो गए। ~ते नर इस ससार मे, उपजि **षये** बेकाम। →सा० सुमि० (२) १७-२।

षाडी—वि० [स० खण्डित] खण्डित, नष्ट। ~सवद अतीत अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णा **षांडी** रे। →सव० ३०-२।

षाग—सज्ञा पु० दे० 'पडै'।

षालसैं—वि० [अ० खालिस] शुद्ध। ~कहै कवीर ते भए **षालसैं**, राम भगति जिनि जांनी। →पद २२०-१०।

षिवैं—क्रि० [सं० क्षय] नष्ट होता है। ~कही कौन **षिवैं** कही कौन गाजैं, कहाँ थैं पांनी निसरैं। →सव० ८१-३।

स

संक—सज्ञा स्त्री० [स० शका] शंका, सदेह, सशय। ~कहै कवीर करम किस लागैं झूठी **संक** उपाई। → सव० ६१-८, सा० कामी० (२०) २६-१, सा० विर्क० (३७) ८-१।

सक्रान्त—सज्ञा स्त्री० [स० सक्रान्ति] सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि मे प्रवेश। ~नित्त अमावस नित **सक्रान्त**, नित नित नवग्रह वैठे पांत। →सव० १६५-४।

सख—सज्ञा पु० [स० शख] शख। ~रैंना दूर विछोहिया, रहु रे **संख** म झूरि। → सा० विर० (३) ४४-१, सव० ३३१-६।

संगति—सज्ञा स्त्री० [स०] तादात्म्य, मिलन। ~हरि **सगति** सीतल भया, मिटी मोह की ताप। →सा० पर० (५) ३०-१।

सगी—संज्ञा पु० [स० संग+हि० ई (प्रत्य०)] १. सग रहने वाला,

साथी। २. मित्र।~तेरा सगी कोइ नही, सब स्वारथ वँधी लोइ। → सा० चिता० (१२) ५५-१।

सघाती—सज्ञा पु० [स० सघ से] साथ जाने वाला। ~आवत सग न जात संघाती, काह भये दल वांधल हाथी। →सव० ६-५।

संघाती—सज्ञा पु० [हि० सगाती] सगी, साथी। ~माई मोर मुअल पिता के सगे, सरा रचि मुअल संघाती गे।→ कहरा (३) ११-५, सव० ७८-७।

सँघारै—क्रि० [स० सहार] खा जाता है। ~लुचरी लपसी आप सँघारै, द्वारै ठाढा राम पुकारै। →सव० ६०-४।

संच—वि० [स० सचित] सचित धन, राशि, ढेर। ~ले चाला घर आपनैं भारी खाया संच। →सा० उपज० (५०) १२-२।

संच—सज्ञा पु० [स० सचय] सुख।~ जो सीता रघुनाथ विवाही, पल एक संच न कीन्हा। →सव० ४-४।

संचते—क्रि० [स० सञ्चय] सग्रह करेते। ~ धन सचते राजा मूए गडिले कचन भारी।→पद २६०-७।

सचते—क्रि० [स० सचय] सचय करते हुए, एकत्र करते हुए। ~सोइ मूवे धन सचते, सो उवरे जे खाइ। → सा० माया० (१६) १२-२।

संचर—सज्ञा पु० [स० सचार] सचार। ~राम सनेही दास विचि, तिना न सचर होइ। →सा० साधसा० (२६) १४-२।

सचारि—क्रि० [स० सचार] संचरित होना या करना। ~पानी केरा पूतरा; राखा पवन संचारि। → सा० विचा० (३३) ४-१।

सची—क्रि० [स० सञ्चय] सम्हाल कर रखा। ~अमर जानि संची यह काया सो मिथ्या काची गगरी। → पद २४६-३।

संचै—क्रि० [स० सचयन] सग्रह करना, एकत्र करना। ~सूरा कहा मरन तैं डरपै, सती न सचै भाडैं। →सव० १३७-४।

सच्यौ—क्रि० [सं० सञ्चयन] संग्रह किया। ~कहै कवीर सुनहु रे संतौ धन संच्यौ कछु सगि न गयौ। → पद २३३-६।

सजम—सज्ञा पु० [सं० सयम] धारणा, ध्यान और समाधि का सम्मिलित रूप। ~वेद कितेव सुम्रिति नहिं संजम, जीव नही परछाई। →सव० ३१-७, सव० १६६-५।

संजम—सज्ञा पु० [स० संयम] सयम, इन्द्रिय-निग्रह।~रिधि सिधि संजम वहुतेरा, पार ब्रह्म नहिं जाना। → पद २८६-५, सव० १४४-६, पद २४५-४।

संजमो—सज्ञा पु० दे० 'सजम'।

सजोइ—क्रि० [स० सज्जा] तैयार करो, भरो। ~तनु करि मटुकी मनहिं विलोइ, ता मटुकी महिं सवद संजोइ। →पद ३३०-३।

सँजोइ—क्रि० [सं० सज्जा] सज्जित करना। ~नवसत साजे कामिनी,

तन मन रही सँजोइ। →सा० भेष० (२४) २३-१।

सँजोयो—क्रि० [सं० सज्जा] बनाया रचा। ~बुद से जिन्ह पिंड सँजोयो अग्निहि कुंड रहाया।→पद ३१९-३।

सँजोवै—क्रि० [स० सचय] सँजोना, सचय करना, इकट्ठा करना। ~ मुरुख मानुस बहुत सँजोवै, अपने मरे अवर लगि रोवै। →र० ५५-६।

संझा—सज्ञा स्त्री० [सं० सध्या] सन्ध्या, रात्रि। ~पच चोर गढ मझा, गढ लूटहिं दिवसउ सझा।→ पद ३३६-३।

सझा—सज्ञा स्त्री० [स० सध्या] सध्या (प्रात, दोपहर, सायं, तीन समय की पूजा)।~संझा तरपन औ षट कर्मा, ई बहु रूप करहिं अस धर्मा। →र० ३५-२।

संडे मरकै—संज्ञा पु० [सं० शड मर्क] शडामर्क, शड और मर्क नामक दो दैत्य। ~संडे मरकै कह्यो जाइ, प्रहलाद बँधायो वेगि धाइ। → सव० १५९-५।

संतति—वि० [स० सतत] निरंतर, लगातार। ~काम क्रोध माया मद मछर, ए सतति मो माही। →सव० ९८-७।

संताप—सज्ञा पु० [स०] कष्ट। ~ कौन पूत को काको बाप, कौन मरै को सहै संताप। →पद ३३५-४, पद २३५-३।

संधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] जोड। ~ ताता लोहा यों मिलै, संधि लखै नहि कोइ। →सा० बीन० (५६) ७-२।

संधि—सज्ञा स्त्री० [स०] अवकाश, दरार, मिलने की जगह।~फूटा नग ज्यो जोडि मन,संधिहि संधि मिलाइ। →सा० सुमि० (२) ३१-२।

सँधि—सज्ञा स्त्री० [स०] रहस्य, मर्म। ~पूरब दिसा हस गति होई, है समीप सँधि बूझै कोई। →र० ५-९, सव० ६२-४।

संधिक—सज्ञा पु० [हि० साधक] साधक। ~संधिक साध कबहुँ नहि भेंट्यो सरनि परै जिनकी पगरी। →पद २४९-५।

संपुट—सज्ञा पु० [सं०] ढक्कनदार डिबिया, पिटारी। ~संपुट माँहि समाइया, सो साहिब नहिं होइ। →सा० पीव पि० (३६) १-१, सव० ५४-६।

संपुट—सज्ञा पु० [स०] फूल के दलो का ऐसा समूह जिसके बीच मे खाली जगह हो, कोश। ~क क्रा कमल किरन मँह पावै, ससि विगसित संपुट नहि आवै। →ज्ञान चौ० (१) ३।

संपै—संज्ञा स्त्री० [स० सम्पत्ति] धन, वैभव। ~सपै देखि न हरखिऐ विपति देखि ना रोइ।→पद २४५-६, ७।

सँबाहि—क्रि० [सं० सवाहन] चलाओ। ~भरम भलाका दूरि करि, सुमिरन सेल सँबाहि। →सा० सूरा० (४५) १-२।

सँबाहिया—क्रि० [सं० सवहन] संभाल लिया। ~सूरै सार सँबाहिया,

पहिरा सहज सँजोग। →सा० सूरा० (४५) ८-१ ।

संभार—क्रि० [हि० सँभाल] सँभालो, ध्यान रखो। ~जब लग साँस सरीर मै, तब लग नाम **सभार**। →सा० साँच० (२२) ४-२ ।

संमांनां—क्रि० [सं० समाविष्ट] समा गया। ~सेस नाग जाकै गरुड **संमांनां**, चरन कंवल कवला नहि जाना। →सव० १६२-४ ।

संमि—वि० [स० सम] तुल्य वल। ~ व्रह्म नालि जे **समि** करि राखै, आवागमन न होई। →पद ३०५-१७ ।

संमि—वि० [स० सम] वरावर। ~ आपा पर **संमि** चीन्हिए, तव दीसै सरव समाँन। →सव ६७-५ ।

सँमि—क्रि० वि० [दे०] एकत्र करके। ~लवानालि तति एक **सँमि** करि, जन्न एक भल साजा। →सव० १७२-३ ।

सम्रथ—वि० [स० समर्थ] क्षमता युक्त। ~उस **सम्रथ** का दास हौं, कदे न होइ अकाज। →सा० निह० पति (११) १७-१ ।

संम्रथ—वि० [सं० समर्थ] योग्य। ~भांनन गढन सवारन **सम्रथ** ज्यौं राखै त्यौ रहिए। →पद २०८-२ ।

सँवरै—क्रि० [सं० स्मरण] सुमिरन करता है। ~राजा **सँवरै** तुरिया चढ़ी, पथी **सँवरै** नाम लै वढ़ी। →र० ६-४, ५ ।

सँवारि—क्रि० दे० 'सँवारै'।

सँवारी—क्रि० [हि० सँवारना] सम्पन्न किया। ~मन पवनां पाचौ वसि कीया तिन या राह **सँवारी**। →पद ३१४-२ ।

सँवारै—क्रि० [स० सवर्णन] ठीक करना, सुधारना, सँवारना, सजाना। ~जव मेरी मेरी मिटि जाइ, तव प्रभु काज **सँवारै** आइ। →सव० ५३-४, सा० चिता० (१२) १४-२, पद २०३-२ ।

संसरि—सज्ञा पु० [सं० ससरण] सस-रण रूप मे, निरन्तर। ~नदिया नही **संसरि** वहै नीर। →सव० १६७-५ ।

ससा— सज्ञा पु० दे० 'ससै'।

संसै—संज्ञा पु० [स० संशय] द्विधा, सशय, सन्देह। ~पढै वेद औ करे वडाई, **ससै** गाठि अजहुँ नहि जाई। →र० ३१-३, सा० कामी० (२०) १७-१, सा० गुरु० (१) २२-१, पद ३४०-२, सा० साधसा० (२६) १४-१, सा० वेसा० (३५) १६-१, सा० सूरा० (४५) ७-१, र० १८-५, सा० पर० (५) १३-२, सव० १८५-५, सा० गुरु० (१) २२-१, २, सव० ६७-१६, सव० २६-६ पद २१८-८, सा० उपदे० (३४) ३-१ ।

सई—वि० [स० समान] वरावर, समान, तुल्य। ~सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी **सई** न दाति। →सा० गुरु० (१) १-१, २ ।

सक—संज्ञा पु० [अ० शक] शंका।

~अल्लाह पाकपाक है सक करउ जे दूसर होइ। →सव० १८१-६।

सकति—संज्ञा स्त्री० [सं० शक्ति] नारी। ~सकति सुहाग कहो क्यूं पावं, अछता कंत विरोधैं। →पद २५१-४।

सकति—संज्ञा स्त्री० [फा० सख्ती] जबरदस्ती। ~सकति सनेह पकरि करि सूनति, मैं न बदउँगा भाई। →सव० ७६-३।

सकति—संज्ञा स्त्री० [सं० शक्ति] शक्ति, बल। ~भगवत भीरि सकति सुमिरन की काटि काल की फासी। →सव० ६३-११, पद ३३२-५, सा० साँच० (२२) १-४१।

सकल—वि० [सं०] १. सम्पूर्ण, २. क्रियासहित। ~अकल निरजन सकल सरीरा, तन मन सौं मिलि रह्यो कबीरा। →सव० १४३-८।

सकल—वि० [सं०] सम्पूर्ण। ~एकै काल सकल ससारा, एक नाम है जगत पियारा। →र० ७७-१ पद २७६-१, पद ३२७-५, सव० १३५-११।

सकलो—वि० दे० 'सकल'।

सकामतां—वि० [सं० सकाम] कामना-युक्त। ~जब लगि भगति सकामतां तब लग निर्फल सेव। →सा० निह० पति० (११) १०-१।

सकारा—क्रि० वि० [सं० सकाल] सुबह, प्रात काल। ~आवत जात न लागै वारा, काल अहेरी साँझ सकारा। →र० ४३-३।

सकेल—क्रि० [सं० सकलन] समेट लेना, एकत्रित करना। ~डक बजाय देखाय तमासा, बहुरि सो लेत सकेल →सव० १८-२।

सकेलि—क्रि० [सं० सकलन] एकत्रित करके, समेट कर। ~कबीर धूलि सकेलि करि, पुडी ज बाँधि एह। →सा० चिता० (१२) २०-१।

सक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं० शक्ति] शाक्त पद्धति अर्थात् बलि आदि। ~करमै कै कै जग बौराया, सक्ति भक्ति लै बाँधिनि माया। →र० ४-२।

सगला—वि० [सं० सकल] सम्पूर्ण, सकल। दे० 'सकल'। ~स्वारथ को सब कोइ सगा, जग सगला ही जानि। →सा० साधसा० (२६) १५-१, सव० १७७-८, सव० ४६-२, सव० १२२-५।

सगलो—वि० दे० 'सगला'।

सगले—वि० दे० 'सगला'।

सगलो—वि० दे० 'सगला'।

सगा—वि० [सं० स्वक्] अपना। ~सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सईं न दाति। →सा० गुरु० (१) १-१।

सगाई—संज्ञा स्त्री० [हि० सगा+आई प्रत्य०] सबध, आसक्ति, प्रेम। ~करहु विचार जे सब दुख जाई, परिहर झूठा केरि सगाई। →र० २३-४, सा० बिर्क० (३७) २-१।

सगाई—संज्ञा स्त्री० [हि० सगा+आई प्रत्य०] विवाह सबधी निश्चय, संबध। ~देखहु लोगो हरि की

सगाई, माय धरी पूत धिये संग जाई।
→सब० १५१-१।

सगुरा—वि० [सं० स+गुरु] जिसका कोई गुरु है, गुरुभक्त। ~सगुरा सगुरा चुनि लिए, चूक पडी निगुराँह →सा० निगु० (५५) ३-२।

सगोती—सज्ञा पु० [सं० स+फा० गोश्त] गोश्त से। ~अन को त्यागैं मन नहिं हटकै, पारन करै सगोती। →पद ३०४-४।

सगौ—वि० [स० स्वक्] सहोदर। ~सगो भईआ लै सलि चढिहूँ तव हौ नाह पिआरी। →पद २३२-६।

सघन—वि० [स०] अत्यधिक। ~सीतल छाया सघन फल, पखी केलि करंत।→सा० सजी० (४७) ६-२।

सघन—वि० [स०] अधिक संख्या मे। ~है गै वाहन सघन घन, छत्र धुजा फहराइ। → सा० साधुम० (३०) ४-१।

सच—सज्ञा पु० [दे०] सुख, आनन्द। ~घूप दाझतैं छाँह तकाई, मति तरवर सच पाऊँ। →सब० ६६-३, र० ६५-२, सा० मन० (१३) १४-२, सब० १६४-८, पद २२३-३।

सचानाँ—सज्ञा पु० दे० 'सचान'।

सचान—सज्ञा पु० [स० सचान] वाज पक्षी। ~सुरति सचान तेरी मति तौ मँजारी। →सब० ८५-५, सा० काल० (४६) २-२।

सचु—सं० पु० दे० 'सच'।

सचु—संज्ञा पु० [दे०] सुख, शाति, सत्य। ~तिहि सरि अजहूँ मारि, सर विन सचु पाऊँ नही। →सा० विर० (३) १७-२।

सचु[1]—वि० [सं० सत्य] सच, सत्य।

सचु[2]—सज्ञा पु० [स०] वह जो सच या सत्य है। ~सचु पाया सुख ऊपजा, दिलदरिया भरपूरि। →सा० पर० (५) २६-१।

सजन—सज्ञा पु० [स० सज्जन] सज्जन। ~वैरी उलटि भए है मीता, साकत उलटि सजन भए चीता। →सब० २०-५।

सजन—सज्ञा पु० [स० स्व+जन] स्वजन, परिजन। ~देहरि लौं वरी नारि सग है आगै सजन सुहेला। →सब० १७६-७।

सजनां— सज्ञा पु० [स० स्वजन] प्रियतम। ~मैं तो तुम्हारी दासी हौ सजनां, तुम हमरै भरतार। →सब० २२-८।

सजीवनि—वि० [सं० सजीवनी] जीवन दायिनी।→सा० सजी० (४७)।

सत—सज्ञा पु० [स० सत्] सत्यव्रत। ~सती विचारी सत किया, काठौं सेज विछाइ। →सा० सूरा० (४५) ३४-१।

सत—वि० [स० सत्] सत्य। ~सो झूठा जो सत कहँ तजई, गुर की दया राम को भजई। →र० ६६-३, र० ४७-८।

सत—सज्ञा पु० [स० सत्व] सभी सत्ताओ का मूल। ~सत करि खपर खिमा करि झोरी, ग्यान विभूति चढाई। →सब० ३३-७।

सत—वि० [स० शत] सौ। ~विनसे नाग, गरुड गलि जाई, विनसे कपटी, औ सत भाई। →र० ४६-१।

सतगठी[1]—वि० [स० सप्त+हि० गाँठ] सात गाँठो वाली, जीर्ण-शीर्ण।

सतगठी[2]—वि० [स० सत्+हि० गाँठ] सत्य की गाँठ से युक्त। ~सतगंठी कोपीन दै, साधु न मानै सक। → सा० विर्क० (३७) ८-१।

सत सुक्रित—यौ० [सं० सत्+सुकृत] सत्य पुरुष, ईश्वर। ~कहहि कवीर सत सुक्रित मिलै तो वहुरि न झूलै आय। →हिंडोला (८) १-१६।

सताँनी—वि० [हि० सताना से] सताने वाली, कष्ट देने वाली। ~चोट सताँनी विरह की, सव तन जरजर होइ।→सा० विर० (३) १४-१।

सताय—क्रि० [हि० सताना] सताते हैं, पीडित करते हैं। ~कहहि कवीर ई पाषड, वहुतक जीव सताय। →र० ३१-५।

सतावहु—क्रि० [स० सतापन] सताप देना, दुख देना। ~मोकउं कहा सतावहु वार-वार, प्रभु जल थल गिरि कीए पहार। →सव० १५६-७।

सति—संज्ञा पु० [स० सत्य] सत्य। दे० 'सतु'। ~हमारे राँम रहीम करीमा केसो, अलह राँम सति सोई। →पद ३२६-१, पद ३०८-१।

सति असति—यौ० [स० सत् असत्] शुभाशुभ, भला वुरा।~सति असति कछू नहिं जानू, जैसे वजावा तैसे वाजा। →सव० १७२-४।

सती—वि० [स० सत्+ई (प्रत्य०)] सत्यनिष्ठ। ~सोई राँम सती कहै, सोई कौतिकहार। → सा० विचा० (३३) १-२, सा० सव० (४०) २-१।

सतु—संज्ञा पु० [सं० सत्य] सत्य। ~सतु संतोखु लै लरनै लागा, तोरे दुइ दरवाजा। →सव० ६३-६।

सत्त—सज्ञा पु० [सं० सत्य] सत्य। दे० 'सतु'। ~सत्त सत्त कै विस्तु दिठाई, तीनि लोक मँह राखि निजाई →र० २७-२, र० १४-६, सव० १७६-१, वसत (४) १०-८।

सद—वि० [सं० सद्य.] ताजा। ~सद पानी पाताल का, काढि कवीरा पीव।→सा० उपज० (५०) ५-१।

सद—अव्य० [स० सद्यः] सदा। ~वापु सावका करै लराई माया। सद मतवारो। →पद २३२-५।

सदकै—क्रि० [अ०] न्यौछावर करना। ~सतगुरु कै सदकै करूँ, दिल अपनी का साछ (साँच)। → सा० गुरु० (१) ५-१।

सन—सज्ञा पु० [सं० शण] एक प्रकार का पौधा जिसकी छाल के रेशे से रस्सी वनाई जाती है। ~साकत सन का जेवडा, भीगा सूँ कठठाइ। →सा० चाण० (१७) ११-१।

सनमुख—क्रि० वि० [सं० सम्मुख] सामने, सम्मुख, समक्ष। ~जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया

आइ । →सा० पर० (५) ३६-१ ।

सनां—करण कारक, तृ० वि०, प्रत्यय से । ~सो समुझाइ कहहु मोहि **सनां** । →सव० ८६-२ ।

सनांह—संज्ञा पु० [सं० सन्नाह] कवच । ~स्वाद **सनांह** टोप ममिता की कुवुद्धि कमान चढाई । →सव० ६३-५ ।

सनेही—वि० [स० स्नेही] स्नेही, प्रेमी । ~राम **सनेही** दास विचि, तिना न संचर होइ । →सा० साधसा० (२६) १४-२ ।

सन्नि—संज्ञा पु० [स० सन्निपात] सन्निपात, त्रिदोष (काम, क्रोध, लोभ) । ~सेतहि सेत सेत अंग भौ, **सन्नि** वाढि अधिकाई । →सव० १६१-५ ।

सपचै—क्रि० [हि० सपचना] १. पूर्णता को प्राप्त होना है, २. वढता है । ~नादे विंदु रुधिर के सगे, घटही मे घट **सपचै** । →सव० १६६-३ ।

सपना—संज्ञा पु० [स० स्वप्न] स्वप्न । ~जीवन ऐसो **सपना** जैसो, जीवन सपन समाना । → पद २२८-२ ।

सपनी—संज्ञा स्त्री० [स० स्वप्न] स्वप्नवत् । ~सांची वात कही मैं अपनी, भया दिवाना और की **सपनी** । →र० ३६-६ ।

सपेदी—संज्ञा स्त्री० [फा० सुफेदी] धवलता, बुढ़ापा । ~स्याही गई **सपेदी** आई, दिल सपेद अजहूं न हुआ । →पद २१०-८ ।

सपेदी—वि० [स० श्वेत] सफेद, स्वच्छ । ~जाडन मरै **सपेदी** सौरी, खसम न चीन्है घरनि भौ वौरी । →र० ७३-३ ।

सबकाहू—सर्व० [हि० सव, स० सर्व] सवके लिए । ~राम नाम ततसार है, **सवकाहू** उपदेस । →सा० सुमि० (२) २-२ ।

सवद—संज्ञा पु० [स० शब्द] यहाँ इसका प्रयोग कुसवद के लिए हुआ है, दुर्वचन । ~चोट सहारै **सवद** सी, तास गुरू मैं दास । →सा० कुसव० (३६) १-२ ।

सबद—संज्ञा पु० [स० शब्द] गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान, दीक्षा । ~**सबद** वतावै जीव को, वूझै विरला कोय । → र० ३७-६ ।

सबद—संज्ञा पु० [सं० शब्द] शब्द, आकाश का गुण है । यहाँ तात्पर्य है । आकाश । ~तेज पवन मिलि पवन **सबद** मिलि सहज समाधि मिलावहिंगे । →सव० १८४-४ ।

सबद—संज्ञा पु० [स० शब्द] शब्द, उपदेश । ~सदगुर **सवद** न मानई; जनम गँवाया वादि । →सा० मन० (१३) १८-२, सव० १६०-२ ।

सवद—संज्ञा पु० [स० शब्द] अनाहत नाद । ~कवीर **सवद** सरीर मैं; विन गुन वाजै ताति । सा० सव० (४०) १-१ ।

सबद—संज्ञा पु० [स० शब्द] आप्त-वचन, अनुभव प्राप्त सत की वाणी । ~लख चौरासी जीव जंतु नहिं,

समोई—क्रि० [स० समाविष्ट] लय करना, मिलाना। ~घ घा घट विनसे घट होई, घट ही मे घट राखु समोई। →ज्ञान चौ० (१) ६।

समोई—क्रि० [स० समाविष्ट] मिला कर, लय कर। ~ड डा डर उपजे डर होई, डरही मँह डर राखू समोई। →ज्ञान चौ० (१) २६।

समोय—क्रि० [हि०] समेटकर। ~ जेते थे तेते लिए, घूंघट माँहि समोय। → चांचर (५) १-२२।

सम्पूरन—वि० [स० सम्पूर्ण] सम्पूर्ण। ~वसिष्ठ स्रेष्ठ विद्या सम्पूरन, राम ऐसे सिख साखा। →पद २८६-६।

सम्रथाई—सज्ञा स्त्री० [सं० समर्थ + आई (प्रत्य०)] सामर्थ्य।→सा० सम्र० (३८)।

सम्हारू—क्रि० [हि० सँभालना] सँभाल लो, वचा लो। ~जिव निज दुख ते आपु सम्हारू, जो दुख व्यापि रहा मसारू। →र० ८४-१।

सयानें—सज्ञ पु० [स० सज्ञान] चतुर। ~तेरे भवगी खरे सयानें हो राम। →सव० १०-२।

सयांने—सज्ञा पु० [स० सज्ञान] ज्ञानी, पडित, शास्त्री। ~वहुत सयांने पचि मुए, फल निरमल पै दूरि। →सा० सूरा० (४५) १७-२।

सयान—सज्ञा पु० [स० सज्ञान] वुद्धि-मान्, चतुर। ~दुसर सयान को मरम न जाना, उतपति परलै रैनि विहाना। →र० ३६-२।

सयानप—संज्ञा पु० [सं० सज्ञान, हि० सयाना + पन] चतुराई, चालाकी। ~नहि देखै, नहि भाजै वेहू, जानहु परम सयानप येहू। → ज्ञान चौ (१) २२, कहरा (३) २-८।

सयानी—संज्ञा पु० [स० सज्ञान] चतुर। ~मम वालक सयानी मैं वौरा। → पद ३०६ १।

सर—सज्ञा पु० [हि०] सरकंडे या वांस की छडी जिसे ताना ठीक करने के लिए जुलाहे प्रयोग मे लाते हैं। ~ सर छूटी एक राम नरायन, पूरन प्रगटे भेदा। →सव० १२७-३।

सर—सज्ञा पु० [स० शर] नोक। ~ मारा है जे मरैगा, विन सर थोथी भालि। →सा० ग्या० वि० (४) २-१।

सर—वि० [फा०] ऊँच, उच्च, भला। ~सर अपसर समझै नही, पेट भरन सों काज। →सा० साधसा० (२६) ७-२।

सर—संज्ञा पु० [स० शर] वाण, गुरू-पदेश का वाण। ~जेहि कर सर लागे हिये, सोई जानै पीर। → र० ६८-६।

सर—सज्ञा पु० [सं० शर] वाण, तीर, ज्ञान। ~वपु वारी आनद मीरगा, रुचि रुचि सर मेलै।→सव० ५१-२, सा० विर० (३) १५-१, सव० ६५-२, पद ३४६-७।

सर—संज्ञा पु० [स० स्वर] ध्वनि, नाद। ~उलटे पवन चक्र षट वेधा, मेर डड सर पूरा। → सव० १५८-५।

सरकरा—सज्ञा स्त्री० [स० शर्करा] शक्कर, चीनी। ~गूंगे केरि **सरकरा**, बैठे-बैठे मुसुकाई। →सब० १-२।

सरग—सज्ञा पु० [स० स्वर्ग] स्वर्ग। ~**सरग** पताल भूमि लै वारी, एकै राम सकल रखवारी। → र० ५६-३, हिंडोला (८) २-५, सब० २८-६।

सरग—सज्ञा पु० [स० स्वर्ग] ब्रह्म लोक। ~विरवा एक सकल ससारा, **सरग** सीस जड गई पताला। → सब० १८६-२।

सरगहि—सज्ञा पु० [स० स्वर्ग + हि] स्वर्ग मे। ~मूड मुडाएँ जौ सिधि होई, **सरगहि** भेंड न पहुँची कोई। →सब० ७७-४।

सरगुन—वि० [सं० सगुण] सगुण।~ मरि मरि गए भगति जिन ठानी, **सरगुन** महँ जिन निरगुन आनी। →र० ५४-३।

सरग्गि—सज्ञा पु० [स० स्वर्ग] स्वर्ग मे। दे० 'सरगहि'।~यह तन जारौं मसि करौ, ज्यूं धूवां जाइ **सरग्गि**। →सा० विर० (३) ११-१।

सरजिव—वि० [स० सजीव] सजीव, पशु आदि। ~निरजिव आगे **सरजिव** थापै, लोचन कछू न सूझै। → सब० १८८-४।

सरजी—क्रि० [सं० सृजन] रची हुई। ~**सरजी** आनै देह विनासै माटी विसमिल कीआ। →पद २३०-३।

सरधा—सज्ञा स्त्री० [सं० श्रद्धा] श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा। ~तन मन मेल्हि चढ़ै **सरधा** सौं तव वा फल कौ खावै। →सब० १७८-४, सा० सा० मन० (१३) १५-२।

सरधा—संज्ञा स्त्री० [सं० श्रद्धा] कामना। ~कुवुजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की **सरधा**। → सब० १५७-७।

सरना—सज्ञा स्त्री० [स० शरण] शरण। ~हम चलि अइली तुहरे **सरना**, कतहुँ न देखौं हरि के चरना। →सब० १६-५।

सरनाई—सज्ञा स्त्री० [सं० शरणागति] शरण मे। दे० 'सरनि'। ~**सरनाई** आयौ क्यूं गहिये, यह कौंन बात तुम्हारी। →सब० ६६-२, पद २०५-८, पद ३२०-५।

सरनि—सज्ञा स्त्री० [स० शरण] अधीन। ~राखि राखि मरै वीठुला, जन **सरनि** तुम्हारी। →सब० ६६-२।

सरनि—सज्ञा स्त्री० [स० शरण] शरण। दे० 'सरना'। ~नाउँ मेरै खेती नाउँ मेरै वारी, भगति करउँ जन **सरनि** तुम्हारी। →सब० ४६-३।

सरप—संज्ञा पु० [सं० सर्प] सर्प, साँप, यहाँ तात्पर्य है—प्रभु का प्रेम। ~ भेरा पाया **सरप** का, भौसागर के माँहि। →सा० विरह० (३) ४३-१।

सरप—सज्ञा पु० [स० सर्प] सर्प, भुजग, व्याल। ~विप के वन मैं

घर किया, सरप रहे लपटाइ। →सा० काल० (४६) २८-१।

सरपहि—सज्ञा पु० [स० सर्प+हि] सर्प को। ~सरपहि दूध पिलाइयै, दूधै विप ह्वै जाइ। →सा० निगु० (५५) ६-१।

सरव—वि० [सं० सर्व] तमाम, सब। ~आपा पर समि चीन्हिए, तब दीसै सरब समान। →सब० ६७-५, पद २४१-७।

सरवक—वि० [सं० सर्व] सर्व, सर्वथा, मिलावट युक्त। ~समुझि परी नहिं राम कहानी, निरवक दूध कि सरबक पानी। →र० ४५-३।

सरव तत्त—सज्ञा पु० [स० सर्व तत्त्व] चैतन्य तत्त्व। ~आवत जात दुहूधा लूटे, सरव तत्त हरि लीन्हा रे। →सब० ८४-२।

सरवदा—अव्य० [सं० सर्वदा] सदा, हमेशा। ~सर सरबदा सगि रहे जल परसत नाही। →पद ३४५-२।

सरब विआपी—वि० [स० सर्वव्यापी] सर्वत्र व्याप्त। ~कहै कबीर मेरे माधवा, तू सरव विआपी। →सब० ६६-६।

सरवै—क्रि० [सं० स्रवण] स्रवित करती है, देती है। ~सुरही तिन चरि अमृत सरवै, लेर भवगहि पाई। →पद २६८-५।

सरवरि—क्रि० वि० [हि० सरवरि] बराबर। ~सीस काटि पासग किया, जीव सरभरि लीन्ह। →सा० सूरा० (४५) २२-१।

सरवर—सज्ञा पु० [स० सरोवर] जलाशय, तालाब। ~ रूप बिनु नारी पुहुप बिनु परिमल, बिनु नीरै सरवर भरिया। →सब० ११६-६, वेलि० (६) १-१, २६, २७, २८।

सरवै—क्रि० [स० स्राव] टपकाती है, स्रवित करती है। ~जो व्यावै तौ दूध न देई, गाभिन अमृत सरवै। →सब० २७-३।

सरसती—सज्ञा स्त्री० [स० सरस्वती] विद्या की देवी। ~कोटि सरसती धारै राग, कोटि इन्द्र जहं गवन लाग। →सब० ११०-७।

सरसा—वि० [स० सरस] हरे-भरे, सानद। ~दिवस चारि सरसा रहै, अति समूला जाहि। →सा० कामी० (२०) ३-२।

सरा—सज्ञा स्त्री० [सं० शर] चिता। ~माई मोर मुअल पिता के सगे, सरा रचि मुअल सघाती गे। →कहरा (३) ११-५, ज्ञान चौं० (१) ६७।

सरावगी—संज्ञा पु० [स० श्रावक] जैन साधु। ~पडित भया सरावगी, पानी पीवै छानि। →सा० चाँण० (१७) १२-२।

सरि—क्रि० [हि० सडना] सडकर। ~पैग पैग पैगम्बर गाडे, सो सब सरि भो माटी। →सव० १७४-४, सब० १६६-५।

सरि—सज्ञा पु० [सं० सरस्] सरोवर मे, तालाव मे। ~जिहि सरि घडा न वूडता, मैगल मलि मलि नहाइ। →सा० रस० (६) ७-१।

सरि—संज्ञा पु० [स० शर] वाण से । ~जिहि **सरि** मारी काल्हि, सो सर मेरे मन वस्या । → सा० विर० (३) १७-१, २ ।

सरि—संज्ञा पु० [स० शर] वाण । दे० 'सर' । ~**सरि** मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूपा । →सव० २५-६ ।

सरीकी—क्रि० [अ० शरीक] सम्मिलित होना । ~आपा जानि साई कौं जानैं तव होइ भिस्ति **सरीकी** । → पद २२६-८ ।

सरीरा—संज्ञा पु० [स० शरीर] कारण शरीर । ~जोति सरूप काल नहिं तहँवा, वचन न आहि **सरीरा** । → सव० १६६-३ ।

सरीरौं—संज्ञा पु० [स० शरीर] शरीर से । ~अक भरे भरि भैंटिए, पाप **सरीरौं** जाँहि । →सा० साधु० (२८) ६-२ ।

सरूप—वि० [स० स्वरूप] स्वरूप ।~ नाति **सरूप** न छाया जाकै, विरध करै विन पाँनी ।→पद २५३-२ ।

सरूपी—वि० [स० स्वरूपिन] स्वरूप वाले । ~मच्छ कच्छ औ ब्राह **सरूपी**, वावन नाम धराया । →पद २५२-५ ।

सरे—क्रि० [हि० सडना] सड गए । ~ ढोर पतग **सरे** घरिआरा, तेहि पानी सव करै अचारा । →र० ७४-६ ।

सरेवहु—क्रि० [स० श्लाघन्] सराहना करो, प्रशसा करो । ~तव लगि प्रानी तिसैं **सरेवहु** जव लगि घट महि सासा । →सव० १६०-५ ।

सरै—क्रि० [स० सरण] सिद्ध होना, फल प्राप्त होना, पूर्ण होना । दे० 'सर्‌यौ' । ~काँइ गँवावै देह, कारज कोई ना **सरै** । → सा० कामी० (२०) ८-२, सव० ५३-३ ।

सरोता—संज्ञा पु० [स० श्रोता] श्रोता । ~कर विनु वाजै सुनै स्रवन विनु, स्रवन **सरोता** सोई । →पद २७०-२ ।

सर्‌यौ—क्रि० [सं० सरण] सिद्ध हुआ, सपन्न हुआ । दे० 'सरै' । ~मन रे **सर्‌यौ** न एकौ काजा ।→पद २२०-१, सा० चाँण० (१७) २-२ ।

सर्ग—संज्ञा पु० [स० स्वर्ग] स्वर्ग । ~वह तो कहै सुनै जो कोई, **सर्ग** पताल न देखै जोई । →ज्ञान चौं० (१) ६२ ।

सर्मन—संज्ञा पु० [स० शर्मन्] शर्मा, ब्राह्मण । ~ **सर्मन** वर्मन देव औ दासा, रज सत तमगुन धरति अकासा । →र० २७-७ ।

सल—संज्ञा स्त्री० [दे०] सिकुडन, सिलवट । ~कत कत की **सल** पडिए, गलवल सहर अनत । → सा० विर्क० (३७) ५-२ ।

सलाम—संज्ञा पु० दे० 'मलाम' ।

सलाम—संज्ञा पु० [अ०] अभिवादन या प्रणाम करने की क्रिया । ~ साँचा एक अलह को नाम, जाको नै नै करहु **सलाम** ।→सव० ४०-५, पद ३१६-४ ।

सलामत—वि० [अ०] स्वस्थता ।~छेम कुसल औ सही **सलामत**, कहहु कवन को दीन्हा हो ।→कहरा (३)८-१ ।

सलामति—वि० [अ० सलामत] स्वस्थ, सुरक्षित। ~कुसल खेम अरु सही सलामति, ए दोइ काको दीन्हा रे। →सव० ८४-१।

सलामा—संज्ञा पु० [अ०] प्रणाम, नमस्कार, वन्दना। ~कहाँ कूच कहँ करै मुकामा, कवन सुरति के करहु सलामा। →र० ४६-२।

सलार—संज्ञा पु० [फा० सालार] सरदार, सिपहसालार, सिपाही। ~सत्तरि सहस सलार हैं जाके, सवा लाख पैगवर ताकैं। → सव० १४१-३।

सलि—सज्ञा स्त्री० [स० शर] चिता। दे० 'सरा'। ~सगौ भईआ लै सलि चढिहू तव हौं नाह पिआरी। → पद २३२-६।

सलिता—सज्ञा स्त्री० [स० सरिता] नदी। ~मोहिं तोहिं कीट भ्रिग की नाई, जैसे सलिता सिंधु समाई। → पद २४०-५।

सलिल—सज्ञा पु० [स०] जल, पानी। ~वानी सलिल राम धन उनयाँ, वरिषैं अंमृत धारा। → सव० ६७-३, पद २८६-३, वसत (४) १२-१।

सलैली—वि० [हि०] रपटीली, फिसलन भरी। ~जन कवीर का सिपर घर, वाट सलैली सैल। →सा० सू० मा० (१४) ७-१।

सवाँ—वि० [स० सम] समान, वरावर, तुल्य। ~सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सई न दाति। →सा० गुरु० (१) १-१, २, सा० चिता० (१२) ४८-२, सा० सूरा० (४५) ३०-१।

सवांरन—क्रि० [स० सवरण] रक्षा करना। ~भानन गढन सवांरन संम्रथ ज्यौं राखै त्यौं रहिए। → पद २०८-२।

सवाई—सज्ञा स्त्री० [हि० सवा + ई (प्रत्य०)] सवागुना। ~राना राव रक कौं व्यापै, करि करि प्रीति सवाई। →पद ३२०-४।

सवादी—वि० [सं० स्वादिन्] स्वादपरायण। ~न्यारो न्यारो भोजन चाहैं, पाचौ अधिक सवादी। →पद २६६-३।

ससा—सज्ञा पु० [स० शशक] खरगोश। ~ससा सीग की धनुहडी, रमै वांझ का पूत। →सा० वेली० (५८) ४-२।

ससि—सज्ञा पु० [सं० शशि] चन्द्रमा। ~जिनि व्रह्मण्ड रच्यौ वहु रचना, वाव वरन ससि सूरा। →सव० ८१-५, कहरा (३) १०-३, ज्ञान चौं० (१) ३।

ससिहर—सज्ञा पु० [सं० शशधर] चन्द्रमा, इडा नाडी। दे० 'ससि'। ~ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी। →पद० २०१-४, पद ३०५-५।

सहज—सज्ञा पु० [स०] आत्मा का स्वाभाविक चिदानन्द स्वरूप। ~है

कोई संत सहज सुख अतरि जाकौं जप तप देउं दलाली । →पद ३४४-१ ।

सहज—१. सज्ञा पु० [सं०] चैतन्य । २. वि० [सं०] सरलता से । ~ पढ़ें गुनें क्या होई, जउ सहज न मिलिओ सोई । →पद ३२६-१० ।

सहज—वि० [सं०] साधारण, स्वाभाविक । ~तन महिं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख-सहज समाधि । →सब० २०-३ ।

सहज ध्यान—यौ० [सं०] चित्त का स्वाभाविक रूप से प्रभु मे लगे रहना । ~सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के वचन समाई हो । →कहरा (३) १-१ ।

सहज सुनि—संज्ञा पु० [सं० सहज शून्य] परम तत्त्व ।~कहै कबीर सोई जोगेश्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै । → सब० ३४-८ ।

सहजि—संज्ञा पु० [सं० सहज] आसानी से, सरलतापूर्वक । ~इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ । → सा० मन० (१३) २-२ ।

सहजै—क्रि० वि० [सं० सहज] सहज रूप से, अनायास, स्वत । ~सकल पाप सहजै गये, साँई मिला हजूरि । →सा० पर० (५) २६-२ ।

सहजै-सहजैं—क्रि० वि० [सं० सहज] सरलतापूर्वक । ~ सहजैं सहजैं सब गए, सुत वित कामिनि काम । → सा० सह० (२१) ३-१ ।

सहजैं—वि० [सं० सहज] सहज योग द्वारा । ~चेतत रावल पावन खेडा, सहजैं मूलहि बाधैं । →सब० ६५-३ ।

सहतैं—सज्ञा पु० [अ० शहद] शहद । ~ज्यौ माखी सहतैं नहिं विहुरै जोरि जोरि धन कीन्हा । →सब० १७९-५ ।

सहनाई—सज्ञा स्त्री० [फा० शहनाई] नफीरी नामक बाजा । ~ढोल दमामा डुगडुगी, सहनाई औ भेरि । →सा० चिता० (१२) ३-१ ।

सहर—सज्ञा पु० [फा० शहर] नगर । ~कत कत की सल पाडिए, गलबल सहर अनत । →सा० विर्क० (३७) ५-२ ।

सहस—वि० [सं० सहस्र] हजार । ~ सेस सहस मुख पार न पावा, सो अब खसम सही समुझावा । →र० ५२-२, सब० ३१-५ ।

सहारं—क्रि० [हि०] सहारे । ~उलटीले सकति सहार, पैसीले गगन मझार । →सब० १७१-५ ।

सहारी—क्रि० [सं० सहन] सहन करता है, बर्दाश्त करता है । ~कै सो जानैं जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी । →सब० १९४-४ ।

सहारी—क्रि० [सं० सहन] सहन करना, बर्दाश्त करना । ~जासु नाम है गर्व प्रहारी, सो कस गर्वहिं सकै सहारी । →र० ३५-६ ।

सहारै—क्रि० [सं० सहन] सहन कर ले । ~चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास । → सा० कुसब० (३९) १-२ ।

सहिदानी—सज्ञा स्त्री० [सं० सज्ञान]

पहचान, चिह्न, लक्षण। ~ सपन सनेही जग भया, सहिदानी रहि बोल।→र० ११-१२,सब० ६८-३।

सहिया—क्रि० [हि० सहना] सहते हैं, वर्दाश्त करते हैं। ~अंकुस सहिया सीस समुझ मन बौरा हो।→ चांचर (५) २-१०।

सही—वि० [फा० सहीह] सत्य, प्रामाणिक।~दिना सात लौं बाकी सही, बुध अदबुध अचरज का कही।→ र० ७२-४।

सही—क्रि० [फा० सहीह] प्रकट। ~ ब्रह्मा बेद सही किया सिव जोग पसारा।→पद ३१६-५।

सही—वि० [फा० सहीह] सरल, अरुग्ण। ~कुसल खेम अरु सही सलामति, ए दोइ काकौ दीन्हा रे। →सब० ८४-१।

साइं—सज्ञा पु० [स० स्वामी] प्रभु, स्वामी, मालिक, ईश्वर। ~ बदै ऊपरि मिहरि करौ मेरे सांइं→ सब० २३-२, सा० बीन० (५६) ४-२, सा० पर० (५) २६-२, सा० साँच० (२२) १०-१, पद २०६-८, सा० साधसा० (२६) १-१, सा० विर० (३) २०-२, सब० २७-७।

साई—सज्ञा पु० [स० स्वामी] १ पति, २. शुद्ध चैतन्य। ~मैके रहै जाय नहि ससुरे, साई सग न सोवै।→ सब० १६८-६, सा० उपज० (५०) २-१।

साँकर—सज्ञा स्त्री० [सं० शृंखला] जजीर। ~साँकर हूँ तें सबल है, माया इहि ससार।→सा० माया० (१६) २५-१।

साँकरा—वि० दे० 'साँकरी'।

साँकरी—वि० [स० संकीर्ण] सकीर्ण, तग, पतली। ~प्रेम गली अति साँकरी, या मे दो न समाँहि।→ सा० पर० (५) ३५-२, सा० मन० (१३) ४-१, सा० मन० (१३) २६-१।

साँचा—वि० [स० सत्य] सत्य, सच्चा, शुद्ध, वास्तविक। ~सतगुरु साँचा सूरिवाँ सबद जु बाह्या एक।→ सा० गुरु० (१) ७-१, सा० गुरु० (१) २८-१।

साचि—संज्ञा पु० [स० सत्य] सत्य। दे० 'साँच'। ~जे तूँ मूरति साचि है तौ गढनहारै खाउ। → पद २११-३।

साँझ-सकार—यौ० [स० साध्य+सकाल] शाम-सुवह। ~ साँझ-सकार दिया लै बारै, खसम छोडि सुमिरै लगवारे।→र० ७३-४।

सांझ सकारा—क्रि० वि० [स० संध्या+ सकाल] साय प्रात, किसी भी समय। दे० 'साँझ सकार'। ~ सर्सै सावज सब ससारा, काल अहेरी सांझ सकारा।→र० १६-४।

साँझी—सज्ञा पु० [हि० साझा] हिस्सेदार, भागीदार। ~ मानुष जन्म चूके जग माँझी, एहि तन केर बहुत है साँझी।→र० ७८-१, सा० गुरु० (१) ३०-२।

साँझै—सज्ञा स्त्री० [स० सन्ध्या] साय-

काल । ~ इनको भिस्त कहाँ ते होइहै, जो सांझै मुरगी मारै । → पद ३०४-६ ।

सांट—संज्ञा स्त्री० दे० 'साटि' ।

सांटि—संज्ञा स्त्री० [स० यष्टिका] छडी, डंडा, कोडा । ~रे महावत तोकौं मारौं साटि, इसहिं तुरावहु घालहु काटि । → सब० ४२-५, कहरा (३) १-१२, सब० १५६-५ ।

सांटे—क्रि० वि० [देश०] बदले मे । हाड़ गला माटी गली, सिर साटे व्यौहार । →सा० सूरा० (४५) २८-२ ।

सांठी—संज्ञा स्त्री० [स० यष्टिका] सरकडे का भाग । ~सांठी सांठी झडि पडी, भलका रहा सरीर ।→ सा० सब० (४०) ६-२ ।

सांथरा—सज्ञा पु० [हि०] विस्तर, चटाई, बिछौना । ~नीद न माँगै सांथरा भूख न माँगै स्वाद ।→सा० कामी० (२०) २३-२ ।

सांधा—क्रि० [स० सधान] निशाना लगाया । ~घ्यान धनुख जोग करम ग्यान वान सांधा ।→सब० १००-४ ।

सांधि—क्रि० [स० सघान] निशाना लगाकर, लक्ष्य करके ।~कर कमान सर सांधि करि, खैंचि जु मारा माँहि । →सा० विर० (३) १५-१ ।

सांधै—क्रि० [स० सधान] सधान करना, निशाना लगाना । ~सांधै तीर पताल कौं, फिरि गगनहिं मारै । →सब० ५२-४ ।

सांनां—क्रि० [हि० साना] मिलाया, गूँथा । ~एकै खाक गढे सब भाडै एकै कोहरा सांनां ।→पद ३२५-३ ।

सांभलूं—क्रि० [स० सभार] स्मरण करता हूँ । ~ज्यो ज्यो हरि गुन सांभलूं, त्यो त्यो लागै तीर । → सा० सब० (४०) ६-१ ।

सांमी—अव्य० [स० सम्मुख] सामने । बिरला कोई ठाहरै, सतगुर सांमी मूठि । →सा० सग० (२६) १-२ ।

सांवत—सज्ञा पु० [स० सामत] यमदूत । ~जवही सांवत आनि पहूँचै, पीठि साटि भल टूटिहै हो । → कहरा (३) १-१२ ।

सासति—सज्ञा पु० [सं० शासित] शासित, अनुशासित । ~कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करी हमारी । →सब० ६८-१० ।

सांसा—सज्ञा स्त्री० [स० श्वास] श्वास । ~तब लगि प्रानी तिसै सरेवहु जब लगि घट महि सासा । →सब० १६०-५ ।

साक—सज्ञा पु० [स० शाका] साख, विश्वास । ~मन फाटा वाइक बुरै, मिटी सगाई साक । →सा० बिर्क० (३७) २-१ ।

साकत—सज्ञा पु० [सं० शाक्त] शक्ति के उपासक, वाममार्गी साधक । ~ वैरी उलटि भए है मीता, साकत उलटि सजन भए चीता । →सब० २०-५, सब० ३२६-३, सा० चाण० (१७) ११-१, सा० चित्त० क०

(४२) २-१, सा० साधुम० (३०) १-२, सव० २४४-७, सा० साधु० (२८) १३-२ ।

साखि—सज्ञा पु० [सं० साक्ष्य] साक्षी, गवाह। ~कबीर विचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलै साखि। →स'० साधसा० (२६) ११-२ ।

साखी—सज्ञा स्त्री० [सं० साक्षी] गवाही। ~धरनि अकास अधर जिनि राखी, ताकी मुगधा कहै न साखी। →पद २८३-५ ।

साखी—सज्ञा पु० [स० साक्षी] साक्षि चैतन्य। ~साखी नीर गंग भरि आई, पीवै प्रान हमारा। →सव० ६७-४ ।

साछ—संज्ञा पु० [स० साक्ष्य] गवाही। दे० 'साखी'। ~सतगुरु कै सदकै करूँ, दिल अपनी का साछ (सांच)। →सा० गुरु० (१) ५-१ ।

साज—सज्ञा पु० [स० सज्जा] तैयारी। ~कबीर पल की सुधि नही, करै कालिह का साज। →सा० काल० (४६) ६-१ ।

साज—सज्ञा पु० [फा०] ठाट-बाट, श्रृगार। ~भसम किरिम जाके साज समुझ मन बौरा हो। → चांचर (५) २-४ ।

साजनां—सज्ञा पु० [सं० स्वजन] साजन, प्रिय, परम प्रिय, प्रभु, ईश्वर। ~सोई आंसू साजना, सोई लोक बिडांहि। → सा० विर० (३) २६-१ ।

साजल—क्रि० [हि० सजाना] सजाया। ~जात कौरवहिं लागु न वारा, गये भोज जिन साजल धारा। →र० ५५-२ ।

साटि—संज्ञा स्त्री० [हि० सटना] मोल भाव। ~खोटी खाटे खरा न लीया, कछू न जांनी साटि। →पद २०३-७।

साटि—सज्ञा स्त्री० [दे०] सट्टा, सौदा। ~जब रे मिलैगा पारिखूं, तब हीरां की साटि। →सा० पारिख० (४६) ३-२ ।

साढ़ी—सज्ञा स्त्री० [हि०] मलाई। ~एक दहेडिया दही जमायौ दुसरी परि गई साढ़ी रे। →पद २५५-७।

साध—सज्ञा स्त्री० [स० श्रद्धा] कामना, इच्छा। ~साईं संगि साध नहिं पूजी, गयौ जोवन सुपिनै की नाईं। →पद २३८-२ ।

साध—संज्ञा पु० [स० साधु] साधु, सत। ~सधिक साध कबहुँ नहिं भेंट्यौ सरनि परै जिनकी पगरी। →पद २४६-५ ।

साधी—क्रि० [स० साधन] सम्पन्न किया। ~जिन प्रभु जीउ पिंडु था दीया, तिसकी भाव भगति नहिं साधी । →सव० ६८-२, सव० १२४-१ ।

साधै—क्रि० [स० सधान] संधान करना। ~ध्यान धनुप धरि ज्ञान बान करि, जोग सार सर साधै। → सव० ६५-४ ।

सान—सज्ञा पु० [स० शाण] वह पत्थर जिस पर अस्त्र आदि तेज किए जाते हैं। ~हांसी खैलौं हरि मिलै, कौन

सहै खर सान । → सा० विर० (३) ३०-१ ।

सानी—क्रि० [हि० सानना] मिला हुआ, संयुक्त । ~विष अमृत गो एकहिं सानी, जिन जानी तिनि विपि कै मानी । →र० ११-७ ।

सावका—वि० [दे०] उत्पादक । ~ वापु सावका करै लराई माया सद मतवारी । →पद २३२-५ ।

सावन—सज्ञा पु० [अ० सावुन] सावुन । ~कै लै दूनी कालिमाँ, भावै सौं मन सावन लाइ । →सा० चितक० (४२) ३-२ ।

साबित—वि० [अ०] पूर्ण, सच्चा, स्थिर, समग्र । ~जाकी दिल साबित नही, ताकौं कहाँ खुदाइ । →सा० साँच० (२२) ११-२, सा० पर० (५) ३४-१ ।

साम—सज्ञा पु० [सं० श्याम] श्यामदेश (वर्तमान थाईलैंड) । ~चारि दिग महि मंड रचो है, रूम साम विच डिल्ली । →सव० ६४-१५ ।

सायर—सज्ञा पु० [स० सागर] सागर, समुद्र । ~जहाँ स्वाति वूँद न सीप सायर, सहजि मोती होइ । →सव० ४५-३, सा० पर० (५) ८-१ ।

सारंगपानी—सज्ञा पु० [स० सारगपाणि] जिनके हाथ मे सारग नामक धनुष है, विष्णु ।~छाडु कपट नर अधिक सयानी, कहहि कबीर भजु सारंग-पानी । →र० ६२-६, सव० १६१-५, सा० साधुम० (३०) १०-२ ।

सारग श्रीरग—सज्ञा पु० [स०] सारग-पाणि विष्णु । ~ रसना रसहि विचारिए, सारंग श्रीरंग धार रे । →सव० ६७-८ ।

सार—सज्ञा पु० [सं०] लौहास्त्र, लोहे का हथियार ।~सूरै सार सँवाहिया, पहिरा सहज सजोग ।→सा० सूरा० (४५) ८-१, सा० निगु० (५२) ७-१ ।

सार—सज्ञा पु० [स०] सुधि, संभाल । ~ मैमंता घूमत फिरै, नाही तन की सार । →सा० रम० (६) ४-२, सा० जी० मृ० (४१) ३-१ ।

सार—सज्ञा पु० [स०] तत्व, निचोड । ~तत्त तिलक तिहु लोक मैं, राम नाम निज सार । →सा० सुमि० (२) ३-१, सा० साँच० (२२) १६-१, सा० सव० (४०) २-२ ।

सार—सज्ञा पु० [स०] सच्चा, वास्तविक । ~सार सुख पाइए रे । → पद ३१७-१ ।

सारदा—सज्ञा स्त्री० [स० शारदा] सरस्वती, विद्या की देवी । ~झूलै नारद सारदा झूलै व्यास फनिंद्र । →हिंडोला (८) १-७ ।

सार सवद—यौ० [स० सार-शब्द] वह सामान्य पराशक्ति जिसे 'शब्द ब्रह्म' कहा गया है । जो वाच्य और वाचक दोनो है । जहाँ पद और अर्थ एक हैं, जो सारी सृष्टि का मूल है । ~सार सवद गहि वाचिहो मानी इतवारा । →पद ३१६-१ ।

सारा—वि० [सं० सर्व] सम्पूर्ण, समस्त । ~मोर-तोर महँ जर जग

सारा, धिग स्वारथ झूठा हकारा। →र० ८४-७, सा० गु० सि० हे० (४३) ११-१।

सारा—सज्ञा पु० [स० श्यालक] पत्नी का भाई। ~हम बहनोई राम मोर **सारा**, हमहि बाप हरि पूत हमारा। →सब० १५१-३।

सारा—वि० [स० सदृश] समान, तुल्य। ~जस मासु पसु की तस मासु नर की, रुधिर रुधिर एक **सारा** जी। →सब० ११५-१।

सारी—क्रि० [दे०] गमन करना। ~पीया चाहै तौ लै खग **सारी**, उडि न सकै दोऊ पर भारी। →पद ३११-३।

सारी—वि० [सं० सर्व] अक्षत, सम्पूर्ण। ~छूटि पडौ या बिरह तैं, जे **सारी** ही जलि जाउँ। →सा० बिर० (३) ३७-२।

सारी—सज्ञा स्त्री० [स०] चौसर, यहाँ 'सारी' चौसर के उस कपडे के लिए आया है, जिसे बिसात कहते हैं। इसी पर चौसर खेला जाता है। ~पासा पकडा प्रेम का, **सारी** किया सरीर।→सा० गुरु० (१) ३२-१।

सारीखा'—अव्य० [हि० सरीखा] सरीखा, सदृश, समान। २. पु० [अ० सालिक] वह साधक जो बिना गृहस्थ आश्रम छोडे, भगवत्-साक्षात्कार की साधना करता है। ~करिए तौ करि जानिये, **सारीखा** सौं सग। → सा० संग० (२६) ३-१।

सारू—सज्ञा पु० [स० सार] सार, तत्व। ~राम नाम इहै निज **सारू**, औरुअ झूठ सकल ससारू। →र० ६५-५, पद ३१०-७।

सारे—क्रि० [स० सार] सम्पन्न किया। ~राम सरीखे जन मिले, तिन **सारे** सव काँम। →सा० साधु० (२८) ५-२।

सारै—क्रि० [हि०] पूरा करता है, लगाता है। ~तौ जनतै तिनि डाडि किन **सारै**।→सब० १२६-२।

सालिम—वि० [अ०] पूर्ण। ~विनु मागैं ही वस्तु देइ, सो **सालिम** वाजी जीति लेइ। →पद २२५-६।

सालै—क्रि० [स० शल्य] वेदना पहुँचाना, चुभना। ~मैंमता तिन ना चरै **सालै** चित्त सनेह। →सा० रस० (६) ५-१।

सालै—क्रि० [स० शल्य] शल्य के समान कष्ट देता है।~जे दिन गए भगति बिनु, ते दिन **सालै** मोहि। →सा० उपज० (५०) ११-२।

साव—सज्ञा पु० [स० स्वाद] स्वाद। ~कबीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया **साव**। →सा० सुमि० (२) १८-१।

सावज—सज्ञा पु० [स० शावक] मृग। ~ससैं **सावज** सव ससारा, काल अहेरी साझ सकारा।→र० १६-४।

सावज—सज्ञा पु० [स० स्वापद] जगली पशु। ~काम क्रोध मद लोभ मोह को, हाकि के **सावज** दीन्हा। → सब० ६५-६, सब० १००-६, सब० ३१८-१, २।

सावत—सज्ञा पु० [हि० सौत] सौतिया डाह। ~भाई के सग सासुर गौनी सासुहि सावत दीन्हा। →पद २६०-४।

साषि—सज्ञा स्त्री० [स० साक्ष्य] साक्ष्य। ~तहाँ कबीरा चलि गया, गहि सतगुर की **साषि**। →सा० सू० मा० (१४) ६-२।

सास—संज्ञा स्त्री० [स० श्वश्रु] पति या पत्नी की माँ। ~साइं माइ **सास** पुनि साइं, साइं याकी नारी। → सब० २७-७।

सासत—सज्ञा स्त्री० [स० शस्ति] दण्ड। ~दिवस न रैनि वेदु नहिं **सासत** तहाँ वसै निरकारा। →सब० १७७-६।

सासनां—सज्ञा पु० [स० शासन] कष्ट। ~धनी सहेगा **सासनां**, जम की दर-गह माँहि। →सा० मन० (१३) १७-२।

सासुरैं—सज्ञा पु० [स० श्वसुरालय] ससुराल। ~ पीहर जाउँ न रहूँ **सासुरैं**, पुरखहिं सग न लाऊँ। → सब० २६-७।

साह—सज्ञा पु० [स० साधु] सज्जन। दे० 'साहु'। ~छीजै **साह** चोर प्रतिपालै, सत जना की कूटि करै। →पद २७६-८।

साह—सज्ञा पु० [फा० शाह] १. नरेश, राजा। २. सन्त, फकीर।~सतगुर **साह** सत सौदागर तह मैं चलिकै जाऊँ जी। →पद ३०७-१।

साहनहार—वि० [स० सहन+हार] सहने वाला। ~लागे ते भागै नही, **साहनहार** कबीर। →सा० मध० (४०) ७-२।

साहब—सज्ञा पु० [अ० साहिब] ईश्वर, स्वामी। दे० 'साहिब'। ~तेहि **साहब** के लागहु साथा, दुइ दुख मेटिके रहहु सनाथा।→र० ७५-१।

साहब—सज्ञा पु० [अ०] परमात्मा। दे० 'साहिब'। ~दास कबीर **साहब** का बदा, जाकै हाथ विकानी। → पद २२७-८।

साहि—क्रि० [स० साधना] साधो, ठीक करो। ~कायर हुआ न छूटिहैं कछु सूरातन **साहि**। →सा० सूरा० (४५) १-१।

साहिकरि—क्रि० [हि० साधना] साध-कर। ~ सती सूरतन **साहिकरि**, तन मन कीया धांन। →सा० सूरा० (४५) ३५-१।

साहिब—संज्ञा पु० [अ० साहब] ईश्वर, परमात्मा, प्रभु, स्वामी। ~**साहिब** सेवा माहि है, वेपरवांही दास। → सा० पर० (५) २-२, सा० सह० (२१) ४-२, सा० सू० मा० (१४) ४-२।

साहु—सज्ञा पु० [सं० साधु] सज्जन। ~वैठे ते घर **साहु** कहावै, भितर भेद मन मुसहि लखावै। →विप्र-मतीसी (२) १६।

सिंगार—सज्ञा पु० [स० शृंगार] शृंगार, सजावट। ~ जान पुरुपवा मोर अहार, अनजाने पर करौं **सिंगार**। →वसंत (४) ४-४।

सिंगारु—संज्ञा पु० [सं० श्रृङ्गार] सज्जा। ~किएउ **सिंगारु** मिलन कै ताईं, हरि न मिले जग जीवन गुसाईं। →पद ३३६-३।

सिंघारा—सज्ञा पु० [स० श्रृङ्गाटक] सिंघाडा। ~हिन्दू बरत एकादसि साधैं, दूध **सिंघारा** सेती। →पद ३४०-३।

सिंचिये—क्रि० [हि० सीचना] सीचना ~जोतिये न बोइये **सिंचिये** न सोई, डार पात बिनु फुल एक होई। →पद २३६-३।

सिंदूर—सज्ञा पु० [सं०] सौभाग्य या अनुराग का चिह्न। ~ कबीर रेख **सिंदूर** की, काजल दिया न जाइ। →सा० निह० पति० (११) ४-१।

सिंधौरा—संज्ञा पु० [हि० सिन्दूर] सिन्दूर-पात्र। ~मरनैं तैं क्या डरपना, जब हाथि **सिंधौरा** लीन। →सा० सूरा० (४५) १२-२, सब० १३७-२।

सिंभू—सज्ञा पु० [स० शभु] शिव, शंकर।~एक से **सिंभू** पंथ चलाया, एक से भूत प्रेत मन लाया। →र० १४-६।

सिउँ—अव्य० [स० सह] सहित, साथ। ~ बूडहुगे परिवार सकल **सिउँ** राम न जपहु अभागे।→सब० १६४-२।

सिकली—वि० [अ० सिक्ल] भारी, दृढ। ~दै मुहरा लगाम पहिरावउ **सिकली** जीन गगन दौरावउं। → सब० ३-३।

सिकली—वि० [अ०] शान चढाने वाला, तेज करने वाला। ~कहे कबीरा गुरु **सिकली** दर्पन हरदम करहु पुकारा। →सब० ६४-२०।

सिकलीगर—संज्ञा पु० [अ०] सान धरने वाला व्यक्ति। ~सतगुर ऐसा चाहिए, जस **सिकलीगर** होइ। → सा० सब० (४०) ३-१।

सिख—सज्ञा पु० दे० 'सिष'।

सिचांनां—संज्ञा पु० [स० सचान] बाज पक्षी। दे० 'सचान'। ~सुन्नि मडल मैं घर किया, जैसैं रहे **सिचांनां** →सब० ५२-२।

सित—वि० [स० शीत] शीत, ओस, कोहरा, तुषार। ~देखन कौं सब कोइ भले, जैसे **सित** का कोट। → सा० चांण० (१७) १७-१।

सिध—संज्ञा पु० [सं० सिद्ध] सिद्ध। ~प्रगटे **सिध** साधक सन्यासी, ई सब लागि रहे अविनासी। →र० ३-५, पद २५२-७।

सिध—संज्ञा पु० [सं० सिद्ध] सहजयानी साधक। ~षट दरसन संसै पडा, अरु चौरासी **सिध**। →सा० मधि० (३१) ११-२।

सिध—सज्ञा स्त्री० [स० सिद्धि] नियन्त्रण। ~इक तत मत ओषध बांन, इक सकल **सिध** राखै अपान। → सब० ६१-६।

सिधि—सज्ञा स्त्री० [सं० सिद्धि] सिद्धि, सफलता, पूर्णता। ~ मूड मुडाएँ जौ **सिधि** होई, सरगहि भेंड न पहुँची कोई।→सब० ७७-४, पद २८६-५, सब० १४-१।

सिधि—सज्ञा स्त्री० [सं० सिद्धि] सिद्धि, परमार्थ की सफलता। ~सव सिधि सहजैं पाइए, जे मन जोगी होइ। →सा० भेष० (२४) १७-२, पद ३३७-४।

सियरा—वि० [हि० शीतल] शीतल। ~सेत स्याह की राता पियरा, अवरन वरन की ताता सियरा। → विप्र० (२) २८।

सियांनां—सज्ञा पु० [स० सज्ञान] चतुर व्यक्ति। ~कहै कवीर एक राम भजे विनु वूडे वहुत सियांनां। → सव० १०२-१०।

सियारा—सज्ञा पु० [सं० शृगाल] सियार। ~पसु के मांसु भखै सव कोई, नरहि न भखै सियारा जी। →सव० ११५-२।

सिर—सज्ञा पु० [स० शिर] अहभाव, आपा। ~जे सिर राखौं आपनां, तौ पर सिरि ज अँगीठ। →सा० मन० (१३) ६-२।

सिर कूटि—मुहा० = सिर कूटना। पश्चात्ताप करना, पछताना। ~ गगन मडल आसन किया, काल रहा सिर कूटि। → सा० सजी० (४७) ३-२।

सिर कूटै—मुहा० = सिर कूटना, अत्यधिक प्रयत्न करना। ~रत्ती घटै न तिल वढै, जौ सिर कूटै कोई। →सा० वेसा० (३५) ८-२।

सिरजनहार—संज्ञा पु० [सं० सृजन + हार (प्रत्य०)] सृष्टिकर्त्ता, प्रभु, ईश्वर। ~ दीनदयाल दया करि आवौ, समरथ सिरजनहार। →सव० २२-६, सा० माया० (१६) २५-२, पद २६२-१३, सा० अवि० (५६) २-१, र० ४-१।

सिरजनहारा—सज्ञा पु० दे० 'सिरजनहार'।

सिरजनहारा—संज्ञा पु० [स० सृजन + हारा (प्रत्य०)] सृष्टि का मूल, शुद्ध चैतन्य। ~मूए कृस्न मुए करतारा, एक न मुवा जो सिरजनहारा। → सव० ८६-५।

सिरजा—क्रि० [स० सर्जन] रचा, वनाया। ~जे सिरजा तेहि नहिं पहिचानै, करम धरम लै वैठि वखाने। →विप्र० (२) ३।

सिरजे—क्रि० [सं० सर्जन] सम्पादित किया। ~कवन काज सिरजे जग भीतरि, जनमि कवन फल पाया। →सव० ६८-३।

सिरजे—क्रि० [स० सर्जन] वनाया, दिया। ~सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दीयौ। → सा० वेसा० (३५) १-२।

सिरजैं—क्रि० [स० सृजन] वनाया, सृजन किया। ~नैन नासिका जिनि हरि सिरजैं, दसन वसन विधि काया। →सव० ८१-७।

सिरजौं—क्रि० [सं० सृजन] सृष्टि करना। ~मैं सिरजौं मैं मारौं, मैं जारौं मैं खाँउं। →र० २१-७।

सिर सौंपते—मुहा० [सिर सौपना] अहंभाव का विसर्जन। ~सिर साहिव

कौं सौंपते, सोच न कीजै सूरि। → सा० सूरा० (४५) ११-२।

सिराई—क्रि० [हि०] व्यतीत होना, गुजरना। ~करमक लिखल मिटै धौं कैसे, जो जुग कोटि सिराई। → सव० ४-२।

सिराई—क्रि० [हि०] व्यतीत हो गया, समाप्त हो गया। ~लालच लागे जनम सिराई, जरा मरन नियरायल आई। →र० २३-५।

सिरानी—क्रि० [हि० सिराना] समाप्त हो गई, वीत गई। ~काग उडावत भुजा पिरानी, कहै कवीर यहु कथा सिरानी। →पद २७८-५।

सिरि—सज्ञा पु० [सं० शिर] सिर पर ~घन अहरन विच लोह ज्यौं, घनी सहै सिरि चोट। →सा० चिता० (१२) ५१-२, पद २६०-२, सा० चिता० (१२) ११-२, सा० चिता० (१२) २६-१, सा० चाण० (१७) २१-२, सा० रस० (६) ५-२।

सिरि—सज्ञा पु० [स० शिर] सिरे पर, छोर पर। ~विरहिनि ऊभी पथ सिरि, पथी बूझै धाइ। → सा० विर० (३) ५-१, सा० काल० (४६) २२-१।

सिरि कटै—[मुहा०] सिर कटना। आपा का विनाश, अहं की समाप्ति। ~आधी साखी सिरि कटै, जौ रे विचारी जाइ। → सा० विचा० (३३) ६-१।

सिरिमौर—सज्ञा पु० [हि० सिर+ मौर] सिर का मुकुट, श्रेष्ठ। ~ सहज सुनि को नैहरो, गगन मंडल सिरिमौर। →पद ३४२-७।

सिलहला—वि० [दे०] फिसलने वाला, रपटीला। ~ पेड़ विकट है महा सिलहला अगह गहा नहिं जावै। → सव० १७८-३।

सिला—सज्ञा स्त्री० [सं० शिला] शिला, पत्थर। ~वैसे ही गज फटिक सिला पर, दसनन आनि अर्‌यो। →सव० ५-४।

सिष—संज्ञा पु० [स० शिष्य] शिष्य, चेला। ~नाँ गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव। →सा० गुरु० (१) १६-१, सा० गु० सि० हे० (४३), पद २८६-६।

सिषही—सज्ञा पु० [सं० शिष्य+हि० ही] शिष्य ही। ~सतगुरु वपुरा क्या करैं, जे सिषही माँहै चूक। → सा० गुरु० (१) २१-१।

सिस्टि—संज्ञा स्त्री० [सं० सृष्टि] संसार। ~अनहद कहत कहत जग विनसै, अनहद सिस्टि समानी। → सव० १६१-७।

सिहरु—सज्ञा पु० [अ० सिह्र] माया, कर्म, इन्द्रजाल। ~ यहु जु दुनिया सिहरु मेला कोई दस्तगीरी नाहि। →सव० १८१-२।

सिहांनै—सज्ञा पु० [स० शिरस्+ अधीन] चारपाई मे सिर की ओर का भाग, सिरहाना। ~ काल सिहांनै यौ खडा, जाग पियारे मीत। →सा० काल० (४६) ३-१।

सींग—संज्ञा पु० [सं० शृंग] सीग।

~ससा सींग की धनुहडी रमै वांझ का पूत। → सा० वेली० (५८) ४-२, पद ३१८-६, पद २०६-६।

सींगणि—सज्ञा पु० [स० शृग + णि] सीगयुक्त धनुष या सीग से वना धनुष। ~हरि रस जे जन वेधिया, सर गुण सींगणि नांहि। → सा० सव० (४०) ५-१।

सींगी—सज्ञा स्त्री० [स० शृगी] सीग का वाजा। ~गगन ही भाठी सींगी करि चूंगी, कनक कलस एक पावा। → सव० ११२-५, पद ३२१-३, सव० ६०-५।

सींगी—संज्ञा पु० [स० शृगी] हिरण के सीग का वना वाद्य। ~उलटा पवन जटा धरि जोगी, सींगी सुरति वजाई। → सव० ३३-८, सव० ३४-२, पद २५०-५, सव० ४१-३।

सींचा—सज्ञा पु० [स० सिञ्चन] सीचना, स्नान (करना)।~और के छुए लेत हो सींचा, तुमते कहत कौन है नीचा। →र० ३५-४।

सीकसी—संज्ञा पु० [दे०] ऊसर। ~सो तो है वन सीकसी हो रमैया राम।→वेलि (६) २-३।

सीख—सज्ञा स्त्री० [राज०] विदाई। ~सीख भई संसार से, चले जु साँई पास।→सा० उप० (५०) २-१।

सीख—सज्ञा पु० [स० शिष्य] शिष्य, चेला। दे० 'सिष'। ~गुरु जो वसै वनारसी, सीख समुन्दर तीर। → सा० हे० प्री० स० (४४) २-१।

सीख—सज्ञा स्त्री० [स० शिक्षा] शिक्षा। ~कवीर सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीख। → सा० गुरु० (१) २७-१, सा० उपदे० (३४) ५-२।

सीझहु—क्रि० [हि० सीझना] ताप या कष्ट सहना। ~ऐसनि जानि पसीजहु सीझहु, कस न छतरिया छायहु हो। →कहरा (३) १-२३।

सीझै—क्रि० [सं० सिद्ध] पकाते हैं। ~एक मरे मुए अन्न नहिं खाई, एक मरे सीझै रसोई।→सव० १६५-२।

सीतलता—संज्ञा पु० [हि० शीतलता] आनन्द। ~श शा सर नहिं देखै कोई, सर सीतलता एकै होई। → ज्ञान चौं० (१) ६३।

सीप—संज्ञा पु० [स० शुक्ति] कडी खोल के भीतर रहने वाला एक छोटा जलजन्तु, सीपो, सुतही। ~कदली सीप भुवग मुख, एक वूद तिहुं भाइ। →सा० कुस० (२५) २-२, सा० पर० (५) ८-१।

सील—सज्ञा पु० [सं० शील] सदाचरण, सदाचार। ~ममता मेटि साच करि मुद्रा, आसन सील दिढ़ कीजै। →सव० ३३-५, पद २४६-२, पद १७६-४।

सीला—संज्ञा स्त्री० [स० शिला] पत्थर। ~गण्डक सालिगराम न सीला मछ कछ होय जल नही हीला। →र० ७५-८।

सीव—सज्ञा पु० [स० शिव] शिव, शंकर। ~मरि गये ब्रह्मा नभ के वासी, सीव सहित मुए अविनासी।

→ र० ५४-१, पद ३३२-५, सब० १०७-३ ।

सीव—सज्ञा पु० [स० शिव] कल्याण । ~ जीव **सीव** का आहि नसौना, चारिउ वेद चतुर गुन मौना । → र० ३०-२ ।

सीस कूटि—[मु०] सिर धुन धुन कर पश्चाताप करना । ~उडि न सकत बल गयो छूटि, तब भंवरी रोवैं **सीस कूटि** । →सब० १०६-८ ।

सीस धुनै धुनि—मुहा० सिर धुनना, पश्चाताप करना । ~पवन थक्यो गुडिया ठहरानी, **सीस धुनै धुनि** रोवै प्राँणी । →सब० १६१-४ ।

सुंनहि—सज्ञा पु० [स० शून्य] आकाश, जहाँ कोई रूप नही है, प्रमेय रहित अनुभव । ~**सुनहि** वांछा सुनहि गैऊ, हाथा छोडि वेहाथा भैऊ । → र० १६-३ ।

सुंनि मडल—सज्ञा पु० [स० शून्य मण्डल] सहस्रार, ब्रह्मरध्र । ~ **सुंनि मडल** मैं मंदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै । → सब० ३५-७, सा० गु० सि० हे० (४३) ७-२ ।

सुअटा—सज्ञा पु० [स० शुक] तोता । ~ ज्यौं ललनी **सुअटा** गह्यो मन बउरा रे माया यहु ब्यौहार । → सब० १६३-८, पद २६१-४ ।

सुइ—सव० [स० स.] वही । ~**सुइ** पीवै बांम्हन मतवाला, फल लागा विन बाड़ी ।→सब० ३०-४ ।

सुई—सज्ञा स्त्री० [स० सूची] सुई । ~गुरु परसादि **सुई** कै नाकै, हस्ती आवै जांही ।→सब० ३०-८ ।

सुक्रितु—सज्ञा पु० [स० सुकृत] पुण्य, सत्कर्म । →अपना **सुक्रितु** भरि भरि लीजै ।→पद २१६-२,पद २३३-८ ।

सुख—संज्ञा पु० [स० शुक] १ तोता । २. शुकदेव मुनि । दे० 'सुखदेव' । ~फल अलक्रत वीज नहिं वोकला, **सुख** पछी रस खायो । →सब० ८८-२ ।

सुखदेउ—सज्ञा पु० दे० 'सुखदेव' ।

सुखदेव—सज्ञा पु० [स० शुकदेव] वेदव्यास के पुत्र । ~वालमीकि वन वोइया, चुनि लीन्ह **सुखदेव** । ~ पद २४८-२, सब० १४३-६, पद ३१०-५ ।

सुखमन—संज्ञा स्त्री० दे० 'सुखमनि' ।

सुखमनि—सज्ञा स्त्री० [सं० सुषुम्ना] सुषुम्ना नाडी । ~ पानीग्रहन भयो भव मंडन, **सुखमनि** सुरति समानी । →सब० ३६-६, पद २६८-४, पद ३४४-६ ।

सुखसागर—सज्ञा पु० [स०] आनन्द के सागर, परमात्मा । ~कहै कवीर मन मनहिं मिलावा, अमर भए **सुखसागर** पावा । →पद ३२६-५, पद २७७-५ ।

सुगह—क्रि० वि० [स० सुग्रह] अच्छी तरह पकडकर ।~जिनि पाया तिनि **सुगह** गह्या, रसनाँ लागी स्वादि । →सा० पर० (५) ३३-१ ।

सुजाँन—वि० [स० सज्ञान] चतुर, ज्ञानी । ~कवीर माया मोहिनी,

मोहे जाँन सुजाँन । →सा० माया० (१६) ६-१, सा० सुन्द० (५२) १-१ ।

सुठि—वि० [स० सुष्ठु] अच्छा । ~ यहु मन दीजै तास कौ, सुठि सेवग भल होइ । →सा० सगति० (२६) ४-१ ।

सुत—सज्ञा पु० [सं० सूत्र] सूत, तागा । ~करम विनौला होय रहा, सुत काते जैदेव । →पद २४८-३ ।

सुत—सज्ञा पु० [स०] पुत्र । ~वनिता सुत देह ग्रेह संपति सुखदाई । →पद २७५-२ ।

सुतधारि—सज्ञा पु० [स० सूत्रधार] सूत्रधार ।~जिन यह चित्र वनाइया, साँचा सो सुतधारि ।→र० २६-६ ।

सुतलौं—क्रि० [हि० सोना] सोती हूँ । ~ सहजहि वपुरे सेज विछावल, सुतलौं पाँव पसारी ।→पद २२२-६ ।

सुता—सज्ञा स्त्री० [सं०] पुत्री । ~ माया माता माया पिता, असि माया अस्तरी सुता ।→पद २२६-७ ।

सुध—वि० [सं० शुद्ध] १ शुद्ध । २. उच्च ।~कहा भये नर सुध वेसूधा, विनु परचै जग वूड न वूझा ।→र० ११-६, सा० चित्तक० (४२) ३-१, सा० भेष० (२४) १११ ।

सुधबुध—वि० [सं० शुद्ध + वुद्धि] समझदार, प्रवुद्ध, सवेदनशील ।~ सुधबुध कै हिरदै भिदै, उपज विवेक विचार । →सा० निगु० (५५) ७-२ ।

सुधाए—क्रि० [स० शोधन] निश्चित किया । ~ जना चारि मिलि लगन सुधाए,जना पाँच मिलि माँडौ छाए । →पद ३१२-३ ।

सुधायो—क्रि० [स० शोध] शोध किया । ~गुरु वसिष्ठ मिलि लगन सुधायो, सुरज मंत्र एक दीन्हा ।→सव० ४-३ ।

सुधारस—यौ० [सं०] अमृतरस । ~ पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सतसंगी । →पद ३०३-२ ।

सुधि—सज्ञा स्त्री० [स० शुद्ध] स्मृति । ~वा घर की सुधि कोइ न वतावै, जा घर तै जिउ आया हो । →पद २८७-१ ।

सुनगुन—क्रि० [दे०] कहना-सुनना (लेखा) । ~ स सा के घर सुनगुन होई, यतनी बात न जानै कोई ।→ ज्ञान चौं० (१) ६८ ।

सुनति—सज्ञा स्त्री० [अ० सुन्नत] खतना, मुसलमानो मे प्रचलित एक प्रथा जिसमे लडके की लिंगेन्द्रिय के अग्र भाग का चमडा काट दिया जाता है, सुन्नत । दे० 'सुन्नति' । ~पेटे न काहू वेद पढाया, सुनति कराय तुरुक नहिं आया । → र० २-६, र० ६२-४ ।

सुनहां—सज्ञा पु० [सं० श्वान] कुत्ता । ~का सुनहा को सुम्रित सुनाएँ, का साकत पहिं हरि गुन गाएँ । → पद २६६-३, पद ३४७-३ ।

सुन्दरि—सज्ञा स्त्री० [स०] स्त्री । ~राज पाट अरु छत्र सिंघासन वहु सुन्दरि रमना । →सव० १४२-५ ।

सुन्न—सज्ञा पु० [सं० शून्य] खोखला ।

~श शा कहै सुनहु रे भाई, सुन्न समान चला जग जाई। →ज्ञान चौं० (१) ६४।

सुन्न—संज्ञा पु० [सं० शून्य] शून्य। ~सुन्न सनेही राम बिनु, चले अपनपौ खोय। →र० ८३-७।

सुन्नति—संज्ञा स्त्री० [अ०] खतना, मुसलमानी। ~कर्म ते सुन्नति और जनेऊ, हिन्दू तुरुक न जानै भेऊ। →र० ३६-४।

सुन्नहिं—संज्ञा पु० [सं० शून्य] परमात्म चैतन्य मे, ईश्वर मे। ~ऐसे हम लोक वेद के बिछुरें सुन्नहिं माहिं समावहिंगे। →सब० १८४-६।

सुन्नहि—संज्ञा पु० [सं० शून्य] आत्मा जो शरीर आदि के धर्म से सर्वथा शून्य (रहित) है। ~सुन्नहि सुरति समाइया, कासो कहिए जात। →र० ३६-६।

सुन्नि—संज्ञा पु० [सं० शून्य] सहज शून्य। ~आसा पास खड नहिं पाडै यहु मन सुन्नि न लूटै। →सब० १५३-५, १०।

सुन्नि—संज्ञा पु० [सं० शून्य] परमतत्व। ~उलटै पवन चक्र खटु भेदे सुरति सुन्नि अनुरागी। →पद २१६-३।

सुन्नि मडल—संज्ञा पु० [सं० शून्य-मडल] शून्य-चक्र, ब्रह्मरध्र। ~ सुन्निमंडल मैं घर किया, जैसै रहै सिचाना। →सब० ५२-२।

सुपथ—संज्ञा पु० [सं०] विहगम मार्ग। ~हो दारी के ले देउं तोहि गारी, तै समुझु सुपंथ विचारी। →पद ३४८-१।

सुपनंतरि~संज्ञा पु० [सं० स्वप्न+हि० अन्तरि] स्वप्न मे भी। ~दाया धरम ग्यान गुर सेवा, ए सुपनंतरि नाही। →सब० ६८-८, सा० मधि० (३१) ४-१।

सुपिनंतर—संज्ञा पु० दे० 'सुपनतरि'।

सुपिने—संज्ञा पु० दे० 'सुपिनै'।

सुपिनै—संज्ञा पु० [सं० स्वप्ने] स्वप्न मे। ~बासुरि सुख नाँ रैनि सुख, ना सुख सुपिनै माँह। →सा० विर० (३) ४-१, पद ३४६-६, सब० १८७-३, सा० माया० (१६) २०-२, सा० चिता० (१२) २२-१, सा० साधु० (२८) ६-२।

सुभर[1]—वि० [सं० शुभ्र] स्वच्छ।

सुभर[2]—वि० [सु + हि० भरना] अच्छी तरह से भरा हुआ। ~मानसरोवर सुभर जल, हसा केलि कराहिं। → सा० पर० (५) ३६-१।

सुभाइ—संज्ञा पु० [सं० स्वभाव] स्वभाव, प्रकृति। ~कबीर तष्टा टोकनी, लीए फिरै सुभाइ। →सा० चाँण० (१७) ५-१, सा० निन्या० (५४) ३-२।

सुभाइ—क्रि० वि० [सं० स्वभाव] सुदर सहज भाव। ~कहै कबीर जौ रहै सुभाइ, भोरै भाइ मिलै रघुराइ। →सब० १०१-६।

सुभागे—वि० [सं० सुभग] सुन्दर भाग्य वाले। ~सुभागे केहि कारन

लोभ लागे, रतन जनम खोयो। → पद ३१६-१।

सुमाना—भाव० [?] तैयारी। ~बूता पहिरि जम करै सुमाना, तीनि लोक मँह करै पयाना। →र० १०-३।

सुमार—सज्ञा पु० [स०] अच्छा निशाना, सफल चोट। ~भीतरि भिद्या सुमार ह्वै जीवै कि जीवै नाहि। → सा० विर० (३) १५-२।

सुमिरन—सज्ञा पु० [स० स्मरण] स्मरण, नामजप। ~मनसा वाचा कर्मना, कबीर सुमिरन सार।→सा० सुमि० (२) ४-२, सा० सुमि० (२) ५-१।

सुमिरावै—क्रि० [सं० स्मरण] स्मरण कराना। ~वो है दाता मुकुति का, वो सुमिरावै नाँम। → सा० साधु० (२८) ४-२।

सुमिरिनी—संज्ञा स्त्री० [हि०] सत्ताइस दानो की जपमाला। ~जाके पूजे पाप न ऊडै नाम सुमिरिनी भव मँह बूडै। →विप्र० (२) १६।

सुमृत—संज्ञा स्त्री० [स० स्मृति] धर्मग्रन्थ। ~पाठ पुरान वेद नही सुमृत तहाँ वसै निरकारा। → पद ३०८-६।

सुमेर—संज्ञा पु० [स० सुमेरु] सुमेरु। ~पंगुला मेर सुमेर उलघै, त्रिभुवन मुकुता डोलै। →सव० २८-७।

सुम्रिति—सज्ञा स्त्री० [स० स्मृति] हिन्दुओ के धर्मग्रथ, स्मृति, धर्मशास्त्र। सुम्रिति आहि गुननि को चीन्हा, पाप पुन्न को मारग कीन्हा। →र० ३१-१, २, सव० ३१-७, वसत (४) १०-८, सव० १६२-३, पद २६६-३।

सुम्रिति—सज्ञा स्त्री० [स० स्मृति] वेदो के पश्चात् लिखे गये धर्म ग्रन्थ। ~ सुम्रिति कहा आपु नहि माना, तरुवर तर छागर होय जाना। →र० ६५-६।

सुय—अव्य० [स० स्वयम्] खुद, आप। ~सुयं प्रकास आनद वमेक मैं, घर कवीर ह्वै पैठै। →सव० ६७-६।

सुरंग—वि० [सं०] सुन्दर, रूपवान। ~कवीर कहा गरवियो, देही देखि सुरग। →सा० चिता० (१२) ६-१।

सुरग—वि० [सं०] सुन्दर रंग वाले। ~दिना चारि के सुरंग फूल, तेहि लखि भँवरा रह्यो भूल। →सव० १०६-५।

सुर—संज्ञा पु० [सं०] देवता। ~सुर नर मुनिजन असुर सव, पडे काल की पासि।→सा०काल०(४६) २६-२।

सुरग—संज्ञा पु० [सं० स्वर्ग] स्वर्ग। ~सुरग नरक तै मैं रहा, सतगुर के परसादि। →सा० मधि० (३१) ६-१।

सुरग वासु—यौ० [सं० स्वर्गवास] स्वर्ग मे निवास। ~सुरग वासु न वाछिअै डरिऐ न नरकि निवासु। →पद २४५-२।

सुरगुरु—संज्ञा पु० [सं०] देवताओ के गुरु, वृहस्पति। ~ सुरपति जाय अहील्हि छरी, सुरगुरु घरनि चन्द्रमै हरो। →र० ८१-३।

सुरझा—क्रि० [हि० सुलझना] सुलझा, सुलझ पाया। ~कहत सुनत सब दिन गए, उरझि न **सुरझा** मन। →सा० निगु० (५५) ६-१।

सुरतान—संज्ञा पु० [फा० सुलतान] शासक, राजा। दे० 'सुलतान'। सो **सुरतान** जु दुइ सर तानै, बाहरि जाता भीतरि आनै।→पद ३४६-७।

सुरति—संज्ञा स्त्री० [फा० सूरत] स्वरूप, आकृति। ~कहाँ कूच कहं करै मुकामा, कवन **सुरति** के करहु सलामा। → र० ४६-२, सब० ८५-५।

सुरति—संज्ञा स्त्री० [सं०] चित्त की अनुरागात्मिका वृत्ति। ~सुन्नहि **सुरति** समाइया, कासो कहिए जात। →र० ३६-६।

सुरति—संज्ञा स्त्री० [सं०] अवधान, आत्मचेतना। ~अजहूँ लेउं छुडाय काल सो, जो करै **सुरति** सँभारी। →सब० १५६-१०।

सुरति—संज्ञा पु० [सं०] चित्त। ~ बिखिया अजहूं **सुरति** सुख आसा। →सब० १६२-१।

सुरति—संज्ञा स्त्री० [सं० स्मृति] ध्यान, स्मरण, चेतना। ~जो कबहूं उडि जाइ जंगल मे बहुरि **सुरति** नहि आनै। →सब० १६८-६, सब० १४८-२।

सुरति—संज्ञा स्त्री० [सं०] चेतना। ~उलटै पवन चक्र खटु भेदे **सुरति** सुन्नि अनुरागी। →पद २१६-३।

सुरतै—संज्ञा पु० [हि०] अनुमान से। ~मैं बकतैं बकति सुनावा, **सुरतै** तहाँ कछू न पावा। →सब० १७१-६।

सुरपति—संज्ञा पु० [सं०] देवराज, इंद्र। ~**सुरपति** जाय अहील्यहि छरी सुरगुरु घरनि चन्द्रमै हरी। →र० ८१-३, पद २४८-५।

सुरभी—संज्ञा स्त्री० [सं० सुरभि] गाय। ~**सुरभी** भच्छन करत वेद मुख, घन बरिसै तन छीजै। →सब० १४४-५।

सुरही—संज्ञा स्त्री० [स० सुरभि] दे० 'सुरभी' गाय। ~**सुरही** तिन चरि अमृत सरबै, लेर भवंगहि पाई। → पद २६८-५।

सुलक्षणी—वि० [सं० सुलक्षिणी] शुभ लक्षणो वाली। ~सोई नारि **सुलक्षणी**, नित प्रति झूलन जाइ → सा० सुन्द० (५२) ५-२।

सुलतान—संज्ञा पु० [फा०] १. बादशाह, राजा। २. वि० श्रेष्ठ। ~बिरहा बुरहा जिनि कही, बिरहा है **सुलतान**। → सा० बिर० (३) २१-१।

सुलषनां—वि० [सं० सुलक्षण] भला, अच्छा, चतुर। ~साँई मेरा **सुलषना** सूता देइ जगाइ। →सा० सम्र० (३८) ४-२।

सुवना—संज्ञा पु० [सं० शुक] शुक, तोता। दे० 'सुवा'। ~कहैं कबीर ललनी के **सुवना**, तोहि कौने पकर्‌यो। →सब० ५-६।

सुवस—वि० [हि० सु+वास] सुन्दर

रूप से सजा हुआ । ~पाट न सुवस सभा विनु अवसर, वूझहु मुनि जन लोई । ->पद २७०-३ ।

सुवा—संज्ञा पु० [सं० शुक] तोता । ~नर कै संगि सुवा हरि वोलै हरि परताप न जानै ।->सव० १६८-५ ।

सुवारथ—संज्ञा पु० [सं० स्वार्थ] स्वार्थ। ~आप सुवारथ मेदनी, भगत सुवारथ दास । ->सा० सूरा० (४५) ४१-१ ।

सुवासिक—वि० [सं० सुवास] सुगंधित ~पान कपूर सुवासिक चंदन अंति तऊ मरना ।->सव० १४२-६ ।

सुषमन—संज्ञा स्त्री० [सं० सुषुम्ना] सुषुम्ना नाडी । ~मूल वाँधि सर गगन समानाँ, सुषमन यो तन लागी । ->सव० २६-३, सव० ८७-५ ।

सुषमनि—संज्ञा स्त्री० दे० 'सुषमन' ।

सुस्त—वि० [फा०] मंद, शात । ~ वेदहुँ केर कहल नहि करई, जरतहि रहै सुस्त नहि परई । ->र० ६१-४ ।

सुहाग—संज्ञा पु० [सं० सौभाग्य] सौभाग्य । ~ऐसी जागनी जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे । -> सव० ११८-५, सव० १८३-६ ।

सुहाग—संज्ञा पु० [सं० सौभाग्य] विवाह । ~पूरि सुहाग भयौ विनु दूलह चौकै राड भई संग साई । -> पद २३८-६ ।

सुहागा—संज्ञा पु० [सं० सुभग] एक प्रकार का क्षार जो गरम गन्ध की सोतो से निकलता है । ~कहै कवीर मन लागा, जैसे सोनै मिला सुहागा । ->पद २४०-६, पद ३४०-६ ।

सुहागिनि—संज्ञा स्त्री० [हि०] सौभाग्यवती । ~धन्नि सुहागिनि जो पिय भावै, कह कवीर फिरि जनमि न आवै । ->पद ३३६-५ ।

सुहाय—क्रि० [सं० शोभन] अच्छी लगना । ~सुम्रिति सुहाय सवै कोइ जानै, हृदया तत्व न वूझै । ->सव० १८८-३ ।

सुहेला—संज्ञा पु० [हि०] प्रिय जन । ~देहरि लौं वरी नारि सग है आगै सजन सुहेला । ->सव० १७६-७ ।

सुहेला—वि० दे० 'सुहेली' ।

सुहेली—सज्ञा स्त्री० [हि० सहेली] सखी । ~ननद सुहेली गरव गहेली देवर कै विरहि जरउँ रे । ->पद २३२-४ ।

सुहेली—वि० [स० शुभ ?] सह्य, सहज, सरल और आसान । ~अनी सुहेली सेल की, पडता लेइ उसास । -> सा० कुसव० (३६) १-१, सा० उपज० (५०) १०-१ ।

सूंघत—क्रि० [स० स + घ्राण] सूंघते ही । ~पाचौं नाग पचीसौ नागिनि सूंघत तुरत मरी । ->पद ३२७-४ ।

सूकर—सज्ञा पु० [स०] शूकर, सूअर । ~जो जन गुरु की निन्दा करई, सूकर स्वान जन्म सो धरई । ->र० ६७-५, पद २७५-७, र० ७८-५ ।

सूकरि—सज्ञा स्त्री० [स० सुकरी], सूकरी, सूअरी । ~और सकल ए

कूकरि सूकरि, सुदरि नाउँ न ओपै।
→सव० ६६-१०।

सूखा—वि० [स० शुष्क] शुष्क, नीरस, सूखा हुआ। ~सूखा काठ न जानई कबहूँ बूठा मेह। →सा० निगु० (५५) १-२।

सूचा—वि० [स० शुचि] निर्मल, पवित्र, शुद्ध। ~कहु पंडित सूचा कवन ठाउ। → सव० ७१-१, सव० १३७-७।

सूझ—क्रि० [स० सज्ञान] दिखाई पडना। ~सोतो कहिए ऐसो अबूझ, खसम ठाढ ढिग नाही सूझ। →वसत (४) १२-३।

सूझा—क्रि० [हि० सूझना] समझ मे आया। ~गहनी वधन वानि नहि सूझा, थाकि परे तव किछवो न बूझा। →र० १६-३।

सूझै—क्रि० [स० सज्ञान, हि० सूझना] दिखाई देता है। ~पनिआँ महि पावक जरै अधै आँखिन सूझै। → पद ३४३-२।

सूत—सज्ञा पु० [स० सूत्र] धागा। ~तानै वानै पडी अनँवासी, सूत कहे बुनि गाढ़ी। →सव० ३०-६।

सूता—वि० [सं० सुप्त] सोये हुए को। ~साँई मेरा सुलपना, सूतां देइ जगाइ। →सा० सम्र० (३८) ४-२।

सूता—सज्ञा पु० [स० सूत्र] सूत्र, वधन। ~वाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता, जम वाँधे अजनी के पूता। →र० ६-१।

सूता—क्रि० [हि० सोना] (अज्ञान रूपी निद्रा मे) सोया हुआ। ~ कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि। →सा० सुमि० (२) ११-१।

सूति—सज्ञा स्त्री० [स० स्वाति] स्वाति नक्षत्र। ~आई सूति कबीर को पाया राम रतन। →सा० सुमि० (२) ७-२।

सूती—क्रि० [स० शयन] सो गई। ~ ले सूती पिउ आपनां, चहुँ दिसि अगिनि लगाइ। →सा० सूरा० (४५) ३४-२।

सूत्र—सज्ञा पु० [स०] सक्षेप मे कहा हुआ वचन जो वहुत अर्थ प्रकट करता है। ~क्रितिया सूत्र लोक एक अहई, लाख पचास कै आयू कहई। →र० ५७-१।

सूदा—सज्ञा पु० [स० शूद्र] शूद्र। ~ एक वूंद तै सृष्टि रची है, कौन वाह्मन कौन सूदा। → सव० ५५-४।

सूध—वि० [स० शुद्ध] शुद्ध। ~ जिभ्या वचन सूध नहि निकसै तव सुक्रित की वात कहे। → पद २३३-८, पद ३३२-७।

सूधा—वि० [स० शुद्ध] सीधा। ~ औंधा घडा न जल महि डूवै, सूधा सूभर भरिया। →सव० ३२-७।

सूधी मूठि—वि० [हि० सीधी + मुट्ठी] सीधी मुट्ठी मे पकडकर अर्थात् ठीक लक्ष्य करके। ~ सतगुरु मार्‌या वाण भरि, धरि करि सूधी मूठि। →सा० गुरु० (१) ८-१।

सूनति—संज्ञा स्त्री० [अ० सुन्नत]

खतना, मुसलमानी । ~ सकति सनेह पकरि करि सूनति, मैं न वदउँगा भाई । →सव० ७६-३ ।

सूनां—वि० [स० शून्य] रहित । ~ आसा त्रिसना सव कौं व्यापै, कोई महल न सूनां हो । → सव० १३८-६ ।

सूने—वि० [स० शून्य] आबादी से रहित । ~सूने घर का पाहुना, कासो लावै नेह । →पद २४८-७ ।

सूवस—वि० [स० सु + √ वस्] सुन्दर ढग से वसा हुआ । ~पुर पट्टन सूबस वसै, आनंद ठाँवै ठाँव । →सा० साधुम० (३०) २-१ ।

सूभर—वि० [सं० शुभ्र] स्वच्छ । ~ औंधा घडा न जल महिं डूवै, सूधा सूभर भरिया । →सव० ३२-७ ।

सूभर—वि० [स० सु + हि० भरना] अच्छी तरह से भरा हुआ । ~ऊभर था सो सूभर भरिया, त्रिसना गागरि फूटी । →सव० १५-३ ।

सूमहिं—वि० [अ० सूम + हि० हि] कृपण को, कजूस को । ~सूमहि धन राखन कौं दीया मुगध कहै यहु मेरा । →पद २१६-७ ।

सूर—सज्ञा पु० [स० सूर्य] सूर्य, पिंगला नाडी । ~ससिहर सूर द्वार दस मूँदे लगी जोग जुग तारी । →पद २०१-४, सा० चाँण० (१७) १६-२ ।

सूर—संज्ञा पु० [सं० शूर] वीर । ~ ज्ञानी गुनी सूर कवि दाता, या मति किनहु न नासी । →पद २७२-३, पद ३३७-५ ।

सूरतन—संज्ञा पु० [सं० शूरत्व] शूरता, वीरता । ~सती सूरतन साहि करि, तन मन कीया घाँन । →सा० सूरा० (४५) ३५-१ ।

सूरा—सज्ञा पु० [स० शूर] वीर पुरुष । ~भाई रे अनी लडै सोई सूरा ।→ पद २०५-१ ।

सूरा—सज्ञा पु० [स० शूर] वीर, वहादुर, योद्धा । दे० 'सूर' ।~सारा सूरा वहु मिलै, घायल मिला न कोइ ।→सा० गु० सि० हे० (४३) ११-१, सव० ६८-५ ।

सूरा—सज्ञा पु० [स० सूर्य] सूर्य । दे० 'सूर' । ~जिनि व्रह्मण्ड रच्यौ वहु रचना, वाव वरन ससि सूरा । → सव० ८१-५ ।

सूरातन—भाव० [स० शूरतत्व > प्रा० सूरत्तण > सूरातन] शूरत्व, वीरता । ~कायर हुआ न छूटिहै, कछु सूरातन साहि । →सा० सूरा० (४५) १-१ ।

सूरि—सज्ञा पु० [सं० सूर्य] सूर्य, सूरज । दे० 'सूरा' । ~ देवलि देवलि धाहडी, देसी ऊगे सूरि । →सा० विर० (३) ४४-२ ।

सूरिवाँ—सज्ञा पु० [सं० शूरमानिन्] वीर, वहादुर, सूरमा । दे० 'सूरा' । ~सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सवद जु वाह्या एक । →सा० गुरु० (१) ७-१, सा० सूरा० (४५) ३-१ ।

सूरिवाँ—सज्ञा पु० [स० शूरमानिन्] शूरवीर । ~सतगुर साँचा सूरिवाँ तातै लोहि लुहार । →सा० गुरु० (१) २८-१ ।

सूरै—संज्ञा पु० [सं० शूर] वीर, योद्धा। दे० 'सूर' या 'सूरा'। ~सूरै सार सँवाहिया, पहिरा सहज सँजोग।→ सा० सूरा० (४५) ८-१।

सूल—संज्ञा पु० [स० शूल] सासारिक कष्ट। ~दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौलि। →सा० पर० (५) ४८-२।

सूल—सज्ञा पु० [सं० शूल] काँटा। ~ पग तौ पाला मैं गिला, भाजन लागी सूल।→सा० भेष० (२४) १-२।

सूली—संज्ञा स्त्री० [सं० शूल] नुकीला लौह दंड। ~धड सूली सिर कगुरैं, तऊ न विसारौं तुज्झ।→सा० सूरा० (४५) २६-२, सा० कामी० (२०) १६-१।

सूली—सज्ञा स्त्री० [स० शूल] प्राणदंड देने की एक प्राचीन प्रथा जिसमे दंडित मनुष्य एक नुकीले डंडे पर वैठा दिया जाता था और उसके ऊपर मुंगरा मारा जाता था। ~ सूली ऊपरि नट विद्या, गिरै त नाही ठाम।→सा० सुमि० (२) २६-२।

सूवा—सज्ञा पु० [स० शुक] तोता। ~कहै कवीर नर आपु वंधायौ ज्यो ललनी भ्रमि सूवा।→ सव० १७६-१०।

सूवैं—सज्ञा पु० [स० शुक] तोता, सुग्गा। दे० 'सूवा'। ~चतुराई सूवैं पढी, सोई पजर मांहि।→ सा० चांण० (१७) १४-१, सा० भ्रवि० (२३) ८-२।

सूषा—वि० [सं० शुष्क] सूखा। ~ मंदिर पैसि चहूँ दिसि भीगे, वाहरि रहे ते सूषा।→सव० २५-५।

सूषिम—वि० [सं० सूक्ष्म] सूक्ष्म, वहुत सँकरा। →सा० सू० मा० (१४)।

सेंत—क्रि० वि० [स० सहित] मुफ्त का; विना पूंजी लगाए हुए। ~ स्वामी हूता सेंत का, पैंकाकार पचास।→ सा० चांण० (१७) ४-१।

सेंतिहिं—सज्ञा स्त्री० [स० सहित] व्यर्थ, निरर्थक, निष्प्रयोजन। ~जो कोइ पैंठे धायके, विनु सिर सेंतिहि जाय। →र० २२-६।

सेइए—क्रि० [स०√सेव] सेवा कीजिए, भजन कीजिए। ~तातैं सेइए नाराइना।→सव० १४२-१।

सेउ—सज्ञा स्त्री० [सं० सेवा] सेवा। ~करम करत वधे अहमेउ, मिलि पाथर की करही सेउ।→सव० १०१-५।

सेख—सज्ञा पु० [अ० शेख] मुसलमानो के चार वर्गो में से एक। ~सैयद सेख कितावं नीरखैं, पंडित सास्त्र विचारैं।→पद २३८-६।

सेख—सज्ञा पु० [अ० शेख] प्रतिष्ठित नायक। ~सेख जु कहिअहि कोटि अठासी, छप्पन कोटि जाकै खेल-खासी। →सव० १४१-४।

सेज—सज्ञा स्त्री [स० शय्या] शय्या, पलग। ~सव घटि मेरा सांइयाँ, सूनी सेज न कोय।→सा० साधसा० (२६) १८-१, सा० सूरा० (४५) ३४-१, पद ३३६-४।

सेजरिया—संज्ञा स्त्री० [सं० शय्या] शय्या, पलंग। दे० 'सेज'। ~ **सेजरिया** वैरिनि भई मोकौ, जागत रैनि विहाइ।→सव० २२-७।

सेत—वि० [सं० श्वेत] श्वेत, सफेद, उज्ज्वल। ~वोढैं काला कापडा, नांव धरावैं सेत।→सा० भ्रवि० (२३) ७-२, विप्र० (२) २८, सा० चित्तक० (४२) १-२।

सेता—संज्ञा पु० [सं० सेतु] पुल। ~ मूए चंद मुए रवि सेसा, मुए हनुमंत जिन्हि वावल सेता।→सव ८६-४।

सेती—प्रत्य० [प्रा० सुंतो] से, द्वारा। ~हिन्दू वरत एकादसि साधैं, दूध सिंघारा सेती।→पद ३०४-३।

सेती—कारक चि० [प्रा० सुंतो, पु० हि० सेंति] ~पंडित सेती कहि रहा, कहा न मानै कोइ। → सा० हैरा० (६) १-१।

सेनां—संज्ञा स्त्री० [सं०सेना] समूह। दे० सेनि। ~हरि को दास मरै जो मग-हरि, सेनां सकल तिराई। → पद ३०८-८।

सेनि—संज्ञा स्त्री [सं० श्रेणी] समूह। कवीर तेज अनंत का, मानो सूरज सेनि।→सा० पर० (५) १-१।

सेमर—संज्ञा पु० [सं० शाल्मली] एक वृक्ष जिसके फलों मे केवल रुई होती है। ~ सेमर सेइ सुवा ज्यौं जहँडे, ऊन परे पछिताई हो। → कहरा (३) ६-२।

सेरी—संज्ञा स्त्री० [?] मार्ग, गली। ~ जिहि सेरी साधू गया, सो तो राखी मूँदि। → सा० भेप० (२४) १५-२, सा० मन० (१३) ४-१।

सेल—संज्ञा पु० [सं० शल] वर्छी, भाला। ~भरम भलाका दूरि करि, सुमिरन सेल सँवाहि। →सा० सूरा० (४५) १-२, सा० कुसव० (३६) १-१।

सेली—संज्ञा स्त्री० [हि०] सूत, ऊन या वालो की माला, वद्धी। ~ जटा तोरि पहिरावैं सेली, जोग जुक्ति कै गर्व दुहेली। → र० ७१-२।

सेव—संज्ञा स्त्री० [सं० सेवा] सेवा। ~ जव लगि भगति सकामताँ, तव लग निर्फल सेव। → सा० निह० पति० (११) १०-१।

सेव—संज्ञा स्त्री० [सं० सेवा] पूजा, आराधना। ~तीन देव प्रतखि तोरहि करहि किसकी सेव। → पद २११-१०।

सेवग—संज्ञा पु० [सं० सेवक] सेवक, दास, भक्त। ~ यहु मन दीजै तास कौ, सुठि सेवग भल होइ। → सा० सगति० (२६) ४-१, पद १६८-८।

सेवा—संज्ञा स्त्री० [सं०] उपदेश, रक्षा की वात। ~ तैं सुत मानु हमारी सेवा, तो कँह राज देइहो देवा। → र० ५८-१।

सेवौं—क्रि० [सं० सेवा] सेवा करो। ~ कहै कवीर सेवौं वनवारी, सीचौ पेड पिवै सव डारी।→सव० १६-५।

सेषहु—संज्ञा पु० [सं० शेष] सभी के विनष्ट हो जाने पर जो शेष रहता है, अविनाशी, इन्द्रियातीत। ~

तासे सेषहु जाइ लुकाई, काहू कै परतीति न आई। → र० १३-२।

सेस—सज्ञा पु० [स० शेप] शेप नाग। ~ सेस सहस मुख पार न पावा, सो अब खसम सही समुझावा। → र० ५२-२, सब० २८-६।

सैंवल—सज्ञा पु० [स० शाल्मली] सेमर, एक वृक्ष जिसमे सुगधहीन लाल रंग के फूल लगते हैं तथा फलो मे केवल रुई रहती है। दे० 'सेमर'। ~ऐसा यहु संसार है, जैसा सैंवल फूल।→ सा० चिता० (१२) १३-१, पद २०३-६, सा० भ्रवि० (२३) ८-२।

सैंन—सज्ञा स्त्री० [सं० सज्ञपन] संकेत। सैंन करै मनही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई। → सब० १३-८, सा० गु० सि० हे० (४३) १०-२।

सैंयद—सज्ञा पु० [अ० सैयिद] प्रतिष्ठित मुसलमान, हजरत इमाम हुसेन की औलाद के वशज। मुसलमानो के चार वर्गों मे से एक। ~कहहि कबीर एक सैंयद कहावै, आपु सरीखे जग कबुलावै। → र० ४६-७, पद २२८-६।

सैंल—सज्ञा स्त्री० [फा० सैलाव] प्रवाह, बहाव। ~ जो जीवत ही मरि जानै तौ पच सैंल सुख मानै। → सब० ८-६।

सैंल—सज्ञा पु० [स० शैल] पर्वत, पहाड। ~ जन कवीर का सिषर घर, वाट सलैली सैंल। → सा० सू० मा० (१४) ७-१।

सैंली—सज्ञा स्त्री० [दे०] लकडी का टुकडा, चैली। ~ ह्वै थर चढि गयौ राड की करहा मनह पाट की सैंली रे। → पद २५५-४।

सैंली—वि० [स० स्वैर] स्वच्छन्दतापूर्वक ~वेलडिया द्वै अनी पहूँती, गगन पहूँती सैंली। →पद २५३-३।

सैंवार—सज्ञा पु० [सं० शैवाल] घास-फूस। ~कवीर मदिर ढहि पडा, ईंट भई सैंवार। →सा० चिता० (१२) १७-१।

सो—सर्व० [स० सः] वह। ~जिन यह चित्त वनाइया, सांचा सो सुतधारि →र० २६-६।

सोई—सर्व० [स० स+ओई] वही। ~विद्या वेद पढै पुनि सोई, वचन कहत परतछै होई। → र० ५७-२।

सोई—सर्व० [स० तत्=स] वह, परमतत्व। ~जौ लगि तन मैं आहै सोई, तव लगि चेति न देखै कोई। →र० ५३-३।

सोखा—क्रि० [स० शोषण] सुखा दिया। ~पिरथी का गुन पानी सोखा पानी तेज मिलावहिंगे।→सब० १८४-३।

सोखै—क्रि० [स० शोषण] सुखा देती है। ~उलटी गग समुद्रहिं सोखै, ससिहर सूर गरासै।→सब० ३२-३।

सोग—सज्ञा पु० [स० शोक] दुख। ~सोग वधावा सम कै माना, ताकि बात इन्द्रहु नहिं जाना। →र० ७१-१।

सोच—सज्ञा पु० [स० शोच] विचार।

चिन्ता । ~तातैं फाँसी काल की, करहु आपनो सोच । →र० ६४-६ ।

सोधि—सज्ञा पु० [सं० शोध] विचार कर । ~पडित सोधि कहहु समुझाई जाते आवागमन नसाई । →सव० १७०-१ ।

सोधि—क्रि० [स० शोध] शोध कर । ~वावन अक्खिर सोधि करि ररै ममै चित लाइ । →सा० कथ० बि० क० (१६) २-२ ।

सोधि—क्रि० [स० शोध] खोज कर । ~कामी अमी न भावई, विख ही कौं ले सोधि । →सा० कामी० (२०) १६-१ ।

सोधिया—क्रि० [स० शोध] शोध किया, खोजा । ~आदि अत सव सोधिया, दूजा देखौं काल । →सा० सुमि० (२) ५-२ ।

सोधी—सज्ञा स्त्री० [स० शुद्धि] शुद्धि ~सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सईं न दाति । → सा० गुरु० (१) १-१ ।

सोधैं—क्रि० [स० शोधन] खोजते हैं । ~तीरथ वरत जपैं तप करि करि, वहुत भाँति हरि सोधैं । →पद २५१-३ ।

सोध्यो—क्रि० [स० शोधन] खोजा । ~ मैं तोहि वरजेउँ वार-वार, तै वन-वन सोध्यो डार-डार ।→सव० १०६-३ ।

सोन—सज्ञा पु० [स० स्वर्ण] सोना । ~सर्व सोन की लक उठाई, चलत वार कछु संग न लाई । →र० ५५-४ ।

सोषा—क्रि० [स० शोषण] शुष्क हो जाना, सूख जाना । ~सहज समाधि विरष यहु सीचा, धरती जलहर सोषा । →सव० १२-७ ।

सोहरा—वि० [सं० शुद्ध] शुद्ध, सरल, आसान । ~स्वामी होना सोहरा, दोहरा होना दास । →सा० चाँण० (१७) ३-१, सा० साँच (२२) २-१ ।

सोहरा—सज्ञा स्त्री० [अ० शोहरत] शोहरत, ख्याति, प्रसिद्धि । ~स्वाँग पहिरि सोहरा भया, खाया पीया खूँदि । →सा० भेष० (२४) १५-१ ।

सोहरि—सज्ञा स्त्री० [दे०] नाव के पाल को खीचने वाली डोरी । ~ जेकरे हाथ पाँव कछु नाही, धरै लागु तेहि सोहरि हो । →कहरा (३) १-१६ ।

सौं—प्रत्य० [प्रा० सुतो] समान । ~ हरि रग सौं रंग और न कोई । → पद २५६-२ ।

सौंज—सज्ञा स्त्री० [स० सज्जा] सामग्री, सामान । ~सौंज पराई जिनि अपनावै,ऐसी सुनि किन लेह । →पद २०३-३, सव० १५-६ ।

सौदागर—सज्ञा पु० [फा०] व्यापारी । ~सतगुर साह सत सौदागर तहँ मैं चलि कै जाऊँ जी ।→पद ३०७-१ ।

सौलि—सज्ञा स्त्री० [सं० सौरि] सौरि चादर, सौंड । ~दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौलि । →सा० पर० (५) ४८-२ ।

स्यंभ—संज्ञा पु० [सं० स्वयम्भू] शभु, परमात्मा । ~कुवुधि न जाई जीव की, भावै **स्यंभ** प्रमोधि । →सा० कामी० (२०) १६-२ ।

स्याही—संज्ञा स्त्री० [फा०] कालापन, जवानी ।~स्याही गई सफेदी आई, दिल सपेद अजहूँ न हुआ । →पद २१०-८ ।

स्यूं—अव्य० [सं० सह] सहित। ~ उदै भया जब सूर का, स्यूं तारां छिपि जाइ । →सा० चांण० (१७) १६-२, सा० निगु० (५५) ६-२ ।

स्रवन—सज्ञा पु० [स० श्रवण] कान । ~हाथ पाव मुख स्रवन जीभ विनु, का कहि जपहु हो प्रानी । →सव० ६८-२, सव० १०६-४ ।

स्रिष्टि—सज्ञा स्त्री० [स०] सृष्टि, लोक । ~आँधरि गुष्टि **स्रिष्टि** भौ बौरी, तीनि लोक मँह लागि ठगौरी। →र० ११-१ ।

स्वांग—सज्ञा पु० [स०] नाना प्रकार के वेश, रूप, बाह्याचार, तिलक भस्मादि । ~रहै वदन नहिं स्वांग सुभाऊ, मन अस्थिर नहिं वोलै काऊ। →र० ५१-४, सा० गुरु० (१) २७-२, र० २-७, र० ६७-१ ।

स्वांग—संज्ञा पु० [सं०] बाह्य वेश-भूषा, बनावटी वेश । ~ स्वांग पहिरि सोहरा भया, खाया पीया खूंदि ।→सा० भेष० (२४) १५-१।

स्वादा—भाव० [सं० स्वाद] स्वाद, जिह्वा, स्पर्शेन्द्रिय । ~तहिया होत विद्या नहिं वेदा, तहिया होत सब्द नहिं स्वादा । →र० ७-३ ।

स्वान—सज्ञा पु० [स० श्वान] कुत्ता । ~जो जन गुरु की निन्दा करई, सूकर स्वान जन्म सो धरई । →र० ६७-५, र० ७८-५, सा० कर० वि० क० (१८) ३-२, सव० ५-२ ।

स्वान की पूंछ गह्यो—[मुहा०] निर्बल का आश्रय पकडना । ~कहैं कवीर सुनहु हो सतो,**स्वान की पूंछ गह्यो** । →सव० ६४-८ ।

स्वामीपनो—भाव० [स० स्वामी+पन] स्वामित्व, अहंभाव । ~**स्वामीपनो** जु सिरि चढ्यो सर्यो न एको काम। →सा० चांण० (१७) २-२ ।

स्वारथ—संज्ञा पु० [सं० स्वार्थ] स्वार्थ, अपना लाभ, अपनी भलाई । ~ तेरा संगी कोइ नही, सव **स्वारथ** वँधी लोइ । →सा० चिता० (१२) ५५-१ ।

ह

हंकार—सज्ञा पु० [स० अहकार] गर्व, अहंकार । ~ विनु परचै कस जानिहौ, झूठा है **हंकार** । →र० ५७-५, पद २२३-२, र० ३१-२ ।

हंकारा—सज्ञा पु० दे० 'हकार' ।

हंकारी—वि० [स० अहकारिन्] अभिमानी, अहकारयुक्त । ~ गालिव नगरी गाँउँ बसाया, हाम काम **हंकारी** । → सव० १०४-५ ।

हँकारु—संज्ञा पु० [स० अहकार] अभि-

मान । ~परिहरु लोभ अरु लोकाचारु, परिहरु काम, क्रोध, हँकारु । →मव० १०१-४ ।

हँड़िया—सज्ञा स्त्री० [स० भाडिका] मिट्टी का पात्र । ~ हँडिया हाड हाड थारी मुख,अव पट कर्म वनेऊ । →सव० १६५-४ ।

हदा—अव्य० [राज०] द्वारा, से । ~ कोइ घायल वेधा ना मिलै, साँई हंदा सैन ।→सा० गु० सि० हे० (४३) १०-२ ।

हंस—सज्ञा पु० [स०] विष्णु । ~एकै सैं ब्रह्मै पथ चलाया, एक से हस गोपालहिं गाया । →र० १४-५ ।

हस—सज्ञा पु० [स०] शुद्धात्मा, विवेकी जीव ।~तन मन एकै होय रहै, हस कवीर कहाय ।→र० ५१-६ ।

हउँ—सर्व० [स० अहम्] मैं । ~ तूं जलनिधि हउँ जल का मीनु, जल महिं रहउँ जलहि विनु खीनु । → पद २६१-३ ।

हक—वि० [अ०] सत्य । ~ हक साच खालिक खलक म्यानं स्याम मूरति नाहि ।→ सव० १८१-६ ।

हकराइन्हि—क्रि० [हि० हंकारना] पुकारने लगे ।~उर्ध निसासा उपजि तरासा, हकराइन्हि परिवारा हो । →कहरा (३) ६-३ ।

हक्क—संज्ञा पु० [अ० हक] सत्य, ईश्वर । ~ कुकडी मारै वकरी मारै हक्क हक्क करि वोलै । → पद २३०-७ ।

हज—सज्ञा पु० [अ०] मुसलमानो का एक धार्मिक कृत्य जो मक्के मे जाकर अदा करना पडता है, मक्का तीर्थ की यात्रा । → हज कावै ह्वै ह्वै गया, केती वार कवीर । → सा० वीन० (५६) ६-१, सव० २३-६, सा० साँच० (२२) ११-१ ।

हजरत—सज्ञा पु० [अ० हज़रत]महात्मा, महापुरुप । ~ नही महादेव नही मोहम्मद हरि हजरत तव नाही ।→ सव० ३१-३ ।

हजारी—वि० [फा०] वहुमूल्य । ~ भगति हजारी कापडा, तामैं मल न समाइ ।→सा०साधु०(२८)१३-१ ।

हजूर—संज्ञा पु०[फा० हुजूर] उपस्थिति, प्रत्यक्ष ।~हौ हजूर ठाढो कहौ, धोखे न जन्म गवाँव ।→र०२४-७ ।

हजूर—क्रि० वि० [फा०] सामने, प्रत्यक्ष । ~साँई सौं साँचा भया, रहसी सदा हजूर । → सा० सूरा० (४५) ५-२, सा० पर० (५) २६-२, सा० गुरु० (१) ३५-२, पद ३४६-१ ।

हजूर—संज्ञा स्त्री० [अ० हुजूर] उपस्थिति, विद्यमानता । ~ टुक दम करारी जउ करहु हाजिर हजूर खुदाइ ।→सव० १८१-४ ।

हजूरि—क्रि० वि० दे० 'हजूर' ।

हटकैं—क्रि० [हि० हटकना] नियन्त्रण करना । ~ अन को त्यागै मन नहिं हटकै, पारन करै सगोती । → पद ३०४-४ ।

हटवारा—संज्ञा पु० [स० हट्ट+वार] हाट, वाजार । ~जग हटवारा स्वाद ठग, माया वेसाँ लाइ । → सा० माया (१६) १-१ ।

हटलो—क्रि० [हि० हटकना] मना करने पर। ~ हटलो न मानेहु मोर हो रमैया राम।→वेलि(६)१-१४।

हटवाई—संज्ञा स्त्री० [हि०] सौदा, क्रय-विक्रय। ~राम नाम की करहुँ वनिजिया, हरि मोरा हटवाई हो। →कहरा (३) ४-२, सव० ६०-३।

हटा—क्रि० [हि० हटकना] रोकना। ~कोई काहुको हटा न मानै,आपुहि आप मुरादी। →पद २६६-४।

हटा—संज्ञा स्त्री० [हि० हटकना से] मना करने से। ~हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानै, स्वाद सवनि को मीठा →पद ३०४-२।

हटा—संज्ञा पु० [हि० हटना] निषेध। ~कोउ काहु को हटा न माना, झूठा खसम कवीर न जाना। → र० १४-८।

हठिल—वि० [हि० हठ+इल(प्रत्य०)] हठ करने वाली, मानिनी। ~जव हम रहली हठिल दिवानी तव पिय मुखा न वोला। →पद ३४०-३।

हत—वि० [स०] नष्ट। ~नगर एक तहँ जीव धरम हत, वसै जु पच किसाना। →सब० १०-३।

हता—क्रि० [सं० आसीत्] था। ~ जा दिन किरतम नाँ हता, नही हाट नहिं वाट। → सा० पर० (५) २८-१।

हते—क्रि० [स० आसीत्] थे। ~ तव हरि हरि के जन हते, कहै कवीर विचारा। →सा० पर० (५) २७-२।

हतै—क्रि० [सं० हत] हनन करता है। ~कवीर काजी स्वादि वसि, ब्रह्म हतै तव दोइ। →सा० साँच० (२२) ६-१।

हत्थ—सज्ञा पु० [स० हस्त] हाथ। ~सायर माँहि ढँढोलता हीरै पडि गया हत्थ। ↦सा० पर० (५) ३४-२।

हथलेवा—संज्ञा पु० [हि० हाथ+लेना] पाणिग्रहण। ~हथलेवा हौंमै लिया मुसकल पडी पिछाँनि। →सा० भेष० (२४) २४-२।

हद—संज्ञा स्त्री० [अ०] सीमा, समीम। दे० 'हद्द'। ~दीपक विनु जोति जोति विनु दीपक, हद विन अनाहद सवद वागा। →सव० ११६-६, सा० चिता० (१२) ५०-१।

हदे—सज्ञा स्त्री० [अ०] सीमा, ससीम होने की स्थिति। ~हदे छांडि वेहदि गया, हुवा निरन्तर वास। ↦सा० पर० (५) ५-१।

हद्द—सज्ञा पु० [फा०] सीमा। ~हद्द छाडि वेहद गया, किया सुन्नि अस-नान। →सा० पर० (५) ११-१।

हनत—क्रि० [सं० √ हन्] वध करते हैं, हत्या करते हैं, काटते हैं। ~ दिन को रोजा रहतु हौ, राति हनत हौ गाय। →र० ४६-८।

हनै—क्रि० [सं० √ हन्] नष्ट कर देती है। ~दुहु कात्यां विचि जीव है, द्वौ हनै संतौ सीख। →सा० उपदे० (३४) ५-२।

हबीबी—सज्ञा पु० [अ०] प्रिय व्यक्ति, मित्र। ~ नबी हबीबी के जो कामा, जहँ लै अमल सो सबै हरामा। → र० ४८-५।

हमेव—सज्ञा पु० [स० अहम्] अहंकार। ~ तपसी माते तप के भेव, संन्यासी माते करि हमेव। → वसंत (४) १०-३।

हर—सज्ञा पु० [स०] शिव। ~ हर हरपित सो कहल भेव, जहाँ हम तहाँ दूसर न केव। → वसत (४) ११-८।

हरखिऐ—क्रि० [स० हर्ष] प्रसन्न होना। ~ संपै देखि न हरखिऐ विपति देखि ना रोइ। → पद २४५-६।

हरखियां—क्रि० [स० हर्ष] प्रसन्न होकर, उमग मे आकर। ~ पद गाए मन हरखियां, साखी कहैं अनन्द। →सा० क० वि० क०(१८) ४-१।

हरत—क्रि० [स० हरण] हरण करते हुए। ~ हरत इहाँ ही हारिया, परति पडी मुखि धूलि। → सा० चिता० (१२) ३२-२।

हरदम—क्रि० वि० [फा०] निरन्तर।~ भूला वे अहमक नादाना, तुम हरदम रामहि ना जाना।→पद २१०-१।

हरम—सज्ञा पु० [अ०] अन्तःपुर। ~बीबी बाहर हरम महल मैं, बीच मिया का डेरा। →सब० १३४-६।

हरहाई—वि० [दे०] नटखट, निरकुश, दुष्ट। ~ राजदुवारै यौं फिरै, ज्यौं हरहाई गाइ। → सा० चाँण० (१७) ६-२, पद २०६-६।

हरामीं—वि० [अ०] दुष्ट, दोगला। ~पांच कुटुम्बी महा हरामीं अम्रित मैं बिख घोलै। → पद २१४-५।

हराम—वि० [अ०] विमुख। ~कबीर माया पापिनी, हरि सौ करै हराम। → सा० माया० (१६) ४-१।

हरामा—वि० [अ०] अपवित्र। ~ नबी हबीबी के जो कामा, जहँ लै अमल सो सबै हरामा। → र० ४८-५।

हरि—सज्ञा पु० [स०] जीव। ~देखहु लोगो हरि की सगाई, माय धरी पूत धिये सग जाई।→सब० १५१-१।

हरि—सज्ञा पु० [स०] दुःखो का हरण करने वाला, प्रभु। ~ जाके हरि सा ठाकुर भाई, सो कत अनत पुकारन जाई। → सब० १६-३।

हरि—सज्ञा पु० [स०] विषयाग्नि। ~ हरि उतग तुम जाति पतंगा, जमघर कियहु जीव को सगा। → र० ६५-६।

हरि—सज्ञा पु० [स०] सूर्य। ~कहै कबीर हरि के गुन गाया, कुन्ती करन कुँवारहि जाया।→र० ८१-४।

हरिअर—वि० [स० हरित] हरा-भरा। ~जानै हरिअर रूखड़ा, उस पानी का नेह।→सा० निगु० (५५) १-१।

हरिजन—सज्ञा पु० [सं०] भक्त।~है हरिजन सौ जगत लरत है।→पद ३४७-१।

हरिया—वि० [सं० हरित] हरा। दे० 'हरिअर'।~आगे आगे दी जलै,

पीछे हरिया होइ ।→सा० वेली० (५८) २-१ ।

हरी—क्रि० [स० हरण] हर लिया, हरण किया । ~ सुरपति जाय अहीलहि छरी, सुरगुरु घरनि चन्द्रमै हरी । →र० ८१-३ ।

हलका—वि० [सं० लघुक, प्रा० लघुअ] कम वजन का ।~नाँ सो भारी नाँ सो हलका ताकी पारिष लपै न कोई । →पद २८०-४ ।

हलदि—सज्ञा स्त्री० दे० 'हलदी' ।

हलदी—सज्ञा स्त्री० [स० हरिद्रा] हल्दी । ~सखी सहेली मंगल गावै, दुख सुख माथे हलदी चढ़ावै ।→ पद ३१२-४, पद २३८-४ ।

हलाये—क्रि० [हि० हिलाना] हिलाना, नाना प्रकार की भगिमाएँ बनाना । ~देह हलाये भगति न होई, स्वाग धरे नर बहु विधि जोई ।→र० ६७-१ ।

हलाल—वि० [अ०] विधिविहित जवह किया हुआ । ~जोति सरूपी हाथि न आया कहौ हलाल क्यूं कीआ ।→ पद २३०-४, सव० २४-३, पद २१०-३ ।

हलाल—क्रि० [अ०] पशुओ को मुसलमानी शरअ के अनुसार गला रेत कर मारना । ~वै हलाल वै झटका मारै, आगि दुनी घर लागी ।→पद ३०४-८, सा० साँच० (२२) ८-१ ।

हलाहल—सज्ञा पु० [स०] विप । ~ कवीर मूल निकदिया, कौन हलाहल खाइ ।→सा० भ्रवि० (२३) ६-२ ।

हलुका—वि० [स० लघुक] सूक्ष्म, हलका, जो तौल में भारी न हो । दे० 'हलका' । ~रूप अरूप जाय नहि वोली, हलुका गरुआ जाय न तोली ।→र० ७७-३ ।

हवाल—संज्ञा पु० [अ० अहवाल] हाल, दशा, अवस्था, स्थिति । ~कहहि कवीर पुकारि के, सभ का इहै हवाल ।→र० ५२-५, सा० विर० (३) २-२, सा० साँच० (२२) ८-२ ।

हव्वा—सज्ञा स्त्री० [अ०] सामी वर्मों के अनुसार मूल पुरुप की पत्नी ।~ कहँ तव आदम कहँ तव हव्वा कहँ तव पीर पैगम्वर हुवा । →सव० ४०-२ ।

हसत—क्रि० [स० √हस्] हँसता है । ~ज्यो ज्यो नर निघडक फिरै, त्यो त्यो काल हसत । →सा० काल० (४६) ३०-२ ।

हसत—क्रि० [स० √ हस्] हँसते हुए । ~दोप पराया देखि कै, चला हसत हसत । →सा० निन्द्या० (५४) २-१ ।

हस्तिनि—सज्ञा स्त्री० [सं० हस्तिनी] हथिनी । ~हस्तिनि फदे हस्ती रहई, मृगी के फदे मृगा परई । → र० ५०-३, चाँचर (५) २-७; पद १६३-४ ।

हस्ती—सज्ञा पु० [स०] हाथी । ~ हस्ती चढ़ि नहि डोलिए, कूकुर भुसै जु लाख । →सा० वेसा० (३५) १२-२ ।

हहि—क्रि० [सं० √ अस्] है । ~

तीनि लोक जाकै हहि भारा, सो काहे न करै प्रतिपारा। →सव० १६-४।

हाकै—क्रि० [प्रा० √ हक्क] किसी को बुलाने के लिए जोर से शब्द करना, हँकवा लगाना। ~रोहै मिरिग ससा वन हांकै, पारधी वान न मेलै। →सव० ४४-५।

हांडी—सज्ञा स्त्री० [स० भाड] मिट्टी का वर्तन, हडिया। ~काया हांडी काठ की, ना ऊँ चढै वहोरि। → सा० चिता० (१२) ३१-२।

हांम—सज्ञा पु० [स० अहम्] अहंकार। ~गालिव गगरी गाँउँ वसाया, हाम काम हकारी। →सव० १०४-५।

हाकिमा—सज्ञा पु० [अ० हाकिम] शासक। ~जोति सरूपी हाकिमा जिन अमल पसारा। →पद ३१६-६।

हाट—सज्ञा स्त्री० [सं० हट्ट] वाजार। ~हाट वजारै लावै तारी, काचे सिद्धहिं माया प्यारी। → र० ६६-३।

हाटि—सज्ञा स्त्री० [स० हट्ट] वाजार मे। ~कवीर माया पापिनी, फंद ले वैठी हाटि। →सा० माया (१६) २-१, सा० सूरा० (४५) २१-१।

हाड़—सज्ञा पु० [स० हड्ड] हड्डी। ~हाड़ गला माटी गली, सिर साटे व्यौहार। →सा० सूरा० (४५) २८-२, सव० १६५-४, सब० ६-४।

हाड़ि—संज्ञा स्त्री० [स० भाडिका] मिट्टी का एक छोटा पात्र, हँडिया। दे० 'हाडी'। ~पाहन टाँकि न तोलिए, हाड़ि न कीजै वेह। → सा० सगति० (२६) ५-१।

हाय झारि—[मुहा०] खाली हाथ। ~कहै कवीर अन्त की वारी, हाथ झारि जैसे चला जुआरी। →सव० ६२-६।

हाथि—सज्ञा पु० [स० हस्त] हाथ से। ~पाइ कुहाडा मारिया, गाफिल अपनै हाथि। →सा० चिता० (१२) ४३-२।

हाथी—वि० [स० हस्त] हाथ का सहारा। ~काहे वीहो मेरे साथी, हूँ हाथी करि हेरा। → सव० ८१-१।

हारा—सज्ञा पु० [स० हार] सोने, चाँदी आदि की माला, जो गले मे पहनी जाए। ~चदन चूर चतुर सम लेपहिं, गरे गजमुकुता हारा हो। →कहरा (३) ६-५।

हारिया—क्रि० [हि० हारना] हार गया; खो वैठा। ~हरत इहा ही हारिया, परति पडी मुखि धूलि। → सा० चिता० (१२) ३२-२।

हारी—क्रि० [हिं० हारना] नष्ट कर दिया। ~ झूठा वनिज कियो झूठे सो, पूंजी सवन मिली हारी। → सव० १५६-२।

हालै—अव्य० [अ० हाल] शीघ्र, जल्दी। ~हालै करै निसाने घाउ, जूझि परे तंह मनमथ राऊ। →र० ८३-५।

हाहू—सज्ञा पु० [दे०] शोरगुल, कोला-

हल। ~अवरन वरन स्याम नहिं पीत, हाहू जाइ न गावै गीत। → सब० ४३-५, सब० १४०-८।

हिंडोलना—सज्ञा पु० [स० हिन्दोला] झूला। ~ दरिया पार हिंडोलना मेल्या कत मचाइ। →सा० सुन्द० (५२) ५-१, सब० ३४२-१।

हिंडोला—सज्ञा पु० [स० हिन्दोल] भ्रम का झूला। दे० 'हिंडोलना'। → हिंडोला (८) ४।

हिचहि—क्रि० [हि० हिचकना] हिचकता है। ~ चलु रे वैकुठ तुझहि लै तारउँ, हिचहि त प्रेम ताजनै मारउं। → सब० ३-४।

हित—वि० [स०] हितैषी, भलाई चाहने वाले। ~सोई हित बधु मोहि मन भावै, जात कुमारग मारग लावै। → र० ६६-१।

हित—सज्ञा पु० [स०] प्रेम। ~कवीर हद के जीव सौ, हित करि मुखाँ न वोलि। →सा० चिता० (१२) ५०-१।

हित्त—सज्ञा पु० [स० हित] हित, भलाई। ~जासो कियहु मिताई, सो धन भया न हित्त। →र० ५८-५।

हिम—सज्ञा पु० [स०] वर्फ। ~पानी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया विलाइ। → सा० पर० (५) १७-१।

हियाँहि—संज्ञा पु० दे० 'हिये'।

हियाली—सज्ञा पु० [सं० हृदय] हृदय मे। दे० 'हियाँहि'। ~कवीर तासु मिलाइ, जासु हियाली तू वसै। → सा० साधु० (२८) १०-१।

हिये—संज्ञा पु० [सं० हृदय] हृदय मे। ~ जेहि कर सर लागे हिये, सोई जानै पीर। → र० ६८-६, सा० विर० (३) २६-२।

हियेहु की फूटी—[मुहा०] ज्ञान चक्षु का नष्ट हो जाना। ~ सर्व्हहि समुझि सुधारत नाही, आंधर भए हियेहु की फूटी। →सब० १६१-२।

हिरदा—सज्ञा पु० [सं० हृदय] हृदय। ~ हिरदा भीतरि आरसी, मुख देखा नहिं जाइ। → सा० मन० (१३) ८-१, सा० गु० सि० हे० (४३) ६-२।

हिरदै—सज्ञा पु० [स० हृदय] हृदय, वह आतरिक गुहा या केन्द्र जिसमे प्रत्यगात्मा का निवास है। ~ गुरु किरपाल कृपा जव कीन्ही, हिरदै कँवल विगासा। → सब० १३-३।

हिरदै—सज्ञा पु० [सं० हृदय] हृदय मे। ~ अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ। → सा० पर० (५) २८-२, सा० वेसा० (३५) १८-१।

हिरदै—सज्ञा पु० [स० हृदय] हृदय। दे० 'हिरदा'। ~ हिरदै भीतरि दौ वलै, धुवाँ न परगट होइ। → सा० ग्या० वि० (४) ३-१, सा० निगु० (५८) ७-२।

हिरन्य—सज्ञा पु० [स० हिरण्य] स्वर्ण, सोना। लोह हिरन्य होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसैं। → प[illegible] २७२-५।

हिरांनौ—क्रि० दे० 'हिराइ'।

हिराइ—क्रि० [हि० हरण] खो गया। ~हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ। →सा० लांवि० (७) ३-१, पद २३४-१।

हिलोरा—संज्ञा पु० [स० हिल्लोल] लहर, मौज। ~पानी माँहि तलफि गौ भूभुरि, धूरि हिलोरा देई। → पद ३२३-३।

हींगलू—सज्ञा पु० [स० हिंगुल] पारा, गधक, पोटाश और पानी के योग से वनायः गया लाल रग का पदार्थ जिससे स्त्रियाँ शृंगार करती है। ~वाहरि ढोल्या हींगलू, भीतरि भरी भँगारि। →सा० भेष० (२४) ७-२।

हींडत—क्रि० [दे०] खोजते हुए। ~झ झा अरुझि सरुझि कत जान हींडत ढूढत जाहि परान। →ज्ञानचौं० (१) १६।

हीन—वि० [स०] दुर्वल। ~जव लगि हीन पडै नहि वाजी, तव लगि भजि मन सारगपानी। →पद २०२-६।

हीरा—संज्ञा पु० [स० हीरक] सर्वोत्तम रत्न, वज्र। ~अमृत वरिसै हीरा निपजै, घटा पड़ै टकसाल। →सा० पर० (५) ४७-१।

हीला—क्रि० [हि० हिलना = प्रवेश करना] प्रवेश किया। ~गण्डक सालिगराम न सीला, मच्छ कच्छ होय जल नही हीला। →र० ७५-८।

हुकुम—सज्ञा पु० [अ० हुकुम] आदेश, आज्ञा। ~वकरी मुरगा किन फरमाया, किसके हुकुम तुम छुरी चलाया। →र० ४६-५।

हुजरे—संज्ञा पु० [अ० हुजूर] मस्जिद के निकट की कोठरी। ~रोजा वग निमाज का कीजै, हुजरे भीतर पैठि मुआ। →पद २१०-६।

हुरमति—सज्ञा स्त्री० [फा०] सम्मान, प्रतिष्ठा, इज्जत। ~कहै कवीर वाप राँम राया, हुरमति राखहु मेरी। →सव० ८१-१०।

हुलराए—क्रि० [हि०] प्रसन्न करना। ~तौ का परोसनि कै हुलराए। → सव० १३०-२।

हुसियारा—वि० [फा० होशियार] सावधान, सचेत। ~कहा हमार गाँठि दृढ वाधे, निसि वासर रहियो हुसियारा। →पद ३२४-६।

हुसियारा—वि० [फा० होशियार] चतुर, वुद्धिमान। ~सकल कवीरा वोलै वीरा, अजहूँ हो हुसियारा। →सव० ६४-१६।

हूँ—भाव० [स० अह] मेरापन, अहभाव। ~तूँ तूँ करता तू भया, मुझ मैं रही न हूँ। →सा० सुमि० (२) ६-१।

हूलसै—क्रि० [स० उल्लास] उल्लसित होता है। ~ज्योतिहि देखि पतंग हूलसै, पसू न पेखै आगी। →पद २२८-४।

हूवा—क्रि० [स० भू = होना] हो गया। ~गूँगा हूवा वावला, वहरा हूवा कान। →सा० गुरु० (१) १०-१।

हेत¹—संज्ञा पु० [सं० हित] प्रेम।

हेत²—अव्य० [स० हित] लिए। ~ सूरा तबही परषिये, लड़ै धनी कै हेत। →सा० सूरा० (४५) ६-१।

हेत—संज्ञा पु० [स०) प्रेम, स्नेह। ~दुइ मिलि एकै होय रहा, (मैं) काहि लगावौं हेत। →र० ७१-८, सा० चित्त०क० (४२) १-१, पद ३३३-४, सब० ५६-४, सा० चाँण० (१७) ६-१। सब० ८३-४।

हेतु—सज्ञा पु० दे० 'हेत'।

हेरत हेरत—क्रियावाची अव्य० [हि० हेरना] खोजते-खोजते, ढूंढते-ढूंढते। ~ हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ। → सा० लांबि० (७) ३-१।

हेरा—क्रि० [स० आखेट] ढूंढा, खोजा। ~तीरथि मूरति राम निवासी, दुहु महिं किनहु न हेरा। →सब० २३-१०।

हेरा—क्रि० [सं० आखेट] हेरना, खोजना, ढूंढना। →सा० गु० सि० हे० (४३)।

हेरिन्हि—क्रि० [हि० हेरना] खोजा, देखा। ~जतइत के धन हेरिन्हि ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो। →कहरा (३) २-१२।

हेरिया—क्रि० [स० आखेट से] खोजा, ढूंढा। दे० 'हेरा'। ~कबीर सब जग हेरिया, मदल कधि चढ़ाइ। → सा० विर्क० (३७) १०-१।

है—सज्ञा पु० [सं० हय] घोडा। ~ है गै वाहन सघन घन, छत्र धुजा फहराइ। →सा० साधुम० (३०) ४-१।

हैबर—सज्ञा पु० [स० हयवर] श्रेष्ठ घोडा। ~हैबर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देबा गाड। →सा० चिता० (१२) ११-२।

होता—क्रि० [स०√भू] था। ~ कबीर यह मन कत गया, जो मन होता काल्हि। →सा० मन० (१३) २२-१।

होनिहार—वि० [हि० होनहार] होने वाला, घटित। ~बारहु ते पुनि वृद्ध हुवा जब, होनिहार सो होया। →सब० ३१६-५।

होमै—क्रि० [हि०] हवन कर दिया, जला दिया। ~ब्रह्महि पकरि अगिनि महँ होमै, मच्छ गगन चढि गाजा। →सब० १४४-३।

होयके—क्रि० [हि० होकर] होकर, बनकर। ~पाहन होयके सब गये बिनु भितियन को चित्र। →र० ५६-४।

होरी—सज्ञा स्त्री० [हि० होली] फाग ~सतगुरु संग होरी खेलिए। →पद ३०६-१।

हौं—सर्व० [स० अहम्] मै। ~नाँ हौं देखौं और कूं, ना तुझ देखन देउँ। →सा० निह० पति० (११) २-२।

हौंस—सज्ञा स्त्री० [अ० हवस] हौसला, उत्साह, उमग। ~क्या लै गुरु सतोपिए, हौंस रही मन माँहि। → सा० गुरु० (१) ४-२।

हौंस—सज्ञा स्त्री० [अ० हवस] प्रवल इच्छा, लालसा। ~सूधा जल पीवै नही, खोदि पियन की **हौंस**। → र० ३३-६।

हौंसें—क्रि० वि० [अ० हवस] उल्लास-पूर्वक। ~हथलेवा **हौंसें** लिया, मुसकल पडी पिछांनि। →सा० भेप० (२४) २४-२।

हौवा—सज्ञा स्त्री० [अ०] आदम के साथ उत्पन्न की गई स्त्री। ~आदम आदि सुद्धि नहिं पाई, मामा **हौवा** कहाँ ते आई। →र० ४०-१।

ह्रिदा—सज्ञा पु० [स० हृदय] हृदय। ~कदली पुहुप दीप परकास, **ह्रिदा** पकज महि लिया निवास। → सव० ४३-६।

ह्रिदै—सज्ञा पु० [स० हृदय] हृदय मे। ~कहै कबीर जानैगा सोइ, **ह्रिदै** राम मुखि रामै होइ। →सव० ७४-५, पद २५४-१।

ह्वैंला—क्रि० [दे०] हो जाता है। ~चदन कै ढिग विरिख जु भैला; विगरि विगरि सो चदन **ह्वैंला**। →सव० ६६-३, ४, ५, ६।

ह्वैसी—क्रि० [स०√भू] हो जाएगी। ~**ह्वैसी** आटा लोन ज्यौ, सोना सवा सरीर।→सा० चिता० (१२) ४८-२।

पारिभाषिक एवं प्रतीकात्मक शब्द

अ

अकुर—सज्ञा पु० [स०] वासना। ~गत फल फूल तत तरु पल्लव, अंकुर बीज नसांनं। →सव० १५८-२।

अकुर—सज्ञा पु० [सं०] अहकार। ~अकुर बीज नसाय कै, भए विदेही थान। →र० ३५-८।

अंगार—सज्ञा पु० [सं०] जीवन तत्त्व। ~धवणि धवती रहि गई, वुझि गए अगार। →सा० काल (४६) २१-१।

अंगारं—सज्ञा पु० [स० अगार] दहकता कोयला, ज्ञान। ~चकवा वैसि अगारं निगलै समद अकासा धावा। →पद ३३१-८।

अड—संज्ञा पु० [सं० अण्ड] शरीर। ~आस ओस अड मंह रहई, अगनित अड न कोई कहई। →र० ७४-३।

अंधरा—वि० [स० अध] अधा, अन्तर्दृष्टिसपन्न। ~तीनि लोक ब्रह्मण्ड खण्ड मैं, अँधरा देख तमासा। →सव० २८-६।

अँधेरे—वि० [सं० अध] अधा, मन। ~इक अँधेरे जग खाइया, सबका भया विनास। →र० ५३-७।

अंधा—वि० [स०] नेत्रविहीन, ज्ञानहीन, अज्ञानी। ~पैंडे मोती बीखरे, अंधा निकसा आइ। →सा० अपा० (४८) ४-१, पद ३४३-२।

अधं—संज्ञा पु० दे० 'अधा'।

अंबर—सज्ञा पु० [स० अम्वर] आकाश, ब्रह्मरध्र। ~उन मोतियन मैं नीर पोयौं, पवन अंबर धोइ। →सव० ४५-४।

अवु—संज्ञा पु० [सं०] जलविन्दु,तन्मात्रा, परमाणु आदि। ~अवु कि रासि समुद्र कि खांई, रवि ससि कोटि तैतिसो भाई। →र० ४१-१।

अमर—सज्ञा पु० [स० अम्बर] गगन, गुफा। ~त्रिकुटि कुडल मधे मंदर वाजै, औघट अमर भीजै। →सब० १४४-६।

अम्रित—संज्ञा पु० [सं० अमृत] सहस्रार पद्म के मूल मे योनि नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केन्द्र है, वही चन्द्रमा का स्थान है। वही से अमृत झरता है। इसी को सोमरस कहते हैं। ~गगन गरजि अम्रित चुवै, कदली कँवल प्रकास। →सा० पर० (५) ४०-१, पद ३२-१३।

अकास—सज्ञा पु० [स० आकाश] आकाश, ऊर्ध्व भाग, ब्रह्माड। ~महि अकास दुइ गाड खँदाया, चांद सुरुज दुइ नरी बनाया। →र० २८-२।

अकासहिं—सज्ञा पु० [स० आकाश] ब्रह्मरध्र। दे० 'अवर'। ~उलटी गग मेर कूं चली, धरती उलटि अकासहिं मिली। →सब० ४७-७, सव० ३२-१२, सब० १५२-२।

अकासा—संज्ञा पु० [सं० आकाश] निर्मल आत्मा। ~चकवा वैसि

अगारै निगलै समद अकासा धावा।
→पद ३३१-८।

अकासि—सज्ञा पु० [सं० आकाश] शून्य ब्रह्मरंध्र। ~ऊँचा बिरिख अकासि फल, पखी मूए झूरि। →सा० सूरा० (४५) १७-१।

अकासि—सज्ञा पु० [सं० आकाश] शून्य-आकाश, ब्रह्मरन्ध्र। ~कबीर मन पखी भया, उडिकै चढा अकासि। →सा० मन (१३) २५-१।

अकासै—सज्ञा पु० दे० 'अकासहिं'।

अगम—वि० [स० अगम्य] जहाँ तक किसी की पहुँच नही है,अर्थात् निर्गुण ब्रह्म। ~कबीर देखा इक अगम, महिमा कही न जाय। →सा० पर० (५) ३८-१।

अगम्म—वि० [स० अगम्य] जहाँ प्रवेश नही हो सकता, पहुँच के बाहर, निर्गुण। ~तहिया होत गुरू नहिं चेला, गम्म अगम्म न पंथ दुहेला। →र० ७-५।

अगिनि—सज्ञा स्त्री० [स० अग्नि] अग्नि, ज्ञानाग्नि। ~चूल्है अगिनि बुताइ करि चरखा दियौ दिढाइ। →पद २३५-८।

अगिनि—संज्ञा स्त्री० [स० अग्नि] कुडलिनी। ~ब्रह्महि पकरि अगिनि महँ होमै, मच्छ गगन चढि गाजा। →सब० १४४-३।

अगुआ—सज्ञा पु० [स० अग्र + हि० उआ (प्रत्य०)] अग्रणी, उपदेशक गुरुआ लोग। ~उनई बदरिया परिगौ संझा, अगुआ भूले वनखंड मझा। →र० १५-१।

अजनी—सज्ञा स्त्री० वि० [स० अ + √जन् + ई] जो कभी पैदा नही हुई है, प्रकृति या माया। ~बाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता, जम बाँधे अजनी के पूता। →र० ६-१।

अजपा—संज्ञा पु० [अ + हि० जपना] सहज भाव से जप, मुख से बिना उच्चारण किया हुआ जप। प्रत्येक व्यक्ति चौबीस घंटे मे २१६०० श्वास भीतर लेता है और २१६०० उच्छ्वास बाहर फेंकता है। योगियो का विश्वास है कि श्वास-प्रश्वास मे जीव स्वयं सदा 'सोऽहं' अथवा 'हंस' ध्वनित करता रहता है। यदि हम श्वास-प्रश्वास के साथ बिना उच्चार किए हुए, बिना बोले हुए अवधानपूर्वक 'सोऽहं' अथवा 'हंस' का जप करते रहे तो वह अजपा जप कहलाता है। ~सुरति समानी निरति मैं अजपा माँहै जाप। → सा० पर० (५) २३-१, पद २४६-२।

अदीठ—वि० [सं० अ + दृष्ट] अदृष्ट, परमात्मा। ~इस मन कौं बिसमल करौं, दीठा करौ अदीठ। →सा० मन० (१३) ६-१।

अधर—सज्ञा पु० [सं०] वह, जिसका आधार न हो, शून्य, ब्रह्मरन्ध्र। दे० 'अकासि'। ~मनुवाँ तौ अधर बसा, बहुतक झीनाँ सोइ। → सा० मन० (१३) १४-१।

अधारी—संज्ञा स्त्री० [सं० आधार] लकडी की टेक, लोभ या काम। ~प्रगट सो कंथा गुप्ताधारी, तामे मूल सजीवन भारी। →सव० १२५-३।

अनत—वि० [सं०] परम ज्योति, प्रभु, परमात्मा, ब्रह्म। ~कबीर तेज अनंत का, मानो सूरज सेनि। → सा० पर० (५) १-१।

अनबेधा हीरा—वि० [सं० अनविद्ध हीरक] अन्तरात्मा, जिसमे कोई छिद्र या दोप नही है और जो सदा प्रकाशमान है। ~संसै सावज वसै सरीरा, ते खायो अनबेधा हीरा। →र० १८-४।

अनल—संज्ञा पु० [सं०] अग्नि, विषयाग्नि। ~अनल जोति डाहै एक संगा, नैन नेह जस जरै पतंगा। → र० २३-३।

अनूप—वि० [सं० अनुपम] अनुपम, परम-तत्व। ~कहै कबीरा संत हो, परि गया नजरि अनूप। →सा० पर० (५) २४-२।

अरध उरध—यौ० [सं० अध' ऊर्ध्व] नीचे-ऊपर, इडा-पिंगला नाडियाँ। ये सुषुम्ना के ऊपर एक दूसरे के ऊपर से होती हुई आज्ञा चक्र मे सुषुम्ना से मिलती हैं। ~अरध उरध की गंगा यमुना, मूल कँवल को घाट। →पद ३४२-६।

अर्ध—वि० [सं० अधर] नीचे, मूलाधार चक्र। ~अर्ध छोड़ि उर्ध मन लावै, आपा मेटि कै प्रेम बढावै। →ज्ञान चौं० (१) ४२।

अलख—वि० [सं० अलक्ष्य] अलक्ष्य, माया। ~अलख जो लागी पलक मे; पलकहि मँह डसि जाय। → र० २६-७।

अलख—वि० [सं० अलक्ष्य] अलक्ष्य, जो दिखाई न दे, निराकार, ईश्वर। ~चाँद विहूँना चादिना, अलख निरंजन राइ। → सा० पर० (५) १५-२।

अलेख—वि० [सं० अलक्ष्य] अलक्ष्य, निराकार ब्रह्म। ~जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख। →सा० पर० (५) १२-२।

अवधू—संज्ञा पु० [सं० अवधूत] वह साधक जिसने अपनी सारी निम्न प्रवृत्तियो और संस्कारो को झकझोर कर बाहर फेंक दिया है। नाथ सम्प्रदाय के साधक अपने को योगी अथवा अवधूत कहते थे। कबीर ने प्राय. अवधू या योगी सम्बोधन द्वारा उन पर व्यंग्य किया है। ~अवधू सो जोगी गुर मेरा। →सब० ३७-१।

अषिर—संज्ञा पु० [सं० अक्षर] अक्षर, वासना। ~कोइ एक अषिर मन वसा, दह मे परी बहोरि। →सा० मन० (१३) २४-२।

असमान—संज्ञा पु० [फ़ा० आसमान] आकाश, ब्रह्मरंध्र, शून्यचक्र। ~ ऊचाँ चढि असमान कूँ, मेर ऊलंघे ऊड़ि। →सा० उपज० (५०) ४-१;

सा० पर० (५) २१-१, सव० १८१-७ ।

अहरनि—संज्ञा स्त्री० [सं० आ+धरण] निहाई, जिस पर रखकर कुछ पीटा, छीला या सुडौल किया जाता है, शरीर। ~अहरनि रहा ठमूकडा, जब उठि चला लुहार। →सा० काल० (४६) २१-२ ।

अहेड़ी—संज्ञा पु० [हि० अहेर+ई०] शिकारी, गुरु ।~अहेडी दौ लाइया मिरग पुकारे रोइ । → सा० ग्या० वि० (४) ८-१, र० १६-४ ।

अहेरी—संज्ञा पु० दे० 'अहेडी' ।

आ

आँगनु—संज्ञा पु० [सं० अङ्गण] आँगन, शरीर। ~वडे भोर उठि आँगनु बाढ, वडे खाँच लै गोवर काढु । → वसंत (४) ६-२ ।

आकासे—संज्ञा पु० [स० आकाशे] आकाश मे, शून्य-मण्डल मे। ~ आकासे मुखि औंधा कुआँ, पाताले पनिहारि। → सा० पर० (५) ४५-१ ।

आकासे—सज्ञा पु० [स० आकाश] गगन मण्डल, सहस्रार । ~सोलह मझै पवन झकोरैं, आकासे फल धरिया । →सब० १२-६ ।

आगि—सज्ञा स्त्री० [स० अग्नि] विरह की अग्नि । ~आगि जु लागी नीर महिं, कादौ जरिया झारि। →सा० ग्या० वि० (४) ५-१ ।

आसन—सज्ञा पु० [सं०] योग मे चौरासी प्रकार की शारीरिक मुद्रायें या अभ्यास । ~ममता मेटि साच करि मुद्रा, आसन सील दिढ कीजै । →सव० ३३-५ ।

ई

ईंट—संज्ञा स्त्री० [सं० इष्टका] हाड़-मांस । ~कवीर मन्दिर ढहि पडा, ईंट भई सैवार। →सा० चिता० (१२) १७-१ ।

उ

उंदरी—सज्ञा स्त्री० [सं० उदुर से] चुहिया, रागात्मिका वृत्ति । ~उंदरी वपुरी मगल गावै, कछुआ संख वजावै । → पद ३३१-६ ।

उतपात—संज्ञा पु० [स० उत्पात] शरीर। ~पानी पौन सजोय के, रचिया यह उतपात। →र० ३६-५।

उदधि—सज्ञा पु० [स०] समुद्र, आनन्द-सागर। ~उदधि माँह ते निकरि, छाछरी, चौडे ग्रीह करावै। →पद १६६-४ ।

उदधि—संज्ञा पु० [सं०] समुद्र, ज्ञान। ~उदधि भूप ते तरुवर डाहै, मच्छ अहेरा खेलै। →पद १६६-८ ।

उनमन—सज्ञा पु० [सं० उन्मन] वह मन, उच्चस्तरीय मन; भागवती चेतना । ~मन उनमन उस अड ज्यो, अनल अकासाँ जोइ । →सा० मन० (१३) ६-२ ।

उनमनि—सज्ञा स्त्री० [सं० उन्मनि] प्राण के निरुद्ध हो जाने पर मन स्वत निरुद्ध हो जाता है। मन के निरुद्ध हो जाने पर वासना भी प्रणष्ट हो जाती है और तब मोक्ष की स्थिति आती है। इसी स्थिति को तुरीय, उन्मनी, मनोन्मनी आदि शब्दो से अभिहित किया गया है। भागवती चेतना, तुरीयावस्था, सहज अवस्था। ~ पवनपति **उनमनि** रहनु खरा। → सव० १७१-१, सव० ३५-२, सा० गुरु० (१) ६-१।

उन्मनी—सज्ञा स्त्री० दे० 'उनमन्न'।

उनमन्न—सज्ञा पु० [स + उत् + मन] उन्मनावस्था, यह वह अवस्था है, जहाँ चंचल संकल्प-विकल्पात्मक मन शान्त हो जाता है और इससे एक उच्चतर चेतना का आविर्भाव होता है। तन्त्रो मे उन्मना अथवा उन्मनी अवस्था को मन से ऊपर की एक अवस्था कहा गया है, भागवती चेतना। ~ मन लागा **उनमन्न** सौं, गगन पहूँचा जाइ। →सा० पर० (५) १५-१, सा० पर० (५) १६-१।

उलटी गग—सज्ञा स्त्री० [हि० + स०] ब्रह्माण्ड मे चढाया गया श्वास, उदान वायु। ~**उलटी गंग** समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।→सव० ३२-३।

ऊ

ऊपर—क्रि० वि० [हिं०] आकाश। ~तर **ऊपर** धै चांपिहि, जस कोल्हु कोटि पचास। →र० १७-८।

ऊरध—वि० [स० ऊर्ध्व] ऊपर, सहस्रार। ~घ धा अर्घ माहि अँधियारी, अरघ छांडि **ऊरध** मन तारी। →ज्ञान चौं० (१) ४१।

औ

औंधा घडा—संज्ञा पु० [स० अव + मूर्द्धा + घट] विषयासक्त चित्त।~**औंधा घड़ा** न जल महिं डूबे, सूधा सूभर भरिया।→सव० ३२-७।

क

कंकर—संज्ञा पु० [स० कर्कर] कंकड, सासारिक विषय। ~पाइ पदारथ पेलि करि, **कंकर** लीन्हा हाथि। → सा० अपा० (४८) १-१।

कंत—सज्ञा पु० [सं० कात] पति, प्रभु, ईश्वर, स्वामी। ~कबीर सुन्दरि यौ कहै, सुनियो **कत** सुजान। → सा० सुन्द० (५२) १-१।

कंता—सज्ञा पु० [स० कत] साधक।~ मास विहूँना घरि मति आवै हो **कता**। →सव० १२१-२।

कंथा—सज्ञा स्त्री० [स०] गुदडी, त्याग।~प्रगट सो **कंथा** गुप्ताधारी, तामे मूल सजीवन भारी। →सव० १२५-३।

कंद—सज्ञा पु० [स०] सामान्यत किसी भी गाँठदार पदार्थ को कन्द कहते है।

जैसे जिमीकन्द, शकरकन्द आदि। गुदा और लिंग मे गाँठदार स्थिति होती है। उसे भी कन्द कहते हैं। मूलकन्द से उसमे स्थिरता प्राप्त होती है। ~जोग मूल कौ देइ वंद, कहि कवीर थिर होइ कंद। →पद ३२१-७।

कँदमूल—संज्ञा पु० [स०] यौगिक क्रियाएँ। ~कवीर जोगी वनि वसा, खनि खाया कँदमूल।~सा० सजी० (४७) २-१।

कँवल[१]—सज्ञा पु० [सं० कमल] कमल के समान प्राणशक्ति का चक्र। ~ गगन गरजि अम्रित चुवै, कदली कँवल प्रकास। ↦सा० पर० (५) ४०-१।

कँवल[२]—सज्ञा पु० [सं० कमल] हृदयस्थ अन्तरात्मा। छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय के प्रथम खण्ड मे भी यह वताया गया है कि इस शरीररूपी व्रह्मपुर मे एक ऐसा वेश्म (निलय) है जो कि सूक्ष्म पुण्डरीक अर्थात् कमल के समान है। वही परमात्मा का वास होता है। इसे ही कठोपनिषद् मे प्रत्यगात्मा कहा गया है और अरविन्द घोष ने Psychic Being कहा है। ~ कँवल जु फूला फूल विनु, को निरखै निज दास। →सा० पर० (५) ५-२, ६-२, ७-१।

कँवल[३]—सज्ञा पु० [सं० कमल] सहस्रार चक्र।~कँवल कुआँ मैं प्रेम रस, पीवै वारवार। →सा० लै०(१०)२-२।

कँवल[४]—सज्ञा पु० [स० कमल] प्रभु, ईश्वर। ~चलि चलि रे भँवरा कंवल पास। →सव० १०६-१।

कँवल[५]—संज्ञा पु० [स० कमल] हृत्कमल। ~ मन थिर होइ त कँवल प्रकासै, कँवला माँहि निरंजन वासै। ↦सव० ५४-५।

कउवा—सज्ञा पु० [स० काक] तृष्णा। ~धील मन्दलिया वैल रवावी कउवा ताल वजावै।→पद ३३१-३।

कछुवा—सज्ञा पु० [सं० कच्छप] विषयासक्ति। ~उंदरी वपुरी मंगल गावै कछुवा संख वजावै। →पद ३३१-६।

कठवत—संज्ञा स्त्री० [स० काष्ठ, प्रा० कट्ठ + सं० वृत्त, प्रा० ण्ट्ट] ससार। ~भवसागर एक कठवत कीन्हा, तामे माँडी विरलै जाना। →सव० १२७-४।

कदली—सज्ञा स्त्री० [सं०] सुषुम्ना।~ कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज मैं लिया निवास। →सव० १४०-११।

कदली—सज्ञा स्त्री० [स०] केला, मेरुदण्ड। ~कदली पुहुप दीप परकास, ह्रिदा पंकज महि लिया निवास। → सब० ४३-६, सा० पर० (५) ४०-१।

कनक कलस—सज्ञा पु० [सं०] सहस्रार। ~एक विरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ। →सब० ४५-७।

कन्या—संज्ञा स्त्री० [स०] माया। ~

पिता के संगहि भई वावरी, कन्या रहलि कुँवारी। →पद २६०-२।

कपूर—सज्ञा पु० [सं० कर्पूर] रामभक्ति। ~ छाडि कपूर गाठि विख बाघा, मूल हुवा नहिं लाहा। → सव० १०४-७।

कमल—सज्ञा पु० [स०] सहस्रार। दे० 'कनक-कलस'। ~ षट चक्र वेधि कमल वेधि, जाय उजियारो कीन्हा। →सव० ६५-५।

कमल—संज्ञा पु० [सं०] हृदय। ~ सूखे ताल पुरइन जल छाँडे, कमल गए कुम्हिलाय। →पद ३२२-३।

करगी—सज्ञा स्त्री० [हिं० कर+गहना] निकट समीप, मृत्यु का वधन। ~ राही लै पिपराही वही, करगी आवत काहु न कही। →र० १०-१।

करिगह—सज्ञा पु० [फा० कारगह] करघा, शरीर। ~ऊपर नचनियाँ करै कोड, करिगह मे दुइ चलै गोड़। →वसत (४) ३-५।

कलस—सज्ञा पु० [स० कलश] सहस्रार। दे० 'कँवल'। ~एक विरप भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ। →सव० ४५-७।

कलाल—सज्ञा पु० [स० कल्यपाल] कलवार, गुरु। ~कवीर पीवन दुलभ है, माँगं सीस कलाल। →सा० रस० (६) २-२।

कली—सज्ञा स्त्री० [स०] विना खिला फूल, वासना। ~तहिया होत कली नहिं फूला, तहिया होत गर्भ नहिं मूला। →र० ७-२।

कसाई—सज्ञा पु० [अ०] स्वार्थी गुरुआ लोग। ~विपय मोह के फंद छोडाई, तहँई जाय जँह काट कसाई। →र० १७-४।

कहरा—सज्ञा पु० [हि० कहार] यह एक प्रकार का गीत है, जिसे कहार हुडक बजाकर गाते हैं, साथ मे नाचते भी हैं। इसे 'कहरवा' भी कहते हैं। इसके ताल मे आठ मात्राएँ होती है—धा गे न ति, न क धि न। इसे कभी-कभी दादरा मे भी गाते हैं। →कहरा (३)।

कांदौ—संज्ञा पु० [स० कर्दम] कीचड, मनोविकार। ~आगि जु लागी नीर महिं, कादौ जरिया झारि। →सा० ज्ञान० वि० (४) ५-१।

काइथ—सज्ञा पु० [स० कायस्थ] पटवारी, भोग का हिसाव रखने वाले कर्म। ~गाउ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै। → सव० १०-५।

काई—सज्ञा स्त्री० [स० कावार] मैल, विषय-वासना। ~जव दरपन लागै काई, तव दरसन किया न जाई। →पद ३३६-८।

काग—सज्ञा पु० [स० काक] कौआ, अविवेक। ~ काग लगर फादिया वटेरै वाज जीता। → पद ३४३-४।

काग दुकाग—यौ० [हिं०] छोटे-वड़े कौए, निम्न प्रवृत्तियाँ। ~काग दुकाग कारकुन आगे, वैल करै पटवारी। →पद ३००-७।

कागा—सज्ञा पु० [स० काक] अवि-

वेकी लोग । ~सकल ब्रह्म मँह हंस कवीरा, कागा चोच पसारा । → सव० ६४-३ ।

कागा—संज्ञा पु० [स० काक] मलिन चित्त । ~कागा कापड धोवन लागे, वगुला क्रीपहि दाता । →सव० १५५-४ ।

काजल—संज्ञा पु० [स० कज्जल] कालिमा, विषय-वासना, सासारिक आसक्ति । ~कवीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाइ । →सा० निह० प० (११) ४-१ ।

काट—क्रि० [हि० काटना] अनात्म पदार्थों की उपासना का उपदेश ।~विषय मोह के फन्द छोडाई, तहँई जाय जँह काट कसाई ।→र० १७-४ ।

कापड़—सज्ञा पु० [सं० कर्पट] कपडा, शरीर । ~कागा कापड़ धोवन लागे वगुला क्रीपहि दांता । →सव० १५५-४ ।

कामधेनु—सज्ञा स्त्री० [स०] माया । दे० 'कामिनी' । ~अवधू कामधेनु गहि बाँधी रे । →सव० २७-१ ।

कामिनि—सज्ञा स्त्री० [स० कामिनी] माया । दे० 'कामधेनु' । ~नउ घर देखि जु कामिनि भूली, वस्तु अनूपु न पाई । →सव० ११-७ ।

कारा—वि० [हि० काला] काला, अज्ञान । ~वहि जोगिया के उलटा ज्ञाना, कारा चोला नाहि मियाना । →सव० १२५-२ ।

कालिमाँ—सज्ञा स्त्री० [स०] पाप । ~ कै लै दूनी कालिमाँ, भावै सौ मन सावन लाइ । →सा० चित्त० क० (४२) ३-२ ।

किसानां—संज्ञा पु० [सं० कृषाण] यम-निग्रह । ~सातौ विरही मेरे नीपजै, पचूं मोर किसानां ।→सव० १७-४ ।

किसानां—संज्ञा पु० [सं० कृषाण] इद्रिय । ~नगर एक तहँ जीव धरम हृत, वसै जु पच किसाना ।→ सव० १०-३, १० ।

कीर—सज्ञा पु० [स०] तोता, वद्ध-जीव । ~वडी निसानी नांव राँम की, चढ़ि गयी कीर कवीरा । → पद २१७-८ ।

कुजर—सज्ञा पु० [स०] हाथी, ज्ञानी । ~अचरज एक देखल ससारा; सोनहा खेदे कुंजर असवारा । → सव० ६२-३ ।

कुंभ—संज्ञा पु० [स०] घट, शरीर । ~जल मे कुभ कुभ मे जल है वाहरि भीतरि पानी । फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथौ गियानी ।→ सव० ६१-५, ६ ।

कुंभ—सज्ञा पु० [स०] अन्त करण । ~कुभ लिए ठाढी पनिहारी, गुन विन नीर भरै कैसे नारी । →पद ३११-४ ।

कुंभरा—सज्ञा पु० [स० कुम्भकार] मन ।~अटपट कुंभरा करै कुभरैया; चमरा गाँव न बाचै हो । →कहरा (३) २-२ ।

कुंभरा—सज्ञा पु० दे० 'कुम्भरा' ।

कुभरैया—सज्ञा पु० [स० कुम्भ + हि० रैया] वर्तन, आशा । ~अटपट

कुंभरा करँ कुंभरैया, चमरा गाँव न वाँचै हो। →कहरा (३) २-२।

कुआँ—संज्ञा पु० [सं० कूप] सहस्रदल कमल। ~आकासे मुखि औंधा कुआँ, पाताले पनिहारि। →सा० पर० (५) ४५-१।

कुबुजा—संज्ञा स्त्री० [सं० कुब्जा] कुबडा, प्रकृति। ~कुबुजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की सरधा। →सव० १५७-७।

कुम्भरा—संज्ञा पु० [सं० कुम्भकार] ईश्वर। ~कुम्भरा एक कमाई माटी बहु विधि वानी लाई। →पद २१६-३।

कुवाँ—संज्ञा पु० [सं० कूप] प्राणमय कोश। ~एकै कुवाँ पाँच पनिहारी एकै लेजु भरैं नौ नारी। →सव० ५७-३।

कूकुर—संज्ञा पु० [सं० कुक्कुर] कुत्ता, अज्ञ जीव।~भूँकि भूँकि कूकुर मरि गयऊ,काज न एक सियार से भयऊ। →र० १२-६।

कूड़े—संज्ञा पु० [हि० कूडा] घास, पतवार, निकम्मा, अज्ञानी। ~ कवीर नाव जरजरी, कूड़े खेवनहार। →सा० चिता० (१२) ६२-१।

कूता—संज्ञा पु० [दे०] विषय भोग की वाह्य प्रवृत्ति। ~जल की मछरी तरवरि व्याई, कूता को लै गई विलाई। →सव० ४८-४।

कूलि—संज्ञा पु० [सं० कूल] किनारा, तट, ब्रह्म, प्रभु, ईश्वर।~पाला गलि पानी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि। →सा० पर० (५) १८-२।

केवट—संज्ञा पु० [सं० केवर्त] मल्लाह, यमराज।~लीन्ह वोलाय वात नहि पूछै, केवट गरभ ते न बोलै हो। →कहरा (३) १-१६।

केवट—संज्ञा पु० [सं० केवर्त] केवट, सद्गुरु। ~मच्छ न मरै केवट रहै तीर। →सव० १६७-६।

केहरि—संज्ञा पु० [सं० केसरी] सिंह, ज्ञानी। ~मूस विलाई कैसन हेतू, जवुक करै केहरि सो खेतू। →सव० ६२-२।

कोट—संज्ञा पु० [सं०] कोष्ठ, शरीर। ~माटिक कोट पषानक ताला, सोई वन सोई रखवाला। →र० १२-१।

कोट—संज्ञा पु० [सं०] दुर्ग, महल, शरीर। दे० 'कोठरी'। ~गोवर कोट उचाए हो रमैया राम। → वेलि (६) २-७।

कोठरी—संज्ञा स्त्री० [हि० कोठा+डी (री) अल्पा० प्रत्य०] मकान, शरीर। दे० 'कोट'। ~पट चक्र की कीन्ह कोठरी, वस्तु अनूपु विच पाई। →सव० ११-३।

कोदइत—संज्ञा पु० [दे०] कोदों पीसने की चक्की, लौकिक सुख। ~जतइत के धन हेरिन्हि ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो।→कहरा(३) २-१२।

कोरिया—संज्ञा पु० [हि०] कोरी नामक जाति, जीव। नित उठि कोरिया पेट

भरतु है, छिपिया आँगन नाचै हो। →कहरा (३) २-३।

कोरी—संज्ञा पु० [सं० कोल] हिन्दुओ मे कपड़ा बुनने वाली एक जाति। कर्त्ता, बुननेवाला, ईश्वर। ~कहहिं कबीर करम सो जोरी, सूत-कुसूत विनै भल कोरी। →र० २८-४।

कोल्हू—संज्ञा पु० [प्रा० कोल्हुअ] कोल्हू, कर्म भोग। ~तर ऊपर धै चाँपिहि, जस कोल्हू कोटि पचास। → र० १७-६।

कोल्हू—संज्ञा पु० [हि०] तेल निकालने का यन्त्र, कोल्हू, कुडलिनी। ~एक सगुन षट चक्रहि वेधै, विन वृषभ कोल्हू माचा। →सव० १४४-२।

क्रीला—संज्ञा स्त्री० [सं० क्रीडा] खेल-कूद, भोग-विलास। ~जा वन मे क्रीला करी, दाझत है वन सोइ। → सा० ज्ञान वि० (४) ८-२।

ख

खग—संज्ञा पु० [सं०] जीवात्मा। पीया चाहै तौ लै खग सारी, उडि न सकै दोऊ पर भारी। →पद ३११-३।

खग—संज्ञा पु० [सं०] पक्षी—'खे (आकाशे) गच्छति इति खग.'। आत्मा, शुद्धात्मा। खग के खोजन तुम परे, पीछे अगम अपार। → र० ५७-४।

खजूरि—संज्ञा पु० [सं० खर्जूर] शून्य चक्र। ~जल मे सिंह जु घर करै, मछली चढै खजूरि। →सा० पर० (५) ४६-२।

खपरा—संज्ञा पु० [सं० खर्पर] खप्पड, भिक्षा-पात्र, क्रियमाण कर्म। ~झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि। →सा० ज्ञान वि०(४) ४-१।

खसम—संज्ञा पु० [अ०] पति, स्वामी। चेतनदेव, प्रत्यगात्मा। ~जाडन मरै सपेदी सौरी, खसम न चीन्है घरनि भौ वौरी। →र० ७३-३।

खसमहिं—संज्ञा पु० [अ० खसम + हिं] पति को, साक्षि चैतन्य पुरुष को। ~खसमहिं छोडि ससुर सग गौनी, सो किन लेहु विचारी। →पद २६०-३।

खाटा—संज्ञा स्त्री० [सं० खट्वा] चारपाई, सुषुम्ना। ~चली जात वह बाटहिं बाटा, सोवनहार के ऊपर खाटा। →र० ७३-२।

खेत—संज्ञा पु० [सं० क्षेत्र] क्षेत्र, शरीर। ~गाउ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै। →सव १०-५।

खेत—संज्ञा पु० [सं० क्षेत्र] क्षेत्र, जीवन या जीवन क्षेत्र। ~राखनहारे वाहिरा, चिडियै खाया खेत। → सा० चिता० (१२) १५-१, सव० ११३-१।

खेवनहार—संज्ञा पु० [हि० √खेना + हार (प्रत्य०)] नाविक, अज्ञानी मन। ~कवीर नाव जरजरी, कूडे खेवनहार। →सा० चिता० (१२) ६२-१।

खोटा—वि० [सं० खोट] दोषपूर्ण, असत्कर्म, दुष्कर्म । ~**खोटा** बाँधा गाँठरी, इव कछु लिया न जाइ । →सा० अपा० (४८) ३-२ ।

ग

गग—सज्ञा स्त्री० [स०गगा] कुडलिनी । ~उलटी **गंग** मेर कूँ चली, धरती उलटि अकासहिं मिली । →सव० ४७-७, पद २०१-६ ।

गग—संज्ञा स्त्री० दे० 'गगा' ।

गंग—सज्ञा स्त्री० [सं० गङ्गा] भक्ति । ~पाहन फोरि **गंग** एक निकरी, चहुँ दिसि पानी पानी । →पद ३०१-३ ।

गग—सज्ञा स्त्री० [सं० गगा] गगा, भवसागर । ~कागद केरी नांव री, पानी केरी **गग** । →सा० मन० (१३) २१-१ ।

गगा—सज्ञा स्त्री० [स० गङ्गा] इडा नाडी । ~अरध उरध की **गगा** जमुना, मूल कँवल को घाट । → पद ३४२-६, सव० १७-३, सा० लै० (१०) ३-१ ।

गइया—संज्ञा स्त्री० [स० गौ] गाय, माया । ~हसा ससय छूरी कुहिया **गइया** पिये बछरुवै दुहिया । → पद ३२३-१ ।

गइया—सज्ञा स्त्री० [स० गौ] गाय, मन । ~भाई रे **गइया** एक विरचि दियो है, भार अभार भौ भाई । → पद २०६-१, ६, ८, ६, १० ।

गगँन—सज्ञा पु० [सं० गगन] हृव्याकाश । ~तहाँ विहगम कतहुँ न जाई, औगह गहि के **गगँन** रहाई । →ज्ञान चौं० (१) ८ ।

गगन[१]—सज्ञा पु० [स०] आकाश, शून्य-चक्र, ब्रह्मरध्र, सहस्रार । ~दै मुहरा लगाम पहिरावउ सिकली जीन **गगन** दौरावउं ।→सव० ३-३, सा० सूरा० (४५) ६-१, सा० पर० (५) ४०-१, सा० सजी० (४७) ३-२, सव० २६-१, पद ३४२-७ ।

गगन[२]—संज्ञा पु० [स०] सहस्रार, सहस्रदल स्थूल शरीर के शीर्ष के ऊपर आकाश मे स्थित है, जो कि स्थूल इन्द्रियो से परे है । वह एक ज्योति पुज है जिसमे कमल के सहस्र दल की प्रतीति होती है । यत. यह सहस्रार कमल शीर्ष के ऊपर आकाश मे स्थित है । अतः इसे 'गगन' कहा गया है । ~मन लागा उनमन्न सौं, **गगन** पहूँचा जाइ । → सा० पर० (५) १५-१, २०-१ ।

गगन गुफा—[यौ०] कपाल कुहर, मस्तिष्क के भीतर एक छिद्र । गगन गुफा से तात्पर्य कपाल-कुहर मे स्थित सहस्रार से है । सहस्रार को कही-कही पर गगन मण्डल भी कहा गया है । योगियो ने अपने अनुभव से यह जान लिया कि वहाँ पर चन्द्र की आकृति की एक ग्रन्थि है जिससे भीतर ही भीतर एक प्रकार के रस का स्रवण होता रहता है । ~रस

गगन गुफा मैं अजर झरै। →पद २४६-१।

गगन मंडल—संज्ञा पु० दे० 'गगन'¹।

गगनहिं—संज्ञा पु० [सं० गगन] आकाश मे, शून्यचक्र मे। ~ साधै तीर पताल कौ, फिरि **गगनहिं** मारै। → सब० ५२-४।

गगनां—संज्ञा पु० [सं० गगन] आकाश, चैतन्य। ~आदै **गगनां** अतै **गगनां** मद्धे **गगनां** भाई। →सब० ६१-७।

गड़री—संज्ञा स्त्री० [सं० गण्डाली] एक प्रकार की घास, पाशविक प्रवृत्तियाँ। ~कहै कबीर सुनहु रे सतौं **गड़री** परबत खावा। → पद ३३१-७।

गढ़—संज्ञा पु० [सं० गड] दुर्ग, किला, शरीर। ~पंच चोर गढ मझा, **गढ़** लूटहिं दिवसउ मझा। → पद ३३६-३, पद २४३-६, सा० पर० (५) ८-२।

गढ़—संज्ञा पु० [सं० गड] कर्मबन्धन। ~अगम दुर्गम **गढ़** देउँ छुडाई, औरौ बात सुनहु कछु आई। → र० ५८-२।

गढ़पति—संज्ञा पु० [सं०] गढ का स्वामी, जीवात्मा। ~जउ **गढ़पति** मुहकम होई, तौ लूटि सकै नाँ कोई। →पद ३३६-४।

गम्म—वि० [सं० गम्म] जिस तक पहुँच सम्भव हो, प्रवेश, सगुण। ~ तहिया होत गुरू नहिं चेला, **गम्म** अगम्म न पथ दुहेला। →र० ७-५।

गयंद दोइ—संज्ञा पु० [सं० गजेन्द्र + द्वि का द्वी रूप से] हाथी, अह भाव और प्रिय प्रेम। ~खम्भा एक **गयंद दोइ**, क्यो करि बधसि बारि। → सा० चिता० (१२) ४२-१।

गरजि—क्रि० [सं० गर्जन] गर्जन, गरज कर, अनाहत नाद होने पर। ~ गगन **गरजि** अँम्रित चुवैं, कदली कँवल प्रकास। →सा० पर० (५) ४०-१।

गरुड़—संज्ञा पु० [सं०] ज्ञान। ~ऐसो हरि सो जगत लरतु है, पाडुर कतहूँ **गरुड़** धरतु है। →सब० ६२-१।

गारुड़ि—संज्ञा पु० [सं० गारुडिन्] मन्त्र से सर्प का विष उतारने वाला, मन्त्रवेत्ता, सद्गुरु। ~विष के खाए विष नहिं जावै, **गारुड़ि** सो जो मरत जियावै। →र० २६-६।

गांउँ—संज्ञा पु० [सं० ग्राम] संसार, मृत्युलोक। ~सन्तौ ई मुरदन कै **गांउँ**। →पद २६३-१।

गाँव—संज्ञा पु० [सं० ग्राम] शरीर, ~**गाँव** बसत है गरब भारती, बाम काम हकारा हो। →कहरा (३) ७-४, २-२; सब० १०-१।

गाइ—संज्ञा स्त्री० [सं० गौ] गाय, विवेक। ~बैल बियाइ **गाइ** भई बाझ, बछरहिं दूहै तीनिउं साझ। →सब० ८६-३।

गाइ—संज्ञा स्त्री० [सं० गौ] गाय, अविद्या। ~**गाइ** नाहर खाइऔ हरिनि खायौ चीता। → पद ३४३-३।

गाइन्ह—संज्ञा स्त्री० [सं० गौ] गाय,

सन्त। ~गाइन्ह माँह वसेउ नहिं कवहू, कैसे कै पद पहिचनवहु हो। →कहरा (३) २-६ ।

गाई—सज्ञा स्त्री० [स० गौ] गाय, इन्द्रिय। ~ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई। →सव० ४८-२, १५५-६ ।

गाउँ—सज्ञा पु० दे० 'गाँव' ।

गागरि—संज्ञा स्त्री० [स०गर्गर] घडा, शरीर। ~चली जात देखी एक नारी, तर गागरि ऊपर पनिहारी। →र० ७३-१ ।

गादह—संज्ञा पु० [सं० गर्दभ] गदहा, अविद्याग्रस्त जीव।~पहिरि चोलना गादह नाचै, भैंसा निरति करावै। →पद ३३१-४ ।

गावनहारा—संज्ञा पु० [हि० गाना + हारा (प्रत्य०)] पाखण्डी साधक। ~गावनहारा कवहुँ न गावै, अनवोला नित गावै। →सव० ३२-६ ।

गीध—संज्ञा पु० [स० गृध्र] लोभ। ~मासु पसारि गीध रखवारी। → सव० ८६-२ ।

गुड़िया—सज्ञा स्त्री० [स० गुड्डिका] पतग, शरीर। ~गुडिया को सवद अनाहद वोलै, खसम लिए कर डोरी डोलै। →सव० १६१-३ ।

गुदरी—संज्ञा स्त्री० [हि० गूथ+डी (री) (प्रत्य०)] शरीर।~ कवीर गुदरी वीखरी, सौदा गया विकाइ। →सा० अपा० (४८) ३-१ ।

गुन—सज्ञा स्त्री० [स० गुण] डोरी, भक्ति, साधना। ~कुम लिए ठाढ़ी पनिहारी, गुन विन नीर भरै कैसे नारी। →पद ३११-४ ।

गुप्त—वि० [सं०] छिपा हुआ, अदृश्य आत्मा, सूक्ष्म शरीर। ~गुप्त प्रकट है एकै दूधा, काको कहिए व्राह्मन सूदा। →र० २६-७ ।

गुफा—सज्ञा स्त्री० [स० गुहा] शरीर। ~गयौ दिसावरि कौन वतावै, जोगिया वहुरि गुफा नहिं आवै। → सव० १२६-३ ।

गुफा—संज्ञा स्त्री० [स० गुहा] गगनमण्डल। ~वैठि गुफा महिं सव जग देखै, वाहरि किछू न सूझै। →सव० ३२-५ ।

गुर—सज्ञा पु० [स० गुरु] गुरु, अन्तरात्मा। ~पहिलै पूत पिछै भई माई चेला कै गुर लागै पाई। →सव० ४८-३ ।

गोनि—सज्ञा स्त्री० [स० गोणी] अनाज का थैला, मन। ~वैलहिं डारि गोनि घरि आई, घोरै चढि भैंस चरावन जाई। →सव० ४८-५ ।

गोड़—सज्ञा पु० [प्रा० गोड] पैर, श्वास। ~ऊपर नचनियाँ करै कोड करिगह मे दुइ चलै गोड़। →वसत (४) ३-५ ।

गोवर—सज्ञा पु० [स० गोमय] गोवर, सकाम कर्म, भोग विलास। ~वडे भोर उठि आँगनु वाढु, वडे खाँच लै गोवर काढु। →वसंत (४) ६-२ ।

गोरी—सज्ञा स्त्री० [हि०] कुंडलिनी। ~तुम यहि विधि समुझहु लोई, गोरी मुख मंदर वाजै। → सव० १४४-१ ।

गोह—सज्ञा स्त्री० [स० गोधा] छिपकली जाति का एक जीव, अहकार। ~वन के रोझ घरि दाइज दीन्हो, **गोह** लोकन्दे जाई। → सव० १५५-७।

गुजरी—संज्ञा स्त्री० [स० गुर्जरी] स्त्री, जीवात्मा। ~कहै कवीर **गुजरी** वौरानी। मटुकी फूटि जोति समानी। →पद ३३०-५।

ग्रीसम—सज्ञा पु० [स० ग्रीष्म] वृद्धावस्था। ~गए वसन्त **ग्रीसम** रितु आई, वहुरि न तरु तर आवै। → सव० ८८-६।

ग्रीह—सज्ञा पु० [स० गृह] घर, ससार। ~उदधि माँह ते निकरि छाछरी, चौडे ग्रीह करावै। →पद १६६-४।

घ

घंटा—संज्ञा पु० [स०] अनाहत नाद। ~अमृत वरिसै हीरा निपजै, **घंटा** पडै टकसाल। →सा० पर० (५) ४७-१।

घन—सज्ञा पु० [स०] सहस्रार। ~सुरभी भच्छन करत वेद मुख, **घन** वरिसे तन छीजै। →सव० १४४-५।

घर—सज्ञा पु० [स० गृह] शरीर। ~सतो घर मे झगरा भारी। →पद २६६-१, सव० २७१-२, सा० विर्क० (३७) ७-१, सव० १८-४।

घर—सज्ञा पु० [सं० गृह] आपा, सासारिक जीवन। ~हम **घर** जारा आपना, लिया मुराडा हाथि। → सा० गु० सि० हे० (४३) १३-१।

घर—सज्ञा पु० [स० गृह] आत्मतत्व। ~अव तो जूझै ही वनै, मुडि चालै **घर** दूरि। →सा० सूरा० (४५) ११-१।

घरनि—संज्ञा स्त्री० [स० गृहिणी] गृहिणी, सुरति। ~ जाड़न मरै सपेदी सौरी, खसम न चीन्है **घरनि** भौ वौरी। →र० ७३-३।

घरहाई—संज्ञा स्त्री० [हि०] घरवाली, पत्नी, माया। ~अढाई मैं जे पाव घटै तौ करकच करै **घरहाई**। → पद २७१-६।

घरि—सज्ञा पु० [सं० गृह+इ (प्रत्य०)] घर मे, हृदय मे। ~समधी कै **घरि** लमघी आए, आए वहू कै भाइ। → पद २३५-५।

घरि—संज्ञा पु० [सं० गृह] घर मे, चैतन्य मे। ~वॅलहि डारि गोनि **घरि** आई, घोरै चढि भैंस चरावन जाई। →सव० ४८-५।

घूंस—संज्ञा स्त्री० [स० गुहाशय] एक प्रकार का वडा चूहा, मन। ~सिंघ ज वैठा पान कातरै **घूंस** गिलौरा लावे। →पद ३३१-५।

घॅल—संज्ञा पु० [स० घट] घडा, गगरा, तृष्णा। ~वासी भात मनुसे लीहल खाय, वडा **घॅल** लै पानी के जाय। →वसत (४) ६-३।

घोरै—संज्ञा पु० [स० घोटक] घोडे, इन्द्रियाँ। ~वैलहि डारि गोनि घरि आई, **घोरै** चढि भैंस चरावन जाई। →सव० ४८-५।

च

चंच—संज्ञा पु० दे० 'चंचु'।

चचल—वि० [स०] मन। ~ हँसै न वोलै उन्मनी, **चचल** मेल्ह्या मारि। →सा० गुरु० (१) ६-१।

चचु—सज्ञा पु० [स०] चोच, इद्रियाँ। ~ पानी पीया **चचु** विनु, भूलि गया यहु देस। → सा० पर० (५) २०-२, सा० माया० (१६) ३०-२।

चंद—सज्ञा पु० [स० चन्द्र] इडा नाड़ी। ~जहाँ धरनि वरसै गगन भीजै, **चद** सूरज मेल। → सव० ४५-५, पद ३४२-३।

चदन—सज्ञा पु० [स०] भक्ति-साधना। ~ घसि **चदन** वनखडि वारा, विनु नैननि रूप निहारा। → सव० ८-७।

चंदा—सज्ञा पु० [स० चन्द्र] चन्द्र, मन। ~वोछी मति **चंदा** गो अथई, त्रिकुटी संगम स्वामी वसई। →र० १३-६।

चकवा—सज्ञा पु० [सं० चक्रवाक] अन्त करण। ~**चकवा** वैंसि अगारै निगलै समद अकासा धावा। → पद ३३१-८।

चकवा—सज्ञा पु० [स० चक्रवाक] जीवात्मा। ~ सूखे सरवर उठै हिलोर, विनु जल **चकवा** करत कलोर। →सव० १५२-४।

चमरा गाँव—यौ० [हिं०] चमडे का गाँव, शरीर। ~ अटपट कुभरा करै कुभरैया, **चमरा गाँव** न वाँचै हो। →कहरा (३) २-२।

चरखुला—संज्ञा पु० [फा० चर्ख] चरखा, शरीर। ~ **चरखुला** जिनि जरै। →सव० २३५-२।

चहले—सज्ञा स्त्री० [स० चिकिल] कीचड, विपय। ~हस उडाने ताल सुखाने, **चहले** विंधा पाँऊँ। →पद ३२३-५।

चहोरि—क्रि० [दे०] चढाकर, सँभाल कर, सहेज कर, सावधानीपूर्वक। ~ काटी कूटी माछली, छीकै धरी **चहोरि**। →सा० मन० (१३) २४-१।

चाँचर—सज्ञा स्त्री० [स० चर्चरी] चाँचर चौदह अथवा सोलह मात्राओ की एक ताल है, जिसमे होली की धुन गाई जाती है। इस धुन को चाँचर कहते है। लक्षणा से यह होली के हुडदग और स्वाग के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। उसमे प्राय स्त्री और पुरुषो के दल मे प्रतियोगिता होती है। दोनो ओर से रग चलता है। कवीर ने लौकिक चाँचर को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया है। यहाँ माया चाँचर खेलती है। →चाँचर (५)।

चाँद—सज्ञा पु० [सं० चन्द्र] चद्र, वाँये नासिका रंध्र से चलने वाली नाडी, इडा। इसे चन्द्र नाडी और कही-कही गगा भी कहा गया है। ~महि अकास दुइ गाड खँदाया, **चाँद** सुरुज दुइ नरी वनाया। → र० २८-२।

चातक—संज्ञा पु० [स०] जीव। ~ **चातक** कहाँ पुकारै दूरी, सो जल जगत रहा भरपूरी। → सब० १०७-१।

चाबुक—सज्ञा पु० [फा०] कोडा, सयम। ~कवीर तुरी पलानियाँ, **चाबुक** लीया हाथि। →सा० मन० (१३) १३-१।

चारि जनां—यौ० [हि० चार जन] अन्त करण चतुष्टय (मन; बुद्धि, चित्त, अहंकार)। ~ पाच जना मिलि मंडप छायौ **चारि जनां** मिलि लगन लिखाई। → पद २३८-३, पद ३१२-३।

चारि वृक्ष—वि० [स० चत्वारि+वृक्ष] चार वेद—ऋक्, यजु, साम, अथर्वण। ~**चारि वृक्ष** छव साख बखानै, विद्या अगनित गनै न जानै। →र० २२-५।

चिंउटी—सज्ञा स्त्री० [हि०] पिपीलिका, अज्ञानी जीव। ~**चिंउटी** के पग हस्ती वांधे, छेरी वीगर खावै। → पद १६६-३।

चिंतामणि—सज्ञा पु० [स०] सभी कामनाओ को पूर्ण करने वाली एक कल्पित मणि, ब्रह्म साक्षात्कार, राम से मिलन। ~ चौहटै **चिंतामणि** चढी, हाडी मारत हाथि। → सा० पर० (५) १६-१।

चिउँटी—सज्ञा स्त्री० [हि०] सुरति। ~ धरती उलटि अकासै जाई, **चिउँटी** के मुख हस्ति समाई। → सब० १५२-२।

चिउँटी—संज्ञा स्त्री० [हि०] चीटी, एक छोटा जीव, पिपीलिका, मन, वाणी। ~ **चिउँटी** जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय। → र० ३४-६।

चिड़ियै—सज्ञा स्त्री० [स० चटक] पक्षी, विषय-वासना। ~राखनहारे वाहिरा, **चिड़ियै** खाया खेत। → सा० चिता० (१२) १५-१।

चित्र—संज्ञा पु० [सं०] दृश्यमान जगत्। ~ कहै कवीर यहु **चित्र** बिरोधा, वूझी अमृत बांनी। → सब० १८६-६।

चित्र—सज्ञा पु० [स०] चित्र, संसार। ~जिन यह **चित्र** बनाइया, सांचा सो सुतधारि। →र० २६-६।

चित्रवंतहि—सज्ञा पु० [स० चित्रवान्] चित्र बनाने वाला, सृष्टि की रचना करने वाला; परमात्मा। ~कहहि कवीर ते जन भले, (जे) **चित्रवंतहि** लेहिं विचारि। →र० २६-१०।

चींटी—संज्ञा स्त्री० [हि०] साधक जीव की अन्तवृंत्ति। ~**चींटी** परवत उखारिया, लै राख्यौ चौडे। → सब० ५१-५।

चीता—संज्ञा पु० [स० चित्रक] सन्तोप। ~गाइ नाहर खाइओ हरिनि खायौ **चीता**। →पद ३४३-३।

चीर—सज्ञा पु० [स०] वस्त्र, शरीर। ~रग विरगी पहिरे **चीर**, हरि के चरन धरि गावै कवीर। →वसत (४) ३-७।

चूनरी—संज्ञा स्त्री० [हि० चुनरी]

रगीन वस्त्र, राम नाम। ~रहहु ररा ममा की भाँति हो, सव संत उधारन चूनरी। →पद २४८-१।

चूल्है—संज्ञा पु० [स० चुल्ली] चूल्हा, अन्त करण। ~चूल्है अगिनि वुताइ करि चरखा दियो दिढाइ। →पद २३५-८।

चेला—सज्ञा पु० [सं० चेलक, प्रा० चिल्ल] शिष्य, साधक। ~पहिलै पूत पिछै भई माई, **चेला** कै गुर लागै पाई। →सव० ४८-३।

चोर—संज्ञा पु० [सं० चौर] मन। ~**चोर** एक मूसै संसारा, विरला जन कोइ वूझनिहारा। → र० ५६-२।

चोलनां—सज्ञा पु० [सं० चोल] वस्त्र, काम-क्रोध। ~पहिरि **चोलनां** गादह नाचै भैसा निरति करावै। →पद ३३१-४।

चौपरि कामरि—संज्ञा स्त्री० [स० चतुः +पत्र हि० कामरी] १. चार पर्तों वाली कमली, २ चार अवस्थाओ (वाल, किशोर, युवा और वृद्ध) वाला शरीर, ३ अंत करण चतुष्टय (मन, वुद्धि, चित्त, अहकार) से युक्त शरीर। ~पिया अनते घनि अनते रहई, **चौपरि कामरि** माथे गहई। →र० १५-२।

चौहटै—सज्ञा पु० [हि० चार+स० हट्ट] चौराहा, इडा, पिगला एवं सुपुम्ना का सगमस्थल। यह दोनो भौहो के मध्य का स्थान है जिसे त्रिकुटी कहते हैं। ~**चौहटै** चिंतामणि चढी, हाडी मारत हाथि। → सा० पर०,(५) १६-१।

छ

छतीसौं राग—यौ० [हि० छत्तीस राग] सगीतशास्त्र मे कुछ लोग मूल राग पाँच मानते है और उनसे जन्य छह छह रागिनियाँ मानते हैं। इस प्रकार ३० रागिनियाँ होती हैं। कुछ लोग छ मूलराग मानते हैं और प्रत्येक की छह-छह जन्य रागिनियाँ वताते हैं। इस प्रकार ३६ रागिनियाँ हुई। कवीर ने 'छत्तीस राग' द्वारा इनका सकेत किया है। ~त्रिकुटी महल मैं वाजा वाजै होत **छतीसौं राग**। → पद ३०६-७।

छत्री—संज्ञा स्त्री [सं० छत्र] छतरी, शाखा। ~छव **छत्री** पत्री जुग चारी, फल दुइ पाप पुन्य अधिकारी। → र० ८२-२।

छव साख—वि० पु० [सं० षट्+ शाखा] छह शाखाएँ, छह वेदाग— शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और व्याकरण। ~चारि वृक्ष **छव साख** वखानै, विद्या अगनित गनै न जानै। →र० २२-५।

छांछरी—सज्ञा स्त्री० [दे०] मछली, चित्तवृत्ति। ~उदधि माँह ते निकरि **छांछरी**, चौडे ग्रीह करावै। →पद १६६-४।

छागर—सज्ञा पु० [स० छागल] वकरा, अज्ञानी जीव। ~ वनकि भलुइया चाखुर फेरै, **छागर** भये किसाना। →सव० १५५-३।

छिपिया—सज्ञा पु० [हि०] छींट छापने वाला, भक्त। ~नित उठि

कोरिया पेट भरतु है छिपिया आँगन नाचै हो। →कहरा (३) २-३।

छींकै—सज्ञा पु० [स० शिक्या] शिकहर; ब्रह्मरन्ध्र। ~काटी कूटी माछली, छींकै धरी चहोरि। →सा० मन० (१३) २४-१।

छेरी—सज्ञा स्त्री० [स० छेलिका] वकरी, अजा, माया। ~छेरी वाघहि व्याह होत है, मगल गावै गाई। → सब० १५५-६, पद १६६-३।

ज

जंगम—सज्ञा पु० [सं०] दाक्षिणात्य लिंगायत शैव सम्प्रदाय के साधु। ये दो प्रकार के होते है—विरक्त और गृहस्थ। विरक्त जटाधारी व कौपीन धारी होते हैं तथा गले मे शिवलिंग धारण करते हैं। ~कहै कवीर जोगी अरु **जंगम** ए सभ झूठी आसा। →पद २०८-७।

जंगल—सज्ञा पु० [स०] संसार। ~ मच्छ सिकारी रमै जगल मैं, सिंघ समुन्दर झूलै। →पद २८-४।

जंत्र—सज्ञा पु० [स० यन्त्र] वाद्य, शरीर। ~ जन्त्री **जंत्र** अनूपम वाजै, वाके अस्ट गगन मुख गाजै। → सव० १०६-१, सा० काल० (४६) २०-१।

जंत्री—संज्ञा पु० [स० यन्त्री] वादक, चेतन देव। ~**जन्त्री** जन्त्र अनूपम वाजै, वाके अस्ट गगन मुख गाजै। →सव० १०६-१।

जंबुक—सज्ञा पु० [स०] शृगाल, अज्ञानी। ~मूस विलाई कैसन हेतू, **जंबुक** करै केहरि सो खेतू। → सव० ६२-२।

जगत—संज्ञा पु० [स०] माया मे लिप्त सांसारिक जीव। ~ऐसो हरि सो **जगत** लरतु है, पाडुर कतहूं गरुड धरतु है। →सव० ६२-१।

जड़—वि० [स० जड] ब्रह्मरंध्र, चैतन्य। ~तलि करि साखा उपरि करि मूल, वहुत भाँति **जड़** लागे फूल।→ सव० ४८-६।

जड़ी—सज्ञा स्त्री० [हि० जड] सजीवनी वूटी, सहजावस्था, अमर लोक की स्थिति। ~नाँ जानौं किस **जड़ी** तैं, अमर भया अस्थूल। →सा० सजी० (४७) २-१।

जतइत—सज्ञा पु० [दे०] चक्की का जाँता, पारलौकिक सुख। ~**जतइत** के धन हेरिन्हि ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो।→कहरा (३) २-१२।

जना चारि—दे० 'चारि जना'।

जना पांच—यौ० [हि०] पञ्च भौतिक तत्व। ~जना चारि मिलि लगन सुधाये, **जना पांच** मिलि माँडौ छाए। →पद ३१२-३।

जना पांच—यौ० [सं० पञ्चजन] पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। ~**जना पाँच** कोखिया मिलि रखलो, और दुई औ चारी। →पद २२२-४।

जमुन—सज्ञा स्त्री० [स० यमुना] पिंगला नाड़ी। ~गग तीर मोरी

खेती वारी, जमुन तीर खरिहानीं। →सव० १७-३, पद ३४२-६।

जरी—सज्ञा स्त्री० [हि० जडी] जडी वह शव्द है, जो गुरु शिष्य को दीक्षा के समय देता है। वह शब्द साधक के भीतर मन-प्राण-नाडियो में व्याप्त होकर उसे निर्मल वना देता है और उसके भीतर आध्यात्मिक रूपान्तरण हो जाता है, जडी वूटी दीक्षा। ~हमारे गुर दीन्ही अजव जरी।→पद ३२७-१।

जल—सज्ञा पु० [स०] मानसरोवर, सहस्रार अर्थात् शून्य शिखर मे स्थित अमृत कुंड। ~जल मे सिंह जु घर करै, मछली चढै खजूरि। →सा० पर० (५) ४६-१।

जल—सज्ञा पु० [स०] व्रह्म। ~चातक कहाँ पुकारै दूरी, सो जल जगत रहा भरपूरी।→सव० १०७-१।

जल—संज्ञा पु० [स०] शुद्ध हृदय। ~नवग्रह मारि योगिया वैठे, जल महिं विव प्रकासै।→स० ३२-४।

जल—सज्ञा पु० [स०] चैतन्य। ~जल मे कुभ कुंभ मे जल है वाहरि भीतरि पानी।→सव० ६१-५, ६।

जल—सज्ञा पु० [सं०] अमृत। ~मानसरोवर सुभर जल, हसा केलि कराहिं।→सा० पर० (५) ३६-१, ४५-२।

जल—सज्ञा पु० [स०] पानी, विषय-वासना, विषयासक्त मानस। ~वहती सरिता रहि गई, मच्छ रहे जल त्यागि।→सा० ज्ञान वि० (४) ६-२।

जल—सज्ञा पु० [स०] आनद सागर। ~औंधा घडा न जल महिं डूवै, सूधा सूभर भरिया।→सव० ३२-७।

जल—सज्ञा पु० [सं०] प्राण। ~सूखे ताल पुरइन जल छांडे, कमल गए कुम्हिलाय।→पद ३२२-३।

जलहरु—सज्ञा पु० [सं० जलधर] जलाशय, शक्तिपुञ्ज। ~सहज समाधि विरिख यहु सीचा, धरती जलहरु सोखा।→सव० ११६-७।

जलहल—सज्ञा पु० [स० जलधर] जलाशय, तालाव, आत्मानन्द। ~चातक जलहल भरे जो पासा, स्वांग धरे भौसागर आसा।→र० ६५-३।

जाचिग—सज्ञा पु० [स० याचक] याचक, जीव। ~जाचिग दाता इक पाया, धन दिया जाइ ना खाया। →सव० ८-३।

जाड़न—सज्ञा स्त्री० [हि० जाडा] जाडे से, ठडक से, जडता। ~जाड़न मरै सपेदी सौरी, खसम न चीन्है घरनि भौ वौरी।→र० ७३-३।

जामिनी—सज्ञा स्त्री० [स० यामिनी] यामिनी, रात्रि,अज्ञान। ~ना जम भया न जामिनी, भामिनि चली निरास।→र० ४१-६।

जिठानी—सज्ञा स्त्री० [हि० जेठ+आनी (प्रत्य०)] पति के वडे भाई की स्त्री, कुमति। ~एक गांव मे

पाँच तरुनि बसैं; तामँह जेठ जिठानी हो। →कहरा (३) २-६।

जुग—संज्ञा पु० [सं० युग] दोनो, जोडा। ~ससि हर सूर दूर दूरतर, लागी जोग जुग तारी। →सव० १५८-४।

जुलाहो—सज्ञा पु० [फा० जौलाह] जुलाहा, जीव। दे० 'जोलहा'। ~ घर छोडै जाइ जुलाहो। → पद २७१-२।

जेंवरि—सज्ञा स्त्री० [स० जीवा] रस्सी, कर्मकाण्ड। ~वेद की पुत्री सुम्रिति भाई, सो जेंवरि कर लेतहिं आई। →र० ३३-१।

जेठ—सज्ञा पु० [स० ज्येष्ठ] पति का बडा भाई, मन। ~एक गांव मे पाँच तरुनि बसैं, तामँह जेठ जेठानी हो। →कहरा (३) २-६।

जेठ—सज्ञा पु० [स० ज्येष्ठ] द्वेष। ~ सासु की दुखी ससुर की पिआरी जेठ कै तरसि डरउँ रे। →पद २३२-३।

जेठानी—संज्ञा स्त्री० [हि०] पति के वडे भाई की स्त्री, माया। ~मेरे वाप के दुइ मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी हो। →कहरा (३) ११-३।

जेवड़ी—सज्ञा स्त्री० [स० जीवा] रस्सी, माया। ~एक जेवड़ी सब लपटाने, के वाँधे के छूटे। →सव० २५-४।

जेवरी—संज्ञा स्त्री० [सं० जीवा] रस्सी, जमीन नापने की जजीर, जिसको जरीव कहते हैं; आशा, तृष्णा, वासना। ~जोरि जेवरी खेत पसारैं, सव मिलि मोकों मारैं हो राम। → सव० १०-६।

जोगनी—संज्ञा स्त्री० [स० योगिनी] कुण्डलिनी। ~ काम क्रोध दोउ भया पलीता, तहाँ जोगनी जागी। →सव० २९-४।

जोगिया—सज्ञा पु० [सं० योगी] जीव। ~ऐसो जोगिया है वदकर्मी, जाके गगन अकास न धरनी। → सव० ६०-१।

जोगी—सज्ञा पु० [स० योगी] तत्व, जीवात्मा। ~जोगी था सो रमि गया, आसनि रही विभूति।→ सा० ज्ञान वि० (४) ४-२।

जोति—सज्ञा स्त्री० [सं० ज्योति] ब्रह्म। ~सुन्न सहज मन सुमिरत, प्रगट भई एक जोति।→र० ६-६।

जोति बिना—संज्ञा स्त्री० [स० ज्योति विना] अज्ञान, अज्ञानान्धकार। ~ जोति बिना जगदीस की, जगत उलघा जाइ।→सा० अपा० (४८) ४-२।

जोय—सज्ञा स्त्री० [स० जाया] स्त्री, प्रकृति। ~वुझ वुझ पंडित विरवा न होय, आधा वसे पुरुष आधा वसे जोय।→सव० १९६-१।

जोलहा—सज्ञा पु० [फा० जौलाह] जीव। ~जोलहा वीनहु हो हरि-नामा, जाके सुर नर मुनि धरैं

ध्याना ।→सब० १२७-१, कहरा (३) १०-६ ।

जोलहा—संज्ञा पु० [फा० जौलाह] बुनकर, ईश्वर, आतमा, मन । ~ अस जोलहा का मरम न जाना, जिन जग आय पसारिन्हि ताना ।→र० २८-१ ।

जोलाहिन—सज्ञा स्त्री०[हि०] जीवात्मा । ~खुर खुर खुर खुर चलै नारि, वैठि जोलाहिन पलथि मारि । → वसन्त (४) ३-४ ।

ज्ञान-चौंतीसा—इसमे ओकार मिलाकर ३४ अक्षर होते हैं—पाँच वर्ग (क-वर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग) य, र, ल, व, श, ष, स, ह, और ऊँ । इन अक्षरो के आधार पर ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है । छन्द का प्रारम्भ प्रत्येक अक्षर से हुआ है । →ज्ञान चौ० (१) ।

झ

झल—सज्ञा स्त्री० [सं० ज्वाल] ज्वाला, ज्ञान, विरह की अग्नि ।~झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि । →सा० ज्ञान वि० (४) ४-१ ।

झोली—सज्ञा स्त्री० [हि०] थैली, जिसमे योगी या साधक वस्त्रादि वस्तुएँ रखता है, सचित कर्म ।~झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि । →सा० ज्ञान वि० (४) ४-१ ।

ठ

ठग—संज्ञा पु० [स० स्थग] जीव । ~यहु ठग ठगत सकल जग डोलै । →पद २४३-१ ।

ठाकुर—सज्ञा पु० [स० ठक्कुर] स्वामी, मन । ~गाउ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै । →सब० १०-५ ।

ड

डांइन—सज्ञा स्त्री दे० 'डाइनि' ।

डांइनि—सज्ञा स्त्री० दे० 'डाइनि' ।

डाइनि—सज्ञा स्त्री० [सं० डाकिनी] डाकिनी, माया । ~डाइनि डिभ सकल जग खदा । →सब० ८५ ६, ३२७-५, ४४-३ ।

डाली—सज्ञा स्त्री० [हि०] शाखा, विषय, वाह्याचार । ~वावा पेड छाडि सब डाली लागे, मूढे जन्त अभागे । →सब० १८६-१ ।

त

तत—सज्ञा पु० [स० तत्व] तत्व, जीवात्मा । ~निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर । →सा० गुर० (१) ३०-१ ।

तन छीजै—हठयोग की सिद्धि के लिए शरीर की कृशता, मुख की प्रसन्नता, ध्वनि का प्राकट्य, नेत्रो की निर्मलता, आरोग्य, धातु का वस मे होना, उदराग्नि का वढना और नाडी की शुद्धि आवश्यक है । [हठयोग प्रदीपिका, द्वितीयोपदेश-७८] ~ सुरभी भच्छन करत वेद मुख, घन वरिसै तन छीजै ।→सब० १४४-५ ।

तर—क्रि० वि० [स० तल] नीचे, पाताल। ~तर ऊपर द्वै चाँपिहि, जस कोल्हु कोटि पचास। →र० १७-९।

तरवर—संज्ञा पु० [स० तरुवर] वृक्ष; सुषुम्ना नाडी। ~तरवर एक अनंत मूरति, सुरताँ लेहु पिछानी। →सब० १२-३, सब० ४८-४।

तरवर—संज्ञा पु० [स० तरुवर] वृक्ष, प्रकृति या माया। ~तरवर एक मूल विन ठाढा, बिन फूला फल लागा। →सव० ३७-३।

तरवर—सज्ञा पु० [सं० तरुवर] वृक्ष, शरीर। ~बाँझ का पूत बाप विनु जाया, बिना पाउं तरवर चढिया। →सब० ११६-३, सब० ११६-५, सब० ११९-३।

तरवर—संज्ञा पु० [सं० तरुवर] वृक्ष, ब्रह्म, ईश्वर, प्रभु। ~दाता तरवर दया फल, उपगारी जीवत। → सा० सजी० (४७) ७-१।

तरवर—संज्ञा पु० [स० तरुवर] वृक्ष; सहजावस्था या प्रभु। ~तरवर तासु बिलबिए, बारह मास फलत। →सा० सजी० (४७) ६-१।

तरवरि—संज्ञा पु० दे० 'तरवर'।

तरु—संज्ञा पु० [सं०] वृक्ष, माया। ~गत फल फूल तत तरु पल्लव, अंकुर बीज नसाँनाँ। →सब० १५८-२।

तरु—सज्ञा पु० [सं०] वृक्ष, संसार। दे० 'तरुवर'। ~गए बसंत ग्रीसम रितु आई, बहुरि न तरु तर आवै। →सव० ८८-६।

तरुनि—संज्ञा स्त्री० [सं० तरुणी] तरुणियाँ, स्त्रियाँ, इन्द्रियाँ। ~एक गाँव मे पाँच तरुनि बसै, तामँह जेठ जेठानी हो। →कहरा (३) २-६।

तरुवर—सज्ञा पु० [सं०] वृक्ष, ससार। ~उदधि भूप ते तरुवर डाहै, मच्छ अहेरा खेलै। →पद १६९-८।

तलिहारी—वि० [स० तल+हारी] नीचे की ओर वर्तमान, मूलाधार चक्र। ~ऊपरि नीर लेज तलिहारी कैसे नीर भरै पनिहारी। →सव० १५०-३।

ताना—सज्ञा पु० [सं० तान] शरीर।~ ताना तनै को अहुठा लीन्हा, चरखी चारो वेदा। →सव० १२७-२।

ताना—संज्ञा पु० [सं० तान] कपडे की वुनावट मे लम्वाई के वल के सूत, माया। ~अस जोलहा का मरम न जाना, जिन जग आय पसारिन्हि ताना। →र० २८-१।

तार—सज्ञा पु० [स० तारा] नाडी-मंडल, जिसके द्वारा ज्ञानेद्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ प्रवृत्त या क्रियाशील होती है। ~कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए सब तार। →सा० काल० (४६) २०-१।

तार—संज्ञा पु० [सं० तारा] तारा, नक्षत्र, मिथ्याज्ञान। ~ रवि के उदै तार भौ छीना, चर बीहर दोनो मँह लीना। →र० २९-५।

ताल—संज्ञा पु० [सं० तल्ल] तालाव,

शरीर। ~सूखे ताल पुरइन जल छांडे, कमल गए कुम्हिलाय। ->पद ३२२-३, पद ३२३-५।

तिन—संज्ञा पु० [स० तृण] तृण, सासारिक भोग-विलास। ~मैंमंता तिन ना चरै, सालै चित्त सनेह। -> सा० रस० (६) ५-१।

तिनका—सज्ञा पु० [सं० तृण] तृण, क्षुद्र चेला। ~तिनका वपुरा ऊवरा गलि पूरे कै लागि। ->सा० ज्ञान वि० (४) ७-२।

तिलक—सज्ञा पु० [स०] विपय-सुख। ~न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह, नाँ जानूं हार किनहुँ लीन्ह। ->पद २३४-६।

तुमरी—सज्ञा स्त्री० [स० तुम्बिनी] तितलौकी, वासना।~अव तौ ऐसी ह्वै पडी, नाँ तुमरी नाँ वेलि। -> सा० वेली० (५८) १-१।

तुरी—संज्ञा स्त्री० [स० तुरगी] घोडी, मन। ~ कवीर तुरी पलानियाँ, चावुक लीया हाथि। ->सा० मन० (१३) १३-१।

तेल—सज्ञा पु० [स० तैल] सामर्थ्य। ~तेल घटै वाती वूझै, (तव) सोवैगा दिन राति। ->सा० सुमि० (२) १०-२।

तेल—सज्ञा पु० [स० तैल] स्नेह, प्रेम। ~दीपक पावक आँनिया, तेल भि आना सग। ->सा० ज्ञान० वि० (४) १-१, सा० गुरु० (१) १२-१।

त्रिकुटी—सज्ञा स्त्री० [स०] दोनो भौहो के मध्य मे वह स्थान जहाँ तीनो नाडियाँ इटा, पिंगला, सुपुम्ना का मिलन होता है। ~सुमति सरीर कवीर विचारी, त्रिकुटी सगम स्वाँमी ->सव० १५८-७।

त्रिकुटी संगम—संज्ञा पु० [स०] आज्ञा चक्र-जहाँ इडा, पिंगला और सुपुम्ना तीनो नाडियाँ मिलती हैं। दे० 'त्रिवेणी'। ~व्रह्म अगनि मैं काया जारै त्रिकुटी संगम जागै। ->सव० ३४-७।

त्रिखावत—वि० [स० तृपावत् के 'तृपावत' रूप से] प्यासा,प्रभु मिलन का आकाक्षी। ~त्रिखावत जो होइगा (सो) पीवेगा झख मारि। -> सा० विर्क० (३७) ७-२।

त्रिवेनी—सज्ञा स्त्री० [स० त्रिवेणी] त्रिगुणात्मक विपय। ~पच सखी मिलिहै सुजान, चलहु त जईये त्रिवेनी न्हान।->पद २३४-५।

त्रिभुवन नाथ—सज्ञा पु० [स०] मन। ~त्रिभुवन नाथ जो माँजन लागे, स्याम मरोरिया दीन्हा। ->सव० १२७-७।

त्रिवेणी—सज्ञा स्त्री० [स०] आज्ञाचक्र, इडा, पिंगला, सुपुम्ना का सगमस्थल। दे० 'त्रिकुटी सगम'। ~ पट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम वाट। ->पद ३४२-१०।

त्रीखड—सज्ञा पु० [स०] त्रिकुटी। ~अखड मडल मंडित मड, त्री असनान करै त्रीखड।->सव० ४३-७।

द

दरपन—सज्ञा पु० [सं० दर्पण] दर्पण,

अन्त करण। ~जौ दरसन देखा चहिए, तौ दरपन मांजत रहिए। →सव० ३३६-७।

दरिया—सज्ञा पु० [फा०] नदी, भव, संसार। ~तेहि पानी दुइ पर्वत वूडे, दरिया लहरि समानी। → पद ३०१-४।

दरिया—सज्ञा पु० [फा०] समुद्र, ब्रह्म-ज्ञान। ~मन उलटा दरिया मिला, लागा मलि-मलि न्हाँन। →सा० लाँवि० (७) २-१।

दव—सज्ञा स्त्री० [सं०] दावाग्नि, काम-क्रोध। ~नरहरि लागी दव विनु इंधन, मिलै न वुझावनहारा। → सव० १५७-१।

दस गज—यौ० [हि०] दस इन्द्रियाँ। ~गज नव गज दस गज उनइस की पुरिया एक तनाई।→पद २७१-३।

दसवै द्वारै—यौ० दे० 'दसहुं दुवारे'। सहस्रार के नीचे कपाल-कुहर से लेकर तालु तक विस्तृत वकनाल, जिसके द्वारा सोमरस टपकता है।~ दसवै द्वारै ताडी लागी अलख पुरुख जाको ध्यान धरै। →पद २४६-५।

दसहुँ दुवरे—यौ० [स० दशम द्वार] दशम द्वार गगन-गुफा का वह छिद्र है, जिससे महारस टपककर तालु तक आता है। निरन्तर ध्यान करने से सहस्रार मे स्थित दशम द्वार मे परमात्मा का परिचय प्राप्त होता है। ~दसहुँ दुवारे तारी लावै, तव दयाल के दरसन पावै। →ज्ञान-चौं० (१) ४०।

दसो दिसा—सज्ञा स्त्री० [सं० दश दिशा] दस इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ~ रहिगौ पथ थकित भौ पौना, दसो दिसा उजारि भौ गौना। →र० ४५-४।

दह—संज्ञा पु० [स० ह्रद] तालाव, विषय। ~कोइ एक अपिर मन वसा, दह मे परी वहोरि। →सा० मन० (१३) २४-२।

दाता—सज्ञा पु० [स०] देने वाला, प्रभु। ~जाचिग दाता इक पाया, घन दिया जाइ ना खाया। → सव० ८-३।

दादुर—संज्ञा पु० [सं० दर्दुर] मेढक, नाना प्रकार के पन्थियो के मोहक उपदेश। ~मामा मोह उहाँ भर-पूरी, दादुर दामिनी पवन अपूरी। →र० १६-५।

दादुर—संज्ञा पु० [स० दर्दुर] मेढक, मोह, अविद्या। ~मूसा खेवट नाव विलइया, सोवै दादुर सर्प पहरिया। →सव० ८६-४।

दादुल—सज्ञा पु० [सं० दर्दुर] मेढक, भ्रम। ~एक ही दादुल खायौ पाँच हूँ भुवगा। →पद ३४३-७।

दावा—सज्ञा स्त्री० [स० दाव] वन मे लगने वाली आग, विषय-वासना। ~तीसर वूडे पारथि भाई, जिन वन डाहो दावा लाई। →र० १२-५।

दिनु—सज्ञा पु० [हि० दिन] अनुभव की प्रौढ़ावस्था। ~रैनि गई मत दिनु भी जाइ। →पद २७८-१।

दिया—सज्ञा पु० [स० दीपक] दीपक, वाह्याचार।~साँझ सकार दिया लै वारै, खसम छोडि सुमिरै लगवारै। →र० ७३-४।

दिया—सज्ञा पु० [स० दीपक] दीपक, प्राण । ~ दिया खताना किया पयाना, मन्दिर भया उजार। →र० ६६-१।

दिवस—सज्ञा पु० [स०] दिन, जीवन। ~दिवस थकाँ साँई मिलौं, पीछे पडिहै राति। →सा० मन० (१३) १३-२।

दीपक—सज्ञा पु० [सं०] ज्ञान। ~ अँधियारे दीपक चहिऐ, तव वस्तु अगोचर लहिऐ। →पद ३३६-५, सा० गुरु० (१) ११-२, १२-२।

दीपक—सज्ञा पु० [स०] शरीर, जीव। ~दीपक पावक आँनिया, तेल भि आना सग। →सा० ज्ञान वि० (४) १-१।

दीवै—सज्ञा पु० [स० दीपक] दीपक मे, शरीर मे। ~कवीर निरभै राम जपु, जव लगि दीवै वाति। →सा० सुमि० (२) १०-१।

दुदर—संज्ञा पु० [स० उन्दुर] चूहा, काम, क्रोध, लोभादि विकार।~दुंदर वाँधहु सुन्दर पावहु।→पद३४६-२।

दुदुर—सज्ञा पु० [स० उन्दुर] चूहा, अहकार। ~दुदुर राजा टीका वैठे, विखहर करै खवासी। → पद ३००-५।

दुलहा—सज्ञा पु० [स० दुर्लभ] प्रियतम, ब्रह्म, प्रभु, ईश्वर। ~ अविनासी दुलहा कव मिलिहौ, सभ सतन के प्रतिपाल। →सव० २२-१।

दूध—सज्ञा पु० [स० दुग्ध] आनन्द। ~सुरही चूपै वछतलि, वछा दूध उतारै। →सव० ५१-७।

देवर—सज्ञा पु० [हि०] राग।~ननद सुहेली गरव गहेली देवर के विरहि जरउँ रे। →पद २३२-४।

देवल—सज्ञा पु० [स० देवालय] मदिर, देवालय, शरीर। ~कवीर देवल ढहि पडा, ईंट भई सैवार। →सा० चिता० (१२) १८-१, सा० रस० (६) ७-२, सा० पर० (५) ४२-१।

देस—सज्ञा पु० [सं० देश] शरीर। ~राजा देस वडो परपंची, रइयत रहत उजारी। →सव० १५६-४।

देस—सज्ञा पु० [सं० देश] सासारिक दशा। ~पानी पीया चचु विनु, भूलि गया यहु देस। →सा० पर० (५) २०-२।

देह—सज्ञा पु० [स०] शरीर, विलग वैयक्तिक सत्ता। ~दाधी देह न पालवै, सद्गुरु गया लगाइ। →सा० ज्ञान वि० (४) ६-२।

दोइ तूँबड़ा—सज्ञा पु० [स० द्वि+तुवक] दो तुवा, सूर्य नाडी और चन्द्र नाडी, इडा-पिंगला। ~धरती अरु अस-मान विचि, दोइ तूँबड़ा अवध। → सा० मधि० (३१) ११-२।

दोऊ कुल—यौ० [हि०] पितृकुल व श्वसुर कुल, इहलोक व परलोक।

~दोऊ कुल हम आगरी, जो हम झूलै हिंडोल। →पद ३४२-८।

दौं—सज्ञा स्त्री० [स० दाव] आग, दावाग्नि, ज्ञान विरह की अग्नि।~दौं लागी सायर जला, पखी बैठे आइ। →सा० ज्ञान वि० (४)६-१, ८-१।

दौ—सज्ञा पु० [स० दाव] दावाग्नि, भव-ताप। ~दौ की दाधी लाकडी, ठाढ़ी करै पुकार। →सा० काल० (४६) १०-१।

द्यौहड़े—सज्ञा पु० [स० देवगृह] देव-गृह, देवालय, मानव-शरीर। ~पुन्नैं पाए द्यौहड़े, ओछी ठौर न खोइ। → सा० चिता० (१२) ५६-२।

द्वादस गम को अंतरा—हृदय से बारह अगुल की पहुँच पर अर्थात् सहस्रार। तन्त्रो के अनुसार हृदय से बारह अंगुल के अन्तर पर सहस्रार मे चित्त की स्थिति होती है। तन्त्रो मे इसे 'शिवद्वादशान्त' कहते है। ~**द्वादस गम को अंतरा**, तहाँ अमृत कौं ग्रास। →पन ३४२-५।

द्वादस दल—सज्ञा पु० [स० द्वादश दल] अनाहत चक्र, जिसमे १२ दल होते हैं। तन्त्र के अनुसार पाँच दल पर कवर्ग, पाँच दल पर चवर्ग और शेष दो दलो पर ट, ठ—ये १२ अक्षर अनाहत चक्र के कमल दल पर अभि-व्यक्त होते है। इसे मन्त्र कहा गया है। ~द्वादस दल अभिअतर मत, जहाँ पउढ़े श्री कवलाकत। →सब० ४३-१०।

ध

धजा—संज्ञा स्त्री० [स० ध्वज] ध्वजा, नाम। ~जरि गौ कथा धजा गयौ टूटी, भजि गौ डड खपर गयौ फूटी। →सब० १२६-४।

धन—संज्ञा पु० [स०] ज्ञान और आनद। ~जाचिग दाता इक पाया, धन दिया जाइ ना खाया। →सब० ८-३।

धनि—सज्ञा स्त्री० [स० धनिका] पत्नी, जीव। ~पिया अनते धनि अनते रहई, चौपरि कामरि माथे गहई। →र० १५-२।

धनी—संज्ञा पु० [स० धनिन्] स्वामी, आत्मा। ~सूरा तबही परषिये, लडै धनी कै हेत। →सा० सूरा० (४५) ६-१।

धरती—संज्ञा स्त्री० [स० धरित्री] पृथ्वी, मूलाधार चक्र। ~धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यह पुरिखा कै बानी। → सब० ३२-१२, सब० ४७-७, सब० ११६-७, सब०१५२-२।

धरती—संज्ञा स्त्री० [सं० धरित्री] पृथ्वी, मतो को धारण करने वाली बुद्धि। ~धरती बरसै बादर भीजै भीट भए पैराऊं। →पद ३२३-४।

धरनि—सज्ञा स्त्री० [सं० धरणी] पृथ्वी, मूलाधार चक्र। ~जहाँ धरनि बरसे गगन भीजै, चंद सूरज मेल। → सब० ४५-५।

धरनि—संज्ञा स्त्री [स० धरणि] पृथ्वी, बुद्धि। ~स्वान बापुरो धरनि ढाकनो;

बिल्ली घर की दासी । → पद ३००-६ ।

धवणि—संज्ञा स्त्री० [स० धमनी] धौंकनी, श्वास-प्रश्वास । ~धवणि धवती रहि गई, वुझि गए अगार । →सा० काल० (४६) २१-१ ।

धाना—संज्ञा पु० [हि० धान] धान, आशा । ~सिंह सार्दुल एक हर जोतिन, सीकस वोइन धाना । → सव० १५५-२ ।

धिये—सज्ञा स्त्री० [स० दुहिता प्रा० धिया] दुहिता; कन्या, असत् रूपी धी । ~देखहु लोगो हरि की सगाई, माय धरी पूत धिये संग जाई । → सव० १५१-१ ।

धूरि—सज्ञा स्त्री० [स० धूलि] धूल, विषय । ~पानी माँहि तलफि गौ भूभुरि, धूरि हिलोरा देई । →पद ३२३-३ ।

धौल—वि० [स० धवल] धौर, कबूतर के समान श्वेत पक्षी, मोह ।~धौल मदलिया वैल रवावी कउवा ताल वजावै । →पद ३३१-३ ।

न

नउ घर—सज्ञा पु० [स० नव+गृह] नौ तत्व—मन, वुद्धि, चित्त, अह-कार, प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ।~नउ घर देखि जु कामिनि भूली, वस्तु अनूप न पाई । →सव० ११-७ ।

नगर—सज्ञा पु० [स०] शरीर । ~ नगर एक तहँ जीव धरम हत, वसैं जु पच किसाना । →सव० १०-३; सव० ८६-१, सव० ५७-१, सव० २३५-३ ।

नगरिया—सज्ञा पु० दे० 'नगर' ।

नचनियाँ—सज्ञा स्त्री० [स० नर्तकी] नर्तकी, इन्द्रियाँ । ~ऊपर नचनियाँ करैं कोड, करिगह मे दुइ चलैं गोड । →वसत (४) ३-५ ।

नटवर—सज्ञा पु० [स०] श्रेष्ठ नट, परम चैतन्य । ~नटवर विद्या खेलै सव घट माही, दूसर के लेखा कछु नाही । →र० ६८-३ ।

नदियाँ—संज्ञा स्त्री० [स० नदी] इद्रियाँ । ~समुन्दर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भईं । →सा० ज्ञान० (४) १०-१ ।

नदी—सज्ञा स्त्री० [स० नदी] कुड-लिनी । ~एक विरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ ।→ सव० ४५-७ ।

नदी—सज्ञा स्त्री० [स०] हृदय । ~ वाझ पियालै अम्रित अँचवै, नदी नीर भरि राखै ।→सव० ३२-१३ ।

ननद—सज्ञा स्त्री० [हि०] पति की वहिन, मोह । ~ननद सुहेली गरव गहेली देवर कै विरहि जरउँ रे ।→ पद २३२-४ ।

ननद—संज्ञा स्त्री० [सं०] पति की वहन, कुमति या अविद्या । ~सासु ननद दोउ देत उलाहन, रहहु लाज मुख गोई हो ।→कहरा (३) १-२५, कहरा (३) ११-१, सव० १५१-२, पद २६०-५ ।

ननद के बीर—संज्ञा पु० [स० ननद+बीर] ननद का भाई अर्थात् पति, ब्रह्म। ~अब मोहि ले चल **ननद के बीर** अपने देसा। →सब० १७-१।

ननदी—संज्ञा स्त्री० दे० 'ननद'।

नलनी—संज्ञा स्त्री० [सं० नलिनी] कमलिनी, जीवात्मा। ~**नलनी** सायर घर किया, दव लागी बहुतेन। →सा० माया० (१६) २२-१।

नलिनी—संज्ञा स्त्री० [स०] कमलिनी, जीव। ~काहे रे **नलिनी** तूं कुम्हिलानी।→सब० ८३-१।

नली—संज्ञा स्त्री० [स०] नलिका, ढरकी के भीतर की नली, जिस पर तार लपेटा रहता है, शरीर। ~छोछी **नली** काम नहिं आवै लपटि रही उरझाई।→पद० २७१-६।

नवग्रह—संज्ञा पु० [सं०] पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अंतकरण चतुष्टय। ~**नवग्रह** मारि योगिया बैठे, जलमहिं बिंब प्रकासै।→सब० ३२-४।

नव नारी—[यौ०] अन्तकरण चतुष्टय, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ। ~एक न जरै जरै **नव नारी**, जुक्ति न काहू जानी।→सब० १५७-४।

नवल—संज्ञा पु० [स० नकुल] नेवला, साधक का चित्त। ~ऐसा **नवल** गुंनी भया, सारदूलहिं मारै।→सब० ५१-८।

नांव—संज्ञा स्त्री० [सं० नौका] नौका, शरीर। ~कागद केरी **नांव** री, पानी केरी गग। → सा० मन० (१३) २१-१।

नाइकु—संज्ञा पु० [सं० नायक] नायक, शुद्धात्म तत्व। ~**नाइकु** एकु बनिजारै पाच बरध पचीस क संगु काच।→पद २३६-३।

नागफांस—संज्ञा पु० [सं० नागपाश] काम, क्रोध आदि बन्धन। ~**नागफांस** लीये घट भीतर, मूसिन सब जग झारी।→पद २६१-६।

नागिनी—संज्ञा स्त्री० [सं० नागिनि] सर्पाकार कुण्डलिनी। ~प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत **नागिनी** जागी। →पद २०१-८।

नाद बिंद—यौ० [सं० नाद बिन्दु] ब्रह्म की सृष्टि-उन्मुखता के उल्लास के स्पन्द को नाद कहते हैं। यह ज्योति और ध्वनि दोनो की अव्यक्त अवस्था है। इसी नाद को परावाक्, परावाणी, कुलकुण्डलिनी, मातृका आदि भी कहते है। शैवागम मे इसी नाद को आत्ममाया, महामाया योगमाया आदि भी कहा गया है। कही-कही पर इसे परासंवित और प्रतिभा भी कहा गया है। यह एक शक्ति है। जब यह घनीभूत होती है तब बिन्दु के रूप मे व्यक्त होती है। इसी बिन्दु मे सारी सृष्टि समाविष्ट है। जैसे मनुष्य के 'बिंदु' मे शरीर के सभी अवयव सम्भाव्य रूप मे निहित रहते है, उसी प्रकार 'बिंदु' मे सारी सृष्टि सम्भाव्य रूप मे निहित रहती है। ~**नाद बिंद** की नाव री, राँम नाम कनिहार।

→पद ३४२-११, पद ५०-६, पद १०७-२।

नाद विंदु—यौ० दे० 'नाद विंद'।

नारि—संज्ञा स्त्री० [सं० नारी] स्त्री, अविद्या। ~जारौं माँग मैं तासु नारि की, जिन सरवर रचल धमारी।→पद २२२-३।

नारि—संज्ञा स्त्री० [सं० नारी] स्त्री, माया। ~नारि एक संसारहि आई, माय न वाके वाप न जाई।→र० ७२-१।

नारी—संज्ञा स्त्री० [सं०] माया, लक्ष्मी या शक्ति। ~अर्थ विहूना सँवरै नारी,परजा सँवरै पुहुमी झारी।→ र० ६-५, सव० २६-२, र० २-१।

नारी—संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री, भक्ति। ~नारी एक पुरुप दुइ जाए, वूझो पडित ज्ञानी।→पद ३०१-२।

नारी—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राण। ~रह्यो समाइ पच तजि नारी। →सव० १२६-२।

नारी—सज्ञा स्त्री० [स०] स्त्री, कुवुद्धि। ~ राति दिवस मिलि उठि उठि लागै, पाँच ढोटा एक नारी। → पद २६६-२।

नारी—संज्ञा स्त्री० [स०] स्त्री, कुण्डलिनी।~कुंभ लिए ठाढी पनिहारी, गुन विन नीर भरै कैसे नारी।→ पद ३११-४।

नारी—सज्ञा स्त्री० [स०] स्त्री, सुरति। ~चली जात देखी एक नारी, तर गागरि ऊपर पनिहारी। → र० ७३-१।

नारी—सज्ञा स्त्री० [स०] नारी, इच्छा या माया। ~ एकै पुरुप एक है नारी, ताते रचेउ खानि भौ चारी। →र० २७-६।

नालि—सज्ञा स्त्री० [स० नाल] कमल आदि फूलो की डडी, सम्पर्क,निकट। ~तेरे ही नालि सरोवर पानी।→ सव० ८३-२।

नाव—सज्ञा स्त्री० [स० नौका] नौका, विपय समूह। ~मीन जाल भौ ई ससारा, लोह क नाव पपान क भारा। →र० ४५-५।

नाव—सज्ञा स्त्री० [स० नौका] नौका, शरीर। ~ कवीर नाव जरजरी, कूडे खेवनहार। → सा० चिता० (१२) ६२-१।

नाहर—संज्ञा पु० [स० नखरायुध] सिंह, जीव।~माइ नाहर खाइओ हरिनि खायौ चीता।→पद ३४३-३।

निकुज—सज्ञा पु० [स०] विपय-वासना रूपी निकुंज वन।~तेहि वियोग ते भया अनाथा, परि निकुज वन पाव न पाया। →र० ६८-१।

निझरुहि—संज्ञा पु० [सं० निर्झर] निर्झर, झरना, ब्रह्म। ~ निझरुहि नीरु जानि परिहरिया, करम क वाँधल लालच करिया।→र० २६-२।

निधि—सज्ञा स्त्री० [स०] कोप, परमानद। ~निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर। →सा० गुरु० (१) ३०-१।

निरजन—वि० [स०] मायारहित शुद्ध चैतन्य पद। ~कहँ कवीर जे हरि

रस भोगी, ताको मिला **निरंजन** जोगी। →सब० १४-६।

निरंजन—वि० [सं०] कालिमा या अंजन रहित। अंजन या कालिमा से तात्पर्य है—त्रिगुण। अत निरजन का तात्पर्य है–त्रिगुणातीत, निर्गुण सत्ता। ~ चाँद बिहूना चाँदिना, अलख **निरंजन** राइ। →सा० पर० (५) १५-२।

निरति—सज्ञा स्त्री० [स० नि + रति] निरतिशय रूप से नाद ब्रह्म मे लय, निरति-सुरति की चरमावस्था है, यह निरालब स्थिति है, सहज स्थिति है। ~सुरति **निरति** परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार। →सा० पर० (५) २२-२।

निरालम्ब—वि० [सं० निर् + आलम्ब] आलम्बन रहित, निर्विकल्प, शून्य। ~बलिहारी ता पुरुष की **निरालम्ब** जो होति। →र० ६-७।

निर्मल नीर—संज्ञा पु० [स०] भगवद्-भक्ति का रस। ~कया कमण्डल भरि लिया, उज्ज्वल **निर्मल नीर**। →सा० लाँवि० (७) १-१।

निस—सज्ञा स्त्री० [सं० निशा] निशा, अज्ञान। ~उदया सूर **निस** किया पयाँना, सोवत थैं जब जागा। → सब० १३-६।

निसि अँधियारी—संज्ञा स्त्री० [स० निशा + अन्धकार] अज्ञान की अन्धेरी रात। ~**निसि अँधियारी** मिटि गई, वाजे अनहद तूर। → सा० पर० (५) ४३-२।

नीझर—सज्ञा पु० [स० निर्झर] झरना, सहस्र दल। ~अनहद बाजै **नीझर** झरै, उपजै ब्रह्म गियान। →सा० पर० (५) ४४-१।

नार—सज्ञा पु० [स०] जल, ज्ञानामृत। ~**नीर** पियावत क्या फिरै, घर घर सायर बारि। →सा० विर्क० (३७) ७-१।

नीर—सज्ञा पु० [स०] जल, स्वरूपानन्द। ~ वाझ पियाले अम्रित अँचवै, नदी **नीर** भरि राखै। → सब० ३२-१३।

नीर—सज्ञा पु० [सं०] जल, मानस। ~आगि जु लागी **नीर** महिं, कादौ जरिया झारि। → सा० ज्ञान वि० (४) ५-१।

नीर—संज्ञा पु० [स०] जल, अमृत-रस, सोमरस। ~उलटी गंग **नीर** बहि आया, अमृत धार चुवाई। → पद २०१-६।

नीर—सज्ञा पु० [स० नीर] अमृत-रस। ~ऊपरि **नीर** लेज तलिहारी कैसे **नीर** भरै पनिहारी। →सब० १५०-३।

नीरु—संज्ञा पु० [स० नीर] जल, भवसागर, जगत्। ~निझरुहि **नीरु** जानि परिहरिया, करम क बाँधल लालच करिया। →र० २६-२।

नौ मन सूत—[यौ०] तागा, बन्धन [पच विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध + तीन गुण—सत्व, रजस्, तमस् + मन]। ~ **नौ मन सूत** अरुझि नहिं सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा। →सब० १३४-७।

नौवा—संज्ञा पु० [स० नाविक] नाविक, जीवात्मा। ~नित उठि **नौवा** नाव चढतु है, वेरहिं वेरा वोरै हो। → कहरा (३) २-४।

प

पखि—सज्ञा पु० [स० पक्षिन्] पक्षी, जीवात्मा। ~**पखि** उडानी गगन कौं, पिण्ड रहा परदेस। →सा० पर० (५) २०-१।

पखि—सज्ञा पु० [स० पक्षिन्] पाँच इन्द्रियाँ और मन। ~जिहि वन सीह न सचरै, **पंखि** उडै नहिं जाइ। →सा० लै० (१०) १-१।

पंखि—संज्ञा पु० [स० पक्षिन्] पक्षी, जीव। ~देवल वूडा कलस सो, **पंखि** तिसाई जाइ। →सा० रस० (६) ७-२।

पखी—सज्ञा पु० [स० पक्षिन्] सिद्धो और योगियो द्वारा मुक्ति या परमार्थ के तीन मार्ग बताए गए हैं—पिपीलिका मार्ग, मीन मार्ग और विहगम मार्ग। विहगम मार्ग के दो प्रमुख लक्षण हैं—१. गन्तव्य स्थान तक उडकर पहुँचना और २ गमन का पदचिह्न न होना। यहाँ पक्षी की उडान के द्वारा सद्य मुक्ति का सकेत किया गया है और द्वितीय लक्षण द्वारा आतमा के परमात्मा तक गमन की रहस्यात्मकता व्यक्त की गई है। ~**पखी** का खोज मीन का मारग, कहै कवीर विचारी।→ सव० ३७-७।

पंखी—सज्ञा पु० [सं० पक्षी] हंस, जीवात्मा। ~दौ लागी सायर जला, **पखी** वैठे आइ। →सा० ज्ञान वि० (४) ६-१, सा० पर० (५) २०-१।

पंखी—संज्ञा पु० [स० पक्षी] पक्षी, जीव। ~ ऊँचा विरिख अकासि फल, **पंखी** मूए झूरि। → सा० सूरा० (४५) १७-१, सा० रस० (६) ७-२।

पंखी—सज्ञा पु० [स० पक्षी] मुक्त जीव। ~सीतल छाया सघन फल, **पखी** केलि करत। → सा० सजी० (४७) ६-२।

पंखी—सज्ञा पु० [स० पक्षी] सामान्य जीव। ~ **पखी** चले दिसावराँ, विरषा सुफल फलंत। → सा० सजी० (४७) ७-२।

पंखेरू—सज्ञा पु० [स० पक्षालु] पक्षी, सासारिक लोग। ~और **पंखेरू** पी गए, हंस न वोरै चंच। →सा० माया० (१६) ३०-२।

पच जने—यौ० [स० पञ्च जन] पांच ज्ञानेन्द्रियाँ। दे० 'पच पनिहारी'। ~**पंच जने** सो सग करि लीन्हे, चलत खुमारी लागी। →पद २०१-७।

पच पनिहारी—[यौ०] पच ज्ञानेन्द्रियाँ। दे० 'पच जने'। ~ऊध्यौ कूप घाट भयौ भारी, चली निरास **पंच पनिहारी**। →सव० १५०-४।

पच पहरवा—यौ० [सं० पञ्च प्रहरी] पांच ज्ञानेन्द्रियाँ। दे० 'पंच पनिहारी'।~**पंच पहरवा** सोइ गए है,

बसतै जागन लागी। →पद २१८-५।

पंथी—संज्ञा पु० [सं० पंथिन्] यात्री, जीवात्मा।~**पंथी** ऊभा पथ सिरि, बगुचा बांधा पूठि। →सा० काल० (४६) २२-१।

पखान—संज्ञा पु० [सं० पाषाण] अज्ञानी जीव। ~ पानी मँहु **पखान** की रेखा, ठोकत उठै भभूका। →सब० १६१-२।

पचूं भइया—[यौ०] पच ज्ञानेन्द्रियाँ। दे० 'पच पनिहारी'। ~**पचूं भइया** भए सनमुखा, तब यहु पान करीला। →सब० १५४-६।

पछिम दिसा—संज्ञा स्त्री० [सं० पश्चिम दिशा] सुषुम्ना। ~सिव सक्ती दिसि को जुवै,**पछिम दिसा** उठै धूरि। →सा० पर० (५) ४६-१।

पछेवरा—संज्ञा पु० [सं० पक्षपट, प्रा० पच्छवड] चादर, शरीर। ~ओढन हमरै एक **पछेवरा** लोक बोलैं इकताई हो। →पद २३७-६।

पतंग—संज्ञा पु० [सं०] शलभ, विषय-वासना। ~तीन्यू मिलि करि जोइया, (तब) उडि उडि पडै **पतग**। → सा० ज्ञान वि० (४) १-२।

पताल—संज्ञा पु० [सं०पाताल] मूलाधार चक्र। ~साधै तीर **पताल** कौ, फिरि गगनहि मारै। → सब० ५२-४।

पत्री—संज्ञा पु० [सं० पत्रिन् ?] पक्षी, जीव। ~छव त्रछी **पत्री** जुग चारी, फल दुइ पाप पुन्य अधिकारी। → र० ८२-२।

पदारथ—संज्ञा पु० [सं० पदार्थ] पदार्थ, भक्ति। ~पाइ **पदारथ** पेलि करि, ककर लीन्हा हाथि। →सा० अपा० (४८) १-१।

पनिआँ—संज्ञा पु० [सं० पानीय] जल, प्रपच। ~**पनिआँ** महि पावक जरै अधै आँखिन सूझै। →पद ३४३-२।

पनिहारि—संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + भरना] पानी भरने वाली, कुड-लिनी, जिह्वा। ~आकासे मुखि औंधा कुआँ, पाताले **पनिहारि**। → सा० पर० (५) ४५-१, पद पद ३११-४।

पनिहारी—संज्ञा स्त्री० [सं० पनिहारिन्] जल भरने वाली, सुरति। ~चली जात देखी एक नारी, तर गागरि ऊपरि **पनिहारी**। →र० ७३-१।

पनिहारी—संज्ञा स्त्री० [सं० पनिहारिन्] पानी भरने वाली, प्राण शक्ति। ~ ऊपरि नीर लेज तलिहारी, कैसे नीर भरै **पनिहारी**। →सब १५८-३।

परचा—संज्ञा पु० [सं० परिचय] परि-चय, पहचान, ब्रह्म से साक्षात्कार। →सा० पर० (५)।

परबत—संज्ञा पु० [सं० पर्वत] विषय। ~चीटी **परबत** उखारिया,लै राख्यौ चौडे। →सब० ५१-५।

परबत—संज्ञा पु० [सं० पर्वत] पर्वत, जीवात्मा। ~कहै कबीर सुनहु रे संतौ गडरी **परबत** खावा। →पद ३३१-७।

परम पुरुष—संज्ञा पु० [सं०] पुरुषोत्तम भगवान्। ~ताहि न कबहूँ आदरै,

परम पुरुष भरतार। →सा० सुन्द० (५२) २-२।

परोसिनि—संज्ञा स्त्री० [हि० पडोसिन] विषयासक्ति। ~हार हिरांनी जन विमन कीन्ह, मेरो आहि **परोसिनि** हार लीन्ह। →पद २३४-७।

परोसिनि—सज्ञा स्त्री० [हि० पडोसिनि] पडोसी, कर्मेन्द्रियाँ। ~पार **परोसिनि** करों कलेवा, सगहि वुधि महतारी। →पद २२२-५।

पर्वत—सज्ञा पु० [सं०] मन। ~विना पवन जहँ **पर्वत** उडै, जीव-जंतु सव विरछा वूडै। →सव० १५२-३।

पलानियाँ—क्रि० [सं० पल्याण] जीन कस दिया, एकाग्रचित्त हो गया। ~कवीर तुरी **पलानियाँ**, चावुक लीया हाथि। →सा० मन० (१३) १३-१।

पल्लव—सज्ञा पु० [स०] मोह आदि। ~गत फल फूल तत तरु **पल्लव**, अंकुर वीज नसांनां। →सव० १५८-२।

पवन—सज्ञा पु० [सं०] प्राणतत्त्व, प्राणशक्ति। ~सोलह मंझै **पवन** झकोरै, आकासे फल धरिया। →सव० १२-६।

पवनपति—संज्ञा पु० [स०] प्राण। प्राण—शब्द दो अर्थों मे प्रयुक्त होता है—सामान्य और विशेष। इसका सामान्य अर्थ है प्राणतत्त्व। विशेष अर्थ मे क्रिया के अनुसार प्राण, अपान, आदि भी प्राण कहलाते हैं। यहाँ 'पवन पति' प्राण तत्व के लिए आया है। ~**पवनपति** उनमनि रहनु खरा। →सव० १७१-१।

पषान—संज्ञा पु० [स० पाषाण] सकाम कर्म। ~मीन जाल भौ ई ससारा, लोह क नाव **पषान** क भारा। →र० ४५-५।

पषानक ताला—सज्ञा पु० [स० पाषाण + तालक] जड वुद्धि या अज्ञान का ताला, विषयासक्त मन। ~माटिक कोट **पषानक ताला**, सोई वन सोई रखवाला। →र० १२-१।

पसेरी—संज्ञा स्त्री० [हि० पाँच + सेर + ई (प्रत्य०)] पाँच सेर का वाट, इन्द्रियाँ। ~सेर **पसेरी** पूरा कैले, पासंग कतहुँ न जाई हो। →कहरा (३) ४-६।

पहरुवा—सज्ञा पु० [सं० प्रहरी] रक्षक, ज्ञानेन्द्रियाँ। ~पच **पहरुवा** दर महिं रहते, तिनका नही पतिआरा। →सव० ११-५।

पहरू—सज्ञा पु० [स० प्रहरी] पहरेदार, आत्मा। ~सहर जरै **पहरू** सुख सोवै, कहै कुसल घर मेरा। →सव० १५७-५।

पहाडी—संज्ञा स्त्री० [हि० पहाड + ई (प्रत्य०)] शून्य-शिखर। ~वन कै ससै समंद घर कीया, मछा वसै **पहाडी**। →सव० ३०-३।

पांच कुटुंव—सज्ञा पु० [स०] पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। दे० 'पाँचौ थाना'। ~**पाँच कुटुंव** मिलि जूझन लागे, वाजन वाजु घनेरे। →सव० ४४-४।

पांच लदनुवा—[यौ०] पाँच लादने वाले अर्थात् पञ्चतत्व। ~**पांच लदनुवा** लादि चलै हो रमैया राम। →वेलि (६) १-२१।

पांच हाथ—[यौ०] पाँच तत्व—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। ~एक वडी जाके **पाँच हाथ** पाँचहु के पचीस साथ। →वसत (४) ७-२।

पांचौ थांनां—यौ० [हि० पाँच स्थान] पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ। ~जव वस कियौ **पांचौ थांना**, तव राम भया मिहरवाना। →पद २०५-६।

पांडुर—सज्ञा पु० [दे०] एक प्रकार का साँप, अज्ञान। ~ऐसो हरि सो जगत लरतु है, **पांडुर** कतहूँ गरुड धरतु है। →सव० ६२-१।

पांनी—सज्ञा पु० [स० पानीय] जल, भक्ति। ~मुर्गी मिनकी सो लडै, झल **पांनी** दौडे। →सव० ५१-६।

पांनी—सज्ञा पु० [स० पानीय] जल विषयासक्त मानस। ~**पानी** माही परजली, भई अपरवल आगि। → सा० ज्ञान वि० (४) ६-१।

पाट—सज्ञा पु० [स० पट्ट] पटिया, शिला, वासना। ~अपने सैयां के वाधौं **पाट**, लै वेचौंगी हाटै हाट। →वसत (४) ६-४।

पाट—सज्ञा पु० [स० पट्ट] वस्त्र, शरीर। ~सात सूत दै गड वहत्तरि **पाट** लागु अधिकाई।→पद२७१-४।

पाताल—संज्ञा पु० [स०] मूलाधार चक्र।~सद पानी **पाताल** का, काढि कवीरा पीव। →सा० उप० (५०) ५-१।

पाताले—संज्ञा पु० [स०] पाताल मे, मूलाधार चक्र मे। ~आकासे मुखि औधा कुआँ, **पाताले** पनिहारि। → सा० पर० (५) ४५-१।

पाती पच—सज्ञा स्त्री० यौ० [सं० पत्र पञ्च] पच पत्र, पच ज्ञानेन्द्रियाँ। ~**पाती पंच** पुहुप करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा। →सव० ५६-३।

पान—सज्ञा पु० [स० पर्ण] ताम्बूल, विषय भोग। ~दाँत गैल मोर **पान** खात, केस गैल मोर गंग नहात। →वसत (४) ४-२।

पानी—सज्ञा पु० [स० पानीय] जल, विषय भोग। ~ वासी भात मनुसें लीहल खाय, वडा घैल लै **पानी** के जाय। →वसत (४) ६-३।

पानी—सज्ञा पु० [सं० पानीय] उपदेश। ~**पानी** मँह पखान की रेखा, ठोकत उठै भभूका।→सव०१६१-३।

पानी—सज्ञा पु० [स० पानीय] पानी, सुख व शान्ति। ~पाहन फोरि गग एक निकरी, चहुँ दिसि **पानी पानी**। →पद ३०१-३।

पानी—सज्ञा पु० [स० पानीय] वीर्य। ~वहि माखी को माखा नाही, गर्भ रहा विनु **पानी**। →पद ३०१-६।

पानी—संज्ञा पु० [स० पानीय] शाति, आनन्द। ~**पानी** माँहि तलफि गौ भूभुरि, धूरि हिलोरा देई। →पद ३२३-३।

पानी—संज्ञा स्त्री० [सं० पानीय] वायु। ~ पुहुमी क **पानी** अमर भरिया, ई अचरज को बूझै। → सव० १४४-७।

पानी—संज्ञा पु० [सं० पानीय] जल, आध्यात्मिक आनन्द। ~**पानी** पीया चंचु विनु, भूलि गया यहु देस। → सा० पर० (५) २०-२।

पानी—संज्ञा पु० [सं० पानीय] जल, शान्ति। ~घूरि घूरि वरखा वरसावै, परिया बूंद न **पानी**। →पद १६६-२।

पार—संज्ञा पु० [हि०] दूर वाले, प्रकृति ~**पार** परोसिनि करौं कलेवा, सगहि वुधि महतारी।→पद २२२-५।

पारथ—संज्ञा पु० [सं० पारधी] पारधी, शिकारी, जीव। ~ घर घर साउज खेलै अहेरा, **पारथ** ओटा लेई। → पद ३२३-२।

पारथ—संज्ञा पु० [सं० पारधी] पारधी, शिकारी, सद्गुरु का उपदेश। ~ ससय मिरगा तन वन घेरे, **पारथ** वाना मेलै। →पद १६६-७।

पारथहि—संज्ञा पु० [सं० पारधी] शिकारी को, मन को। ~उलिटा वान **पारथहि** लागै, यहु अचिरज कोई बूझै। →सव० ३२-६।

पारथि—संज्ञा पु०[सं० पारधी] शिकारी, वहेलिया, वधिक। मन। ~ तीसर वूडे **पारथि** भाई, जिन वन डाहो दावा लाई। →र० १२-५।

पारधी—संज्ञा पु० [सं०] शिकारी, जीवात्मा। ~रोहै मिरिग समा वन हाकै **पारधी** वान न मेलै। →सव० ४४-५।

पारस—संज्ञा पु० [सं० स्पर्श] पत्थर विशेष, जिसके स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है, ब्रह्म। ~कवीर सुपनै रैनि कै, **पारस** जीय मैं छेक। → सा० चिता० (१२) २३-१।

पावक—संज्ञा पु० [सं०] आग, कुंडलिनी। ~करनी किया करम का नास, **पावक** माँहि पुहुप परकास। →सव० ४७-३।

पावक—संज्ञा पु० [सं०] अग्नि, आध्यात्मिक ज्ञान। ~पनिआं मंहि **पावक** जरै अधै आँखिन सूझै। → पद ३४३-२।

पाहन—संज्ञा पु० [सं० पाषाण, प्रा० पाहाण] प्रस्तर, शुष्क अन्तःकरण। ~**पाहन** फोरि गंग एक निकरी, चहुँ दिसि पानी पानी।→पद ३०१-३।

पाहन—संज्ञा पु० [सं० पाषाण]पत्थर, समाधि लगाने वाले लोग। ~**पाहन** होयके सव गये, विनु भितियन को चित्र। →र० ५६-४।

पिंजर—संज्ञा पु० [सं० पिञ्जर] पिंजडा, शरीर। ~**पिंजर** प्रेम प्रकासिया, जागी जोति अनंत। →सा० पर० (५) १३-१, सा० पर० (५) १४-१।

पिछौरा—संज्ञा पु० [सं० पक्षपट] दुपट्टा, प्रकृति। ~ओढन मेरा एक **पिछौरा**, लोग वोलै एकताई हो। →कहरा (३) १०-२।

पिता—संज्ञा पु० [सं०] ब्रह्म। ~**पिता** के संगहि भई बावरी, कन्या रहलि कुँवारी। →पद २६०-२।

पिपराही—सज्ञा पु० [हि० पीपर+आही] पीपल का वन, कामना। ~राही लै **पिपराही** बही, करगी आवत काहु न कही।→र० १०-१।

पिया—सज्ञा पु० [सं० प्रिय] प्रिया, ईश्वर, परमात्मा। ~**पिया** अनते धनि अनते रहई, चौपरि कामरि माथे गहई। →र० १५-२।

पियादे—संज्ञा पु० [फ़ा० प्यादा] पदाति, पैदल सेना, काम, क्रोध,मद, मोह, लोभ आदि मन की प्रवृत्तियाँ। ↪पच **पियादे** पारि कै, दूरि करै सब दूज। → सा० सूरा० (४५) ३-२।

पुत्र—सज्ञा पु० [स०] मन। ~सतो अचरज एक भौ भारी, **पुत्र** धरल महतारी। →पद २६०-१।

पुरइन—सज्ञा स्त्री० [स० पुटकिनी] कमलपत्र, नेत्र। ~सूखे ताल **पुरइन** जल छांडे, कमल गए कुम्हिलाय। →पद ३२२-३।

पुरता—सज्ञा पु० [स० पुर+हि० ता] शरीर। ~**पुरता** मे राती है गइया, स्वेत सीग है भाई।→पद २०६-६।

पुरिख—सज्ञा पु० [सं० पुरुष] चैतन्य पुरुष, ब्रह्म। ~तातै भई **पुरिख** तै नारी। →सब० २६-२।

पुरिया—संज्ञा स्त्री० [हि० पूरना] पूरना, वह नली जिस पर जुलाहे बाने को बुनने के पहले फैलाते हैं, शरीर, शरीर के अंग। ~गज नव गज दस उनइस की **पुरिया** एक तनाई। →पद २७१-३, वसंत (४) ३-२, सब० १५७-६।

पुरुष—सज्ञा पु० [सं०] सत्पुरुष, परमात्मा। ~एकै **पुरुष** एक है नारी, ताते रचेउ खानि भौ चारी। → र० २७-६।

पुहुप—संज्ञा पु० [सं० पुष्प] कमलदल चक्र। ~तरवर एक अनंत डार साखा **पुहुप** पत्र रस भरिया। → सब० ११६-३, ५।

पुहुप—संज्ञा पु० [स० पुष्प] पुष्प, चक्र-कमल। ~करनी किया करम का नास, पावक माँहि **पुहुप** परकास। →सब० ४७-३।

पुहुप—सज्ञा पु० [सं० पुष्प] पुष्प, वासना। ~पाती पंच **पुहुप** करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा। →सब० ५६-३।

पुहुप—संज्ञा पु० [स० पुष्प] पुष्प, शून्य-चक्र। ~कदली **पुहुप** दीप परकास, ह्रिदा पंकज महि लिया निवास। →सब० ४३-६।

पूंजी—संज्ञा स्त्री० [स० पूज] मूल-धन, आध्यात्मिक ज्ञान। ~झूठा वनिज कियो झूठे सो, **पूंजी** सबन मिली हारी। →सब० १५६-२।

पूत¹—सज्ञा पु० [स० पुत्र] पुत्र, जीव। ~बाप **पूत** की एकै नारी, ओ एकै माय बिआय। →र० १-६, पद ३००-४, सब० १६८-४, सब० १५१-१, वसत (४) ४-५।

पूत[२]—सज्ञा पु० [स० पुत्र] पुत्र, साधक। ~पहिलै पूत पिछै भई माई, चेला कै गुर लागै पाई। →सब० ४८-३, सब० ८-८।

पूति—संज्ञा पु० दे० 'पूत'[२]।

पूरब—सज्ञा पु० [स० पूर्व] सामने। ~पूरब दिसा हंस गति होई, है समीप सँधि बूझै कोई।→र० ५-६।

पेड़—सज्ञा पु० [हि०] वृक्ष, मूल। ~इहै पेड़ उतपति परलय का विखया सबै विकारी। →सब० १५६-७।

पेड़—संज्ञा पु० [हि०] वृक्ष, मूल तत्व। ~बाबा पेड़ छाडि सब डाली लागे, मूढे जन्त्र अभागे।→सब० १८६-१

प्रकट—वि० [स०] प्रकट, दृश्य, स्थूल शरीर। ~गुप्त प्रकट है एकै दूधा, काको कहिए ब्राह्मन सूदा। → र० २६-७।

प्रवाले—सज्ञा पु० [सं० प्रवाल] मूँगा, भक्ति। ~रतन प्रवालै परम जोति, ता अंतरि अंतरि लागे मोति। → पद २३४-४।

फ

फल—संज्ञा पु० [स०] ब्रह्मानुभूति, रामरस (कबीर के शब्दो मे)। ~बहुत सयाँने पचि मुए, फल निरमल पै दूरि। ~सा० सूरा० (४५) १७-२।

फल—संज्ञा पु० [सं०] योग क्षेम।~ सीतल छाया सघन फल, पसी केलि करंत।→सा० सजी० (४७) ६-२।

फल—सज्ञा पु० [सं०] ब्रह्म।~साखा पेड फूल फल नांही, ताकी अमृत वांनी। →सब० १२-४।

फल—सज्ञा पु० [स०] मोक्ष। ~फल अलकृत बीज नहिं बोकला, सुख पछी रस खायो। →सब० ८८-२।

फलफूल—यौ० [हि०] विषय भोग। ~गत फलफूल तत अरु पल्लव, अकुर बीज नसाँनाँ। →सब० १५८-२।

फुलवा—सज्ञा स्त्री० [हि० फुल्ल] जीव। ~फुलवा भार न लै सकै, कहै सखिन सो रोय। →र०१५-३।

फुलवा—सज्ञा पु० [सं० फुल्ल] पुष्प, भोग्य-विषय,पदार्थ।~मैं कासे कहौ को सुने पतिआय, फुलवा के छुअत भँवर मरि जाय।→पद २३६-१।

फुलवारी—सज्ञा स्त्री० [हि०] पुष्पवाटिका, सृष्टि। ~ आपुहि मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई। →पद २६१-८।

फूल—सज्ञा पु० [स० फुल्ल] नाना प्रकार के कर्म। ~आपुहि मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई। →पद २६१-८।

फूल—सज्ञा पु० [सं० फुल्ल] ज्ञान, मोक्ष, आनन्द। ~तलि करि साखा उपरि करि मूल, वहुत भाँति जड लागे फूल। →सब० ४८-६।

फूल—सज्ञा पु० [स० फुल्ल] काम या वासना। ~फूल एक भल फूलल [illegible] फूलि रहल ससार विरहुली (७) ७।

फूला—संज्ञा पु० [स० फुल्ल] पुष्प, कुसुम, जन्म । ~तहिया होत कली नहिं फूला, तहिया होत गर्भ नहिं मूला । →र० ७-२ ।

ब

बंकनालि—यौ० [स० वक्रनालि] वक्र-नाल-पीयूषिका ग्रन्थि से एक वक्र-नालिका तालुस्थान तक आई है जिसे बकनाल कहते हैं । इसके अन्य नाम हैं—राजदन्त तथा शंखिनी । इसी नालिका के माध्यम से अमृतरस तालु मे स्थित एक अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र तक आता है । इसी छिद्र को सन्तो ने दशमद्वार या दसवाँद्वार कहा है । ~ग्याँन मेषली सहज भाइ, **बक-नालि** कौ रस खाइ ।→पद ३२१-६, पद ३४२-३, पद २६-२ ।

बकुला—सज्ञा पु० [सं० वक] वगुला, मन । ~भैंसिन्ह माँह रहत नित **बकुला**, तकुला ताकि न लीन्हा हो । →कहरा (३) २-८ ।

बग—संज्ञा पु० [स० वक] वगुला, श्वेत केश । ~भँवर उडे **बग** बैठे आइ । →पद २७८-२ ।

बगां—सज्ञा पु० [स० वक] वगुला, विषयासक्त जीव । ~जोरी बिछुरी हस की, पड़े **बगां** कै साथि । → सा० अपा० (४८) १-२ ।

बगुचा—सज्ञा पु० [दे०] बोझ, गठरी, कर्मों का लेखा । ~पंथी ऊभा पंथ सिरि, **बगुचा** वांधा पूठि । →सा० काल० (४६) २२-१ ।

बगुला—सज्ञा पु० [सं० वक] कपटी गुरु । ~कागा कापड धोवन लागे, **बगुला** क्रीपहि दांता । → सव० १५५-४ ।

बगुला—सज्ञा पु० [स० वक] अज्ञानी जीव । ~**वगुला** मझन जानई, हंसा चुनि चुनि जाइ । →सा० पारि० (४६) २-२ ।

बगुली—संज्ञा स्त्री० [स० वक] मादा वगुला, माया । ~ **बगुली** नीर बिटालिया, सायर चढा कलक ।→ सा० माया० (१६) ३०-१ ।

बछरहिं—सज्ञा पु० [सं० वत्स] वछडे को, इन्द्रियो को ।~बैल वियाइ गाइ भई वाँझ, **बछरहिं** दूहै तीनउँ साँझ । →सब० ८६-३ ।

बछरुवैं—सज्ञा पु० [स० वत्स] वछडे को, जीव को । ~हसा ससय छूरी कुहिया, गइया पिये **बछरुवैं** दुहिया । →पद ३२३-१ ।

बछा—संज्ञा पु० [स० वत्स] वछडा, आत्मबोध । →सुरहो चूषै वछतलि, **बछा** दूध उतारै । →सब० ५१-७ ।

बजावनहार—सज्ञा पु० [हि० बजाना+हार (प्रत्य०)] वजाने वाला व्यक्ति, प्राण । ~जत्र विचारा क्या करै, चला **बजावनहार** । → सा० काल० (४६) २०-२ ।

बटाऊ—सज्ञा पु० [हि० बाट+आऊ (प्रत्य०)] साधना मार्ग के पथिक । ~लोग **बटाऊ** चलि गए, हँम तुम

रहे निदाँन। →सा० सूरा० (४५) ३३-२।

वटेरैं—सज्ञा स्त्री [स० वर्तक] वटेर नामक चिडिया, अज्ञान। ~काग लगर फादिया **वटेरैं** वाज जीता। →पद ३४३-४।

वढ़ैया—सज्ञा पु० [स० वर्द्धकि, प्रा० वड्ढइ] वढई, कर्ता, ईश्वर। ~जौ चरखा जरि जाइ **वढ़ैया** ना मरैं। →पद २३५-६।

वदरिया—संज्ञा स्त्री० [हि० वादल] वदली, अज्ञान, मोह की काली घटा। ~उनई **वदरिया** परिगौ सझा, अगुआ भूले वनखड मझा। →र० १५-१।

वन—सज्ञा पु० [स० वन] हृदय। ~वाँवरिया **वन** मैं फँद रोपैं सग मैं फिरैं निचीता रे। →पद २६३-७।

वन—संज्ञा पु० [स० वन] घर। ~कविरा तेरो **वन** कदला मे, मानु अहेरा खेलैं। →सव० ६५-१।

वन—संज्ञा पु० [स० वन] जीवन। ~रोहै मिरिग ससा **वन** हाकै, पारधी वान न मेलैं। →सव० ४४-५।

वन—सज्ञा पु० [स० वन] विषय-वासना। ~मैं तोहि वरजेउँ वार वार, तैं **वन वन** सोध्यो डार डार। →सव० १०६-३।

वन—संज्ञा पु० [स० वन] अन्त करण। ~जव लगि सिह रहे **वन** माहि, तव लगि यहु **वन** फूलै नाहिं। →सव० ५३-५।

वन—सज्ञा पु० [स० वन] जंगल, मनोदेहात्मक क्षेत्र। ~जा **वन** मे क्रीला करी, दाझत है **वन** सोइ। →सा० ग्या० वि० (४) ८-२।

वन—सज्ञा पु० [स० वन] शरीर, ससार। ~ माटिक कोट पपानक ताला, सोई **वन** सोई रखवाला। →र० १२-१।

वन—सज्ञा पु० [स० वन] शरीर। ~**वन** कैं ससैं समद घर कीया, मछा वसैं पहाडी। →सव० ३०-३, सव० १५५-७।

वन—सज्ञा पु० [स०] शून्यावस्था, आत्मतत्व का साक्षात्कार। ~जिहि **वन** सीह न सचरैं, पखि उडैं नहि जाइ। →सा० लैं० (१०) १-१।

वनखड—संज्ञा पु० [सं०] जगल के वीच, वेद पुराण के भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरो का विकट जाल, जिनमे फँसकर ठीक रास्ता मिलना कठिन है। ~उनई वदरिया परिगौ संझा, अगुआ भूले **वनखड** मंझा। →र० १५-१।

वनखडि—सज्ञा पु० [सं० वनखड] वन, जंगली प्रदेश, विपय-वासना। ~घसि चदन **वनखडि** वारा, विनु नैंनन रूप निहारा। →सव० ८ ७।

वनराइ—सज्ञा पु० [स०] वनराजि, अन्त करण। ~पच सुवटा आइ वैठे, उदै भई **वनराइ**। →सव० ४५-८।

वनसपती—संज्ञा स्त्री० [स० वनस्पति] जगल, संसार। ~**वनसपती** जव

लागै आगि, तब भँवरा कहाँ जैहौ भागि। →सव० १०६-६।

वनि—संज्ञा पु० [स० वन] वन, साधना। ~कवीर जोगी **वनि** बसा, खनि खाया कँद मूल।→सा० सजी० (४७) २-१।

वनिकदली—संज्ञा पु० [स० कदलीवन] कदली वन मे, शरीर मे। ~गोविंदै तुम्हारै **वनिकदली** मेरो मन अहेरा खेलै। →सव० १००-१।

वरखा—संज्ञा स्त्री० [स० वर्षा] ज्ञानोपदेश। ~घूरि घूरि **वरखा** बरसावै, परिया बूंद न पानी। → पद १६६-२।

वरिसै—क्रि० [सं० वर्षण] त्रयताप की वर्षा होती है। ~**वरिसै** तपै अखडित धारा, रैनि भयावन किछू न अधारा। →र० १६-६।

वरी—क्रि० [हि० वटना] वटना, कर्मकाण्ड रचना। ~ आपुहि **वरी** आपु गरवधा, झूठा मोह काल को फदा। →र० ३३-२।

वसंत—संज्ञा पु० [स० वसन्त] आनन्द। ~साधु सगति मिलि करि **वसत**, भौ वद न छूटै जुग जुगत। →पद ३३८-४।

वसत—संज्ञा पु० [स० वसत] युवावस्था। ~गए **वसत** ग्रीसम रितु आइ, वहुरि न तरु तर आवै। → सव० ८८-६।

वस्तु—संज्ञा स्त्री० [स० वस्तु] आत्मतत्त्व। ~पट चक्र की कीन्ह कोठरी, **वस्तु** अनूपु त्रिच पाई। →सव० ११-३।

वहुतेन—वि० [सं० वहु+तेन] वहुत भारी। ~नलनी सायर घर किया, दव लागी **वहुतेन**। → सा० माया० (१६) २२-१।

वहुरिया—संज्ञा स्त्री० [सं० वधूटी] बहू, जीव। ~ हरि कौ नाउं लै काति **वहुरिया**। → पद २१५-२।

वहू कै भाइ—यौ० [हि०] वधू का भाई, कुविचार। ~समधी कै धरि लमधी आए आए **वहू कै भाइ**। → पद २३५-७।

वाखरि—संज्ञा स्त्री० [दे० वखरी] मकान, ब्रह्माण्ड। ~ **वाखरि** एक बिधातै कीन्हा, चौदह ठहर पाट सो लीन्हा। → र० २-३।

वाघहि—संज्ञा पु० [सं० व्याघ्र] जीव। छेरी **वाघहि** व्याह होत है, मंगल गावै गाई। → स० १५५-६।

वाघिनि—संज्ञा स्त्री० [स० व्याघ्र से] माया। ~ साधो **वाघिनि** खाइ गई लोई। → पद ३१३-१।

वाज—संज्ञा पु० [अ०] ज्ञान।~काग लगर फादिया बटेरै **वाज** जीता।→ पद ३४३-४।

वाजी—संज्ञा पु० [फा०] खेल, संसार। अव हम जानिया हो, हरि **वाजी** का खेल। सव० १८-१,५।

वाजीगर—संज्ञा पु० [फा०]जादूगर,ब्रह्म। ~वाजी झूंठ **वाजीगर** साँचा, साधुन की मति ऐसी। →सव० १८-५।

वाटहिं वाटा—संज्ञा पु० [हि०] पद्

चक्रो के द्वारा । ~ चली जात वह वाटहि वाटा, सोवनहार के ऊपर खाटा । → र० ७३-२ ।

वाति—संज्ञा स्त्री० [स० वर्तिका] वत्ती, प्राण । ~ कवीर निरभै राम जपु, जव लगि दीवै वाति ।→ सा० सुमि० (२) १०-१ ।

वाती—संज्ञा स्त्री० [स० वर्तिका] सुरति, प्रेमपूर्ण ध्यान । ~ दीपक दीया तेल भरि, वाती दई अघट्ट । → सा० गुरु० (१) १२-१ ।

वादर—सज्ञा पु० [स० वारिद] मेघ, अज्ञानी जीव । ~ धरती वरसै वादर भीजै, भीट भए पैराऊं । → पद ३२३-४ ।

वादली—सज्ञा स्त्री० [स० वादल से] माया ।~ऊनइ आई वादली, वरसन लगे अगार । → सा० दया नि० (५१) २-१ ।

वान—संज्ञा पु० [स० वाण] चित्त-वृत्तियाँ ' ~ उलिटा वान पारथहि लागै, यहु अचिरज कोई वूझै । → सव० ३२-६ ।

वानी—सज्ञा स्त्री० [सं० वाणी] माया । ~ अद्वुद रूप जाति की वानी, उपजी प्रीति रमैनी ठानी । → र० ४-३ ६ ।

वाप—सज्ञा पु० [सं० वाप] पिता, जनक, मूल अज्ञान । ~ मोरे वाप के दुइ मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे । →कहरा (३) ११-३ ।

वाप—सज्ञा पु० [सं० वाप] पिता, भगवद्ज्ञान । ~ तिहि पूति वाप इक जाया, विनु ठाहर नगर वसाया । → सव० ८-८ ।

वाप—सज्ञा पु० [स० वाप = वीज वोने वाला] पिता, व्रह्म । ~ वाप पूत की एकै नारी, ओ एकै माय विआय । र० १-६ ।

वाप—संज्ञा पु० [सं० वाप] पिता,जीव । ~ एक अचंभौ देखिया विटिया व्याही वाप ।→पद २३५-४ ।

वाप—सज्ञा पु० [सं० वाप] पिता, ईश्वर । ~ पहिले जन्म पूत को भयऊ, वाप जनमिया पाछे । → पद ३००-३ ।

वापु—सज्ञा पु० [स० वाप] अभिनिवेश । ~ वापु सावका करै लराई माया सद मतवारी । → पद २३२-५ ।

वावुल—सज्ञा पु० [हि० वावू] पिता, गुरु ।~वावुल मेरा व्याह करि वर ऊतिम लै आइ । → पद २३५-५ ।

वावै—सज्ञा पु० [तु० वावा] वावा को ही, पिता को ही, अविद्या को ही । ~नाना रगै भावरि फेरी गाठि जोरि वावै पतियाई । →पद २३८-५ ।

वारह—सज्ञा पु० [स० द्वादश] अनाहत् चक्र के दल (प्रत्येक दल मे एक अक्षर की कल्पना की गई है । इस चक्र मे 'क' से 'ठ' तक अक्षर होते हैं) । ~पुहुप वास भवरा इक राता, वारह लै उर धरिया । →सव० ११६-५ ।

वारी—संज्ञा स्त्री० [स० वारी] घेरा, स्थूल शरीर । ~फटि गया कुवा

विनसि गई बारी ।→सब० ५७-५ ।

वासी भात—सज्ञा पु० [स० भक्त] ओदन, विषय। ~वासी भात मनुसे लीहल खाय, वडा घैल लै पानी के जाय। →वसत (४) ६-३ ।

बिंदहि—संज्ञा पु० [स० विंदु] विंदु मे ही, शिव । ~ मन बिंदत बिंदहि पावा, गुरमुख तै अगम बतावा । →सव० १७१-३ ।

बिंदु—सज्ञा पु० [सं० विंदु] प्राण शक्ति के विकसित होने पर और कुण्डलिनी के जागरण पर त्रिकुटी मे स्थित आज्ञा चक्र मे एक गोल प्रकाश का साक्षात्कार होता है । इसी प्रकाश को 'विंदु' कहते हैं। ~ पहिले खोजो पचे वाइ, वाइ बिंदु ले गगन समाइ । →सब० ५४-३ ।

बिख—संज्ञा पु० [सं० विष] दम्भ । ~छाडि कपूर गाठि बिख बाधा, मूल हुवा नहि लाहा। →सव० १०४-७ ।

बिखहर—सज्ञा पु० [स० विषधर] विषधर, सर्प, मन । ~दुंदुर राजा टीका वैठे, विखहर करै खवासी । →पद ३००-५ ।

बिटिया—सज्ञा स्त्री० [हि०] पुत्री, अविद्या । ~एक अचंभौ देखिया बिटिया व्याही वाप।→पद २३५-४ ।

बिरवा—संज्ञा पु० [स० वीरुध] वृक्ष, ससार । ~वुझ वुझ पडित विरवा न होय, आधा वसे पुरुप आधा वसे जोय । → सव० १६६-१, पद २८६-१ ।

बिरवा—सज्ञा पु० [स० वीरुध] विषय तृष्णा या वासना ।~जन जो चोरी भिच्छा खाही, सो बिरवा पलुहावन जाही । →र० ६०-२ ।

बिरष—सज्ञा पु० [सं० वृक्ष] वृक्ष, सुपुम्ना । ~सहज समाधि विरष यह सीचा, धरती जलहर सोषा । →सब० १२-७, सव० ४५-७ ।

बिरष—सज्ञा पु० [स० वृक्ष] वृक्ष, पेड, । ~वलिहारी ता बिरष की, जड काटे फल होइ । →सा० वेली० (५८) २-२ ।

बिरहुली—सज्ञा पु० [स० विरहिन] अज्ञानी लोग जो आत्मदेव से विशेष रूप से रहित हो गए हैं वे बिरहुली हैं। सासारिक जीव । → बिरहुली (७) ।

बिरिख—सज्ञा पु० [स० वृक्ष] वृक्ष, साधना का पथ। ~ऊँचा बिरिख अकासि फल, पंखी मूए झूरि। → सा० सूरा० (४५) १७-१ ।

बिरिख—सज्ञा पु० [स० वृक्ष] शरीर। ~सहज समाधि बिरिख यह सीचा, धरती जलहरु सोखा। → सव० ११६-७ ।

बिरिछ—सज्ञा पु० [स० वृक्ष] वृक्ष, ब्रह्म । ~अजर अमर एक बिरिछ निरजन डारा । →पद ३१६-३ ।

बिछै—संज्ञा पु० [स० वृक्ष] विषय-वासना, सुख का वृक्ष ।~सुखक बिछै एक जगत उपाया, समुझि न परै विषै कछु माया । →र० ८२-१ ।

विलइया—संज्ञा स्त्री० [हिं० विल्ली] विल्ली, प्रज्ञा । ~मूसा खेवट नाव विलइया, सोवैं दादुर सर्प पहरिया । →सव० ८६-४ ।

विलाई—संज्ञा स्त्री० [सं० विडाल] अन्तर्मुखी प्रवृत्ति । ~जल की मछरी तरवरि व्याई, कूता को लै गई विलाई । →सव० ४८-४ ।

विलाई—सज्ञा स्त्री० [स० विडाल] विल्ली, माया । ~ मूस विलाई एक सग, कहु कैसे रहि जाय । →र० ७२-५, पद ३२०-१, र० १२-७ ।

बिलाई—संज्ञा स्त्री० [स० विडाल] विल्ली, वचक गुरु । ~मूस विलाई कैसन हेतू, जबुक करै केहरि सो खेतू । →सव० ६२-२ ।

बिलिया—सज्ञा स्त्री० [हिं० विल्ली] विल्ली, अविद्या । ~मेढक सर्प रहत एक सगे, विलिया स्वान वियाही । →पद १६६-५ ।

बिल्ली—सज्ञा स्त्री० [स० विडाल से] कुवुद्धि । ~स्वान वापुरो धरनि ढाकनो, विल्ली घर की दासी । → पद ३००-६ ।

बिस्नु—संज्ञा पु० [सं० विष्णु] सद्‌गुरु या सात्विक महात्मा । ~तवही विस्नु कहा समुझाई, मिथुन आठ तुम जीतहु भाई । →र० १३-७ ।

विहंगम—संज्ञा पु० [सं० विहग] पक्षी, व्यष्टि चैतन्य । ~उडा विहगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समाना । →सव० १३-१२ ।

विहंगम—संज्ञा पु० [स० विहंगम] पक्षी, मन । ~तहाँ विहंगम कतहुँ न जाई, औगह गहि के गगँन रहाई । →ज्ञान चौ० (१) ८ ।

बीगर—सज्ञा पु० [स० वृक] भेडिया, जीव ।~चिउटी के पग हस्ती वाधे, छेरी वीगर खावै ।→पद १६६-३ ।

बीज—संज्ञा पु० [स०] अविद्या । ~ फल अलंकृत बीज नहि वोकला, सुख पक्षी रस खायो । →सव० ८८-२, सव० १५८-२ ।

बीज—संज्ञा पु० [स०] वासना । ~ अंकुर बीज नसाय कै, भए विदेही थान । →र० ३५-८ ।

बीबी—सज्ञा स्त्री० [फा०] सुमति । ~बीबी वाहर हरम महल मैं, बीच मिया का डेरा । →सव० १३४-६ ।

बुढ़िया—संज्ञा स्त्री० [स० वृद्धा] वृद्धा, तृष्णा के रूप मे माया । ~बुढ़िया हंसि वोलै मैं नितहिं वारि, मोहि अस तरुनि कहाँ कौन नारि । → वसत (४) ४-१ ।

बेलि—सज्ञा स्त्री० [स० वल्ली] अविद्याजन्य आशा, तृष्णा । ~वेलि एक त्रिभुवन लपटानी, वांधे ते छूटहिं नहिं ज्ञानी । →पद २८६-४ ।

बेलि—सज्ञा स्त्री० [स० वल्ली] लता, माया । ~अव तो ऐसी ह्वै पडी, नां तुमरी नां वेलि ।→सा० वेली० (५८) १-१ ।

बेहद्द—सज्ञा पु० [फा०] असीम, ब्रह्म । ~जे राचे वेहद्द सों, तिन सों अतर खोलि । →सा० चिता० (१२) ५०-२ ।

बैल—सज्ञा पु० [स० वलद] लोभ । ~ धौल मंदलिया **बैल** रबावी कउवा ताल वजावै । →पद ३३१-३ ।

बैल—सज्ञा पु० [स० बलद] अविवेक । ~काग दुकाग कारकुन आगे, **बैल** करै पटवारी । →पद ३००-७, सब० ४८-५, सब० ८६-३ ।

बौहरै—संज्ञा पु० [स० व्यवहारिन्] व्यवहार करने वाला, महाजन, ईश्वर । ~वडे **बौहरै** साँठो दीन्हौं, कलतर काढ्यो खोटै । → पद २१७-३ ।

ब्रह्महि—सज्ञा पु० [स० ब्रह्म] रजोगुण । ~**ब्रह्महि** पकरि अगिनि महँ होमै, मच्छ गगन चढि गाजा । → सब० १४४-३ ।

भ

भँड़हर—सज्ञा पु० [स० भाण्डगृह] शरीर । ~चढत चढावत **भँड़हर** फोरी, मन नहिं जानै केकर चोरी । →र० ५६-१ ।

भँवर—संज्ञा पु० [स० भ्रमर] भ्रमर, भक्त । ~चुवै न बूँद अग नहिं भीजे, दास **भँवर** सग लायो । → सब० ८८-३ ।

भँवर—सज्ञा पु० [स० भ्रमर] भ्रमर, काले केश । ~ **भँवर** उडे वग वैठे आइ । → पद २७८-२ ।

भँवर—सज्ञा पु० [स० भ्रमर] जीव । ~मैं कासे कहौं को सुने पतिआय, फुलवा के छुअत **भँवर** मरि जाय । → पद २३६-१ ।

भँवरा—संज्ञा पु० [स० भ्रमर] भ्रमर, मन । चलि चलि रे **भँवरा** कवल पास । → सब० १०६-१ ।

भँवरा—सज्ञा पु० [स० भ्रमर] भ्रमर, जीवात्मा । ~ पुहुप वास **भँवरा** एक राता, वारा ले उर घरिया ।→ सब० १२-५, सब० ११६-५ ।

भवरी—सज्ञा स्त्री० [सं० भ्रमरी] भ्रमरी, विवेक, बुद्धि, ऋतम्भरा प्रज्ञा । ~ तेरी **भंवरी** बोलै अति उदास । → सब० १०६-२ ।

भईया—सज्ञा पु० [हि० भाई] भाई, वासना । ~ सगो **भईया** लै सलि चढिहू तव हौं नाह पिआरी । → पद २३२-६ ।

भग—सज्ञा पु० [स०] योनि, स्त्री ।~ ते तिरिये **भग** लिंग अनन्ता, तेऊ न जाने आदि औ अता ।→र० २-२ ।

भतारहिं—सज्ञा पु० [स० भर्तार+हि० हि] पति को, ईश्वर को । ~ कहँहि कवीर बुढिया आनद गाय, पूत **भतारहिं** बैठी खाय । → वसंत (४) ४-५ ।

भलुइया—सज्ञा पु० [हि० भालू] भालू, लोभी गुरु ।~वनकि **भलुइया** चाखुर फेरै, छागर भये किसाना । → सब० १५५-३ ।

भवन—सज्ञा पु० [सं०] मकान; शरीर । ~ **भवन** मथेउ भरि पूरि हो रमैया राम । → बेलि (६) १-१० ।

भवन चतुरदस—यौ० शरीर के भीतर विद्यमान स्थूल और सूक्ष्म कोश। ~भवन चतुरदस भाठी पुरई, ब्रह्म अगिनि परजारी। →पद ३४४-५।

भसुरहिं—सज्ञा पु० [हि०] पतिका वडा भाई, अविवेक। ~सासु ननद पटिया मिलि वंधलौं, भसुरहि परलौं गारी। →पद २२२-२।

भांड़ा—संज्ञा पु० [स० भाण्ड] वर्तन, साधन। ~भांड़ा भजन करै सवहिं का, कछू न सूझै, आंधी रे।→सव० २७-२।

भांड़ा—सज्ञा पु० [सं० भाण्ड] वर्तन, शरीर। ~भांड़ा गढ़ि जिन मुख दिया, सोई पुरवन जोग। →सा० वेसा० (३५) २-२।

भांड़े—सज्ञा पु० [स० भाण्ड] वर्तन, जीव। ~नांनां भाति गढ़े सव भांडे, रूप धरे धरि मेलै। →सव० ११४-६।

भांवरि—सज्ञा स्त्री० [स० भ्रमण] विवाह के समय अग्नि की परिक्रमा, भ्रम। ~नांनां रगै भांवरि फेरी गांठि जोरि वावै पतियाई। →पद २३८-५।

भान—सज्ञा पु० [सं० भानु] सूर्य, आत्म-ज्योति। ~वुझ वुझ पडित पद निरवान, सांझ परे कहवां वसे भान। →सव० १६५-१।

भामिनि—संज्ञा स्त्री [सं० भामिनी] स्त्री, माया। ~ना जम भया न जामिनी, भामिनि चली निरास। →र० ४१-६।

भींट—सज्ञा पु० [दे० भीटा] टीलेदार भूमि, विषय-विकार। ~ धरती वरसै वादर भीजै, भींट भए पैराऊँ। →पद ३२३-४।

भील—सज्ञा पु० [स० भिल्ल] शिकारी, मोह। ~भील लुका वन वीझ मैं, ससा सर मारै। →सव० ५१-६।

भुअगा—सज्ञा पु० [स० भुजंग] सर्पाकार कुडलिनी। ~ वेधीले चक्र भुअगा, भेटीले राइ निसंगा। → सव० १७१-६।

भैंस—संज्ञा स्त्री० [सं० महिष] शम। ~वैलहि डारि गोनि घरि आई, घोरै चढि भैंस चरावन जाई। → सव० ४८-५।

भैंसा—सज्ञा पु० [स० महिष] विषय-वासना या निम्न सस्कार। ~ पहिरि चोलना गादह नाचै भैंसा निरति करावै। →पद ३२१-४।

भैंसे—संज्ञा पु० [स० महिष] वचक गुरु। ~कहै कवीर सुनो हो संतो, भैंसे न्याव निवारी। →पद ३००-८।

भैंसिन्ह—संज्ञा स्त्री० [स० महिष] भैसे, इन्द्रियां। ~भैंसिन्ह मांह रहत नित वकुला, तकुला ताकि न लीन्हा हो →कहरा (३) २-८।

भौंर—सज्ञा पु० [स० भ्रमर] भ्रमर, चक्कर, गमनागमन। ~भौंर जाल मंह आसन मांड़ा, चाहत सुख, दुख सग न छांडा। →र० ४१-२।

भौज—संज्ञा स्त्री० [स० भ्रातृ जाया] भाई की पत्नी, अविद्या। ~ननद

भौज परपच रच्यौ है, मोर नाम कहि लीन्हा । →पद २६०-५ ।

म

मछ—सज्ञा स्त्री० [स० मत्स्य] मछली, मन । ~ सायर जरै सकल वन दाझै, **मछ** अहेरा खेलै । → सब० ४४-४, पद ३०-३ ।

मंछा—संज्ञा पु० दे० 'मछ' ।

मछी—सज्ञा स्त्री० [स० मत्स्य] मछली, जीवात्मा । ~देखि कवीरा जागि, **मछी** रूखा चढ़ि गई ।→सा० ग्या० (४) १०-२ ।

मंजार—सज्ञा पु० [स० मार्जार] विलाव, वुद्धि । → मूस तौ **मंजार** खायौ स्यारि खायौ स्वाना । → पद ३४३-५ ।

मंजारी—सज्ञा स्त्री० [सं० मार्जारी] बिल्ली, माया । ~या **मजारी** मुगध न मानै, सब दुनिया डहकाई । → पद ३२०-३ ।

मझा—अव्य० [स० मध्य] मध्य, वीच मे । ~उनई वदरिया परिगो सझा, अगुआ भूले बनखंड **मझा** । →र० १५-१ ।

मडल—सज्ञा पु० [सं०] आकाश, सहस्रार । ~जिहि सर **मडल** भेदिया, सो सर लागा कान । →सा० पर० (५) २१-२ ।

मदिर—सज्ञा पु० [स०] शरीर । ~ कवीर **मदिर** ढहि पडा, ईंट भई सैवार । → सा० चिता० (१२) १७-१, र० ६६-५ ।

मच्छ—सज्ञा पु० [स० मत्स्य] मछली, काम-क्रोध । ~**मच्छ** न मरै केवट रहै तीर । →सव १६७-६ ।

मच्छ—सज्ञा पु० [स० मत्स्य] माया । ~**मच्छ** सिकारी रमै जंगल मैं, सिंघ समुन्दर झूलै ।→सव० २८-४ ।

मच्छ—सज्ञा पु० [सं० मत्स्य] कुण्डलिनी की प्राण शक्ति । ~ब्रह्महि पकरि अगिनि महँ होमै, **मच्छ** गगन चढि गाजा । →सव० १४४-३ ।

मच्छ—सज्ञा पु० [सं० मत्स्य] मछली, जीवात्मा । ~ वहती सरिता रहि गई, **मच्छ** रहे जल त्यागि । →सा० ज्ञान वि० (४) ६-२ ।

मच्छ—सज्ञा पु० [स० मत्स्य,प्रा० मच्छ] मछली, मन । ~ उदधि भूपते तरुवर डाहै, **मच्छ** अहेरा खेलै । →पद १६६-८ ।

मछरी—सज्ञा स्त्री० दे० 'मछली' ।

मछली—संज्ञा स्त्री० [स० मत्स्य] कुण्डलिनी । ~जल मे सिंह जु घर करै, **मछली** चढै खजूरि । →सा० पर० (५) ४६-२, सव० ४८-४ ।

मठ रचा—क्रि० [सं० मठ+√रच्] निवास किया । ~ तहाँ कबीरा **मठ रचा**, मुनि जन जोवै वाट ।→ सा० लै० (१०) ३-२ ।

मन—सज्ञा पु० [सं० मनस्] परम चैतन्य । ~आगम निगम एक करि जानाँ, ते मनवाँ **मन** माँहि समाना । →सव० ७-४ ।

मरै—सज्ञा क्रि० [हि० मरना] विपयो के प्रति आसक्ति का त्याग करना । ~मरनै पहिले जो **मरै**, तौ कलि

अजरामर होइ। →सा० जी० मृ० (४१) ८-२।

मलिनि—सज्ञा स्त्री० [स० मालिनी] माया। ~फुल भल फुलल **मलिनि** भल गाथल, फुलवा विनसि गो भवँर निरासल। →पद २३६-४।

मसांन—सज्ञा पु० [सं०श्मशान] श्मशान, साधनास्थल। ~सती पुकारै सलि चढी, सुनु रे मीत **मसांन**। → सा० सूरा० (४५) ३३-१।

महतारी—सज्ञा स्त्री० [स० माता] माता, माया। ~सतो अचरज एक भौ भारी, पुत्र धरल **महतारी**। → पद २६०-१।

महतो—संज्ञा पु० [स० महत्] मुखिया, प्रवृत्ति। ~ खोटो **महतो** विकट बलाही सिर कसदम का पारै। → सव० १०-७।

महल—संज्ञा पु० [अ०] हृदय। ~ बीवी वाहर हरम **महल** मैं, वीच मिया का डेरा। →सव० १३४-६।

महारस—सज्ञा पु० [सं०] आत्मानद। ~ कहै कवीर सो विरला जोगी, धरनि **महारस** चाखै। → सव० ३२-१४।

महि—सज्ञा स्त्री [स०] पृथ्वी, पिंड, अधोभाग। ~**महि** अकास दुइ गाड खँदाया, चाँद सुरुज दुइ नरी वनाया। → र० २८-२।

मांखी—सज्ञा स्त्री० [स० मक्षिका] मक्खी, धूर्त व्यक्ति। ~ **मांखी** मूड मुडावन लागी, हमहूँ जाव वराता। → सव० १५५-५।

मांझ दीप—[यौ०] सुपुम्ना। ~ चांद सुरुज दुइ गोडा कीन्हा, **मांझ दीप** मांझा कीन्हा। → सव १२७-६।

मांड़ी—संज्ञा स्त्री० [हि०] पचभूत, प्राणि-मात्र। ~**मांड़ी** का तन माड़ि रहो है, **मांडी** विरलै जाना। → सव० १२७-५।

मांड़ौ—सज्ञा पु० [स० मण्डप] शरीर। ~जना चारि मिलि लगन सुधाये; जना पाँच मिलि **मांड़ौ** छाए।→ पद ३१२-३।

मानसरोवरि—सज्ञा पु० [स० मानस+ सरोवर] मानस सरोवर, अमृत कुड। ~जो ब्रह्मडि पिंडि सो जानु, **मानसरोवरि** करि असनानु। → सव० ४३-१३।

मांनसरोवर—सज्ञा पु० [सं० मानस+ सरोवर] आत्म-स्वरूप। ~ ब्रह्मडे से पिंडे जाँन, **मांनसरोवर** करि असनाँन। →सव० १४०-१५।

मांनसरोवर—सज्ञा पु० [स०] शून्य-शिखर। ~**मानसरोवर** तट के वासी राम चरन चित आन उदासी। → पद ३३४-३।

मांसु—सज्ञा पु० [स० मास] विषय। ~**मांसु** पसारि गीध रखवारी।→ सव० ८६-२।

माई—सज्ञा स्त्री० [स० मातृ] माता, ममता। ~**माई** मोर मुअल पिता के सगे, सरा रचि मुअल संघाती गे।→कहरा (३) ११-५।

माई—सज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] माता, साधना। ~पहिलै पूत पिछै भई

माई, चेला कै गुर लागै पाई। ->सव० ४८-३।

माखी—सज्ञा स्त्री० [स० मक्षिका] मन। दे० 'माछली'। ~उडि **माखी** तरवर को लागी, बोलै एकै बानी। ->पद ३०१-५।

माछ—सज्ञा पु० [स० मत्स्य] मछली, मनोवृत्ति।~जिन्ह सभ जुक्ति अगमन कै राखिनि, धरनि **माछ** भरि डेहरि हो। ->कहरा (३) १-१८।

माछली—सज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य] मन। ~काटी कूटी **माछली**, छीकै धरि चहोरि। ->सा० मन० (१३) २४-१।

माटी—सज्ञा स्त्री० [हि० मिट्‌टी] प्रकृति। ~कुम्भरा एक कमाई **माटी** बहु विधि वानी लाई। ->पद २१६-३।

माटी—संज्ञा स्त्री० [स० मृत्तिका] काया, शरीर। ~हाड गला **माटी** गली, सिर साटे व्योहार। ->सा० सूरा० (४५) २८-२।

मादरिया—संज्ञा पु० [अ० मदार] तमाशा दिखाने वाला, मन। ~ सासु ननद मिलि अदल चलाई, **मादरिया** ग्रिह बैठी जाई। ->सव० १५१-२।

मानसरोवर—सज्ञा पु० [स० मानस+सरोवर] मानस, चैतन्य। ~कवीर हीरा वनिजिया, **मानसरोवर** तीर। ->सा० गुर० (१) २६-२।

मानसरोवर—सज्ञा पु० [सं० मानस+सरोवर] सहस्रार अर्थात् शून्य-शिखर मे स्थित अमृत-कुंड। शून्य चक्र को कैलास भी कहते हैं और मानसरोवर भी कैलास मे है। ~ **मानसरोवर** सुभर जल, हसा केलि कराहिं। ->सा० पर० (५) ३६-१।

मानिक—सज्ञा पु० [सं० माणिक्य] माणिक्य, चेतन। ~मत सुनु **मानिक** मत सुनु **मानिक**, ह्रिदया वध निवारहु हो। ->कहरा (३) २-१।

मान्यक—सज्ञा पु० [स० माणिक्य] माणिक्य, प्रेम व प्रपत्ति। ~हार गुह्यो मेरो राँम ताग, विचि विचि **मान्यक** एक लाग। ->पद २३४-३।

माय—सज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] माता, माया। ~देखहु लोगो हरि की सगाई, **माय** धरी पूत धिये संग जाई। ->सव० १५१-१।

मालिनी—संज्ञा स्त्री० [स० मालिन] पुजारिन। ~भूली **मालिनी** है एउ। ->सव० २११-१।

माहो—सज्ञा स्त्री० [सं० मुग्धा] नववधू, माया। ~ रामुराय चली विनावन **माहो**। ->पद २७१-१।

मिनकी—संज्ञा स्त्री० [दे०] बिल्ली, वासना। ~मुर्गी **मिनकी** सो लडै, झल पानी दौडे़। ->सव० ५१-६।

मिनी—सज्ञा स्त्री० [दे०] मिनकी, बिल्ली, मृत्यु। ~तेरी ढिग **मिनी** कछू करि पुकार। ->पद ३३८-२।

मियाँ—सज्ञा पु० [फा०] पति, जीव। ~बीबी बाहर हरम महल मैं, बीच **मियाँ** का डेरा। ->सव० १३४-६।

मिरग—सज्ञा पु० [स० मृग] हिरन, वासनासक्त जीव। ~अहेडी दौ लाइया, मिरग पुकारे रोइ। →सा० ज्ञान० (४) ८-१।

मिरगनि—संज्ञा पु० [सं० 'मृग' का बहुवचन] मृग, पशु, पाशविक वृत्तियाँ काम, क्रोधादि। ~जतन बिनु मिरगनि खेत उजारे। →सब० ११३-१।

मिरिग—सज्ञा पु० [सं० मृग] मृग, तृष्णा। ~रोहै मिरिग ससा वन हाकै, पारधी बान न मेलै। → सब० ४४-५।

मींन—सज्ञा पु० [सं०] सिद्धो और योगियो द्वारा मुक्ति या परमार्थ के तीन मार्ग वताए गए हैं—पिपीलिका मार्ग, विहगम मार्ग और मीन मार्ग। मीन मार्ग के दो लक्षण हैं—१ जल मे गमन का कोई चिह्न न होना और २ जलधार के विपरीत जाना। इसके द्वारा यह संकेत किया गया है कि जीव की विषयो के प्रति जाने की जो पराङमुखी प्रवृत्ति होती है, परमात्मा तक जाने के लिए उसे उलटकर प्रत्यङमुखी वनाना होगा। ~पखी का खोज मींन का मारग, कहै कबीर विचारी। →सब० ३७-७।

मुकताहल—सज्ञा पु० [स० मुक्ताफल] मोती, उत्कृष्ट, स्वच्छ, सत्वपूर्ण आनन्द। ~मुकताहल मुकता चुगैं, अव उडि अनत न जाहि। →सा० पर० (५) ३६-२।

मुद्रा[१]—सज्ञा पु० [स०] गोरखपथी साधुओ का एक कर्णाभूषण।

मुद्रा[२]—सज्ञा स्त्री० [स०] हठयोग मे विशेप अग विन्यास। मुद्रायें पाँच होती हैं—खेचरी, भूचरी, चाचरी, गोचरी और उन्मनी। ~ममता मेटि साच करि मुद्रा, आसन सील दिढ कीजै। →सव० ३३-५, सव० ३४-२।

मुद्रा[३]—संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर के अवयवो के भिन्न विन्यास, जो योग के लिए रचे जाते हैं। ~सहज लछिन ले तजो उपाधि, आसन दिढ मुद्रा पुनि साधि। →सब० ५४-७।

मुर्गी—सज्ञा स्त्री० [फा० मुर्ग] मुर्गी, साधक। ~मुर्गी मिनकी सो लडै, झल पानी दौडे। →सब० ५१-६।

मूंड—सज्ञा पु० [स० मुड] सिर, व्यक्ति। ~कारे मूंड एक नहि छाडे, अजहूँ आदि कुमारी। →सब० १६८-५।

मूल—सज्ञा पु० [स०] आत्म तत्त्व। ~छाँडि कपूर गाठि विख वाघा, मूल हुवा नहि लाहा। →सब० १०४-७।

मूल—सज्ञा पु० [सं०] मूलाधार चक्र। ~मूल बाँधि सर गगन समाँना, सुखमय यो तन लागी। →सब० २६-३।

मूल—सज्ञा पु० [सं०] ब्रह्मरंध्र, चैतन्य। ~तलि करि साखा उपरि करि मूल, वहुत भाँति जड लागे फूल। →सब० ४८-६।

मूल—सज्ञा पु० [स०] अविद्या। ~

आपुहि मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई। →पद २६१-८।

मूल कँवल—[यौ०] मूलाधार चक्र। ~अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कँवल की घाट। →पद ३४२-६।

मूलवन्द—[यौ०] एडी, गुदा और लिंग के वीच के स्थान को दवाकर, गुदा को आकुंचित करके अपान वायु को ऊपर खीचने की क्रिया से गुदा आकुंचित हो जाती है। इस स्थिति को 'मूलवध' कहते हैं। इस मूलवंध से प्राण और अपान तथा नादविन्दु का समीकरण होता है और कुण्डलिनी का जागरण होता है। ~जोग मूल कौ देइ वंद, कहि कबीर थिर होइ कंद। →पद ३२१-७।

मूस—सज्ञा पु० [स० मूषक] चूहा, विषयासक्त जीव। ~मूस विलाई कैसन हेतू, जवुक करै केहरि सो खेतू। →सव० ६२-२।

मूस—संज्ञा पु० [स० मूषक] चूहा, विषयासक्त मन। ~मूस विलाई एक सग, कहु कैसे रहि जाय। →र० १२-७।

मूस—सज्ञा पु० [सं० मूपक] चूहा, जीव। ~मूस विलाई एक सग, कहु कैसे रहि जाय। →र० ७२-५।

मूस—संज्ञा पु० [सं० मूषक] चूहा, विषयासक्ति। →मूस तो मजार खायो स्यारि खायो स्वाना। →पद ३४३-५।

मूसा—सज्ञा० पु० [स० मूषक] चूहा, काम। ~मूसा खेवट नाव विलइया सोवै दादुर सर्प पहरिया। →सव० ८६-४।

मूसा—संज्ञा पु० [स० मूषक] चूहा, साधक जीव। ~मूसा हस्ती सों लडै, कोई विरला पेषै। मूसा पैठा वांवि मैं, लारै सांपिनि धाई। →सव० ५१-२, ३।

मेंढ़क—संज्ञा पु० [सं० मण्डूक] मेढक, विषयी जीव। ~मेढ़क सर्प रहत एक संगे, विलिया स्वान वियाही। →पद १६८-५।

मेर—सज्ञा पु० [सं० मेरु] सहस्रार। ~उलटी गग मेर कूं चली, धरती उलटि अकासहिं मिली। →सव० ४७-७।

मैके—संज्ञा पु० [स० मातृगृह] मातृगृह, ससार। ~मैके रहे जाय नहिं ससुरे, साई सग न सोवै। →सव० १६८-६।

मैमंता—वि० [स० मदमत्त] मतवाला हाथी, प्रेमी जीव। ~मैमता तिन ना चरै, सालै चित्त सनेह। →सा० रस० (६) ५-१।

मोति—सज्ञा पु० [स० मौक्तिक] मोती, ज्ञान। ~रतन प्रवालै परम जोति, ता अतरि अंतरि लागे मोति →पद २३४-४।

मोतिया—संज्ञा पु० [स० मौक्तिक] मोती, ऐश्वर्य, सुख। ~जेहि सरवर विच मोतिया चुगते, वहुविधि केलि कराय। →पद ३२२-२।

मोती—सज्ञा पु० [सं० मौक्तिक, प्रा० मोत्तिअ] ब्रह्मानद । ~ पैंडे मोती बीखरे अंधा निकसा आइ । →सा० अपा० (४८) ४-१ ।

मोती—सज्ञा पु० [स० मौक्तिक, प्रा० मोत्तिअ] सद्गुरु। ~कबीर लहरि समद की, मोती बिखरे आइ । → सा० पारि० (४६) २-१ ।

मोती—सज्ञा पु० [स० मौक्तिक, प्रा० मोत्तिअ] मोती, ज्ञानयुक्त वचन । ~तौ मुख तैं मोती झरैं, हीरा अनंत अपार। →सा० उप० (३४) ८-२ ।

मोती—सज्ञा स्त्री० [स० मौक्तिक, प्रा० मोत्तिअ] प्रकाश पुज, ब्रह्म ज्योति। ~कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिखर गढ़ माँहि । →सा० पर० (५) ८-२ ।

र

रजनी—सज्ञा स्त्री० [सं०] रात्रि, अज्ञान, अविद्या । ~भूलि परे जीव अधिक डेराई, रजनी अंध कूप होय आई । →र० १६-४ ।

रतन—सज्ञा पु० [स० रत्न] जीवात्मा। ~वस नाही गोपाल सौं, बिनसै रतन अमोल । →सा० दया नि० (५१) १-२ ।

रतन—सज्ञा पु० [सं० रत्न] हीरा, आत्मा । ~लोकै रतन अवेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई ।→ पद २६५-२ ।

रवि—संज्ञा पु० [सं०] इडा, प्राणवायु । ~गगन जोति तहं त्रिकुटी संधि, रबि ससि पवना मेलौ वधि। →सब० ५४-४ ।

रवि—सज्ञा पु० [स०] सूर्य, आत्मप्रकाश । ~रवि कै उदै तार भौ छीना, चर बीहर दोनो मँह लीना । →र० २६-५ ।

रसांइन—संज्ञा पु० [स० रसायन] यह आयुर्वेद का शब्द है । रसायन वह औपध है जो एक धातु को दूसरी धातु मे बदल देती है, जैसे तांबे को सोना कर देना । इसी को यूरोप मे 'आलकेमी, अरब देशो मे 'कीमिया' और भारत मे 'रसाय्न' कहते हैं । आयुर्वेद मे लक्षणा द्वारा रसायन उस औषध को कहते हैं, जो शरीर की धातुओ को रूपान्तरित कर देती है । कबीर राम को ऐसा रसायन कहते हैं, जो जीव को परम चैतन्य मे वदल देता है । ~यह दुनिया कौने भरम भुलानी, मैं राम रसांइन माता । →सब० ११२-१० ।

रांडनि—सज्ञा स्त्री० [स० रडा] विधवा, वास्तविक पति को भुला देने वाला जीव । ~सब रांडनि की साथ चरखुला को धरै । →पद २३५-१० ।

रांम रसाइन—[यौ०] वैद्यक के अनुसार रसायन वह औपघ है, जिसके प्रयोग से काया क्षीण नही होती । राम रसायन वह औपघ है, जिससे अमरत्व की प्राप्ति होती है । दे०

'रसाइन'। ~साकत मरहिं सत जन जीवहिं भरि भरि **रांम रसाइन** पीवहिं। →पद ३२६-३।

राइ निसंगा—संज्ञा पु० [स० राजा निस्सग] निस्सग राजा, अन्तरात्मा, तुरीय अवस्था। ~वेधीले चक्र भुअगा भेटीले **राइ निसगा**। →सव० १७१-६।

राई—सज्ञा स्त्री० [सं० राजिका] एक प्रकार की बहुत छोटी सरसो, बुद्धि। ~चिउँटी जहाँ न चढि सकै, **राई** ना ठहराय। →र० ३४-६।

राची—क्रि० [हि० राचना] अनुरक्त हो गई है। ~वाही के संग निसु दिन **राची**, पिय से बात कहे नहिं साँची। →र० ७३-५।

राजा—सज्ञा पु० [स० राजन्] शरीर का राजा, जीव। ~आजु काज है काल्हि अकाजा, चलेउ लादि दिग-तर **राजा**। →र० १३-४।

राजा—सज्ञा पु० [सं० राजन्] मन। ~**राजा** देस वडो परपचो, रइयत रहत उजारी। →सव १५६-४।

राति—सज्ञा स्त्री० [स० रात्रि] रात, मृत्यु। ~दिवस थकाँ साँई मिलौं, पीछे पडिहै **राति**। →सा० मन० (१३) १३-२।

रावल—सज्ञा पु० [स० राजकुल, प्रा० राउल] राजा, सरदार, जीवात्मा। ~नीझर झरै अमीरस निकसै इहि मद **रावल** छाका। →पद ३४४-७।

राहु—सज्ञा पु० [स० राहु] विषय। ~दास कवीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि **राहु** की गहै। → सव० ४७-८।

रूखा—संज्ञा पु० [सं० रुक्ष] वृक्ष, सह-स्रार। ~देखि कबीरा जागि, मछी **रूखा** चढि गई। →सा० ज्ञा० वि० (४) १०-२।

रैनि—सज्ञा स्त्री० [सं० रजनी] रात्रि, युवावस्था। ~**रैनि** गई मत दिनु भी जाइ। →पद २७८-१।

रोगिया—सज्ञा पु० [स० रुग्ण] ससारा-सक्त जीव। ~जो सनिपात **रोगिया** मारै, सो साधुन सिधि पाई। →सव० १६१-६।

रोझ—संज्ञा स्त्री० [दे०] नीलगाय, चित्तवृत्तियाँ। ~वन के **रोझ** धरि दाइज दीन्हो, गोह लोकन्दे जाई। →सव० १५५-७।

ल

लंगर—संज्ञा पु० [दे०] एक शिकारी-पक्षी, विवेक। ~ काग **लंगर** फादिया वटेरै बाज जीता। →पद ३४३-४।

लगवारै—संज्ञा पु० [हि० लग + वार (प्रत्य०)] जार, सकाम मन। ~ साँझ सकार दिया लै वारै, खसम छोडि सुमिरै **लगवारै**। → र० ७३-४।

लमधी—संज्ञा पु० [दे०] समधी का पिता, अविवेक। ~समधी कै घरि **लमधी** आए आए, वहू के भाइ। → पद २३५-७।

लाल—वि० [स० लालक] लाल रंग, अनुराग। ~एक दोस्त जो हम किया, जिस गलि लाल कवाइ। →सा० मन० (१३) ११-१।

लिंग—सज्ञा पु० [स०] पुरुष। ~ते तिरिये भग लिंग अनन्ता, तेऊ न जाने आदि औ अंता। →र० २-२।

लुहार—सज्ञा पु० [स० लौहकार] लोहार, प्राण, जीवात्मा। ~अहरनि रहा ठमूकडा, जव उठि चला लुहार। → सा० काल० (४६) २१-२।

लुहार—सज्ञा पु० [सं० लौहकार] कालचक्र। ~मति वसि परौं लुहार कै, जारै दूजी वार। →सा० काल० (४६) १०-२।

लेज—सज्ञा स्त्री० [स० रज्जु] रस्सी, कुण्डलिनी। ~ऊपरि नीर लेज तलिहारी, कैसे नीर भरै पनिहारी। →सव० १५०-३।

लेजु—सज्ञा स्त्री० [सं० रज्जु] रस्सी, मेरुदण्ड। ~एकै लेजु भरै नौ नारी।→सव० ५७-४।

लै—सज्ञा स्त्री० [स० लय] लय, इन्द्रियो का प्रवर्तक मन है, मन का प्रवर्तक प्राण है, प्राण का अवरोध मनोलय है और मनोलय नाद के आश्रित है अर्थात् मन नाद मे लीन हो जाता है। चित्त का यह लय मोक्षपदवाच्य है, अर्थात् इसे मोक्ष कहते हैं।

लय की अवस्था मे श्वास, नि श्वास नष्ट हो जाते हैं। विपयाग्रह प्रध्वस्त हो जाता है। चेष्टाएँ समाप्त हो जाती हैं, विकार नष्ट हो जाते हैं तथा सभी संकल्प विगलित हो जाते हैं। ~कहै कवीर विचार, करता लै उतरसि पार। → सव० १७१-१०।

लोहा—सज्ञा पु० [सं० लौह] अज्ञान। ~मीन जाल भौ ई ससारा, लोह क नाव पषान क भारा। → र० ४५-५।

लौ—संज्ञा स्त्री० [हि०] ध्यान, यह शब्द निष्कम्प दीपशिखा के लिए आया है। जिस प्रकार निर्वात निष्कम्प दीपशिखा निश्चल रहती है, उसी प्रकार चित्त को ध्येय मे निश्चल रूप से लगाना अथवा अटूट ध्यान 'लौ' कहलाता है। ~सहज पलान चित कै चावुक लौ की लगाम लगाऊ जी। →पद ३०७-३।

व

वसत—सज्ञा पु० [स०] यह एक काव्य-रूप है। इसके माध्यम से यह वताया गया है कि परमार्थ का अनुभव ही नित्य वसत है। सासारिक जीवन मे जो वसत का समय आता है वह थोडे दिन के लिए होता है। ~रसना पढि लेहु श्री वसंत, पुनि जाय परिहौ जम के फद। →वसंत (४) २-१।

विदेसा—संज्ञा पु० [स० विदेश] संसार। ~इन पचनि मिली लूटी हूँ, कुसग आहि विदेसा। →सव० १ -२।

विप्रमतीसी—[विप्रमतितीसी]—यह एक काव्य-रूप है। इसमे ३० पक्तियो मे

ब्राह्मणो के विषय मे मत व्यक्त किया गया है। प्रस्तुत छद मे ३० पक्तियाँ होती हैं। इसके अतिरिक्त एक साखी है, जो दोहा छन्द मे है। मुख्य छन्द की ३० पक्तियाँ है। अत. इसे 'तीसी' कहा गया है। कही-कही इसका पाठ 'विप्रवतीसी' भी मिलता है, जिसमे साखी को भी जोड दिया गया है। →विप्रमतीसी (२)।

विष—सज्ञा पु० [स०] विषयभोग, विषय-वासना। ~विष के खाए विष नहि जावै, गारुडि सो जो मरत जियावै। →र० २६-६।

स

सँजोग—संज्ञा पु० [स० संयोग] कवच। ~सूरै सार सँवाहिया, पहिरा सहज **सँजोग**। →सा० सूरा० (४५) ८-१।

संझा—सज्ञा स्त्री० [स० सन्ध्या] सन्ध्या, जीवन का अंतिम समय। ~उनई वदरिया परिगो **संझा**, अगुआ भूले बनखंड मझा। →र० १५-१।

सकति—संज्ञा स्त्री० [स० शक्ति] शक्ति, कुडलिनी। ~उलटीले **सकति** सहार पैसीले गगन मझार। → सव० १७१-५।

सक्ती—संज्ञा स्त्री० [स० शक्ति] इडा। ~सिव **सक्ती** दिसि को जुवै, पछिम दिसा उठै धूरि। →सा० पर० (५) ४६-१।

सखिन—सज्ञा स्त्री० [सं० सखिन्] सखियाँ, जीव। ~फुलवा भार न लै सकै, कहै **सखिन** सो रोय। → र० १५-३।

सखी पांच—[यौ०] पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ।~नौ नारी परिमल सो गाँव, **सखी पांच** तहँ देखन धाव। →वसत (४) २-४।

सखी सहेली—[यौ०] इन्द्रियाँ। ~**सखी सहेली** मगल गावैं, दुख सुख माथे हलदी चढावैं। →पद ३१२-४, पद २३८-४।

सती—वि० स्त्री० [स०] साधक, जीवात्मा। ~**सती** पुकारै सलि चढी, सुनु रे मीत मसाँन। →सा० सूरा० (४५) ३३-१।

सबद—सज्ञा पु० [सं० शब्द] शक्ति-पात (शक्तिपात तीन प्रकार से होता है—स्पर्श, दृष्टि और शब्द से। यहाँ भाव है कि गुरु ने शब्द का शक्तिपात किया)। ~ सतगुरु साँचा सूरिवाँ, **सबद** जु वाह्या एक। →सा० गुरु० (१) ७-१।

सबद—संज्ञा पु० [स० शब्द] अनाहत नाद, अनाहत नाद सम्पूर्ण ससार मे व्याप्त है। जब साधना द्वारा सुषुम्ना मार्ग उन्मुक्त हो जाता है और कुंड-लिनी जागृत होकर ऊपर की ओर उठती है, तब साधक को अनाहत नाद सुनाई पड़ने लगता है। उस समय योगी का चित्त नाद मे रम जाता है। वह सर्वथा अतर्मुखी हो जाता है और जब कुडलिनी ब्रह्म-रंध्र मे मिल जाती है, तब उसे

प्रकाश का पूरा अनुभव हो जाता है। ~कबीर सबद सरीर मैं, बिन गुन बाजै ताति। →सा० सब० (४०) १-१।

सबद—सज्ञा पु० [सं० शब्द] अनाहत नाद। ~सबको सुख दे सबद करि, अपनी अपनी ठौर। →सा० सापीभू० (५७) २-२, सा० सूरा० (४५) ३६-२।

सब्द—सज्ञा पु० [स० शब्द] ब्रह्म में जो स्पंदन होता है, वही शब्द है। यह शब्द ध्वनि नही है, प्रत्युत् चैतन्य का एक से अनेक की अभिव्यक्ति की इच्छा या उल्लास का स्पन्दन मात्र है। ~अन्तर जोति सब्द यक नारी, हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी। →र० २-१।

समंद—संज्ञा पु० [सं० समुद्र] जीवन-सागर, ससार। ~कबीर लहरि समद की, मोती बिखरे आइ। → सा० पारि० (४६) २-१।

समद—संज्ञा पु० [स० समुद्र] समुद्र, ब्रह्मनाडी। ~वन कै ससै समंद घर कीया, मछा बसै पहाड़ी। →सब० ३०-३।

समद—संज्ञा पु० [स० समुद्र] समुद्र, काम। ~चकवा वैसि अगारै निगलै समद अकासा धावा। → पद ३३१-८।

समधी—सज्ञा पु० [स० सम + धी] विवेक बुद्धि। ~समधी कै घरि लमधी आए, आए वहू कै भाइ। → पद २३५-७।

समुन्दर—सज्ञा पु० [स० समुद्र] सागर, विषयासक्त मानस। ~ समुन्दर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भईं। →सा० ज्ञा० वि० (४) १०-१।

समुन्दर—सज्ञा पु० [स० समुद्र] ससार। ~मच्छ सिकारी रमै जगल मैं, सिघ समुन्दर झूलै। → सब० २८-४।

समुद्र—सज्ञा पु० [स०] सागर, ससार अथवा प्रकृति। ~अवु कि रासि समुद्र कि खाँई, रवि ससि कोटि तैंतिसो भाई। →र० ४१-१।

समुद्रहिं—सज्ञा पु० [स० समुद्र] सासारिक सन्ताप। ~उलटी गग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै। →सब० ३२-३।

सयान—वि० [स० सज्ञान] ज्ञानी—योगवाशिष्ठ में ज्ञान अथवा योग की सात भूमियाँ बताई गयी हैं। उनके नाम हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, परार्थाभाविनी और तुर्यगा। उनके तात्पर्य हैं—शुभेच्छा = परमतत्व की इच्छा, विचारणा = चिन्तन, मनन, तनुमानसा = मन का क्षीण होना, सत्त्वापत्ति = शुद्ध अत करण, असंसक्ति = आसक्ति की समाप्ति, परार्थाभाविनी = केवल परब्रह्म के चितन की स्थिति, तुर्यगा = तुरीयावस्था, ब्रह्ममय होने को स्थिति। ~एक सयान सयान न होई, दोसर सयान न जानै कोई। →र० ३७-१।

सयानहि—वि० [स० सज्ञान] स्थूल

ज्ञान का हेतु अर्थात् मन । ~तीसर ज्ञान सयानहि खाई, चौथ सयान तहाँ लै जाई । →र० ३७-२ ।

सयाना—वि० [सं० सज्ञान] सज्ञान, चतुर, जीव । ~घर का सुत जो होय अयाना, ताके संग न जाहि सयाना । →र० २६-५ ।

सर—सज्ञा पु० [स० शर] बाण, अनाहत नाद । ~ जिहि सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान । → सा० पर० (५) २१-२ ।

सर—सज्ञा पु० [सं० शिर] चोटी । ~मूल बाँधि सर गगन समाँनाँ सुखमन यो तन लागी । →सब० २६-३ ।

सर—सज्ञा स्त्री० [हि०] तीली, अस्थियाँ । ~सर लागे तेहि तीन सै साठि, कसनि बहत्तरि लागु गाँठि । →वसत (४) ३-३ ।

सर—सज्ञा पु० [स०] सरोवर, ब्रह्म । ~श शा सर नहि देखै कोई, सर सीतलता एकै होई । →ज्ञान चौं० (१) ६३ ।

सरदूलहि—सज्ञा पु० [स० शार्दूल] सिंह को, उन्मत्त वासना । ~ऐसा नवल गुंनी भया, सरदूलहि मारै । →सब० ५१-८ ।

सरवर—सज्ञा पु० [स० सरोवर] जलाशय, आत्मानन्द । ~सरवर तटि हसिनी तिसाई । →पद ३११-१ ।

सरवर—सज्ञा पु० [स० सरोवर] सरोवर, शरीर । ~जारौं मांग मैं तासु नारि की, जिन सरवर रचल धमारी । →पद २२२-३, पद ३२२-२ ।

सरिता—सज्ञा स्त्री० [स०] नदी, प्रवहमान इद्रियाँ । ~बहती सरिता रहि गई, मच्छ रहे जल त्यागि । →सा० ज्ञान० वि० (४) ६-२ ।

सरोवर—संज्ञा पु० [स०] तालाब, आत्मिक चेतना का प्रसार । ~तेरे ही नालि सरोवर पाँनी । → सब० ८३-२ ।

सर्प—संज्ञा पु० [स० सर्प] शास्त्रीय ज्ञान । ~मूसा खेवट नाव बिलइया, सोवै दादुर सर्प पहरिया । →सब० ८६-४ ।

सर्प—संज्ञा पु० [स०] साँप, अहंकार । ~मेढक सर्प रहत एक संगे, विलिया स्वान बियाही । →पद १६६-५ ।

सलि—सज्ञा स्त्री० [सं० शर] चिता, साधना की कठिन यात्रा । ~सती पुकारै सलि चढी, सुनु रे मीत मसाँन । →सा० सूरा० (४५) ३३-१ ।

ससा—सज्ञा पु० [स० शश] खरगोश, वासना । ~रोहै मिरिगा ससा बन हाकै, पारधी बान न मेलै । →सब० ४४-५ ।

ससा—संज्ञा पु० [स० शश] खरगोश; साधक । ~भील लुका बन बीझ मैं, ससा सर मारै । →सब० ५१-६ ।

ससि—सज्ञा पु० [स० शशि] पिंगला, अपान वायु । ~ गगन जोति तहँ त्रिकुटी सधि, रवि ससि पवना मेली बधि । →सब० ५४-४ ।

ससिहर—संज्ञा स्त्री० [सं० शशधर] चन्द्र नाडी, इडा। ~चूकीले मोह पियास, तहाँ **ससिहर** सूर गरास। →सब० १७१-७, सब० ३२-३, सब० १५८-४।

ससिहर—संज्ञा पु० [सं० शशधर] चद्रमा, सोमरस। ~दास कबीर तत ऐसा कहै, **ससिहर** उलटि राहु को गहै। →सब० ४७-८।

ससुर—संज्ञा पु० [सं० श्वसुर] देवी-देवता। ~खसमहिं छोडि **ससुर** सग गौनी, सो किन लेहु विचारी। →पद २६०-३।

ससुर—संज्ञा पु० [सं० श्वसुर] अविद्या। ~सासु की दुखी **ससुर** की पिआरी जेठ कै तरसि डरउँ रे। → पद २३२-३।

ससुरे—संज्ञा पु० [सं० श्वसुरालय] श्वसुरालय, आत्म-पद। ~मैके रहै जाय नहिं **ससुरे**, साईं सग न सोवै। →सब० १६८-६।

ससै—संज्ञा पु० [सं० शश] खरगोश, मन।~वन कै **ससै** समद घर कीया, मछा वसै पहाडी।→सब० ३०-३।

सहंस—संज्ञा पु० [सं० स+हस] हस के सहित अर्थात् 'ह स' का श्वास-प्रश्वास के द्वारा अजपा जप। प्रत्येक व्यक्ति मे एक मिनट मे १५ वार श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती है। इस प्रकार एक दिन मे १५×६०×२४=२१६०० श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया होती है और प्रत्येक श्वास-प्रश्वास मे 'हं स.' की ध्वनि होती है। इस प्रकार जीव विना किसी कृत्रिम जप के, आप से आप 'हस' का दिन भर मे २१६०० जप करता रहता है। इसे अजपा-जप कहते हैं। ~**सहंस** इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै। →सब० ३४-६।

सहज—वि० [सं०] स्वभावत विद्यमान, परम तत्त्व। ~**सहज** समाधें सुख मे रहिबो, कोटि कल्प विसराम। →सब० १३-२।

सहज—वि० [सं०] अपने भीतर सहज रूप से विद्यमान, आत्मतत्त्व। ~**सहज** कै पावडै पगु धरि लीजै। →सब० ३-२।

सहज समाधि—समाधि दो प्रकार की होती है—यत्न साध्य समाधि और सहज समाधि। यत्न साध्य समाधि कुछ समय के लिए ही हो सकती है। इसके टूटने पर मन अपनी विकल्पात्मक अवस्था मे आ जाता है, किन्तु जब मन राम मे अत्यधिक रत हो जाता है तब वह समाधि (संयोग) स्वाभाविक हो जाती है। मन प्रभु मे निरन्तर युक्त रहता है। यही सहज-समाधि है। ~ **सहज समाधि** उनमुनी जागै, सहज मिलै रघुराई। →पद २६५-५।

सहज समाधि—चित्त का आन्तरिक, स्वाभाविक स्थिति मे लीन हो जाना सहज समाधि है। इसका एक साधन है—इडा और पिंगला के तुल्य वल हो जाने पर कुंडलिनी का जागरण और उसका सहस्रार मे मिलन।

तान्त्रिक सहजयानियो और नाथ पंथियो की यही विशेष साधना पद्धति है। ~सहज समाधि बिरिख यहु सीचा, धरती जलहरु सोखा। →सब० ११६-७।

सहज सुंनि—संज्ञा पु० [स० सहज + शून्य] ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर, सहस्रार। ~गग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि लौ घाट। →सा० लै० (१०) ३-१।

सहज सुनि—यौ० [स० सहज-शून्य] वह सहजावस्था, जो सभी पदार्थों से रहित है, सब ज्ञेय से परे है। ~सहज सुनि को नैहरो, गगन मडल सिरमौर। →पद ३४२-७।

सहजि—वि० [सं० सहज] स्वाभाविक रूप स विद्यमान प्रभु मे। ~कहै कबीर सुख सहजि समावउँ, आप न डरउँ न और डरावउँ। →सब० २०-८।

सहनां—संज्ञा पु० [अ० शिहन.] साक्षी पुरुष, आत्मा। ~नित उठि कलक लगावै सहनां। →सब० ५७-२।

सहर—सज्ञा पु० [फा० शहर] नगर, शरीर। ~ सहर जरै पहरू सुख सोवै, कहै कुसल घर मेरा। →सब० १५७-५।

सहस तार—वि० [स० सहस्र + तारक] हजारो नाड़ियाँ। ~सहस तार लै पूरिन पूरी, अजहूँ बिनब कठिन है दूरी। →र० २८-३।

सांई—संज्ञा पु० [स० स्वामी] प्रत्यगात्मा, शुद्ध चैतन्य। ~सांई के संग सासुर आई। →पद ३१२-१।

सांठो—सज्ञा स्त्री० [हि० गाँठ] पूजी, धन, वृद्धि। ~ वडे बौहरै सांठो दीन्हीं, कलतर काढ्यो खोटै। →पद २१७-३।

सांपिनि—सज्ञा स्त्री० [स० सर्पिणी] विषय। ~ उलटि मूसै सांपिनि गिली, यहु अचरजु भाई। →सब० ५१-४।

साउज—सज्ञा पु० [हि० सावज] जंगली पशु-पक्षी, काम-क्रोध। ~ घर घर साउज खेलै अहेरा, पारथ ओटा लेई। →पद ३२३-२।

साखा—सज्ञा स्त्री० [स० शाखा] नाडी-मंडल। ~तलि करि साखा उपरि करि मूल, बहुत भांति जड लागे फूल। →सब० ४८-६।

साखा पत्र—[यौ०] वासनाएँ। ~मध्य कि डार चारि फल लागा, साखा पत्र गिनै को वाका। →पद २८६-३।

साध साषीभूत—साक्षी भूत साधु। साधारण जीव मे चेतना, ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान की त्रिपुटी मे ही कार्य करती रहती है। जीव के भीतर जो प्रत्यगात्मा है, वह इन तीनो का साक्षी है। सुषुप्तावस्था मे जब अंत करण की वृत्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, उस अवस्था की भी चेतनता प्रत्यगात्मा मे विद्यमान रहती है। वही प्रत्यगात्मा 'साक्षी' है। साधारण जीव को साक्षी का भान नही होता। जो योगी प्रत्यगात्मा से युक्त हो जाता

है, वही 'साक्षीभूत साधु' है। → सा० साधसा० (२६) ।

सायर—सज्ञा पु० [सं० सागर] सागर, शरीर। ~सायर जरै सकल वन दाझै, मच्छ अहेरा खेलै। →सव० ४४-६ ।

सायर—सज्ञा पु० [स० सागर] सागर, भवसागर, ससार। ~वगुली नीर विटालिया, सायर चढा कलंक ।→ सा० माया० (१६) ३०-१, सव० ६४-७ ।

सायर—सज्ञा पु० [स० सागर] सागर, हृदय। ~नीर पियावत क्या फिरै, घर घर सायर वारि। →सा० विर्क० (३७) ७-१ ।

सायर—सज्ञा पु० [स० सागर] समुद्र, मानस। ~दौं लागी सायर जला, पखी वैठे आइ। →सा० ज्ञान वि० (४) ६-१ ।

सायर—संज्ञा पु० [सं० सागर] सागर, माया। ~नलनी सायर घर किया, दव लागी वहुतेन। →सा० माया० (१६) २२-१ ।

सायर वारि—संज्ञा पु० [स० सागर वारि] आत्म-स्वरूप। ~ नीर पियावत क्या फिरै, घर घर सायर वारि। → सा० विर्क० (३७) ७-१ ।

सार्दुल—संज्ञा पु० [सं० शार्दूल] व्याघ्र, मन। ~सिंह सार्दुल एक हर जोतिन, सीकस वोइन धाना। → सव० १५५-२ ।

सावज—संज्ञा पु० [स० शावक] मृग, सकल्प विकल्पात्मक मन। ~ ससे सावज वसै सरीरा, ते खायो अनवेधा हीरा। →र० १८-३, ४ ।

साषीभूत—संज्ञा पु० [स० साक्षीभूत] मानव चेतना की चार अवस्थाएँ हैं— जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति और तुरीय। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के द्वारा हमारा सासारिक जीवन चलता रहता है। इन तीनो की चेतना मनोवैज्ञानिक अहं की (Psychological Self) चेतना है। इसी के द्वारा हम संसार के सारे जीवन का निर्वाह करते हैं। इन तीनो अवस्थाओ का द्रष्टा 'तुरीय' चेतना है। 'तुरीय' शब्द का अर्थ है—चतुर्थ। यह तीनो अवस्थाओ से परे है। इसीलिये इसका नाम 'तुरीय' है। यह चौथी अवस्था अन्य तीनो अवस्थाओ की साक्षी है। यह मानव का तात्विक अह (Meta-physical Self) है। यही हमारा वास्तविक आत्मा है। वह काम, क्रोध, लोभ, राग-द्वेष आदि मे लिप्त नही होता। उनका केवल साक्षी होता है। इसीलिए उसे 'साक्षि चैतन्य' कहते हैं। →सा० साषी० (२६) ।

सास—सज्ञा स्त्री० [स० श्वश्रु] वोध। ~ सास दुरासनि पीव डराऊँ। → सव० २३४-२ ।

सासु—संज्ञा स्त्री० [सं० श्वश्रु] अस्मिता, मैं हूँ पन। ~सासु की दुखी ससुर की पिआरी जेठ कै तरसि डरउँ रे। →पद २३२-३ ।

सासु—संज्ञा स्त्री० [स० श्वश्रु] अविद्या। ~सासु ननद मिलि अदल चलाई, मादरिया ग्रिह वैंठी जाई। →सव० १५१-२।

सासु—सज्ञा स्त्री० [स० श्वश्रु] माया। ~सासु ननद पटिया मिलि वँधलों, भसुरहिं परलों गारी।→पद २२२-२, कहरा (३) १-२५।

सासुर—सज्ञा पु० [स० श्वसुरालय] श्वसुरालय, संसार। ~साँई के सग सासुर आई। →पद ३१२-१।

सासुरे—सज्ञा पु० [स० श्वसुरालय] ससुराल, ससार। ~मैं सासुरे पिय गौहनि आई। →पद २३८-१।

सासुहि—संज्ञा स्त्री० [सं० श्वश्रु] प्रवृत्ति। ~भाई के सग सासुर गौनी, सासुहि सावत दीन्हा। → पद २९०-४।

साहु—सज्ञा पु० [सं० साधु] महाजन, प्रभु, ईश्वर। ~कबीर पूंजी साहु की तूं जनि खोवै ख्वार। →सा० साँच० (२२) १-१।

सिंघ—सज्ञा पु० [स० सिंह] जीव। दे० 'सिंघहि'। ~मच्छ सिकारी रमै जगल मैं सिंघ समुदर झूलै। → सव० २८-४, सव० ८६-५, पद ३३१-५।

सिंघ—संज्ञा पु० [सं० सिंह] अहंकार। ~डाइन डारै सुनहां डोरै, सिंघ रहै वन घेरे। →सव० ४४-३।

सिंघहि[१]—सज्ञा पु० [स० सिंह] जीवात्मा। ~अचरज एक देखहु हो सतो, हस्ती सिंघहि खाय। →र० १२-८।

सिंघहि[२]—सज्ञा पु० [स० सिंह] सिंह, जीव, आत्मा। दे० 'सिंह[१]'। ~संतो अचरज देखहू, हस्ती सिंघहि खाय। →र० ७२-६।

सिंह[१]—सज्ञा पु० [सं०] सिंह, जीव। ~जल मे सिंह जु घर करै, मछली चढै खजूरि। →सा० पर० (५) ४६-२, सव० ४८-२, पद १५५-२।

सिंह[२]—संज्ञा पु० [स०] अहकार। ~जब लगि सिंह रहै वन माहि, तब लगि यहु वन फूलै नाहिं। → सव० ५३-५।

सिंह[३]—सज्ञा पु० [सं०] जीवात्मा। ~नित उठि सिंह सियार सो डरपे, अद्‌भुत कथो न जाई। →पद १९९-६।

सियार—सज्ञा पु० [स० शृगाल] सियार, भ्रम। ~नित उठि सिंह सियार सो डरपे, अद्‌भुत कथो न जाई। →पद १९९-६।

सियार—संज्ञा पु० [सं० शृगाल] वंचक या धूर्त गुरु। ~भूकि भूकि कुकुर मरि गयऊ, काज न एक सियार से भयऊ। →र० १२-६।

सियार—संज्ञा पु० [स० शृगाल] शृंगाल, मन। ~उलटि सियार सिंह कौं खाइ, तब यहु फूलै सब वनराइ। →सव ५३-६।

सिव—सज्ञा पु० [स० शिव] पिंगला। ~ सिव सक्ती दिसि को जुवै, पछिम दिसा उठै धूरि। →सा० पर० (५) ४६-१।

सिव-सत्ती—सज्ञा [स० शिव + शक्ति] पुरुप-स्त्री। ~ बहुत जतन करि वाहर आया, तब **सिव-सत्ती** नाम धराया। →र० २६-४।

सिषर—सज्ञा पु० [सं० शिखर] शून्य-शिखर, ब्रह्मरन्ध्र। ~जन कबीर का **सिषर** घर, बाट सलैली सैल। →सा० सू० मा० (१४) ७-१।

सिषरांह—सज्ञा पु० [स० शिखर] शिखर पर, ब्रह्मरध्र मे। ~पार ब्रह्म वड मोतियाँ, झडि वाँधी **सिषरांह**। →सा० निगु० (५५) ३-१।

सीकस—सज्ञा पु० [दे०] ऊसर भूमि, ससार। ~सिंह सार्दुल एक हर जोतिन, **सीकस** वोइन धाना। → सव० १५५-२।

सीतल छाया—संज्ञा स्त्री० [स० शीतल छाया] प्रभु का अनुग्रह। ~ **सीतल छाया** सघन फल, पंखी केलि करत। → सा० सजी० (४७) ६-२।

सीस—सज्ञा पु० [स० शीर्ष] आपा, अह, खुदी। ~कवीर पीवन दुलभ है, माँगै **सीस** कलाल। →सा० रस० (६) २-२, सा० सूरा० (४५) १६-२।

सीह—सज्ञा पु० [पु० सिंह] अहकार। दे० 'सिंह'[२]। ~ जिहि वन **सीह** न सचरै, पखि उडै नहिं जाइ। → सा० लै० (१०) १-१।

सुदरि—सज्ञा स्त्री० [स० सुन्दरी] ईश्वर की भक्ति करने वाली प्रिया रूपी जीवात्मा। ~कबीर **सुंदरि** यौं कहै, सुनियो कत सुजान। → सा० सुन्द० (५२) १-१।

सुंदरी—संज्ञा स्त्री [स०] जीवात्मा, साधक। ~तब सुख पावै **सुंदरी**, ब्रह्म झलक्कै सीसि। →सा० मन० (१३) २०-२।

सुआसिनि—सज्ञा स्त्री० [स० सुवासिनी] सौभाग्यवती, वंचक गुरुआ लोगो की वाणी। ~अरघा दे लै चली **सुआसिनि**, चौके राँड भई सग साँई। →पद ३१२-६।

सुत—संज्ञा पु० [स०] पुत्र, मन। ~ घर का **सुत** जो होय अयाना, ताके संग न जाहिं सयाना र० २६-५।

सुनहाँ—सज्ञा पु० [स० शुन] श्वान, मन। ~डाइन डारै **सुनहाँ** डोरै, सिंघ रहै बन घेरे। →सब० ४४-३।

सुन्न—संज्ञा पु० [सं० शून्य] आकाश, सर्वव्यापी, विभु, तत्व सम्बन्धी, शून्य अवस्था ही सहज अवस्था है। इसी का 'समरस' अवस्था कहा गया है। ~ **सुन्न** सहज मन सुमिरत, प्रगट भई एक जोति।→र० ६-६।

सुन्नि—सज्ञा पु० [स० शून्य] शून्य, शीर्ष के ऊपरी भाग मे एक रध्र होता है जो स्थूल इन्द्रियो से परे है। यह रध्र सुषुम्ना के भीतर से होता हुआ मूलाधार तक चला गया है। इसी रंध्र के ऊपर सहस्र दल कमल स्थित है। इसे ब्रह्म रध्र कहते हैं। इसी के ऊपर शून्य शिखर है। ~हद छाडि वेहद गया, किया

सुन्नि असनान। →सा० पर० (५) ११-१।

सुन्नि—संज्ञा पु० [सं० शून्य] ब्रह्मरध्र पर स्थित सहस्रदल कमल, शून्यचक्र। ~तपनि गई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनान। →सा० पर० (५) ३२-२।

सुन्नि सिखर—सज्ञा पु० [स० शून्य+शिखर] शून्य शिखर, सहस्रार। ~कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिखर गढ माँहि। →सा० पर० (५) ८-२।

सुरतां—सज्ञा स्त्री० [स० सु+रति] सुरति के द्वारा, प्रेमपूर्ण ध्यान। ~तरवर एक अनत मूरति, सुरतां लेहु पिछानी। →सब० १२-३।

सुरति—संज्ञा स्त्री० [स०] प्रत्यगात्मा। ~पचतत्त तत्तहि मिले, सुरति समाना मन। →सा० उप० (३४) ४-२।

सुरति—संज्ञा स्त्री [स० सु+रति] चित्त का वह अवधान (Attention) जिससे साधक अनाहत नाद को सुनता रहता है और वह सुमिरन जिससे वह प्रभु का प्रेम-रस पीता रहता है। ~कबीर सूषिम सुरति का, जीव न जानैं जाल। →सा० सूषि० ज० (१५) १-१।

सुरति—सज्ञा स्त्री० [स० सु+रति] 'रति' शब्द रम् धातु का सज्ञा पद है। रम् के दो अर्थ है—रमण करना, आनन्द लेना तथा रुक जाना, ठहर जाना। सुरति शब्द का अर्थ हुआ—किसी पदार्थ मे इतने रस, इतने आनन्द का अनुभव करना कि चित्त की चचलता, चित्त के क्षोभ का उपरम (रुक जाना) और उपशम (शात) हो जाय। प्रेमानुरक्त ध्यान और स्मरण। ~सुरति समानी निरति मे, निरति रही निरधार। →सा० पर० (५) २२-१।

सुरभी भच्छन—[स०] हठयोग प्रदीपिका (तृतीयोपदेश-श्लोक ४७, ४८) मे कहा गया है कि जो नित्य गोमास का भक्षण करता है और वारुणी का पान करता है उसे मैं कुलीन समझता हूँ, अन्य कुल घातक हैं। यहाँ 'गो' शब्द का अर्थ 'जिह्वा' है। उसका तालु मे प्रवेश करना गोमांस भक्षण है। यह भक्षण महापाप नाशक है। ~सुरभी भच्छन करत वेद मुख, घन वरिसैं तन छीजैं। →सब० १४४-५।

सुरही—सज्ञा स्त्री० [स० सुरभी] गाय, भक्ति। ~सुरही चूषै बछतलि, बछा दूध उतारैं। →सब० ५१-७।

सुरुज—सज्ञा पु० [स० सूर्य] दाहिने नासारंध्र से चलने वाली नाड़ी। इसे पिंगला अथवा सूर्य नाडी भी कहते है। ~महि अकास दुइ गाड़ खँदाया, चाँद सुरुज दुइ नरी बनाया। →र० २८-२।

सुवटा¹—सज्ञा पु० [सं० शुक्र] शुक, ज्ञानेंद्रियाँ। ~पंच सुवटा आइ

बैठे, उदै भई वनराइ। →सव० ४५-८।

सुवटा[2]—सज्ञा पु० [सं० शुक] तोता, जीव। दे० 'सुवा'। ~ सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोहि डराई देत विलाई। → पद ३२०-१, सव० ३३८-१।

सुवा—संज्ञा पु० दे० 'सुवटा'[2]।

सुहागिनि—सज्ञा स्त्री० [हि० सुहाग+इन (प्रत्य०)] सौभाग्यवती, माया। ~सुहागिनि जगत पियारी। →सव० ४६-१।

सूत-कुसूत—सज्ञा पु० [सं० सूत्र+कु+सूत्र] शुभ एव अशुभ कर्म। ~कहहि कवीर करम सो जोरी, सूत-कुसूत विनै भल कोरी। → र० २८-४।

सूति—सज्ञा पु० [स० सूत्र] जीवन-सूत्र, जीवन रूपी धागा। ~जोगी फेरी फिल करौ, यौं विनना वै सूति। →सा० मन० (१३) ३-२।

सूर[1]—सज्ञा पु० [स० सूर्य] पिंगला नाडी। ~उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै। → सव० ३२-३, सव० १५८-४, पद ३४२-३।

सूर[2]—सज्ञा पु० [स० सूर्य] सूर्य, सूर्यनाडी, पिंगला, दाहिनी नाडी। ~सूर समाना चाँद मैं, दुहूँ किया घर एक। →सा० पर० (५) १०-१।

सूर[3]—सज्ञा पु० [स० सूर्य] सूर्य, ज्ञान। ~उदया सूर निस किया पयांना, सोवत थै जव जागा। → सव० १३-६।

सूर[4]—सज्ञा पु० [स० सूर्य] सूर्य, ज्ञान की ज्योति। ~कवीर कंवल प्रकासिया, ऊगा निर्मल सूर। →सा० पर० (५) ४३-१।

सूरज—सज्ञा पु० [स० सूर्य] पिंगला नाडी। दे० 'सूर[1]'। ~जहाँ धरनि वरसै गगन भीजै, चद सूरज मेल। →सव० ४५-५।

सैयां—सज्ञा पु० [स० स्वामी] स्वामी, जीव। ~अपने सैयां के वाघौं पाट, लै वेचौंगी हाटै हाट। →वसत (४) ६-४।

सोनहा—सज्ञा पु० [स० शुन] कुत्ता, अज्ञानी। ~ अचरज एक देखल ससारा, सोनहा खेदे कुंजर असवारा। →सव० ६२-३।

सोरह—वि० [स० षोडश] विशुद्धाख्य चक्र (इसमे सभी स्वर होते हैं—अ से अ तक)। ~सोरह मंझै पवन झकोरै, आकासै फरु फरिया। → सव० ११६-६।

सोवनहार—सज्ञा स्त्री० [हि० सोना+हार (प्रत्य०)] सोनेवाली, कुण्डलिनी। ~चली जात वह वार्टहि वाटा, सोवनहार के ऊपर खाटा। →र० ७३-२।

सोवैंगा—क्रि० [स० शयन] सोवेगा, मर जाएगा। ~तेल घटै वाती वुझै, (तव) सोवैंगा दिन राति। → सा० सुमि० (२) १०-२।

सौदा—संज्ञा पु० [अ०] क्रय-विक्रय की

वस्तु, माल, सत्कर्म । ~कवीर गुदरी बीखरी, सौदा गया विकाइ । →सा० अपा० (४८) ३-१ ।

सौरी—संज्ञा स्त्री० [दे० सौंड, सौंडा] चादर, रजाई, शरीर । ~ जाडन मरै सपेदी सौरी, खसम न चीन्है घरनि भी बौरी । →र० ७३-३ ।

स्यंभ दुवार—सज्ञा पु० [स० शभु द्वार] शभु द्वार, ब्रह्मरध्र ।~सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यभ दुवार । →सा० पर० (५) २२-२ ।

स्यार—सज्ञा पु० [स० शृगाल] तृष्णा । ~नित उठि स्यार सिंघ सौं जूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै । → सब० ८६-५ ।

स्यारि—संज्ञा पु० [स० शृगाल] सियार, संकल्प-विकल्प । ~मूस तौ मंजार खायौ स्यारि खायौ स्वाना । →पद ३४३-५ ।

स्वांनां—सज्ञा पु० [सं० श्वान] कुत्ता, निर्विकल्प । ~मूस तौ मजार खायौ स्यारि खायौ स्वांनां । → पद ३४३-५ ।

स्वान—सज्ञा पु० [स० श्वान] कुत्ता, अज्ञान । ~ स्वान वापुरो धरनि ढाकनो, बिल्ली घर की दासी । → पद ३००-६ ।

स्वान—सज्ञा पु० [सं० श्वान] कुत्ता, काल या मृत्यु । ~मेढक सर्प रहत एक सगे, बिलिया स्वान बियाही । →पद १६६-५ ।

स्वामी—संज्ञा पु० [सं०] शरीर का स्वामी, जीव । ~वोछी मति चंदा गो अथई, त्रिकुटी सगम स्वामी वसई । →र० १३-६ ।

स्वेत—वि० [सं० श्वेत] सत्व प्रधान । ~पुरता मे राती है गइया, स्वेत सीग है भाई । →पद २०६-६ ।

ह

हस—संज्ञा पु० [सं०] जीवात्मा । दे० 'हंसिनी' । ~जोरी विछुरी हंस की, पडे वगां कै हाथि । →सा० अपा० (४८) १-२, र० ४२-६ ।

हंस—सज्ञा पु० [सं०] जीव, शुद्ध आत्मा । ~पूरब दिसा हंस गति होई, है समीप संधि बूझै कोई । → र० ५-६ ।

हंस—संज्ञा पु० [सं०] हंस 'अहं स' का संक्षिप्त रूप है । इसमे 'अ' और 'स' के विसर्ग का लोप हो गया है । 'अहं स' का तात्पर्य है—जीव मे इस ज्ञान का होना कि मै ब्रह्म हूं, मेरी चेतना भागवती है । ~हरिजन हंस दसा लिएं डोलै । →पद ३३४-१ ।

हंस—सज्ञा पु० [सं०] हंस, मुक्त आत्मा । ~और पखेरू पी गए, हस न वोरै चच । → सा० माया० (१६) ३०-२ ।

हंसा—सज्ञा पु० [सं० हंस] जीव । ~ मानसरोवर सुभर जल, हसा केलि कराहिं । →सा० पर० (५) ३६-१ ।

हंसा—सज्ञा पु० [स० हस] ज्ञानी या विवेकशील जीव । ~वगुला मज्ञ न जानई, हंसा चुनि चुनि खाइ । → सा० पारि० (४६) २-२ ।

हंसा—सज्ञा पु० [सं० हस] शुद्ध जीवात्मा। ~ताका जल कोई हसा पीवै, विरला आदि विचारि। →सा० पर० (५) ४५-२।

हसिनी—संज्ञा स्त्री० [स०] जीवात्मा। ~सरवर तटि हसिनी तिसाई। →पद ३११-१।

हजारी क सूत—यौ० [हि०] सूक्ष्म या वारीक वस्त्र, नाना प्रकार के कर्म। ~मैं कातौ हजारी क सूत। →पद २३५-१।

हट्ट—संज्ञा पु० [सं०] हाट, वाजार, ससार। ~पूरा किया विसाहना, वहुरि न आंवौं हट्ट। →सा० गुरु० (१) १२-२।

हर—संज्ञा पु० [हि० हल] हल, काम्य-कर्म।~सिंह सार्दुल एक हर जोतिन सीकस वोइन धाना। →सव० १५५-२।

हरिजल—यौ० [हि०] परमानन्द। ~ जुगति विनां हरिजल पिया न जाई। →सव० ३११-२।

हरिनि—संज्ञा पु० [सं० हरिण] मृग, तृष्णा। ~ गाइ नाहर खाइओ हरिनि खायौ चीता। → पद ३४३-३।

हस्ति—संज्ञा पु० [स० हस्तिन्] मन। ~धरती उलटि अकासै जाई, चिऊँटी के मुख हस्ति समाई। → सव० १५२-२।

हस्ती—संज्ञा पु० [स० हस्तिन्] हाथी, ब्रह्मज्ञान। ~चिउंटा के पग हस्ती वाधे, छेरी वीगर खावै। →पद १९९-३।

हस्ती—संज्ञा पु० [सं०] हाथी, माया। ~संतो अचरज देखहू, हस्ती सिंघहि खाय। →र० ७२-६, सव० ५१-२।

हस्ती—संज्ञा पु० [स०] माया, मन। ~अचरज एक देखहु हो सतो, हस्ती सिंघहि खाय। →र० १२-८।

हस्ती—सज्ञा पु० [स०] जीव। ~गुरु परसादि सुई कै नाकै, हस्ती आवैं जाही। →सव० ३०-८।

हाकिम—सज्ञा पु० [अ०] स्वामी, जीवात्मा। ~उठि गया हाकिम लुटि गया डेरा। →सव० ५७-८।

हाट—सज्ञा पु० [स० हट्ट] वाजार, योनि। ~अपने सैंयाँ के वाँधौं पाट, लै वेचौगी हाटै हाट। → वसत (४) ६-४।

हाट—सज्ञा पु० [स० हट्ट] वाजार, शरीर। ~विना हाट हटवाई लावै करै वयाई लेखा। →सव० ६०-३।

हाट-वाट—सज्ञा पु० [स० हट्ट + वाट] वाजार, संसार। दे० 'हाटि'। ~ जा दिन किरतम ना हता, नही हाट नहिं वाट। →सा० पर० (५) २८-१।

हाटि—संज्ञा पु० [स० हट्ट] वाजार, ससार। ~ एक अचंभा देखिया, हीरा हाटि विकाइ। →सा० अपा० (४८) २-१।

हाड़ी—सज्ञा पु० [हि० हरना > हारी (हरने वाला) > हाडी] डाकू, क्रोध, काम, लोभ आदि। ~चौहटै चिंतामणि चढी, हाड़ी मारत हाथि। →सा० पर० (५) १९-१।

हार—सज्ञा पु० [स०] माला, ईश्वरोन्मुखी वृत्ति । ~मेरो हार हिरानौ मैं लजाऊँ । ->पद २३४-१ ।

हीरा—संज्ञा पु० [स० हीरक] चैतन्य, आत्मा । ~अनंत कोटि मन हीरा वेधौ, फिटकी मोल न पाई हो । -> कहरा (३) १०-११ ।

हीरा—सज्ञा पु० [स० हीरक] परमतत्व । ~पुहुप पत्र जहँ हीरा मनी, कहै कबीर तहँ त्रिभुवन धनी । -> सब० ५४-८ ।

हीरा—सज्ञा पु० [सं० हीरक] ज्ञान । ~कबीर हीरा बनिजिया, मानसरोवर तीर । ->सा० गुरु० (१) २६-२ ।

हीरा—सज्ञा पु० [स० हीरक] आत्मतत्व । ~हीरा खोया हाथ तैं, जनम गँवाया वादि । ->सा० कामी न० (२०) १८-२ ।

हीरा—सज्ञा पु० [स० हीरक] भक्ति । ~कबीर हीरा वनजिया, महँगे मोल अपार । ->सा० सूरा० (४५) २८-१ ।

हीरा—सज्ञा पु० [सं० हीरक] प्रभु की भक्ति । ~एक अचभा देखिया हीरा हाटि विकाइ । -> सा० अपा० (४८) २-१ ।

हीरा—संज्ञा पु० [स० हीरक] हीरा, आत्मज्योति, आत्मदर्शन । ~तौ मुख तैं मोती झरैं, हीरा अनत अपार । ->सा० उप० (३४) ८-२ ।

हीरैं—सज्ञा पु० [स० हीरक] हीरा ही, परम तत्व ।~सायर माँहि ढँढोलता, हीरैं पडि गया हत्थ । ->सा० पर० (५) ३४-२ ।

संख्यावाची शब्द

: १ :

एक—वि० [सं०] अन्तरात्मा ।~छत्री सो जो कुटुम से जूझै, पाँचो मेटि एक कै वूझै । →र० ८३-३ ।

एक—वि० [सं०] मोक्ष । ~एक दूरि चाहे सभ कोई, जतन जतन कहु विरले पाई ।→सव० ८८-५ ।

एकै कुवां—सज्ञा पु० [सं० एक+कूप] एक कुआँ, प्राणमय कोश । ~एकै कुवां पाँच पनिहारी । → सव० ५७-३ ।

: २ :

खूंटै दोऊ—सज्ञा पु० [हि० दो+खूंटा] ज्ञान और भक्ति । ~ ग्वाडा माहै आनद उपनौं, खूंटै दोऊ वाँधी रे । → सव० २७-६ ।

जुग—संज्ञा पु० [स० युग] दो—साक्ष्य-चैतन्य तथा मन । ~ ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी । →पद २०१-४ ।

दुइ दुख—सज्ञा पु० [सं० द्विदु ख] दो दुःख—जन्म व मरण सम्बन्वी ।~ तेहि साहव के लागहु साथा, दुइ दुख मेटिके रहहु सनाथा ।→र० ७५-१ ।

दुई—वि० [हि० दो] राग, द्वेप ।~ जना पांच कोखिया मिलि रखलो, और दुई औ चारी ।→पद २२२-४ ।

पुरुष दुइ—सज्ञा पु० [हि० दो पुरुष] ज्ञान, वैराग्य । ~नारी एक पुरुष दुइ जाए, बूझो पडित ज्ञानी ।→पद २०१-२ ।

फल दुइ—संज्ञा पु० [सं० द्विफल] दो फल—सुख-दु ख ।~छव छत्री पत्री जुग चारी, फल दुइ पाप पुन्य अधिकारी ।→र० ८२-२ ।

: ३ :

खूंटा तीन—सज्ञा पु० [हि० खूंटा+तीन] इडा, पिंगला, सुपुम्ना ।~ लम्वी पुरिया पाई छीन, मूत पुराना खूंटा तीन । →वसत (४) ३-२ ।

तिनि डारा—संज्ञा स्त्री० [हि० तीन+डार] तीन शाखाएँ—सत्व, रजस्, तमस् ।~विरवा एक सकल ससारा, पेड एक फूलल तिनि डारा । → पद २८६-२ ।

तिरगुन—सज्ञा पु० [सं० त्रिगुण] त्रिगुणात्मक—सत्त्व, रजस, तमस् । दे० 'त्रिगुन' ।~तिरगुन फामि लिए कर डोलै, वोलै मघुरी वानी ।→ पद २२७-२, पद ३२४-२ ।

तिरदेवा—संज्ञा पु० [स० त्रिदेव] ब्रह्मा, विष्णु, महेश । ~पट दरसन मिलि पथ चलायो, तिरदेवा अधिकारी । →सव० १५६-३, पद ३१६-८ ।

तिरविधि—सज्ञा स्त्री० [स० त्रिविध] तीन अवस्थाएँ—वाल, युवा, वृद्ध । ~तिरविधि रहौ समनि मा वर्तौ, नाम मोर रमुराई हो ।→कहरा (३) १०-७ ।

तिहाई—संज्ञा पु० [हि०] त्रिताप—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक । ~ दिन को वेठ दमन

सौं बरकस तापर लगी तिहाई ।→ पद २७१-७ ।

तीन—वि० [स० त्रीणि] धर्म, अर्थ, काम । ~निगम रिसाल चारि फल लागे, तामे तीन समाई । → सव० ८८-४ ।

तीन देव—संज्ञा पु० [स० त्रिदेव] ब्रह्मा, विष्णु, महेश । दे० 'तिरदेवा'। ~तीन देव प्रतखि तोरहि करहि किसकी सेव । →पद २११-१० ।

तीनिउ सांझ—सज्ञा स्त्री०[स०त्रि सध्या] तीन सध्या—प्रात', मध्याह्न, सायं । ~बैल वियाइ गाइ भई वाझ, वछरहिं दूहै तीनिउं सांझ । →सव० ८६-३ ।

तीनि गाऊँ—संज्ञा पु० [हि०] तीन गाँव, प्र० त्रयलोक्य—ब्रह्मलोक, शिवलोक और विष्णुलोक, भू , भुवः स्व । ~हरिहर ब्रह्मा महतो नाऊँ तिन्ह पुनि तीनि बसावल गाऊँ । → र० २-४ ।

तीनि गुन—संज्ञा पु० [सं० त्रिगुण] तीन गुण—भक्ति, मुक्ति और ज्ञान । ~ नारि नसावै तीनि गुन, जेहि नर पासैं होइ । → सा० कामी० (२०) १०-१ ।

तीनि जगाती—संज्ञा पु० [हि० तीन+ जगात+ई (प्रत्य०)] तीन तत्व—सत्व, रजस्, तमस् । दे० 'त्रिगुन' । ~तीनि जगाती करत रारि, चल्यौ वनिजारा हाथ झारि । → पद २३९-६ ।

तीनि दण्ड—संज्ञा पु० [स० त्रिदण्ड] तीन ताप—दैहिक, दैविक और भौतिक । ~जो तोहिं करता वरन विचारा,जन्मत तीनि दण्ड अनुसारा । →र० ६२-१ ।

तीनि भवन—संज्ञा पु० [स० त्रि भवन] तीन कोप—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय । ~ तीनि भवन मैं एकै जोगी, कहो कहाँ वसै राजा । → सव० ११२-८ ।

तीनि लोक—सज्ञा पु० [सं० त्रिलोक] स्वर्ग, मर्त्य, पाताल । ~छौ चारि चौदह सात इकइस तीनि लोक वनाय। →हिंडोला (८) १-१० ।

तीनि लोक—सज्ञा पु० [स० त्रिलोक] भू, भुव, स्व । ~तव अष्टगी रची कुमारी, तीनि लोक मोहिनि सभ झारी । →र० २७-४ ।

तीनि लोक—सज्ञा पु० [स० त्रिलोक] भू, भुव और स्व नामक तीन लोक । ~ तीनि लोक जाकै हहि भारा, सो काहे न करै प्रतिपारा । → सव० १६-४ ।

तीनि लोक—संज्ञा पु० [स० त्रिलोक] तीन लोक—स्वर्ग लोक, मृत्यु लोक, पाताल लोक । अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोष । भू, भुव, स्व लोक । ~ तीनि लोक यो आय के, छूटि न काहु कि आस । → र० ५३-६ ।

तीनि सनेही—सज्ञा पु० [स० त्रि + स्नेहिन्] तीन इष्ट—सुतैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा । ~ तीनि

सनेही वहु मिलै, चौथे मिलै न कोइ। → सा० गु० सि० हे० (४३) ६-१।

तीनो लोक—संज्ञा पु० [सं० त्रिलोक] तीन लोक—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग। ~ कामिनि काली नागिनी, तीनो लोक मँझारि। → सा० कामी न० (२०) १-१।

तीन्यूँ ताप—सज्ञा पु० [स० त्रिताप] त्रिताप—दैहिक, दैविक, भौतिक। ~आपा जानि उलटिले आप, तौ नहि व्यापै तीन्यूँ ताप। → सव० २०-६।

त्रिगुन—सज्ञा पु० [स० त्रिगुण] सत्व, रजस्, तमस्। दे० 'त्रिविध'। ~ग्यान गाड लै रोपिया, त्रिगुन लियो है हाथ। →चाँचर (५) १-१८।

त्रिविध—वि० [स०] तीन प्रकार का, त्रिगुणात्मक, सत्व, रजस्, तमस्। ~माया तरुवर त्रिविध का, साखा दुख संताप। →सा० माया० (१६) २०-१।

: ४ :

खानी—सज्ञा स्त्री० दे० 'चारी खानि'।

चारि अवस्था—वि० स्त्री० [स०] चार अवस्थाएं—वाल्य, कैशोर्य, युवा और वृद्ध। ~चारि अवस्था सपनै कहई, झूठी फुरो जानत रहई। →र० २४-२।

चारिउ जुग—संज्ञा पु० दे० 'युग चारी'।

चारि खूँटी—सज्ञा स्त्री० [हि० चार+खूँटा] मन, चित्त, वुद्धि, अहकार। ~चारि खूँटी दोइ चमरख लाई, सहजि रहटवा दियो चलाई। → पद २१५-३।

चारि जुग—संज्ञा पु० दे० 'युग चारी'।

चारि दिग—सज्ञा स्त्री० [हि० चारि+सं० दिक्] चार दिशाएँ। यहां तात्पर्य है शरीर के चार अग—नाभि, कठ, हृदय और त्रिकुटी।~चारि दिग महि मड रचो है, रूम साम विच डिल्ली। →सव० ६४-१५।

चारि पदारथ—सज्ञा पु० [हि० चार+सं० पदार्थ] अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष। ~कहै कवीर तुम समरथ दाता, चारि पदारथ देत न वार। →सव० १४८-६।

चारि फल—सज्ञा पु० [हि० चार+स० फल] धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। ~निगम रिसाल चारि फल लागे, तामे तीन समाई। →सव० ८८-४, पद २८६-३।

चारि वरन—सज्ञा पु० [स० चत्वारि वर्ण] चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ~नाना रूप वरन यक कीन्हा, चारि वरन उन्ह काहु न चीन्हा। →र० ६३ १।

चारि वृक्ष—संज्ञा पु० [हि० चार+स० वृक्ष] चार वेद—ऋक्, यजु, साम, अथर्वण। ~चारि वृक्ष छव साखा वाके, पत्र अठारह भाई। →पद २०६-५।

चारी खानि—संज्ञा स्त्री० [स० चत्वार+खानि] उत्पत्ति के आधार पर चार प्रकार के जीव—अण्डज,

स्वेदज, जरायुज और उद्भिज। ~ एक पुरुष एक है नारी, ताते रचेउ खानि भौ चारी →र० । २७-६, हिंडोला (८) १-११ ।

चौमास—सज्ञा पु० [स० चातुर्मास्य] वर्षा ऋतु के चार महीने—आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन । ~रच्या हिंडोला अहो निसि चारि जुग चौमास । →हिंडोला (८) २-४ ।

जुग चारी—सज्ञा पु० [सं० युग + हि० चार] सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग । ~कहते मोहि भये जुग चारी, काके आगे कहो पुकारी । → र० १४-१२, र० ८२-२, वसंत (४) ५-२, हिंडोला (८) २-४ ।

: प :

पच—वि० [स०] पांच ज्ञानेन्द्रियां अथवा काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ । ~मन नहि मारा मन करि, सके न पच प्रहारि । →सा० मन० (१३) १५-१ ।

पच किसानां—संज्ञा पु० [स० पञ्च + कृषक] पांच ज्ञानेन्द्रियां—चक्षु, घ्राण, श्रवण, रसना और त्वचा । ~नगर एक तहँ जीव धरम हत, वसै जु पच किसाना । →सव० १०-३ ।

पच कुसगी—संज्ञा पु० [सं० पञ्च + कु + सर्गा] पचेन्द्रियां, अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह । दे० 'पांच कुटुम्बी' । ~कहै कबीर कैसे तिरूँ, पच कुसंगी संग । →सा० मन० (१३) २१-२ ।

पंच चोर—संज्ञा पु० [स०] पंचेन्द्रियां अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह । दे० 'पच पियादे' । ~कबीर पट्टन कारिवां, पंच चोर दस द्वार । → सा० चिता० (१२) ७-१, पद २२६-४, पद ३३६-३ ।

पंचतत्व—संज्ञा पु० [स०] पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश तथा वायु । ~ काया कसौं कमान ज्यों, पंचतत्व करि वान । →सा० मन० (१३) ३०-१, सव० १४६-३ ।

पंचनि—सज्ञा पु० [स० पच] काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ । ~इन पंचनि मिली लूटी हूँ, कुसंग आहि विदेसा । →सव० १७-२ ।

पंच पियादे—संज्ञा पु० [स० पच + फा० प्यादा] मन को पांच मुख्य प्रवृत्तियां—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ । दे० 'पंच चोर' । ~पंच पियादे पारि कै, दूरि करै सब दूज । →सा० सूरा० (४५) ३-२ ।

पंच पियारियां—सज्ञा स्त्री० [हि०] पञ्च प्राण—प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान । दे० 'पांच पनिहारी' । ~झूलें पच पियारियां, तहँ झूले जीय मोर । →पद ३४२-४ ।

पँच सँगी—संज्ञा पु० [स० पच + सग + ई (प्रत्य०)] पांच ज्ञानेन्द्रियां-नेत्र, कर्ण, घ्राण, स्पर्श, रसना । ~पँच सँगी पिव पिव करै, छठा जु

सुमिरै मन। →सा० सुमि० (२) ७-१।

पचूँ किसानाँ—संज्ञा पु० [स० पंच+कृषक] पाँचो यम—अहिंसा, सत्य, आस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ~सातौ विरही मेरे नीपजैं, **पचूँ** **मोर किसानाँ**। →सब० १७-४।

पाचउ तत्त—सज्ञा पु० दे० 'पच तत्व'।

पाँचउ लरिके—संज्ञा पु० [सं० पच√लड+क] काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह। दे० 'पच पियादे'। ~**पाँचउ लरिके** पटकि कै, रहै राँम लौ लाइ। →सा० गु० सि० हे० (४३) ४-२।

पाँच कुटुम्बी—संज्ञा पु० [स० पच कुटुम्बिन्] पञ्च विकार—काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह। ~**पाँच कुटुम्बी** महा हरामी अम्रित मैं विख घोलै। →पद २१४-५।

पांच जनां—संज्ञा पु० [सं० पञ्च जन] पञ्च तत्व—क्षिति, पवन, जल, पावक, गगन। दे० 'पचतत्व'। ~**पांच जनां** मिलि मडप छायौ चारि जना मिलि लगन लिखाई। →पद २३८-३।

पाँच ढोटा—सज्ञा पु० [सं० पंच दुहितृ] पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, त्वचा और रसना तथा उनके विषय—रूप, शब्द, गध, स्पर्श, रस। ~राति दिवस मिलि उठि उठि लागै, **पांच ढोटा** एक नारी। →पद २६६-२।

पांच पनिहारी—संज्ञा स्त्री० [हि०] पानी भरने वाली, पंच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान अथवा पच ज्ञानेन्द्रियाँ। दे० 'पाँचौं पवना'। ~एकै कुवा **पाँच पनिहारी**। →सब० ५७-३।

पांच भुवगा—सज्ञा पु० [स० पञ्च भुजग] पाँच सर्प, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। ~एक ही दादुल खायौ **पांच हूँ भुवंगा**। →पद ३४३-७।

पांचौं नाग—सज्ञा पु० [स० पंच नाग] पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ—आंख, कान, नाक, रसना, त्वक्। दे० 'पांच ढोटा'। ~**पाचौं नाग** पचीसौं नागिनि सूघत तुरत मरी। →पद ३२७-४।

पांचौं पवना—सज्ञा पु० [सं० पञ्च पवन] पञ्च प्राण—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान। ~मन **पवनां पाचौं** बसि किया तिन या राह सँवारी। →पद ३१४-२।

बनिजारे पाँच—सज्ञा पु० [हि० बनिज+हारा+पाँच] पाँच व्यापारी—पञ्च तत्व—पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु। दे० 'पच तत्व'। ~नाइकु एकु **बनिजारे पांच**, बरध पचीस क सगु काच। →पद २३६-३।

: ६ :

छव दरसन—संज्ञा पु० [सं० षड् दर्शन] १. छ दर्शन—न्याय, वैशेषिक, मीमासा, वेदान्त, साख्य और योग,

२. जोगी, जंगम, सेवडा, सन्यासी, दरवेश और ब्राह्मण। ~तिन्ह पुनि रचल पिंड ब्रह्मंडा, छव दरसन छानवे पाषडा। →र० २-५।

छव साखा—यौ० छः वेदाङ्ग—व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, छन्द, शिक्षा, कल्प। ~चारि वृक्ष छव साखा वाके, पत्र अठारह भाई। →पद २०६-५।

छह दरसन—सज्ञा पु० दे० 'षट दरसन'।

छौं—(छ: शास्त्र) वि० दे० 'षट दरसन।

षट आश्रम—सज्ञा पु० [स०] छ आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास, हस, परमहस। ~**षट आश्रम** षट दरसन कीन्हा, षटरस वास षट वस्तुहिं चीन्हा। →र० २२-४।

षट करमां—सज्ञा पु० [सं० षट्कर्म] १. नित्य षट् कर्म—स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप, होम। २. योगियो के षट् कर्म—धोती, नेती, बस्ति, न्योली, त्राटक, कपालभाती। ३. ब्राह्मणो के षट् कर्म—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह। ~संध्या गायत्री अरु **षट करमा**, तिन थै दूरि बतावा। →पद २२०-४।

षट कर्म—सज्ञा पु० [स०] यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह। ~जेहि जल नाद विंदु को भेदा, **षट कर्म** सहित उपानेउ वेदा। →सव० १०७-२।

षट कर्म—संज्ञा पु० [सं०] स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप और होम। ~हंडिया हाड हाड थारी मुख, अब **षट कर्म** बनेऊ। →सव० १६५-४, र० ३५-२।

षट कर्मा—संज्ञा पु० दे० 'षट कर्म'।

षट चक्र—संज्ञा पु० [स०]

चक्र	स्थान	कमलदल (आकार)
मूलाधार	जननेन्द्रिय के नीचे मेरुदण्ड का प्रदेश	४ दल।
स्वाधिष्ठान	जननेन्द्रिय के ऊपर मेरुदण्ड का प्रदेश	६ दल।
मणिपूर	नाभि का प्रदेश	१० दल।
अनाहत	हृदय का प्रदेश	१२ दल।
विशुद्ध	कठ के नीचे	१६ दल।
आज्ञा	भ्रू मध्य का प्रदेश	२ दल।

~ **षट चक्र** कवल वेधा जारि उजारा कीन्हा। →सब० १००-५, सब० ११-३।

षट दरसन—संज्ञा पु० [सं०] संतो के छ: दर्शन—योगी, जगम, सेवडा, सन्यासी, दरवेश, बाह्मण। ~**षट दरसन** मिलि पथ चलायो, तिरदेवा अधिकारी। → सब० १५६-३; हिंडोला (८) १-१२।

षट दरसन—सज्ञा पु० [स० षट् दर्शन] छ दर्शन—न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा और वेदान्त।~षट आश्रम **षट दरसन** कीन्हा, षटरस वास षट वस्तुहिं चीन्हा। → र० २२-४, सा० मधि० (३१) ११-२, पद २०८-४, हिंडोला (८) १-१०।

षड रस—सज्ञा पु० [स० षट् रस] छ रस—मधुर, लवण, तिक्त, अम्ल,

कटु, कषाय। ~षड रस भोजन विंजना वहु पाक मिठाई। →पद ३४५-११, र० २२-४।

: ७ :

सात दीप—सज्ञा पु० [स० सप्त द्वीप] सात द्वीप—जम्बू, कुश, प्लक्ष, क्रौंच, शक, पुष्कर और शाल्मलि। ~ ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मण्डा, सात दीप पुहुमी नव खण्डा। →र० २७-१।

सात समुंदा—सज्ञा पु० [सं० सप्त+ समुद्र] सात समुद्र—दुग्ध, दधि, घृत, क्षार, इक्षुरस, मद्य और जल। ~घट ही भीतरि वनखड गिरिवर, घटि ही सात समुदा। →सव० ३३-३।

सात सूत—सज्ञा पु० [स० सप्त सुत] सात पुत्र, सात धातुएँ—रस, रक्त, मास, वसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र। ~सात सूत मिलि वनिज कीन, करम भावनी सगि लीन। →पद २३६-५, पद २७१-४।

सातो—वि० [स० सप्त] सात स्वर (सगीत के)—सा, रे, ग, म, प, ध, नी। दे० 'सातौ सबद'। ~ई सातो औरो है सग्तो नौ औ चौदह भाई। →सव० २०६-७।

सातो—वि० [स० सप्त] सात पोषक तत्व—रस, रक्त, मास, वसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र। ~ई सातो औरो है सातो, नौ औ चौदह भाई। →पद २०६-७।

सातो बीज—संज्ञा पु० [सं० सप्तवीज] सात मूलतत्व—पाँच तन्मात्राएँ—रूप, रस, गंध, स्पर्श, श्रवण तथा बुद्धि और अहकार। ~मास असाढे सीतल विरहुली, वोइनि सातो वीज विरहुली। →विरहुली (७) ४।

सातौं सायर—संज्ञा पु० [स० सप्त सागर] सात सागर—दुग्ध, दधि, घृत, क्षार, इक्षुरस, मद्य, जल। ~ अष्ट कुली परवत जाके पग की रैनां, सातौं सायर अजन नैनां। →पद २८३-३।

सातौ बिरही—सज्ञा पु० [सं० सप्त व्रीहि] ज्ञान की सात भूमियाँ—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा; सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, परार्थभाविनी और तुर्यगा। ~सातौं बिरही मेरे नीपजै, पचूं मोर किसानां। → सव० १७-४।

सातौ सबद—सज्ञा पु० [स० सप्त शब्द] संगीत के सात स्वर—सा, रे, ग, म, प, ध, नी। ~सातौं सवद जु वाजते, घरि घरि होते राग। →सा० चिता० (१२) ४-१।

: ८ :

अठ सिधि—सज्ञा स्त्री० [स० अष्ट सिद्धि] आठ सिद्धियाँ—१. अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। २ पुराणो की आठ सिद्धियाँ—अजन, गुटका, पादुका, धातुभेद, वेताल, वज्र, रसायन, योगिनी। ३. सांख्य

में आठ सिद्धियाँ—तार, सुतार, तारतार, रम्यक, आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक। ~मानौ अठ सिधि नउ निधि ताकै सहजि सहजि जसु बोलै। →पद २५४-२।

अष्टंगी कुमारी—वि० स्त्री० [स०] सुदर चारु अगो वाली कन्या, अर्थात् आद्या प्रकृति। उसके आठ अग है—भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, वुद्धि, अहकार। दे० 'अष्ट गगन'। ~तव अष्टंगी रचो कुमारी तीनि लोक मोहिनि सभ झारी। →र० २७-४।

अष्ट—वि० [सं०] १. आठ सिद्धियाँ—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। २. अष्टांग योग। दे० 'सिद्धि'। ~वाँधे अष्ट कष्ट नौ सूता, जम बाँधे अजनी के पूता। →र० ६-१।

अष्ट गगन—संज्ञा पु० [सं०] आठ दिशाएँ अथवा अष्टधा प्रकृति—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, वुद्धि और अहकार। दे० 'अष्टगी कुमारी'। ~साखा पत्न कछू नहिं वाकै, अष्ट गगन मुख वागा। →सब० ३७-४।

अस्ट कमल—सज्ञा पु० [सं० अष्ट कमल] मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रदल और सुरति कमल। ~अस्ट कमल होइ पुहमी आया, छुति कहाँ से उपजै। →सब० १६६-४।

आठ मिथुन—संज्ञा पु० [सं० अष्ट+मिथुन] आठ प्रकार के भोग—भोग आठ प्रकार से होता है—मन, वुद्धि, अहंकार और पाँच इन्द्रियाँ भोग की साधन है। ~तवही विस्नु कहा समुझाई, मिथुन आठ तुम जीतहु जाई। →र० १३-७।

सिद्धि—सज्ञा स्त्री० [स०] योग की आठ सिद्धियाँ—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। ~जन के कहे जनै रहि जाई, नवौ निद्धि सिद्धि तिन पाई। →र० ६४-३।

: न :

नउ घर—सज्ञा पु० [स० नव+गृह] नौ तत्त्व (अत करण चतुष्टय और पच प्राण)—मन, वुद्धि, चित्त, अहकार, प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। ~नउ घर देखि जु कामिनि भूली, वस्तु अनूपु न पाई। →सव० ११-७।

नउ निधि—सज्ञा स्त्री० दे० 'नवनिधि'।

नउ वहियाँ—सज्ञा पु० दे० 'नौ वहिया'।

नऊँ दुवार—संज्ञा पु० [स० नवद्वार] दो नेत्न, दो कान, दो नासाद्वार, मुख और मल-मूत्न के द्वार। ~नऊँ दुवार नरक धरि मूँदे दुरगधि ही के वेढे। →सव० १०२-२।

नव खण्डा—सज्ञा पु० [स] नव खण्ड—भारत, इलावृत, किंपुरुष, भद्र, केतु-माल, हरि, हिरण्य, रम्य और कुश। ~ब्रह्मा को दीन्हो ब्रह्मण्डा, सात

दीप पुहुमी **नव खण्डा**। →र० २७-१, सव० ६३-६, र० ३-४।

नव गज—यौ० संज्ञा पु० [स०] नव द्वार— दो नेत्र, दो कान, दो नासा-छिद्र, मुख, गुदा, लिंग। दे० 'नऊँ दुवार'। ~गज **नव गज** दस गज उनइस की पुरिया एक तनाई। →पद २७१-३।

नवग्रह—सज्ञा पु० [सं०] सूर्य, चन्द्र, मगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। ~नित्त अमावस नित संक्रान्त, नित नित **नवग्रह** वैठे पांत। →सव० १६५-४, सव० १६०-३, सव० १२८-६।

नवनिधि—सज्ञा स्त्री० [स०] पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व। ~कहै कवीर राजा राम भजन सौं **नवनिधि** होइगी चेरी। →सव० १६०-७, र० ६४-३, सव० १८३-५, पद २५४-२।

नवो निधि—सज्ञा स्त्री० दे० 'नव निधि'।

नौ—वि० [स० नव] नव ग्रह—सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु। ~**नौ** हू मूवा दस हू मूवा मूवा सहस अठासी। →पद २६३-७।

नौ—वि० [स० नव] १. नौ निधियां-पद्म, महापद्म, शख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व, २. नवधा भक्ति—श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, सख्य, दास्य और आत्म निवेदन। दे० 'नौ निधि'। ~वाधे अष्ट कष्ट **नौ** सूता, जम वांधे अजनी के पूता। →र० ९-१।

नौ—वि० [सं० नव] नौ व्याकरण—इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, शाकटायन, पिशालि, पाणिनी, अमर, जैनेन्द्र; सरस्वती। दे० 'नौ व्याकरना'। ~ई सातो औरो हैं सातो, **नौ** औ चौदह भाई। →पद २०६-७।

नौधा—अव्य० सज्ञा स्त्री० [स० नवधा] नवधा भक्ति—नौ प्रकार की भक्ति-श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, सख्य, दास्य, आत्म-निवेदन। ~**नौधा** वेद कितेव है; झूठे का वाना। →सव० १३५-६।

नौ नारी—सज्ञा स्त्री० [स० नव+नाडी] १. इडा (चन्द्र नाडी), २ पिंगला (सूर्य नाडी), ३. सुषुम्ना (मध्य नाड़ी), ४. गाधारी (दाहिने नेत्र की नाडी), ५. हस्ति जिह्वा (वाएँ नेत्र की नाडी), ६. पूषा (दाहिने कान की नाडी), ७. पयस्विनी (वाएं कान की नाडी), ८ लकुहा (गुदा नाडी) ९. अलवुषा (लिंग नाडी)। इन्ही नौ नाड़ियो से विषयो का भोग किया जाता है। ~**नौ नारी** को पानि पियतु है, तृखा न तेउ वुझाई। →पद २०६-२, वसत (४) २-४, सव० ५७-४।

नौ निधि—सज्ञा स्त्री० दे० 'नवो निधि'।

नौ वहिया—सज्ञा पु० [स० नव+

वाहक] नौ वाहक—यहां तात्पर्य है चार अन्त:करण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) + पांच प्राण [प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान] दे० 'नउ घर'। ~नौ वहिया दस गोनि हो रमैया राम। →वेलि (६) १-२२, पद २३६-४।

नौ व्याकरनां—संज्ञा पु० [स० नव व्याकरण] इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, शाकटायन, पिशालि, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र, सरस्वती। ~चारि वेद अरु सुम्रित पुराना, नौ व्याकरनां मरम न जाना। →सव० १६२-३।

वज्र कॅवार—सज्ञा पु० [स० वज्र + कपाट] शरीर के नौ द्वार—दो नासा छिद्र, दो नेत्र, दो कान, मुख, गुदा, लिग—योगी ध्यान करने पर इनको बंद कर लेता है। ~कोठ वहत्तर औ लौ लावै, वज्र कॅवार लगाई। →पद २०६-३।

: १० :

दस—वि० दे० 'दसौ अवतार'।

दस गोनि—सज्ञा स्त्री० [स० दस + गोणी] दस बोरिया, दस इन्द्रियाँ आंख, कान, नाक, रसना, त्वचा, हाथ, पाँव, गुदा, लिंग, मुख। ~ नउ वहिया दस गोनि आहि, कसनि वहत्तरि लागि ताहि। →पद २३६-७।

दस द्वार—संज्ञा पु० [स० दश द्वार] शरीर के दस छिद्र—दो नेत्र, दो कान, दो नासिका विवर, एक मुख, एक मलद्वार, एक मूत्र छिद्र, ब्रह्मरन्ध्र। ~कबीर पट्टन कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार। →सा० चिता० (१२) ७-१, सा० सुमि० (२) २६-२, पद २०१-४, वसत (४) ३-६।

दसहूँ द्वार—संज्ञा पु० दे० 'दस द्वार'।

दसो दुवार—सज्ञा पु० दे० 'दस द्वार'।

दसो दिसा—संज्ञा स्त्री० [सं० दश दिशा] दश-दिशाएँ—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, वायव्य, ईशान, नैर्ऋत, आग्नेय, ऊपर और नीचे। ~रहिगो पंथ थकित भौ पौना, दसो दिसा उजारि भौ गौना। → र० ४५-४, सव० १३-४, सव० १०६-६।

दसौं दिस—सज्ञा स्त्री० दे० 'दसो दिसा'।

दसौ अवतारा—सज्ञा पु० [स०] दस अवतार—मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि। ~मथुरा मरिगो कृस्न गुवारा, मरि मरि गए दसौ अवतारा। →र० ५४-२, पद २६३-७।

दह दिसि—सज्ञा स्त्री० दे० 'दसो दिसा'।

: १४ :

चौदह—वि० दे० 'चौदह भुवन'।

चौदह—वि० [स० चतुर्दश] चौदह विद्या—ब्रह्म ज्ञान, रस ज्ञान, कर्म काण्ड, संगीत, व्याकरण, ज्योतिष, धनुर्विद्या, जलतरन, न्याय, कोक, अश्वारोहण, नाट्य, कृषि, वैद्यक।

दे० 'चौदह विद्या' । ~ई सातो औरौं हैं सातो, नौ औ **चौदह** भाई । →पद २०६-७ ।

चौदह चंदा—सज्ञा पु० [सं० चतुर्दश चन्द्र] द्वितीया से पूर्णिमा तक १४ दिन चाँदनी के होते हैं। यहाँ तात्पर्य है—१४ विद्याएँ—ब्रह्मज्ञान, रस ज्ञान, कर्मकाण्ड, संगीत, व्याकरण, ज्योतिष, धनुर्विद्या, जलतरन, न्याय; कोक, अश्वारोहण, नाट्य, कृषि, वैद्यक। अथवा ६ वेदाग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्ति, छन्द, ज्योतिष । ४ वेद—ऋक्, यजु, साम, अथर्वण तथा मीमासा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण। दे० 'चौदह विद्या' ।~चौसठि दीवा जोइ करि, **चौदह चंदा** माँहि । →सा० गुरु० (१) १७-१ ।

चौदह ठहर—सज्ञा पु० [सं० चतुर्दश स्थल] चौदह भुवन—भू, भुव; स्वर्ग, जन, तप, मह, सत्य, अतल, वितल, तल, सुतल, महातल, रसातल और पाताल। दे० 'चौदह भुवन'।~वाखरि एक विधातैं कीन्हा, **चौदह ठहर** पाट सो लीन्हा । → र० २-३ ।

चौदह भुवन—सज्ञा पु० [स० चतुर्दश भुवन] १ सात स्वर्ग—भू, भुव', स्वर्ग, जन, तप, मह, सत्य । २. सात पाताल—अतल, वितल, तल, सुतल, महातल, रसातल, पाताल । ~**चौदह भुवन** चौधरी मरिहैं काकी धरिऐ आसा । →पद २६३-६, हिंडोला (८) १-१० ।

चौदह विद्या—सज्ञा स्त्री० [स० चतुर्दश विद्या] चौदह विद्याएँ—छ वेदाग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष); चार वेद (ऋक्, यजु, साम, अथर्वण) और मीमासा न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण । ~**चौदह विद्या** पढि समुझावै, अपने मरन की खवरि न पावै । →र० ४३-३ ।

: १६ :

कला—सज्ञा स्त्री० [स०] सोलह आध्यात्मिक कलाएँ—१. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, २. पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ३. पञ्च प्राण, ४ मन। ~**कला** अतीत आदि निधि निरमल ताको सदा विचारत रहिए। →पद ३०५-२ ।

नवसत—वि० [सं० नव + सप्त] सोलह, यहाँ सोलह शृंगार से तात्पर्य है। दे० 'सोलह सिंगार'। ~**नव सत** साजे कामिनी, तन मन रही सँजोइ । →सा० भेष० (२४) २३-१ ।

सोलह—वि० [सं० षोडश] पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाच कर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण और मन। दे० 'कला'। ~ **सोलह** मझै पवन झकोरै, आकासे फल धरिया। →सव० १२-६ ।

सोलह सिंगार—संज्ञा पु० [सं० षोडश शृंगार] १ उवटन लगाना, २. स्नान करना, ३. वस्त्र धारण करना, ४. वाल सँवारना, ५ अंजन लगाना, ६. सिन्दूर भरना, ७. महावर लगाना, ८. भाल पर तिलक लगाना, ६.

ठोढी पर तिलक बनाना, १०. मेंहदी रचाना, ११. सुगन्धित द्रव्यो का प्रयोग, १२. आभूषण पहनना, १३. पुष्पहार पहनना, १४. पान खाना, १५. होठ रगना, १६. मिस्सी लगाना। ~का काजल सिंदूर कै दीयैं, सोलह सिंगार कहा भयौ कीमैं। →सव० १३०-४।

: १८ :

पत्त अठारह—सज्ञा पु० [स० पत्त अष्टादश] अठारह पुराण–विष्णु, वामन, वाराह, पद्म, शिव, अग्नि, ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्ड, भविष्य, भागवत, मार्कण्डेय, मत्स्य, नारद, लिंग, स्कन्द, कूर्म, गरुड। ~ चारि वृक्ष छव साखा वाके **पत्त अठारह** भाई। →पद २०६-५।

: १९ :

उनइस गज—सज्ञा पु० [हि०] सूक्ष्म शरीर—१. पाँच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान। २. पाँच तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। ३. पाँच सूक्ष्मइन्द्रिय शक्तियाँ। ४. अन्तःकरण चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। ~गज नव गज दस **गज उनइस** की पुरिया एक तनाई। → पद २७१-३।

: २१ :

इकइस—वि० [सं० एकविंशत्] चौदह भुवन—सात स्वर्ग—भू, भुव, स्व, जन, तप, मह, सत। सात पाताल—अतल, वितल, तल, सुतल, महातल, रसातल, पाताल। सात दीप—जंबु, कुश, प्लक्ष, क्रौंच, शाक, पुष्कर, शाल्मलि। ~ छौ चारि चौदह सात **इकइस** तीनि लोक वनाय। →हिंडोला (८) १-१०।

: २५ :

पचीसो—वि० [स० पंचविंशति] प्रकृति के तत्व—१. आकाश के—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय। २. वायु के—चलन, वलन, धावन, पसारन, संकोचन। ३. अग्नि के—क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन। ४. जल के—लार, रक्त, पसीना, मूत्त, वीर्य। ५. पृथ्वी के—हाड, माँस, त्वचा; नाडी, रोम। दे० 'पचीसों नागिनि'। ~ पाँच **पचीसो** दसहूँ द्वार सखी पाँच तहँ रची धमार। → वसत (४) ३-६।

पचीसों नागिनि—[सं० पंचविंशति नागिन] पांच तत्वो से नि.सृत पचीस मानसिक और शारीरिक विकार—आकाश से—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय = ५, अग्नि से—क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन = ५, वायु से–चलन, वलन, धावन, पसारन, सकोचन = ५, जल से—लार, रक्त, पसीना, मूत्त, वीर्य = ५, और पृथ्वी से–हाड, मास, त्वचा, नाड़ी, रोम = ५। इस प्रकार कुल २५ प्रकृतियाँ। दे० 'वरध पचीस'।

~ पाँचौं जाग **पचीसौं नागिनि** सूघत तुरत मरी। → पद ३२७-४।

बरध पचीस—सज्ञा पु० [सं० वलद पचविंशति] पचीस वैल अर्थात् पचीस प्रकृतियाँ–१ आकाश की–काम, कोध, लोभ, मोह, तम। २. वायु–चलन, वलन, धावन, प्रसारण, सकोचन। ३. अग्नि की—क्षुधा, तृपा, आलस्य, निद्रा, मैथुन। ४. जल की—लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य। ५. पृथ्वी की—अस्थि, माँस, त्वचा, नाडी, रोम। दे० 'पचीसौं नागिनि'। ~ नाइकु एकु वनिजारै पाच, **बरध पचीस** क संगु काच। → पद २३६-३।

: ३४ :

चौंतिस अक्षर—वि० [स० चतुस्त्रिशत् अक्षर] चौंतिस अक्षर व्यञ्जन = ५ वर्ग (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग पवर्ग); य, र, ल, व, श, प, स, ह, ऊँ। ~ **चौंतिस** अक्षर से निकलै जोई, पाप पुन्य जानैगा सोई। → र० २४-५।

: ३६ :

राग छतीसो—संज्ञा पु० [स० पट्त्रिशत् राग] सगीत मे छ रागो की छत्तीस रागिनियाँ होती हैं। १ श्री राग—मालश्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधु माधवी, पहाडी। २. बसंत राग-देशी, देव गिरि, वैराठी, टोरीका, ललित, हिंडोल। ३ पचम राग—विभास, भूपाली, कर्णाटी, पटहंसिका, मालवी, पट मंजरी। ४. भैरव राग–भैरवी, वगाली, सेंधवी, रामकली, गुर्जरी, गुणकरी। ५. मेघ राग—मल्लारी, सैरिटो, सावेरी, कौशिकी, गाधारी, हर शृगार। ६. नटनारायण राग—कामोदी, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, सारगी, हम्मीरी। ~ एक सवद मँह **राग छतीसो**, अनहद वानी वोलै। → सव० १०६-३।

: ६४ :

चौसठि दीवा—सज्ञा पु० [स० चतु पष्ठि दीपक] चौसठ दीपक अर्थात् चौसठ कलाएँ–१. गीत, २. वाद्य, ३. नृत्य; ४. चित्रकारी, ५. भोजपत्र के पत्तो को तिलक की आकृति मे काटना, ६. पूजन के लिए चावल और रग-विरगे फूलो को सजाना, ७ घर या कमरो को फूलो से सजाना, ८. शरीर, कपडो और दाँतो पर रग चढाना, ९ फर्श पर मणियो का विछाना, १०. शय्या की रचना, ११. उदक-वाद्य, १२ जलघात, १३. मंत्र-तत्रो के प्रयोग, १४. माला गूँथना, १५. शिर के आभूपणो को उचित रूप से धारण करना, १६. अपने को या दूसरो को वस्त्रालकार से सजाना, १७. हाथी दाँत, शख से अलकारो को वनाना, १८. सुगधित द्रव्य तैयार करना, १९. आभूपणो से मणियाँ

सजाना, २०. इंद्रजाल की क्रीड़ाएँ करना, २१. वाजीकरण प्रयोग, २२. हाथ की सफाई, २३. भोजन वनाने का कौशल, २४. पेय पदार्थों को वनाने का कौशल, २५. सिलाई, २६ सूत से चित्र वनाना, २७. वाद्य-वादन, २८. पहेलियाँ वुझाना, २९. अन्त्याक्षरी, ३०. कठिन श्लोक कहना ३१. पुस्तक-वाचन, ३२. नाटकादि का ज्ञान, ३३. कविता द्वारा समस्यापूर्ति, ३४. वेंत और सरकंडे की वस्तुएँ वनाना, ३५. मीनाकारी व पच्चीकारी, ३६. वढईगिरी, ३७. गृह निर्माण कला, ३८ मणियो और रत्नो की परीक्षा, ३९. धातुशोधन, ४० मणियो को रँगना, ४१. वृक्षायुर्वेद, ४२. भेड़ा-मुर्गा आदि लड़ाना, ४३. तोता-मैना पढ़ाना, ४४. शरीर की मालिश की कला, ४५. सांकेतिक अक्षरो का अर्थ-ज्ञान, ४६. गुप्त भाषा विज्ञान, ४७. विभिन्न देशो की भाषाओ का ज्ञान, ४८. फूलो से रथ-गाडी आदि वनाना, ४९. शकुन विचार, ५०. स्वचालित यंत्रो को वनाना, ५१. स्मरण शक्ति वढ़ाने की कला, ५२. याद किए गए श्लोको को दुहराना, ५३ विक्षिप्त अक्षरो से श्लोक वनाना, ५४-५५. शव्द कोशों और छदो का ज्ञान, ५६. काव्यालंकार का ज्ञान, ५७. वहुरूपियापन, ५८. वस्त्रधारण की कला, ५९. द्यूत क्रीडा की कला, ६०. पासा खेलना, ६१. वच्चो के खेलो का ज्ञान, ६२. आचारशास्त्र; ६३. विजय दिलाने वाली विद्याएँ, ६४. व्यायाम विद्या। ~ चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माँहि। → सा० गुरु० (१) १७-१।

: ७२ :

कोठ वहत्तर—सज्ञा पु० [कोष्ठ द्विसप्तति] शरीर की वहत्तर ग्रन्थियाँ, जिनसे सम्पूर्ण शरीर वँधा रहता है। दे० 'पुरुप वहत्तरि'। ~ कोठ बहत्तर औ लौ लावै, वज्र कँवार लगाई। → पद २०६-३।

पुरुप वहत्तरि—सज्ञा पु० [सं० पुरुप द्विसप्तति] शरीर मे ७२ ग्रन्थियाँ (१६ कण्डराएँ, १६ जाल, ४ रज्जु, ७ सेवनी, १४ अस्थि संघात, १४ सीमन्त, १ त्वचा) इनसे शरीर वँधा रहता है। ~ अनहद वाजा रहल पूरि, पुरुप वहत्तरि खेलैं धूरि। → वसंत (४) २-५।

: ९६ :

छानवे पापंडा—सज्ञा पु० [सं० षणवति पापड]छानवे सम्प्रदाय—वारह योगी, अट्ठारह जगम, चौवीस शेवड़ा, दस संन्यासी, चौदह दरवेश, अट्ठारह व्राह्मण। ~ तिन्ह पुनि रचल पिंड व्रह्मण्डा, छव दरसन छानवे पापंडा। → र० २-५, पद २०८-४।

छ्यानवे पापंड—सज्ञा पु० दे० 'छानवे पापडा'।

सन्दर्भ और अन्तर्कथाएँ

अ

अंबरीष—संज्ञा पु० [सं०] इक्ष्वाकु की २८वी पीढी मे उत्पन्न अयोध्या के राजा नाभाग के पुत्र, भगवान् के प्रसिद्ध भक्त। इनके कारण विष्णु भगवान् ने दुर्वासा ऋषि के ऊपर चक्र चलाया था। यह मन्त्र-द्रष्टा थे। ~**अंबरीष** औ जाग जनक जड, सेस सहस मुख पाना। →पद ३०३-७।

अकूर—संज्ञा पु० [स० अक्रूर] ये स्वफल्क के पुत्र थे। इनकी माता का नाम गादिनी था। ये श्रीकृष्ण के चाचा लगते थे। श्रीकृष्ण और बलराम इन्ही के साथ मथुरा गए थे। सत्राजित् की स्यमतक मणि लेकर यह काशी चले गए थे। ~माते सुकदेव ऊधो अंकूर, हनुमत माते लै लंगूर। →वसन्त (४) १०-६, पद ३१०-५।

अकूरु—सज्ञा पु० दे० 'अकूर'।

अजामेल—सज्ञा पु० [स० अजामिल] कान्यकुब्ज देश का एक कर्मनिष्ठ ब्राह्मण, जो बाद मे दासी के प्रेम मे बंध गया था। उसी के पाश मे बंधकर उसने अपनी पत्नी को भी छोड दिया और निन्दित जीविका से जीवन-निर्वाह करने लगा। उसके दासी से दस पुत्र थे। सबसे छोटे पुत्र का नाम नारायण था। मरते समय उसने नारायण को पुकारा। इससे वह सभी पापो से मुक्त हो गया। ~**अजामेल** गज गनिका पतित करम कीन्हे। →पद २७५-५।

अहीलहि—सज्ञा स्त्री० [सं० अहल्या] मुद्‌गल ऋषि की पुत्री, गौतम ऋषि की पत्नी। इंद्र इसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए और गौतम का रूप धारण कर गौतम की अनुपस्थिति मे इसके साथ रमण किया। ~सुरपति जाय **अहीलहि** छरी, सुरगुरु -घरनि चन्द्रमै हरी। →र० ८१-३।

आ

आदम—संज्ञा पु० [अ०] सामी अर्थात् मुसलमानी, यहूदी और क्रिस्तानी मतो के अनुसार सृष्टि का सबसे पहला पुरुष आदम है। कहा जाता है कि खुदा ने फरिश्तो से मिट्टी मँगवाकर एक पुतला बनाया और उसमे जान (रूह) फूंक दी और उसे स्वर्ग मे रहने की आज्ञा दी। उसने पाप-पुण्य रूपी वृक्ष के फल का स्वाद न लेने के लिए आदम को चेतावनी दे दी। परन्तु शैतान रूपी सर्प के बहकाने से कौतूहलवश उसने फल को चख लिया, जिनके कारण वह स्वर्ग से नीचे गिरा दिया गया। ~**आदम** आदि सुद्धि नहि पाई, मामा होवा कहाँ ते आई। →र० ४०-१।

इ

इन्द्र—संज्ञा पु० [सं०] वैदिक देवता, देवताओ के राजा। इनकी पत्नी का

नाम शची, वाहन का नाम ऐरावत और अस्त्र का नाम वज्र है। जयन्त इनका पुत्र है। इनकी राजधानी अमरावती है। एक बार यह गौतम की पत्नी अहल्या पर कामासक्त हो गये थे। इसीलिए गौतम ने इन्हे शाप दे दिया था। ~इन्द्र कृस्न द्वारे खडे, लोचन ललचि लचाय। →चांचर (५) १-२४।

उ

उपनिषद—सज्ञा स्त्री० [सं०] वैदिक वाङ्-मयका अंतिम क्रम जिनमे आत्मा, परमात्मा आदि अध्यात्म-तत्त्व का निरूपण किया गया है। दस मुख्य उपनिषदो पर शंकराचार्य आदि ने भाष्य लिखा है। ~तत्तुमसी इन्हके उपदेसा, ई उपनिषद कहैं सदेसा। →र० ८-१।

ऊ

ऊधो—सज्ञा पु० दे० 'ऊधौ'।

ऊधौ—संज्ञा पु० [स० उद्धव] बृहस्पति के एक शिष्य; वृष्णियो के मन्त्री और श्रीकृष्ण के सखा। श्रीकृष्ण का सदेश लेकर यह गोकुल गए थे और गोपियो को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया था। यादव सभा के सभासद। श्रीकृष्ण के अनेक उप-देशो को सुनकर इन्होंने बदरिकाश्रम को अपना निवास स्थान बनाया, जहाँ इनके जीवन के शेष दिन बीते थे। ~उहै राम वशिष्ठ मिलि गाई, उहै क्रिस्न ऊधौ समुझाई। →र० ८-५, वसंत (४) १०-६, पद ३१०-५।

ए

एक समै ... .. पाई—राम ने बालि का वध छिपकर किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि द्वापर मे बालि ने व्याध रूप मे विष्णु के दूसरे अव-तार कृष्ण का वध किया। ~एक समै ऐसी बनि आई, उनहूँ औसर पाई। →सब० ४-६।

क

कंसा—संज्ञा पु० [स० कंस] मथुरा के राजा उग्रसेन का पुत्र। वह काल-नेमि दानव का अवतार था। जरासंध की पुत्री उसकी पत्नी थी। उसने अपने पिता को कैद करके राज्य अपने हाथ मे ले लिया। उसने अपनी बहन देवकी का विवाह वसुदेव से किया। किंतु यह आकाशवाणी सुन कर कि वह देवकी के पुत्र द्वारा ही मारा जायगा, उसने देवकी को मार डालने का निश्चय किया। वसु-देव-देवकी द्वारा प्रार्थना किये जाने पर उसने बहन को छोड तो दिया, किन्तु दोनो को कारागार मे डाल दिया। कारागार मे ही देवकी के छः शिशुओ की उसने हत्या कर दी। अन्त मे वह भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा मारा गया। ~हिरनाकुस

रावन औ कंसा, कृस्न गए सुर नर मुनि बसा। →र० ४५-१, वसत (४) ६-२।

कच्छ—संज्ञा पु० [स० कच्छप] विष्णु के चौबीस अवतारो मे से एक। इन्होंने महिषासुर को मारा था और समुद्र-मन्थन के समय अपनी पीठ पर मंदराचल को धारण किया था। ~मच्छ कच्छ औ ब्राह सरूपी, बावन नाम धराया। →पद २५२-५; र० ७५-८।

कछ—सज्ञा पु० दे० 'कच्छ'।

कबीर—संज्ञा पु० [अ०] 'कबीर मसूर' मे बताया गया है कि सत्यपुरुष समस्त जगत् का उत्पन्न कर्ता है। वह कभी गर्भ मे नही आता—सबसे अतीत,सबसे परे, सबसे ऊपर। कबीर साहब उसी सत्यपुरुष के अनागत वक्ता (भविष्य वक्ता) हैं। इनमे सब वे ही गुण है, जो उस सत्यपुरुष मे हैं। वस्तुत वे उससे अभिन्न हैं और ससार के त्राणकर्त्ता हैं। यही कबीर साहब सत्ययुग मे 'सुकृति' नाम से, त्रेता युग मे 'मुनीन्द्र' नाम से, द्वापर मे 'करुणामय स्वामी' नाम से और कलिकाल मे 'कबीर' नाम से अवतीर्ण हुए हैं।~कोउ काहु को हटा न माना, झूठा खसम कबीर न जाना।→र० १४-८, ६।

कस्यप—सज्ञा पु० [स० कश्यप] ये ब्रह्मा के पौत्र और मरीचि के पुत्र थे। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार इनकी सात पत्नियाँ थी, भागवत् के अनुसार दक्ष प्रजापति की तेरह पुत्रियो से इनका विवाह हुआ था। इनकी पत्नी दिति से दैत्य, अदिति से देवता, विनता से गरुड तथा अन्य पक्षी और कद्रू से सर्प आदि पैदा हुए थे। कश्यप और अदिति ने घोर तप करके भगवान् से यह वर प्राप्त किया था कि वह उनके पुत्र रूप मे जन्म लें। त्रेता मे कश्यप-अदिति ही दशरथ-कौसल्या हुए, जिनसे राम का जन्म हुआ। ~ हनुमत कस्यप जनक बालि, ई सभ छेकल जम के द्वार। →वसत (४) ६-५।

कुन्ती—सज्ञा स्त्री [स०] शूरसेन यादव की पुत्री तथा वसुदेव की बहन। राजा कुन्तिभोज ने कुती को गोद लिया था। इनका विवाह पाण्डु से हुआ था। युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन इन्ही के वीर पुत्र थे। इनका पहला नाम पृथा था, किंतु कुन्तिभोज द्वारा पालित होने के कारण बाद मे इनका नाम कुन्ती पडा। दुर्वासा ऋषि की इन्होने बडी सेवा की जिससे प्रसन्न होकर ऋषि ने इन्हे एक विद्या दी जिसके प्रभाव से वह किसी देवता का आवाहन कर पुत्र उत्पन्न कर सकती थी। मन्त्र की परीक्षा लेने के लिये कौमार्यावस्था मे ही इसने सूर्य का आवाहन किया जिससे कर्ण का जन्म हुआ। बाद मे इनका विवाह पाडु से हुआ। महाभारत-युद्ध के पश्चात ये धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ वन चली गई। ~ गये

पंडु कुन्ती सी रानी, सहदेवहु जिन-वुधि मति ठानी। → र० ५५-३, र० ८१-४।

कृस्न—सज्ञा पु० [स० कृष्ण] भोज-वशी देवक की पुत्री देवकी के गर्भ से उत्पन्न यदुवशी वसुदेव के पुत्र। देवक के भाई उग्रसेन का पुत्र कस इनस शत्रुभाव रखता था, क्योंकि देवकी के विवाह के अवसर पर आकाशवाणी हुई थी कि उसके आठवें पुत्र से कस का वध होगा। कस ने वसुदेव व देवकी को कारागार मे डाल दिया था। वही इनका जन्म हुआ। गोकुल मे नद, यशोदा ने इनका पालन-पोषण किया था। इन्होने कस का वध भी किया था। महाभारत के युद्ध मे इन्होने पाण्डवो की वहुत सहायता की थी। रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्ववती, सत्या, कालिन्दी, माद्री; मित्रविन्दा, भद्रा आदि इनकी आठ पत्नियाँ थी। इन्होंने द्वारका मे यादवो का राज्य स्थापित किया था। महाभारत युद्ध के पूर्व इन्होंने अर्जुन को उप-देश दिया था, जो श्रीमद्भगवद्-गीता के नाम से प्रसिद्ध है। अन्त में एक वहेलिए के द्वारा ये मारे गए। ~ इन्द्र **कृस्न** द्वारे खडे, लोचन ललचि लचाय। → चाँचर (५) १-२४, र० ५४-२, र० ८-५।

कौरव—सज्ञा पु० [स०] चंद्रवंशी राजा कुरु के वशज। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र कौरव' नाम से प्रसिद्ध हैं। ~ जात **कौरवहिं** लागु न वारा, गये भोज जिन साजल धारा। → र० ५५-२।

क्रिस्न—सज्ञा पु० दे० 'कृस्न'।

ग

गज—संज्ञा पु० [सं०] एक हाथी, जो ग्राह के चगुल मे फँस जाने पर प्रभु-नाम के स्मरण से ग्राह के चंगुल से मुक्त हो गया था। ~अजामेल **गज** गनिका पतित करम कीन्हे। →पद २७५-५।

गनिका—संज्ञा स्त्री० [सं० गणिका] विदेह की पिंगला नामक वेश्या, जो नित्य वेश्या-वृत्ति से जीविका चलाती थी। एक दिन वहुत प्रतीक्षा के वाद भी कोई ग्राहक नही आया। उसे अपने कर्म पर वडी ग्लानि हुई। वह उसे छोडकर भगवद् भजन करने लगी। इससे वह मुक्त हो गई। ~ अजामेल गज **गनिका** पतित करम कीन्हे। →पद २७५-५।

गायत्री—सज्ञा स्त्री० [स०] जो गान या उपासना करने वाले की रक्षा करे—'गातारं त्रायते इति गायत्री'। कवीर ने इच्छा को 'गायत्री' कहा है। गायत्री शब्द रूप है और कवीर के मत से शब्द से सृष्टि हुई है, इसीलिए इच्छा का नाम गायत्री है। इच्छा रूपी नारी की उत्पत्ति तथा उसके 'गायत्री' नाम का उल्लेख 'देवी भागवत' मे भी मिलता है— "एषा भगवती देवी सर्वेषा कारणं

हि न.। महाविद्या महामाया पूर्णा प्रकृतिरव्यया। दुर्ज्ञेयाऽल्पधिया देवी योगगम्या दुराशया। इच्छा परात्मन कामं नित्याऽनित्यस्वरूपिणी।' ~ इच्छा रूप नारि अवतरी, तासु नाम **गायत्री** धरी। ->र० १-२।

गोपीचंद—सज्ञा पु० [सं०गोपीचन्द्र] वगाल स्थित रङ्गपुर नामक स्थान के राजा, जो भर्तृहरि की वहन मैनावती के पुत्र थे और उन्ही के उपदेश से नाथ सम्प्रदाय मे दीक्षित हो गए थे। ये जलन्धर नाथ के शिष्य थे। योगी लोग इनके वनाए गीत सारगी वजाकर गाते हैं। ~**गोपीचद** भल कीन्ह जोग, रावन मरिगौ करतै भोग।-> वसत (४) ६-६, सव० १४३-७।

गोपीचंदा—संज्ञा पु० दे० 'गोपीचद'।

गोबरधन—सज्ञा पु० [सं० गोवर्धन] श्री वृन्दावन का एक पर्वत। पुराणानुसार एक वार वहुत अधिक वर्षा होने पर श्रीकृष्ण ने अपने भक्तो की रक्षा के लिए इसे अपनी कनिष्ठिका पर उठाया था। ~नहिं **गोवरधन** कर गहि धरिया, नहिं ग्वालन सग वन वन फिरिया।-> र० ७५-७।

गोरख—सज्ञा पु० दे० 'गोरखनाथ'।

गोरखनाथ—सज्ञा पु० [हि० गोरक्षनाथ] गोरखनाथ मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य के रूप मे प्रसिद्ध हैं। ये विक्रम की दसवी शताब्दी मे विद्यमान थे। इनका जन्मस्थान विवादग्रस्त है। इनके नाम से हिन्दी तथा संस्कृत मे अनेक पुस्तकें मिलती हैं। इन्होंने सदाचार पर वहुत वल दिया है। इनकी साधना पद्धति को हठयोग कहते हैं। इनके सिद्धान्तो का प्रभाव भारत के अतिरिक्त अफगानिस्तान, लका आदि पर भी पडा और वहाँ भी इनके अनेक अनुयायी हो गए। गोरखपुर मे इनका प्रसिद्ध मदिर है। ~ साखी **गोरखनाथ** ज्यौं, अमर भये कलि माँहि। ~ सा० साधसा० (२६) १२-२, र० ५४-४, सव० १४३-७, चाँचर (५) १-१४, पद ३०३-५, सा० मन० (१३) १०-१।

च

चंदा गो अथई—व्रह्मा के पुत्र अत्रि थे। अत्रि के नेत्रो से चन्द्रमा का जन्म हुआ। चन्द्रमा ने वलपूर्वक वृहस्पति की पत्नी तारा को हर लिया। देवगुरु वृहस्पति ने अपनी पत्नी को लौटा देने के लिए उनसे वार वार याचना की, परन्तु वे इतने मतवाले हो गए थे कि उन्होने किसी प्रकार उनकी पत्नी को नही लौटाया। ऐसी परिस्थिति मे देवताओ और दानवो मे सग्राम छिड गया। तदनन्तर अंगिरा ऋषि ने व्रह्मा जी के पास जाकर युद्ध वन्द कराने की प्रार्थना की। व्रह्मा जी ने चंद्रमा को वहुत डाँटा-फटकारा और तारा को उसके पति वृहस्पति के हवाले कर दिया। तारा गर्भवती हो गई थी।

उससे बुध का जन्म हुआ। ~वोछी मति चदा गो अथई, त्रिकुटी संगम स्वामी वसई। ->र० ३-६।

चित्रगुप्त—सज्ञा पु० [सं०] चौदह यमराजो मे से एक, जो प्राणियो के पाप और पुण्य का हिसाब रखते हैं। ये ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुए थे। काया से उत्पन्न होने के कारण इन्हे कायस्थ कहा जाता है। जन्म के समय इनके हाथ मे कलम-दावात थी, इसीलिए ब्रह्मा ने इन्हे प्राणियो का लेखा-जोखा रखने का कार्य सौंपा।~मन मारि अगमपुर लीया, चित्रगुप्त परे डेरा कीया। ->पद २०५-७।

चौपर—संज्ञा स्त्री० [सं० चतुष्पट] चौसर का खेल। यह बिसात पर चार गोटियो से खेला जाता है। गोटी को ही पासा कहते हैं। शरीर के अन्दर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के द्वारा खेल होता रहता है। जीव सकल्प-विकल्प का पासा डालता है। ~चौपर खेल होत घट भीतर, जनम का पासा डारा। ->सव० ६४-१३।

ज

जगनाथ—सज्ञा पु० [स० जगन्नाथ] जगन्नाथ की एक मूर्ति जो पुरी नामक स्थान मे स्थापित है। यह मूर्ति सुभद्रा और बलराम के साथ है। इन मूर्तियो मे पैर बिल्कुल नही हैं और हाथ विना पंजे के हैं। ~ द्वारावती सरीर न छाडा, लै जगनाथ पिंड नहि गाडा। -> र० ७५-६, सब० ४-८।

जड़ (भरत)—सज्ञा पु० [सं०] ऋषभ के पुत्र। यह संसार की वासना से वचने के लिए जडवत् रहते थे। ~ अवरीष औ जाग जनक जड़, सेख सहस मुख पाना। ->पद ३०३-७।

जनक—सज्ञा पु० [सं०] मिथिला के राजवश की एक उपाधि। सीता इसी कुल मे उत्पन्न वाईसवें राजा सीरध्वज की पुत्री थी। इस वश के सभी राजा परम ज्ञानी थे। शुकदेव और याज्ञवल्क्य जैसे ऋषि-मुनियों ने भी ब्रह्म-ज्ञान के सम्बन्ध मे इनसे सवाद किया था। ~हनुमत कस्यप जनक वालि, ई सभ छेकल जम के द्वार। ->वसत (४) ६-५, र० ८-४।

जरासिंधु—संज्ञा पु० [स० जरासंध] यह विप्रचिति नामक दानव के अश से उत्पन्न मगधराज वृहद्रथ का पुत्र था। यह दो टुकड़ो मे उत्पन्न हुआ था। मगधराज के घर मे जरा नामक राक्षसी की पूजा होती थी। उसने प्रसन्न होकर दोनो टुकडो को जोड़ दिया था। अत. वालक का नाम जरासंध पडा। भीमसेन ने इसका वध किया था। ~जरासिंधु सिसुपाल सहारा, सहस अरजुन छल ते मारा। ->र० ४७-१।

जागबलिक—सज्ञा पु० [स० याज्ञवल्क्य]

वैशम्पायन के शिष्य एवं प्रसिद्ध ऋषि। राजा जनक के दरबार मे इन्होंने दार्शनिक विवाद मे भाग लिया था। मैत्रेयी और गार्गी इनकी पत्नियाँ थी। यह योगीश्वर याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह एक प्रसिद्ध स्मृतिकार भी थे। ~ **जागबलिक** औ जनक संवादा, दत्तात्रेय उहे रस स्वादा। →र० ८-४, पद ३०३-७।

जैदेउ—सज्ञा पु० दे० 'जैदेव'।

जैदेव—सज्ञा पु० [सं० जयदेव] 'गीतगोविंद के प्रसिद्ध रचइता, सत जयदेव बगाल के सेन वंशीय राजा लक्ष्मणसेन के सभा कवि थे। इनका समय १२वी शताब्दी माना जाता है। नाभादास ने भक्तमाल मे इनकी प्रशसा की है। 'गुरुग्रन्थ-साहब' मे इनके दो पद पाए जाते हैं। ये उड़ीसा के निवासी बताए जाते है। कुछ लोग इन्हे निम्बार्क सम्प्रदाय का और कुछ लोग विष्णु स्वामी सम्प्रदाय का अनुयायी बताते हैं। ~सकर जागै चरन सेव, कलि जागे नामा **जैदेव**। →पद ३१०-६, सब० १४८-५।

ठ

ठग्यो त्रिपुरारी—शिव का मोहित होना। जब भगवान् शकर ने सुना कि हरि ने स्त्री रूप धारण करके असुरो को मोहित कर लिया और देवताओ को अमृत पिला दिया, तब वह सती देवी के साथ बैल पर सवार होकर समस्त भूतगणो को लेकर वहाँ गए, जहाँ भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं और उनसे प्रभु के स्त्री रूप मे अवतार के दर्शन की प्रार्थना की। उनके कहने पर भगवान् अन्तर्ध्यान हो गए और थोडी देर बाद शिव ने देखा कि सामने एक उपवन है, उसमे एक अद्भुत सुन्दरी स्त्री गेंद खेल रही है। भगवान् शिव उसके अपूर्व सौन्दर्य पर काम मोहित हो गए और सती के सामने ही कामातुर होकर उसके पीछे दौड़े और बलपूर्वक उसका आलिंगन करने लगे। वास्तव मे यह सुन्दरी भगवान् की रची हुई माया ही थी।

कुछ समय बाद भगवान् पुन प्रकट हो गए और कहने लगे कि मेरी माया अपार है। वह ऐसे हाव-भाव रचती है कि अजितेन्द्रिय पुरुष तो किसी प्रकार उससे छुटकारा पा ही नही सकते। भला आपके अतिरिक्त ऐसा कौन पुरुष है जो एक बार मेरी माया के फन्दे मे फँस कर फिर स्वयं उससे निकल सके (श्रीमद्-भागवत, ८/१२/३६-३६)। ~ ब्रह्महि ठग्यो नाग कहँ जारी, देवन सहित **ठग्यो त्रिपुरारी**। →र० ११-२।

त

तारा—संज्ञा स्त्री० [स०] सुषेण की पुत्री, बालि की पत्नी। अंगद इसी

का पुत्र था। वालि का वध होने पर उसने अपने देवर सुग्रीव से विवाह कर लिया। ~ऊ जे सुनी मन्दोदरि तारा, तिन घर जेठ सदा लगवारा। →र० ८१-२।

तिरविक्रम—संज्ञा पु० [स० त्रिविक्रम] ऋग्वेद मे विष्णु का एक नाम त्रिविक्रम मिलता है। विष्णु के तीन पद, सूर्य की तीन अवस्थाओ—उदय, मध्याह्न और अस्त के द्योतक हैं। अन्य पौराणिक कथा के अनुसार विष्णु ने राजा वलि को छलने के लिए वामन के रूप मे पांचवां अवतार लिया था और तीन पगो मे समस्त ब्रह्माण्ड नाप डाला था। इसलिए उन्हे त्रिविक्रम कहते हैं। ~पृथु गये पृथिमी के राव, तिरविक्रम गए रहे न काव।→वसत (४) ६-३।

द

दत्त—सज्ञा पु० दे० 'दत्तात्रेय'।

दत्ता—संज्ञा पु० दे० 'दत्तात्रेय'।

दत्तात्रेय—सज्ञा पु० [स०] एक प्राचीन ऋषि, जो चौवीस अवतारो मे से एक माने जाते हैं। यह परम योगी तथा सिद्ध थे। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार एक ब्राह्मण को जीवित कर देने के उपलक्ष्य मे सती अनुसूया को देवताओ से वर मिला था कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसके गर्भ से जन्म लेंगे। तदनुसार ब्रह्मा ने सोम वनकर, विष्णु ने दत्तात्रेय वनकर और शिव ने दुर्वासा के रूप मे अनुसूया के गर्भ से जन्म लिया। यह वड़े योगी थे, सदा योग साधन किया करते थे। ~जागवलिक औ जनक सवादा, दत्तात्रेय उहे रस स्वादा। → र० ८-४, र० ६६-४, चांचर (५) १-१४, र० ५४-४।

दसरथ—सज्ञा पु० [स० दशरथ] इन्दुमती के गर्भ से उत्पन्न महाराज अज के पुत्र तथा इक्ष्वाकु वंशोत्पन्न अयोध्या के राजा थे। ये पूर्व जन्म में स्वायम्भुव मनु थे। श्री राम इन्ही के ज्येष्ठ पुत्र थे। ~ दसरथ कुल अवतरि नही आया, नहि लका के राव सताया। → र० ७५-२।

दुरजोधन—संज्ञा पु० [सं० दुर्योधन] कुरुवंशीय धृतराष्ट्र और गाधारी के सौ पुत्रो मे से सवसे ज्येष्ठ। यह कुरुकुल को कलकित करने वाला, दुर्बुद्धि तथा खोटे विचारो वाला था। यह गदा युद्ध मे प्रवीण था। पाण्डवो से यह हमेशा वैरभाव रखता था। इसने पाण्डवो का राज्यांश न देने की योजना वनाते हुए उन्हे मार डालने के अनेक उपाय किये। इसी के कारण महाभारत का युद्ध हुआ। अत मे वह भीमसेन द्वारा गदा-युद्ध मे मारा गया। ~ दुरजोधन अभिमानहि गैऊ, पंडव केर भेद नहि पैऊ। → र० ४७-३, वसत (४) ६-२।

देवकी—सज्ञा स्त्री० [स०] उग्रसेन के भाई देवक की पुत्री, वसुदेव की पत्नी और भगवान् श्रीकृष्ण की

माता। यह कंस की चचेरी वहन थी। इनके विवाह के समय आकाश-वाणी हुई थी कि इनके आठवें गर्भ से कस का विनाश होगा। भादो कृष्णाष्टमी की आधी रात को इनके गर्भ से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ और उसी रात को यशोदा को एक पुत्री हुई। योग माया के प्रभाव से सभी प्रहरी सो गए थे और वसुदेव रातो-रात कृष्ण को यशोदा के यहाँ रख आये और यशोदा की पुत्री को लाकर देवकी के पास सुला गए। कस ने उसे पत्थर पर पटक दिया। ~नही देवकी के गर्भहिं आया, नही जसोदै गोद खेलाया।→र० ७५-३।

द्वारावती—श्रीकृष्ण की राजधानी, द्वारका। यहाँ भोज और वृष्णि वश के लोग रहते थे। यही इनकी मृत्यु हुई थी। ~**द्वारावती** सरीर न छाडा, लै जगनाथ पिंड नहिं गाडा। →र० ७५-६।

ध

घू—सज्ञा पु० [सं० ध्रुव] दे० 'ध्रुव'।

ध्रुव—संज्ञा पु० [स०] राजा उत्तान-पाद के पुत्र। इनकी माता का नाम सुनीति था। अपनी विमाता सुरुचि के अपमानजनक व्यवहार के कारण इन्हे वडी ग्लानि हुई। अत पाँच वर्ष की आयु में ही यमुना तट पर मधुवन मे तप करने चले गए। इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् ने इन्हे अचल पद दिया। ~ध्रुव प्रहलाद विभीखन माते, माती सेवरी नारी। →पद ३०३-६, सव० १४३-५।

न

नंद—सज्ञा पु० [स०] गोकुल के गोपो के मुखिया, जिन्होने श्रीकृष्ण का पालन-पोपण किया था। यशोदा इनकी पत्नी थी। ~लोका तुम ज कहत हौ, नंद कौ नदन नद कहौ धूं काकौ रे। →पद २८२-१।

नाग—संज्ञा पु० [सं०] सर्प, साँप (तक्षक)। एक वार परीक्षित आखेट के लिये गए हुए थे। प्यास लगने पर वह शमीक ऋषि के आश्रम मे गए। वह तप-निरत थे। उनके न वोलने पर परीक्षित ने उनके गले मे मरा हुआ सर्प डाल दिया और चले आये। शमीक के पुत्र श्रृंगी ऋषि ने पिता के गले मे साँप देखकर शाप दे दिया कि जिसने उनके पिता के गले मे सर्प डाला हो वह आज के सातवें दिन तक्षक साँप द्वारा ही कालकवलित हो। इस प्रकार परीक्षित सर्पदश से मृत्यु को प्राप्त हुए।

उनके पुत्र जनमेजय को जव मंत्रियो ने पिता की मृत्यु का समा-चार दिया, तव उन्होंने पिता की मृत्यु का वदला लेने का निश्चय करके नागयज्ञ किया, जिसमे सहस्रो सर्प जलकर मर गए। ~ब्रह्महि

ठग्यो नाग कहँ जारी, देवन सहित ठग्यो त्रिपुरारी। →र० ११-२।

नाथ मछंदर—सज्ञा पु० [सं० नाथ मत्स्येन्द्र] प्रसिद्ध नाथपंथी योगी। उनके अन्य नामो मे मीनपाल, मीननाथ, मच्छेन्द्रपा, मच्छन्दरनाथ आदि प्रसिद्ध हैं। इन्हे जाति का मछुवा कहा जाता है। यह कामरूप के निवासी थे। कहा जाता है कि मछली के उदर मे लालन-पालन होने के कारण इनका नाम मच्छन्दर नाथ पडा। ये नाथ सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका समय नवी-दसवी शताब्दी माना जाता है। इन्होंने संस्कृत में चार पुस्तकें—कौल ज्ञान निर्णय, अकुल-वीरतंत्र, कुलानन्द, ज्ञानकारिका लिखी हैं। इन्हे डॉ० प्रबोधचद्र वागची ने सम्पादित कर प्रकाशित कराया है। हिन्दी मे इनके कुछ पदो का सकलन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सिद्धो की वानियाँ' मे किया है। ~**नाथ मछदर** वाँचे नही, गोरखदत्त औ व्यास। → र० ५४-४।

नामाँ—संज्ञा पु० दे० 'नामा'।

नामाँ—सज्ञा पु० [सं० नामदेव] महाराष्ट्र मे नामदेव नामक छ सत हुए हैं। उनमे सर्वाधिक लोकप्रिय नामदेव वह थे जिन्होंने उत्तर भारत मे कवीर के पहले भागवत धर्म का प्रचार किया था और हिंदी मे भी काव्य रचना की थी। इनका जन्म सं० १३२७ मे सतारा जिले के नरसी वमनी नामक गाँव मे हुआ था। ये प्रसिद्ध सत ज्ञानेश्वर के समकालीन थे और सत विसोवा खेचर के शिष्य थे। 'गुरु ग्रंथ साहव' मे इनके ६१ पद पाए जाते हैं। इनकी उपलब्ध रचनाओ को डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'सत नामदेव की हिंदी पदावली' नाम से प्रकाशित कराया है, जिसमे २३० पद और १३ साखियाँ हैं। ~जैंदेउ **नामाँ** विप्र सुदामा, तिनकौं क्रिपा भई है अपार। →सव० १४८-५, वसंत (४) १०-७, पद ३१०-६।

नारद—संज्ञा पु० [स०] एक देवर्षि, जो व्रह्मा जी के मानस पुत्र हैं। ये ही कालान्तर मे देव गधर्व होकर कश्यप द्वारा 'मुनि' के गर्भ से उत्पन्न हुए। इन्होने ३० लाख श्लोको वाला महाभारत देवताओ को सुनाया था। इन्होने दक्ष के पुत्रो को साख्य-ज्ञान का उपदेश दिया था, जिससे वे सवके सव विरक्त होकर घर से निकल गए थे। ~**नारद** कव वन्दूक चलाई, व्यासदेव कव वव वजाई। →र० ६६-५, र० ८-३।

नारद मोह—संज्ञा पु० [स०] एक वार नारद को मोहवश अहकार हो गया कि उन्होने काम को वश मे कर लिया है। उन्होने विष्णु भगवान् के समक्ष यह तथ्य प्रकट कर दिया। विष्णु ने उनका मोहभग करने के लिए मार्ग मे एक सुन्दर

नगर, उसके सम्राट् तथा राजा की परम रूपवती कन्या का निर्माण किया। उस कन्या के स्वयंवर के अवसर पर देवर्षि उसी मार्ग से निकले। राजा ने नारद से कन्या का भविष्य पूछा। अपूर्व सुन्दरी नृप-बाला को देखकर नारद काम के वशीभूत हो गए और उससे विवाह का निश्चय करके विष्णु से उनका रूप मांगा। विष्णु ने उन्हें वदर की आकृति दे दी। स्वयंवर मे निराश होने पर नारद ने विष्णु भगवान् को शाप दिया कि जिस स्त्री के कारण उन्हे अपमानित होना पडा है, उसी स्त्री-वियोग का दुख विष्णु को भी भोगना पडेगा। रामावतार मे राम को सीता का वियोग झेलना पडा। ~**नारद मुनि को बदन छिपायो**, कीन्हो कपि को रूपा। →सव० ४-७।

निकलंकी—सज्ञा पु० [सं० कल्कि] विष्णु के दसवें अवतार जो कलियुग के अन्त मे विष्णुयश की पत्नी सुमति के गर्भ से उत्पन्न होंगे। वह कलियुग के अत्याचारी राजाओ का वध करेंगे, धर्म की स्थापना करेंगे और तब सत्ययुग का प्रारम्भ होगा। ~केतेहि बौद्ध भए **निकलंकी**, तिन्ह भी अन्त न पाया। →पद २५२-६।

प

पंडव—संज्ञा पु० [सं० पाण्डु] दे० 'पड्ड'।

पंड्ड—सज्ञा पु० [सं० पाण्डु] प्राचीन काल के एक प्रसिद्ध राजा, जो पाण्डव वश के आदि पुरुष थे। विचित्रवीर्य क्षयरोग के कारण युवावस्था मे ही मर गए थे। उनकी माता सत्यवती की आज्ञा तथा भीष्म की अनुमति से व्यास जी ने विचित्रवीर्य की विधवाओ-अम्बिका तथा अम्बालिका से पाण्डुवश की वृद्धि के लिए नियोग किया। अम्बालिका व्यास के उग्र रूप को देखकर डर गई। अतः उसके गर्भ से पीले रग का पुत्र हुआ जिसका नाम पाण्डु पडा। इनके पुत्र—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव थे। ये पाण्डव के नाम से विख्यात थे। महाभारत युद्ध मे पाडवो की विजय हुई थी। अंत मे इन्हे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। ~गये **पड्ड** कुन्ती सी रानी, सहदेवहु जिन बुधि मति ठानी। →र० ५५-३, र० ४७-३।

परसुराम—संज्ञा पु० [स० परशुराम] राजा प्रसेनजित् की पुत्री रेणुका के गर्भ से उत्पन्न जमदग्नि ऋषि के पुत्र। इन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियो का संहार किया था। यह ईश्वर के सोलहवें अवतार माने जाते हैं। ~**परसुराम** छत्री नहि मार्‌यो, ई छल माया कीन्हा। →पद २६२-११।

पारबती—सज्ञा स्त्री० [स० पार्वती] पार्वती के दो पुत्र थे—गणेश और कार्तिकेय। दोनो अयोनिज थे। मत्स्य पुराण के अनुसार ये पार्वती के शरीर के मैल तथा उबटन से पैदा

हुए थे। कार्तिकेय के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि जब पार्वती शिव का वीर्य धारण न कर सकी, तब क्रमश. पृथ्वी, अग्नि और गगा ने उस वीर्य को धारण किया। जब गगा जी भी उस वीर्य को धारण न कर सकी तो उसे हिमालय के निकट शरवन मे फेंक दिया। वही कार्तिकेय का जन्म हुआ। ~पारबती को बाझ न कहिए, ईस न कहिए भिखारी।→सव० ४-६।

पृथु—सज्ञा पु० [सं०] वेणु के पुत्र और परम धार्मिक सम्राट्। इन्होंने पृथ्वी को प्रोथित (समतल) किया था, इसीलिए इनका नाम पृथु पडा। इन्होंने कृषि का आविष्कार किया था। ~पृथु गए पृथिम के राव, तिरविक्रम गए रहे न काव।→ वसंत (४) ६-३।

प्रहलाद—संज्ञा पु० [सं० प्रह्लाद] हिरण्यकशिपु के पुत्र। दैत्यराज के पुत्र होते हुए भी बाल्यकाल से ही भगवद्भक्त। हिरण्यकशिपु ने उन्हे भक्ति से विचलित करने के लिए नाना प्रकार की यातनाएँ दी, पर वह अपने निश्चय मे अडिग रहे। अन्त मे भगवान् ने नृसिंह रूप मे अवतार लेकर हिरण्यकशिपु का वध किया और अपने भक्त की रक्षा की। ~ ध्रू प्रहलाद विभीखन सेखा, तन भीतर मन उनहूँ न पेखा। →सव १४३-५।

ब

बराह—संज्ञा पु० [सं० वाराह] भगवान् विष्णु का एक अवतार। इन्होंने जलमे डूबी पृथ्वी का उद्धार किया था और हिरण्याक्ष का वध किया था। ~ होय बराह धरनि नहिं धरिया, छत्री मारि निछत्र न करिया। →र० ७५-६, पद २५२-५।

बलि—सज्ञा पु० [स०] दैत्य जाति का एक राजा। इनके पिता का नाम विरोचन तथा माता का नाम सुरुचि था। ये प्रह्लाद के पौत्र थे। इनकी तीन पत्नियाँ थी—अशना, विध्यावली तथा सुदेष्णा। इनके वाण आदि सौ पुत्र तथा शकुनी और पूतना नामक दो पुत्रियाँ थी। एक बार नर्मदा के उत्तरी तट पर जब बलि भृगुकच्छ मे अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे, तब विष्णु वामन-रूप में वहाँ गए। बलि ने उनसे कुछ दान लेने की प्रार्थना की। उन्होने केवल तीन पग भूमि माँगी। बलि से तीन पग भूमि मिल जाने पर वामन ने अपना विश्वरूप प्रकट किया और दो पग मे पृथ्वी और आकाश नाप लेने के पश्चात् तीसरा पग रखने के लिए स्थान माँगा। बलि ने अपना मस्तक सामने रख दिया। इसी पर हरि ने उसे पाताल भेज दिया।~प्रिथिमी रवन दवन नही करिया, पैठि पताल नही बलि छलिया। →र० ७५-४, वसत (४) ६-२, पद २६२-६।

बलिराज—संज्ञा पु० [सं० वालि] वानर

जाति का किष्किन्धा का राजा, सुग्रीव का ज्येष्ठ भ्राता तथा अगद का पिता। ~नही बलिराज से मांडी रारी, नहि हरिनाकुस वधल पछारी। →र० ७५-५।

वसिष्ठ—सज्ञा पु० [सं० वसिष्ठ] एक प्राचीन ऋषि, मित्र और वरुण के पुत्र। ये ब्रह्मा के भी मानस पुत्र माने जाते है। इनका उल्लेख लगभग सभी प्राचीन धर्म-ग्रन्थो मे मिलता है। इनकी पत्नी का नाम अरुन्धती था। ये ऋग्वेद के कई ग्रन्थो के द्रष्टा भी माने गए हैं। ये दशरथ के गुरु थे। ~वसिष्ठ स्रेष्ठ विद्या सम्पूरन, राम ऐसे सिख साखा।→ पद २८६-६, र० ८-५।

वालमीकि—संज्ञा पु० [स० वालमीकि] प्रचेता के वंशज, प्रसिद्ध मुनि, रामायण के रचयिता, आदि कवि। इनका आश्रम तमसा नदी के तट पर माना जाता है। ~वालमीकि वन वोइया, चुनि लीन्ह सुखदेव।→पद२४८-२।

वावन—सज्ञा पु० [स० वामन] विष्णु का पाँचवाँ अवतार, जो वलि को छलने के लिए अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। राजा वलि वडे दानी थे। यज्ञ के अवसर पर वामन ने ब्राह्मण का रूप धारण कर तीन पग पृथ्वी माँगी थी। उन्होने दो ही पगो मे समस्त पृथ्वी नाप ली और तीसरे पग के लिए राजा वलि ने अपनी पीठ नपवा दी। ~ मच्छ कच्छ औ ब्राह सरूपी, वावन नाम धराया। → पद २५२-५, र० १४-२।

बुद्ध—सज्ञा पु० [स०] कलियुग के प्रारम्भ मे विष्णु के वीसवें अवतार। पूरा नाम गौतम बुद्ध। ये माया देवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इन्होने युवावस्था मे ही घर-परिवार छोड कर घोर तप किया। इनके नाम से बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ। ~ वै करता नहि बुद्ध कहावै, नही असुर संहारा। → पद २६२-१७, पद २५२-६।

वेनु—सज्ञा पु० [सं० वेणु] यह राजा अग के पुत्र और वहुत अत्याचारी थे। इनके अत्याचार को ऋषियो ने रोकने का वहुत प्रयत्न किया, किन्तु जव उन्होने ऋषियो का कहना नही माना तो उन्होने अपने तेज से उन्हे नष्ट कर दिया। पृथु इन्ही के पुत्र थे। ~गए वेनु वलि गए कस, दुरजोधन गए वूडो वंस। → वसत (४) ६-२।

बौद्ध—सज्ञा पु० दे० 'वुद्ध'।

ब्रह्महि ठग्यो—ब्रह्मा की आसक्ति—ब्रह्मा की कन्या सरस्वती अत्यन्त सुकुमारी और मनोहर थी। ब्रह्मा जी उसे देखकर एक वार मोहित हो गए। उन्हे ऐसा धर्म के विरुद्ध आचरण करते देख उनके पुत्र मरीचि आदि ऋषियो ने समझाया कि आप मन मे उत्पन्न काम के वेग को न रोक कर पुत्री-गमन जैसा पाप करने का संकल्प कर रहे हैं। यह सर्वथा अनु-

चित है (श्रीमद्भागवत, ३/१२/३०-३१)। ~ ब्रह्महि ठग्यो नाग कहँ जारी, देवन सहित ठग्यो त्रिपुरारी। → र० ११-२।

ब्रह्मा—संज्ञा पु० [स०] सृष्टि के देवता। मनुस्मृति के अनुसार स्वयम्भू भगवान् ने जल की सृष्टि करके उसमे जो बीज फेंका उसी से ज्योतिर्मय अण्ड उत्पन्न हुआ जिसके भीतर से ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ। भागवत आदि पुराणो के अनुसार भगवान् ने योग-निद्रा मे पडकर जब शयन किया तब उनकी नाभि से एक कमल निकला, जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। प्रत्येक कल्प का एक ब्रह्मा होता है। ~ मरि गये ब्रह्मा नभ के वासी, सीव सहित मुए अविनासी। →र० ५४-१, र० १-३, पद २२४-५; चांचर (५) १-८।

ब्रह्मा धिया नसाई—सृष्टि के देवता ब्रह्मा ने अपनी पुत्री सरस्वती पर आसक्त होकर बाद मे उसे अपनी पत्नी बना लिया। दे० 'ब्रह्महि ठग्यो'। ~देव चरित्र सुनहु रे भाई, सो तो ब्रह्मा धिया नसाई। → र० ८१-१।

ब्राह—सज्ञा पु० दे० 'बराह'।

भ

भरथरी—संज्ञा पु० [स० भर्तृहरि] विक्रमादित्य के छोटे भाई, बाद मे ससार से विरक्त हो गए थे। ~ गोरख भरथरी गोपीचदा, ता मन सों मिलि करैं अनंदा। → सब० १४३-७।

भोज—संज्ञा पु० [सं०] मालवा के परमारवंशी एक राजा जो संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् थे। इन्होंने व्याकरण, अलंकार आदि से सम्बन्धित कई पुस्तकें लिखी हैं। ~ जात कौरवहि लागु न बारा, गये भोज जिन साजल धारा। → र० ५५-२।

म

मंदोदरि—संज्ञा स्त्री० [सं०] मय दानव की पुत्री, रावण की पटरानी। रावण की मृत्यु के उपरान्त विभीषण ने इसे अपनी पत्नी बना लिया।~ ऊ जे सुनी मंदोदरि तारा, तिन घर जेठ सदा लगवारा।→र० ८१-२।

मगहर—संज्ञा पु० [हि०] बस्ती जिले का एक कस्बा, गोरखपुर से साढ़े तेरह मील की दूरी पर स्थित। इसे अपवित्र स्थान माना जाता है, किन्तु मृत्यु निकट आने पर कबीर वहीं चले गए थे। इसी नगर के पूर्व मे आमी नदी के तट पर नवाब बिजली खाँ ने कबीर की समाधि बनवाई थी। वहाँ हिन्दू-मुसलमान दोनो जाते है। उसी के निकट कबीर की दूसरी समाधि है, जहाँ केवल हिन्दू जाते हैं। ~ क्या कासी क्या मगहर ऊसर ह्रिदै राम जौ होई।→पद २८५-६।

मच्छ—सज्ञा पु० [स० मत्स्य] विष्णु के दस अवतारो मे से प्रथम, जो सत्य-

युग मे हुआ था। इसका नीचे का अग रोहू मछली के समान तथा ऊपर का अंग मनुष्य के समान था। अत इसे मत्स्यावतार कहते हैं। इसके सिर पर सीग, चार हाथ तथा सारे शरीर पर कमल के चिह्न थे। ~ मच्छ कच्छ औ ब्राह सरूपी, वावन नाम धराया। → पद २५२-५, र० ७५-८।

मछ—सज्ञा पु० 'दे० मच्छ'।

महेश—संज्ञा पु० [सं०] प्रमुख तीन देवताओ मे से एक। इन पर सृष्टि के संहार का भार है। इनके सिर पर गगा, मस्तक पर चन्द्रमा तथा तीसरा नेत्र, गले मे सर्प और नर-मुण्ड की माला, शरीर मे भस्म, परिधान व्याघ्रचर्म तथा साथ मे पार्वती हैं। इनका निवास स्थान कैलास है। 'दे० शिव'। ~तेहि नारि के पुत्र तिन भयऊ, ब्रह्मा विष्णु **महेश** नाम धरेऊ। →र० १-३।

मानिकपुर—संज्ञा पु० इलाहावाद से झाँसी जाने के मार्ग मे एक रेलवे जक्शन तथा कस्वा। कवीर दास वहाँ कुछ दिन रहे थे। ~ **मानिक-पुरहि** कवीर वसेरी, मद्दति सुनी सेख तकी करी। → र० ४८-१।

माया—सज्ञा स्त्री० [सं०] माया के दो रूप हैं—आवरण और प्रक्षेप। आवरण से चैतन्य स्वरूप आत्मा के ऊपर अज्ञान का पर्दा पड जाता है और प्रक्षेप के द्वारा सभी तत्वो का निर्माण होता है। आदर, मान, विषय, स्वाद आदि की तृष्णा, जप-तप का दिखावा और स्त्री-पुत्र आदि का मोह आवरण के कारण होता है। जल-थल, आकाशादि प्रक्षेप के परिणाम है। माया जल थलि माया आकासि, **माया** व्यापि रही चहुँ पासि। → पद २२६-६।

य

यसोदै—संज्ञा स्त्री० [स० यशोदा] नंद गोप की पत्नी, जिन्होने कृष्ण का लालन-पालन किया था। ~ नही देवकी के गर्भहि आया, नही **यसोदै** गोद खेलाया। → र० ७५-३।

र

राम—संज्ञा पु० [सं०] त्रेता युग मे कौशल्या के गर्भ से उत्पन्न अयोध्या नरेश दशरथ के ज्येष्ठपुत्र, जो विष्णु के अवतार (ब्रह्म) माने जाते हैं। इनकी कथा का आदि स्रोत वाल्मीकि रामायण है। ब्राह्मण, जैन तथा वौद्ध मतावलम्बियो ने रामकथा को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। ~ गये **राम** औ गये लछमना, सग न गई सीता अस धना। → र० ५५-१; र० ८-५।

राव—सज्ञा पु० दे० 'रावणा'।

रावणा—संज्ञा पु० [सं० रावण] लका का प्रसिद्ध राजा जिसे राम ने युद्ध मे मारा था। विष्णु से पराजित हो कर राक्षस गण पाताल भाग गए थे जिनमे सुमाली नामक एक राक्ष

भी था जिसके कैकसी या निकषा नामक एक पुत्री थी। रावण पुलस्त्य-पुत्र विश्रवा का लडका था, जो इसी कैकसी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। इसके दस सिर थे और रूप अत्यन्त विकराल तथा स्वभाव अत्यन्त क्रूर था। रावण ने अपने सौतेले भाई कुबेर की समता करने की इच्छा से भाइयो सहित दस हजार वर्षों तक तपस्या की। इसके घोर तप से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने वरदान दिया कि नर-वानर को छोडकर अन्य किसी के द्वारा इसका वध न हो सकेगा। सुमाली की सहायता से इसने कुबेर की लका पर अधिकार कर लिया। इसने राम की पत्नी सीता का हरण किया। फलस्वरूप बन्धु-बाधवो सहित राम द्वारा मारा गया। ~ अपनी करि गो **रावणा**, अपनी दसरथ नाथ। → र० ५५-६, र० ४५-१, र० ७५-२।

रावन—सज्ञा पु० दे० 'रावणा'।

राहु ग्रास—सज्ञा पु० [स०] पौराणिक कथा के अनुसार समुद्र मथन के बाद अमृत पीने के लिए राहु देवताओ की पक्ति मे बैठ गया था। वह थोडा अमृत पी चुका था तभी सूर्य, चद्र ने विष्णु को सकेत कर दिया। विष्णु ने अपने चक्र से उसका मस्तक छिन्न कर दिया। तभी से राहु चन्द्र और सूर्य को ग्रसता है। ~ नित्त अमावस नित्त ग्रहन ह्वै, **राहु ग्रास** नित दीजै। → सब० १४४-४।

ल

लका—संज्ञा स्त्री० [सं०] भारत के दक्षिण का एक टापू जहाँ रावण का राज्य होने के पहले कुबेर का आधिपत्य था। ऐसा कहा जाता है कि रावण के समय मे यह टापू सोने का था। पहले यह कुबेर के अधीन था और कुबेर धन के मालिक कहे जाते हैं। अत यह टापू निश्चय ही धन-धान्य से परिपूर्ण रहा होगा। शायद सोने की लंका का यही तात्पर्य हो। ~दसरथ कुल अवतरि नहि आया, नहि **लंका** के राव सताया। → र० ७५-२, र० ५५-४।

लछमना—सज्ञा पु० [स० लक्ष्मण] राजा दशरथ के चार पुत्रो मे से तृतीय, जो सुमित्रा के गर्भ से पैदा हुए थे। इनका विवाह सीरध्वज जनक की पुत्री उर्मिला से हुआ था। ये शेष-नाग के अवतार माने जाते हैं। ये बहुत तेजस्वी, वीर और शुद्ध चरित्र सम्पन्न थे। ~गये राम औ गये **लछमना**, सग न गई सीता अस धना। →र० ५५-१।

व

वसिष्ठ—सज्ञा पु० दे० 'वसिष्ठ'।

विभीखन—सज्ञा पु० [स० विभीषण] कैकसी के गर्भ से उत्पन्न, रावण का अनुज, भगवद्भक्त। रावण से अपमानित होकर राम की शरण मे आए। ~धू प्रहलाद **विभीखन**

सेखा, तन भीतर मन उनहूँ न पेखा। ↪सब० १४३-५ ।

विष्णु—सज्ञा पु० [सं०] हिन्दुओ के प्रमुख तीन देवताओ मे से एक। इनके ऊपर सृष्टि की रक्षा का भार है। प्रजापति कश्यप के औरस और अदिति के गर्भ से इनकी उत्पत्ति हुई है। यह सृष्टि के कल्याण के लिए प्रत्येक युग मे उत्पन्न होते हैं। ~तेहि नारि के पुत्र तिन भयऊ, ब्रह्मा, **विष्णु**, महेश नाम धरेऊ। → र० १-३ ।

व्यास—सज्ञा पु० [सं०] पराशर ऋषि के पुत्र श्री कृष्णद्वैपायन जिन्होने वेदो का सग्रह, विभाग और सम्पादन किया था। कहा जाता है कि अठारहो पुराण, भागवत, महाभारत, वेदान्त सूत्र आदि की रचना इन्होने ही की थी। नदी के बीच एक द्वीप मे जन्म होने के कारण इन्हे 'द्वैपायन', काला होने के कारण 'कृष्ण' और वेदो का संग्रह, विभाग और सम्पादन इत्यादि करने के कारण 'व्यास' कहा जाता है। इन्होंने हिमालय की पवित्र तलहटी मे पर्वतीय गुफा के भीतर स्नानादि से निवृत्त होने के बाद कुशासन पर बैठकर ध्यान योग मे स्थित हो महाभारत के स्वरूप पर विचार किया था। ये उत्तमव्रतधारी, निग्रहानुग्रह समर्थ एव सर्वज्ञ माने जाते हैं। कहा जाता है कि अठारहो पुराण, भागवत, महाभारत और वेदान्त-सूत्र की रचना इन्होंने ही की थी। परम भक्त होने के नाते इन्होंने भक्ति की विशद व्याख्या भी की है। एक अन्य मत से व्यास कोई व्यक्ति विशेप नही थे, बल्कि ये प्रत्येक द्वापर मे हुआ करते हैं। व्यास एक उपाधि या पदवी होती है। वेद वृत्त मे जो सीधा निकल जाये वह वेदव्यास है। सभी व्यास वेद और पुराण के विज्ञ थे। ~नाथ मछंदर बांचे नही, गोरख दत्त औ **व्यास**। →र० ५४-४, र० ६६-५, पद ३०३-५, चांचर (५) १-१४ ।

स

सखासुर—सज्ञा पु० [स० शखासुर] एक पराक्रमी दैत्य, जो ब्रह्मा के पास से सभी वेद चुराकर समुद्र के भीतर अपने घर मे छिप गया था। विष्णु ने मत्स्यावतार लेकर वेदो का उद्धार किया था। ~क्या मकसूद मच्छ कछ होना, **सखासुर** न सहारा। → पद २६२-३ ।

सनक सनदन—सज्ञा पु० [स०] सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ब्रह्मा के चार मानस पुत्र माने गए हैं। योग शास्त्र मे ये चारो लक्षण आत्मा के बताए गए हैं, सनक = अनादि, सनन्दन = शाश्वत आनन्द से युक्त, सनातन = अमर और सनत्कुमार = चिर युवा, अजर। आत्मा के जो ये चार लक्षण बताए गए हैं, वही श्री-

मद्भागवत का चैतन्यपुरुष, उपनिषद् का प्रत्यगात्मा और अरविन्द का Psychic Being है। ~अच्छर पढि गुनि राह चलाई, सनक सनदन के मन भाई। →र० ५-४, पद २२४-५, चांचर (५) १-१५, पद २०६-११।

सनकादिक—सज्ञा पु० दे० 'सनक-सनदन'।

सहदेव—सज्ञा पु० [सं०] राजा पाण्डु का कनिष्ठतम पुत्र। इनका जन्म दुर्वासा ऋषि के वतलाए गए मंत्र के प्रभाव से तथा अश्विनीकुमारो के योग से हुआ था। इन्हे अपनी बुद्धि पर वडा गर्व था। हिमालय पर गल कर इनकी मृत्यु हुई। ~गये पडु कुन्ती सी रानी, सहदेवहु जिन बुधि मति ठानी। →र० ५५-३।

सहस अरजुन—सज्ञा पु० [स० सहस्रार्जुन] हैहय नरेश कृतवीर्य का पुत्र था। इसका पूरा नाम कार्तवीर्य सहस्रबाहु अर्जुन था। इसने ब्राह्मणो की अपेक्षा क्षत्रियो की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया था। परशुराम के द्वारा इसका वध किया गया। ~ जरासिंधु सिसुपाल संहारा, सहस अरजुन छल ते मारा। → र० ४७-१।

सालिगराम—संज्ञा पु० [स० शालग्राम] काले और गोल पत्थर, जो गडकी नदी मे मिलते हैं। इसे लोग भगवान् विष्णु की मूर्ति मानते हैं। ~गण्डक सालिगराम न सीला, मछ कछ होय जल नही हीला। →र० ७५-८, सा० प्रवि० (२३) ५-१।

सिव—संज्ञा पु० [सं० शिव] हिन्दुओ की त्रिमूर्ति के एक देवता, सृष्टि के सहार-कर्ता, निवास स्थान कैलाश। शङ्कर, महादेव, हर, त्रिपुरारि, महेश्वर, रुद्र, आशुतोष आदि इनके अनेक नाम हैं। इनके सिर पर गंगा, मस्तक पर चन्द्रमा, गले मे सांप, शरीर पर भस्म रहता है। इनके तीन नेत्र हैं और पार्वती इनकी पत्नी हैं। गणेश व कार्तिकेय इनके पुत्र हैं। इनके धनुषाकार त्रिशूल का नाम पिनाक और धनुष का नाम अजगव है। इन्होंने कामदेव को भस्म कर दिया था। इसलिए इन्हे कामारि कहते हैं। समुद्र मथन के समय इन्होंने उससे निकला विप पी लिया था, इसीलिए इन्हे नीलकण्ठ कहते हैं। इन्होंने परशुराम को अस्त्र-विद्या की शिक्षा दी थी। एक बार जव विष्णु ने दैत्यो को छलने के लिए मोहिनी का रूप धारण किया था, तो यह उन पर आसक्त हो गए थे। वाद में विष्णु ने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया। ~सिव माते हरि चरन सेव, कलि माते नामा जयदेव। →वसन्त (४) १०-७, र० ५४-१।

सींगी रिखि—संज्ञा पु० [स० शृंगी ऋषि] विभाण्डक ऋषि के पुत्र तथा कश्यप के पौत्र। वह राजा रोमपाद के राज्य मे एक जगल मे रहते थे और निरन्तर अपने पिता की सेवा मे लगे

रहते थे। एक बार रोमपाद के राज्य मे कई वर्षों तक वर्षा नही हुई। पण्डितो ने बताया कि यदि शृंगी ऋषि नजर में आ जाएँ और राजा अपनी पुत्री शान्ता से उनका विवाह कर दें, तो वर्षा हो सकती है। राजा ने चतुर वेश्याओ के द्वारा शृंगी ऋषि को नाना प्रकार के प्रलोभन देकर अपने राज्य मे बुला लिया। राजा ने अपनी पुत्री का विवाह उनसे कर दिया। इसके पश्चात् वहाँ काफी वर्षा हुई। ~सींगी रिखि औ गुर कनफूंका बाधिनि सर्भ मरोरी। →पद ३१३-६।

सीता—संज्ञा स्त्री० [स०] वेदानुसार कृषि की अधिष्ठात्री देवी। मिथिला नरेश सीरध्वज जनक की पुत्री भी सीता है, जो राम की पत्नी थी। इनकी उत्पत्ति पृथ्वी से मानी जाती है। यज्ञ के लिए जमीन जोतते समय राजा जनक को ये मिली थी। इन्हे लक्ष्मी का अवतार माना जाता है। राम ने शिव का धनुष तोड कर इनसे विवाह किया था। लव और कुश इनके दो पुत्र थे। अन्त मे ये पृथ्वी मे समा गईं। ~गये राम औ गये लछमना, सग न गई सीता अस धना। →र० ५५-१।

सीव—संज्ञा पु० दे० 'सिव'।

सिसुपाल—संज्ञा पु० [सं० शिशुपाल] महाभारत के अनुसार चेदि देश का राजा, दमघोप का पुत्र। जन्म के समय इसके तीन नेत्र और चार हाथ थे। उस समय आकाशवाणी हुई थी कि जिसकी गोद मे जाने से इसकी तीसरी आँख और दो भुजाएँ विलीन हो जायंगी, उसी के हाथ इसकी मृत्यु होगी। श्री कृष्ण की गोद मे जाने से उसकी आँख और हाथ विलीन हो गए। उन्ही के द्वारा वह मारा गया। ~सिसुपाल की भुजा उपारिन, आपु भए हरि ठूंठा। →सव० ४-८, र० ४७-१।

सुक—संज्ञा पु० दे० 'सुखदेव'।

सुकदेव—संज्ञा पु० दे० 'सुखदेव'।

सुकादि—संज्ञा पु० दे० 'सुखदेव'।

सुखदेव—संज्ञा पु० [सं० शुकदेव] कृष्ण द्वैपायन व्यास के पुत्र का नाम, जो पुराणो के बडे ज्ञाता माने जाते हैं। इनका उपनयन सस्कार स्वयं महादेवजी ने किया था और देवराज इद्र ने इन्हे कमण्डलु तथा आसन दिया। इन्होंने राजा परीक्षित को मृत्यु के पहले मोक्ष-धर्म का उपदेश दिया था, जो इन्होने अपने पिता और महाराज जनक से सीखा था। ~ कव दत्तं मावासी तोरी, कव सुकदेव तोपची जोरी। →र० ६६-४, साध सा० (२६) ११-२, र० ८-३, पद ३०३-५, वसत० (४) १०-६।

सुदामा—संज्ञा पु० [स० सुदामा] श्रीकृष्ण के सहपाठी, दरिद्र ब्राह्मण, जो उनके मित्र थे। उन्ही की कृपा से सम्पन्न भी हो गए। ~जैदेउ नामा विप्र सुदामा, तिनको क्रिपा भई है अपार। →सव० १४८-५।

सुरगुरु घरनि चन्द्रमै हरी—वृहस्पति की पत्नी का नाम तारा था। चद्रमा ने उसकी इच्छा से उसे अपनी पत्नी बना लिया। इस पर दोनो मे युद्ध हुआ। अत मे ब्रह्मा ने वृहस्पति को तारा वापस दिला दिया। ~सुर-पति जाय अहीलहि छरी, सुरगुरु घरनि चन्द्रमै हरी। →र० ८१-३।

सेख—सज्ञा पु० [सं० शेष] शेपनाग। ये नारायण के स्वरूप माने जाते हैं। नागराज अनन्त का नाम। भगवान् विष्णु के शय्या रूप। इनकी धर्म मे अटल श्रद्धा थी। ~ अवरीख औ जाग जनक जड, सेख सहस मुख पाना। → पद ३०३-७, सव० १४३-५।

सेख अकरदी, सेख सकरदी—सज्ञा पु० [अ०] सूफी सम्प्रदाय के साधु। कबीर से इनका संवाद हुआ था। ~ सेख अकरदी, सेख सकरदी, मानहु वचन हमार।→र० ४८-६।

सेख तकी—सज्ञा पु० [अ०] एक प्रसिद्ध सूफी सत। ये इलाहावाद के पास झूंसी मे रहते थे। सिकन्दर लोदी के गुरु थे। कबीर से इनका सत्सग हुआ था। ~ मानिकपुरहि कबीर वसेरी, मद्दति सुनी सेख तकी केरी। →र० ४८-१।

सेखा—सज्ञा पु० दे० 'सेख'।

सेवरी—सज्ञा स्त्री० [स० शवरी] मतग-ऋषि की शिष्या, प्रसिद्ध राम भक्त। ~ध्रुव प्रहलाद विभीखन माते, माती सेवरी नारी।→पद २०३-६।

ह

हणवंत—सज्ञा पु० दे० 'हनुमत'।

हनुमत—सज्ञा पु० [स०] प्रसिद्ध राम-भक्त, अजनी के गर्भ से उत्पन्न वायु-पुत्र। इन्हे शङ्कर-सुवन और केसरी का भी पुत्र माना जाता है। इन्द्र के वज्र-प्रहार से इनकी ठुड्ढी थोडी टेढी हो गई थी, इसीलिए इनका नाम हनुमान पडा। इन्होने राम-रावण-युद्ध के समय अद्‌भुत पराक्रम दिखाया था, इसीलिए यह राम-भक्तो मे सर्वश्रेष्ठ समझे जाते है और इनकी पूजा पूरे देश मे होती है। ~हनुमत कस्यप जनक वालि, ई सभ छेकल जम के द्वार। → वसत (४) ८-५, पद ३१० ५।

हरिनाकुस—सज्ञा पु० दे० 'हिरनाकुस'।

हरीचन्द—सज्ञा पु० [सं० हरिश्चन्द्र] इक्ष्वाकुवशी राजा त्रिशंकु के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सत्यवती था। ये दान और सत्यपालन के लिए विशेष प्रसिद्ध थे। इन्होने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया था। ये याचको के माँगने पर पाँच गुना अधिक घन देते थे। इन्द्र ने ईर्ष्यावश इनकी परीक्षा ली, जिसके लिए ऋषि विश्वामित्र चुने गए। दक्षिणा चुकाने के लिए उन्हे सप-रिवार विकना पडा। स्त्री ने दासी का कार्य स्वीकार किया। वे स्वय चाण्डाल के यहाँ श्मशान की रख-वाली करने को वाध्य हुए। राजा

होते हुए भी इन्हे नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़े। इतना सब होने पर भी ये अपने व्रत से विचलित नही हुए। अन्त मे परीक्षा मे सफलता प्राप्त कर सपरिवार स्वर्ग को चले गए। ~हरीचन्द सत कारने, घर घर गये विकाय। → र० ४७-८।

हिरनाकुस—सज्ञा पु० [स० हिरण्यकशिपु] प्रजापति कश्यप द्वारा दिति के गर्भ से उत्पन्न परम पराक्रमी आदि दैत्य था। इसे ब्रह्मा जी द्वारा वरदान प्राप्त था कि वह अस्त्र-शस्त्रादि के द्वारा नही मारा जा सकता। त्रिभुवन मे इसके द्वारा उत्पात किए जाने पर नृसिंह द्वारा वध किया गया। उसका पुत्र प्रह्लाद परम भगवद्भक्त था। ~हिरनाकुस रावन गौ कसा, कृस्न गए सुर नर मुनि वसा। →र० ४५-१, र० ७५-५, पद २६२-८।

हौवा—सज्ञा स्त्री० [अ०] आदम के साथ उत्पन्न की गई स्त्री। शैतान ने सर्प के रूप मे पहले हव्वा को वहकाया कि इसका फल वहुत स्वादिष्ट है। स्त्री के स्वाभाविक कौतूहलवश हव्वा ने फल चखने के लिए हठ किया। फल चखने के परिणामस्वरूप आदम और हव्वा स्वर्ग से ढकेल दिए गए। →आदम आदि सुद्धि नहिं पाई, मामा हौवा कहाँ ते आई। →र० ४०-१।

●